भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज

राममूर्ति त्रिपाठी

राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना

मूल्य : रु. 100.00

प्रथम संस्करण : 1985

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002

मुद्रक : रुचिका प्रिण्टर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण : चाँद चौधरी

BHARATIYA KAVYASHASTRA KE NAYE KSHITIJ
Essays in Poetics *by* Dr. Ram Murti Tripathi

भूमिका

संस्कृत भाषा को जीवित रखने की चिन्ता यह बताती है कि वह उपेक्षित है और उपेक्षित होती चली जा रही है और कहीं ऐसा न हो कि एक दिन उस भाषा में निहित ज्ञानराशि, अपरिचित लोक द्वारा सदा-सदा के लिए भुला दी जाय। संस्कृत भाषा और साहित्य की रक्षा की चिन्ता उससे व्यावसायिक और अव्यावसायिक उभयविध रूपों में परिचित लोगों को है। उनसे मेरा एकसंस्कृतानुरागी होने के नाते अनुरोध यह है कि संस्कृत भाषा और उसमें निबद्ध साहित्य तभी जीवित रह सकता है, जब हम उसे जीवन से जोड़ सकें। जीवन से जोड़ने का आशय यह नहीं है कि उसे रोजी-रोटी तक सीमित कर दिया जाय। मैं जीवन का क्षितिज रोजी-रोटी या दैहिक और दैनिक आवश्यकताओं तक ही सीमित नहीं मानता, अपितु समाज और सामाजिक मान्यताओं तक उसका विस्तार समझता हूँ, बल्कि उसके भी आगे बढ़कर आध्यात्मिक स्तर तक उसका अपरिमेय प्रसार मानता हूँ। अतः जीवन से जोड़ने का आशय काफी बड़ा है। जीवन सुख की खोज में सार्थक है और सुख, बुद्ध और महावीर को, दैहिक और सामाजिक क्षितिज को लाँघकर कहीं और मिला था। ये ऐतिहासिक साधक पूर्ण प्रमाण हैं।

दूसरी बात यह कि यदि आप साहित्य अर्थात् संस्कृत साहित्य को जीवित रखना चाहते हैं तो एक ओर उसे जीवन से जोड़ें, वर्तमान समाज की समस्याओं का समाधान उससे निकालें तथा दूसरी ओर उस साहित्य में निहित रस से भी समाज को परिचित करायें। इसके लिए आपको दोहरी मिहनत करनी है। एक ओर उस रस से स्वयम् को भिगो दें और दूसरी ओर 'आज की भाषा' में उसे उतारकर समाज को भी भिगोयें। जो स्वयम् नहीं भीगेगा, वह दूसरों को क्या भिगोयेगा? 'समाज' को भिगोना तभी सम्भव है जब 'समाज' की भाषा के माध्यम से अपना 'रस' उसके गले के नीचे उतार सकें। आज के समाज की भाषा जो भाषमाण है, वह तो है ही, उसके साथ-साथ वैज्ञानिक भी है। तर्क-गर्भ भी है। तभी विश्वसनीय हो पाती है। भाषा का गढ़ तोड़कर, गहन ज्ञान-राशि का साक्षात्कार, और फिर आज की तर्क-गर्भ, पर बोधगम्य, भाषा में उसका अनुवाद और अनुवाद ऐसा कि समाज के गले उतर जाय; तभी संस्कृत साहित्य के रस से वे स्वयम् को आप्लावित अनुभव कर

सकते हैं। यदि लोक इस रस से भीगता है और इस रस में जीवन-शक्ति का अनुभव करता है तो कोई ताकत नहीं है, जो संस्कृत को पुनरुज्जीवित होने से रोक दे। वह स्वयम् जी उठेगी। पर यह उत्तरदायित्व संस्कृतज्ञों का है। जिसके हाथ में जो वस्तु होती है, वही उसको गिरा भी सकता है और वही उसको उठा भी सकता है। यह अवश्य है कि उठाने में श्रम और तपस्या करनी पड़ती है। संकल्प यदि ऊँचा है तो तपस्या को भी तदनुरूप होना ही पड़ेगा। पार्वती का संकल्प ऊँचा था, तपस्या जब छोटी पड़ती दिखायी दी, तो उन्होंने उसे और उग्र बनाया, 'सपर्णा' से वे 'अपर्णा' हो गयीं और संकल्पानुरूप शिवत्व की उपलब्धि हो गयी। यह तपस्या संस्कृतज्ञों को भी करनी है। संस्कृत के ह्रास में उन्हें आत्मालोचन करना है। पहले वह मौलिक चिन्तन से विच्छिन्न होकर पाण्डित्य प्रदर्शन की ओर मुड़ी और फिर शास्त्रार्थी समाज में इतनी दुर्वह हो गयी कि आम सामाजिक जीवन से दूर पड़ गयी। व्यवधान बढ़ता ही गया और आज यह स्थिति है।

लोग कहते हैं कि संस्कृत का सरलीकरण होना चाहिए और तरह-तरह के सुझाव प्रस्तुत करते हैं। एक तो, भाषा ऊपर से गढ़ी नहीं जाती, नीचे से स्वतः विकसित होती है। दूसरे, इस सरलीकरण से लक्ष्य कौन-सा बिद्ध होगा ? चिन्ता है हमें गहन ज्ञान-राशि के तिरोधान की और भाषा हम गढ़ने बैठे ऐसी जो वहाँ तक ले न जा सके। अद्भुत विडम्बना है। आज हर तरफ सरलीकरण और शार्टकट की धूम है और लक्ष्य है पुराने से आगे बढ़ना। कैसी विसंगति है ? हाँ, संस्कृत का सामान्य और विशेष ज्ञान जैसे स्तर हो सकते हैं, और रहे भी हैं; पर सरलीकरण और कठिनीकृत रूप जैसे विभेद नहीं रहे हैं, न होने चाहिए। पढ़ने-पढ़ाने की चाहे जितनी सरल और भाषावैज्ञानिक पद्धति आविष्कृत होती रहे, पर जान-पहचान तो जो है, उससे ही करनी होगी। भाषा तो जो है, वही समझनी होगी, तभी तो उसमें निहित ज्ञान-राशि का साक्षात्कार कर सकेंगे। इतना ही नहीं, उस ज्ञान-राशि से युगोचित सम्भावनाएँ उद्भावित कर सकेंगे। उसे जीवन से जोड़ सकेंगे। इसलिए सरलीकरण की विकृत पद्धति गले के नीचे उतरती नहीं।

यह आवाज तो आज प्रत्येक क्षेत्र में सुनायी पड़ती है कि प्रगति के लिए पुराने ढाँचे को तोड़ना चाहिए, युगानुरूप योजना और ढाँचा बनाना चाहिए, पर विकास के लिए 'विच्छेद' नहीं, 'सातत्य' या 'नैरन्तर्य' चाहिए। सातत्य या नैरन्तर्य को बनाये रखने के लिए 'पुराना' में निहित तत्त्व को परखना आवश्यक है। क्या त्याज्य और मृतप्राय है, इसकी भी परख होनी चाहिए। आजकल संस्कृत के सारस्वत क्षेत्रों में क्रमागत पाठ्यक्रमों के विषय में भी चिन्ता व्याप्त हो गयी है। आज कई पद्धतियाँ प्रचलित हैं--प्राचीन परम्परा, नवीन पंक्त्यर्थ की धारा और क्लैसिकल पाठ्य-पद्धति। प्राचीन परम्परा में पंक्त्यर्थ का गाम्भीर्य है, नवीन परम्परा में शोध की नयी टेकनीक विद्यमान है। विकास के लिए अच्छों की अच्छाइयों का समीकरण होना चाहिए। ऐसा तो एकान्ततः नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन परम्परा में शोध और चिन्तन पद्धति नहीं थी। यदि ऐसा होता तो प्रत्येक क्षेत्र का भारतीय चिन्तन अपनी

मौलिकता और गम्भीरता में विश्ववन्द्य न होता। बाद में किन्हीं कारणों से हमारा चिन्तन अवरुद्ध हो गया और जो था, उसके खण्डन-मण्डन में हमारी प्रतिभा लीन हो गयी। धीरे-धीरे वर्तमान जीवन की व्यस्तता और कूटनीतिक परिवेश ने उसे भी धीमा और मन्द कर दिया। तब यह मान लिया गया कि प्राचीन पद्धति में शोध और नवचिन्तन नहीं है। निश्चय ही पश्चिम वैज्ञानिक दिशा के चिन्तन में हमसे आगे है और हमें खुली खिड़की से उनकी अच्छाइयाँ ग्रहण करनी चाहिए। शोध के क्षेत्र की नयी पद्धति से अवगत होना चाहिए। शोध के स्तर पर दोनों पद्धतियों के समन्वय से हमें आगे बढ़ना चाहिए। तदर्थ प्राचीन पद्धति के सारस्वत संस्थानों में नवीन पद्धति के विद्वानों और नवीन पद्धति के संस्थानों में प्राचीन पद्धति के विद्वानों का समावेश अनिवार्यतः होना चाहिए। दूसरी बात, पद्धति कोई भी हो, भाषा पर अधिकार दोनों को होना ही चाहिए और पाठ्यक्रम तथा अध्यापन पद्धति ऐसी हो जो अध्येय विषय की पुस्तक में निहित, चिन्तन-धारा का साक्षात्कार करा सके। जिज्ञासु उस चेतना को ही मूलतः पकड़ ले, ताकि स्वतन्त्र चिन्तन कर सके और वर्तमान सन्दर्भ से उसे जोड़ भी सके। जिज्ञासुओं में, यह भावना पैदा की जानी कहीं अधिक आवश्यक है कि वे अपने विषय को समग्रता में पकड़ें। ऐतिहासिक अनुक्रम में समझें और पकड़ी तथा समझी हुई चिन्तनधारा को धारावाहिक उपस्थापित कर सकें।

आज, स्वातन्त्र्योपलब्धि के अनन्तर हमारी प्राक्स्वान्त्र्य अंकुरित यह कामना कि हमारा राष्ट्र अपनी प्रकृति के अनुरूप, अपने आदर्शों के अनुरूप गतिशील हो, अनूदित होनी चाहिए। हमारी संस्कृति के घटक तत्त्वों में निहित दीप्ति का पुनरुज्जीवन होना चाहिए। इस संकल्प के कार्यान्वयन की दृष्टि से ही, हमने भारत की क्षेत्रीय भाषाओं के पुनरुज्जीवन और सम्वर्द्धन का संकल्प लिया है; ताकि क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से हमारे चिन्तन में मौलिकता आ सके, हम आत्म-विकास कर सकें। मैकाले ने किसी कूटनीतिक दृष्टिकोण से कहा था कि भारतीयों को अंग्रेजी के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान के अर्जन में लगा दो। वह भाषा की शक्ति जानता था। वह जानता था कि भाषा और उसके घटक शब्द अपने पीछे एक भावना और संस्कार लिये रहते हैं, अतः मनुष्य जिस भाषा में सोचता है, उस भाषा के संस्कार और भावना से अपना अन्तस् रंजित करता है। अंग्रेजों ने शिक्षा को शासनाधीन कर दिया और शिक्षा के सिंहासन पर राजनीति आसीन हो गयी। 'कुलगुरु' से अधिक महान, शासक हो गया। दूसरी बात यह कि इस ब्रिटिश शिक्षा नीति ने शिक्षितों के दो वर्ग तैयार किये—एक बाबू वर्ग और दूसरा उच्चकोटि का चिन्तक वर्ग। पहले ने, अपनी संहति में अकर्मण्यता का संचार किया, परावलम्बिता की विरासत दी और दूसरी ने चिन्ताधारा को ही अभारतीय बना दिया। कुछ-एक अपवादों की बात छोड़ दी जाय तो औसत यही हुआ। परिणाम यह हुआ कि या तो हम अकर्मण्य हो गये और कर्मण्य रहे भी तो अभारतीय संस्कारों से चिपक गये, अनुकरण में मौलिक चिन्तना मारी गयी। इन तमाम बातों को देखकर हमारे स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रचेता

संविधान-निर्माताओं ने, समग्र राष्ट्र की एक राजभाषा घोषित की और आशा की कि उसके माध्यम से हमारी सामासिक संस्कृति विकसित होगी। उसने शिक्षण और चिन्तन के लिए समस्त क्षेत्रीय भाषाओं को मान्यता दी और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में 80 प्रतिशत राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता योग्य पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का प्रयत्न किया। यह शब्दावली संस्कृत धातुओं के आधार पर निष्पन्न है। जब तक संस्कृत भाषा के ज्ञान से उन शब्दों की अन्तरात्मा का स्पन्दन हमें सुनायी नहीं देगा, तब तक, वे हमारी मौलिक चिन्तना के सशक्त माध्यम किस प्रकार बन सकेंगे? इसलिए भी परिवर्तित सन्दर्भों में संस्कृत का प्रचार-प्रसार आवश्यक और अनिवार्य हो गया है।

बम्बई की सुप्रसिद्ध पत्रिका 'दी इण्डियन पी. ई. एन.' के 1937 के सितम्बर के अंक में प्रकाशित मद्रास के मुख्यमन्त्री श्री राजगोपालाचारी के महत्त्वपूर्ण भाषण का एक अंश है—

"It would be a great folly on the part of the people of India to neglect the culture inherited by them. What culture India can claim to have inherited from the past is bound up with Sanskrit. If young men turned out of schools and colleges are ignorant of Sanskrit, that is to say, have lost the key to the culture inherited from their forefathers, it would be a disaster of the first magnitude."

अर्थात् यदि भारतवासियों ने अपनी परम्परागत संस्कृति की उपेक्षा की तो निस्सन्देह वह महामूर्खता होगी। भारत को भूतकाल से विरासत में जो संस्कृति मिली है, वह संस्कृत भाषा से सम्बद्ध है। अगर हमारे स्कूलों तथा कॉलेजों में पढ़नेवाले भारतीय छात्र, संस्कृत से अनभिज्ञ रहे तो यह समझ लेना चाहिए कि उन्होंने वह कुंजी ही खो दी जिसके द्वारा वे अपने पूर्वजों के सांस्कृतिक खजाने का ताला खोल सकते हैं और वस्तुतः यह महान दुर्घटना होगी। भारतवर्ष की एक विश्व-विश्रुत प्रतिभा का यह उद्घोष है। इसकी सम्पुष्टि श्री अरविन्द ने अपनी उस स्थापना से की, जो उनकी रचनाओं में भरी पड़ी है। उन्होंने पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों से 'ईशावास्योपनिषद्' में निहित, वैदिक ऋचाओंमें अनुस्यूत विराट् सत्य का उद्घाटन किया, पुष्टि की, और यह सिद्ध कर दिया कि नयी रोशनी से जितना ही अधिक अपने-आपको मण्डित कर प्राचीन भारतीय भाण्डागार में हम प्रवेश करेंगे; उपयोगी तथ्यों और दिशाओं का उतनी ही मात्रा में हम साक्षात्कार कर सकेंगे। नवचिन्तन रंजित दृष्टि से सम्पन्न जिन जिज्ञासुओं ने उस भाण्डार में प्रवेश किया, उन्होंने अपने ऐसे ही अनुभव दिये हैं। श्री जी. हनुमन्त राव ने भी कहा है—

"The more one studies the thought of the past in the light of the present, the more will one be enabled to see both in the present aud past thinking. My study of recent Western

Aesthetics opened my eyes to the virtues of Indian Aesthetic thought."

वस्तुतः सप्राण और महान प्रतिभाओं के लिए देशकाल का बन्धन होता ही नहीं। उन्हें देखने के लिए, ज्योति चाहिए। डॉ. राव ने लिखा है कि यदि उन्होंने पश्चिमी साहित्यशास्त्र और काव्य सम्बन्धी पाश्चात्य आधुनिक चिन्तन से अपनी दृष्टि को रंजित न किया होता, तो भारतीय काव्यशास्त्र के महत्तम और गम्भीर विचार बिन्दुओं से अपने को वंचित ही कर दिया होता। निष्कर्ष यह कि आज संस्कृतानु-रागी अपने कर्तव्य को समझें और उस दिशा में सक्रिय हों, 'सपर्णा' से 'अपर्णा' की ओर बढ़ें।

कोठी रोड, उज्जैन

राममूर्ति त्रिपाठी

अनुक्रम

खण्ड एक : पारम्परिक चिन्तन

खण्ड दो : काव्यशास्त्र के नये क्षितिज

खण्ड तीन : हिन्दी समीक्षाधारा और उसके प्रमुख स्तम्भ

खण्ड एक

पारम्परिक चिन्तन

आचार्य आनन्दवर्द्धन

जीवनवृत्त

भारतीय काव्यचिन्तन की विशाल परम्परा में आनन्दवर्द्धन का स्थान अप्रतिम है। साहित्यचिन्तन को दर्शन का स्तर या गरिमा दिलाने का श्रेय जिन मूल पुरुषों को है, उनमें से एक हैं—आचार्य आनन्दवर्द्धन; जिनके वैचारिक आकाश की गहन नीलिमा के भेदन में आचार्य अभिनवगुप्त-जैसे चतुष्पाद प्रातिभ आचार्य के 'लोचन' भी, कभी-कभी असमर्थ रह जाते हैं। वह 'लोचन' जिसकी वस्तुस्थिति में कहा गया है—'आनन्दवर्द्धन विवेकविकासिकाव्यालोकार्थ तत्त्वघटनादनुमेयम् सारम्। यत्प्रोन्मिषत्सकलसद्विषयप्रकाशिव्यापार्यताभिनवगुप्तविलोचनं तत्''। अभिनवगुप्त के 'लोचन' में वह विशिष्ट आलोचन निहित है जो 'अभिनव' भी है, साथ ही और लोगों के लिए 'गुप्त' या अप्रकाशित भी। उसकी सारवत्ता का अनुमान इतने से ही हो जाता है कि वह आनन्दवर्द्धन-जैसे मनीषी के विवेक से प्रकाशमान 'काव्यालोक' के सारवान् अर्थों की योजना कर पाता है। साथ ही, काव्योपयोगी समस्त विषयों का अनावरण कर पाता है। जब ऐसे 'लोचन' की पाखें आनन्दवर्द्धन के वैचारिक आकाश में उड़ते-उड़ते थक जाती हैं तो औरों का क्या कहना? काव्यमीमांसाकार राजशेखर कहता है—

ध्वनिनातिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेदिना।
आनन्दवर्द्धनः कस्य नासीदानन्दवर्द्धनः॥

काव्य के अन्तःसारमय अत्यन्त गम्भीर ध्वनि तत्त्व का प्रस्थान देकर आनन्दवर्द्धन ने किसका आनन्दवर्द्धन नहीं किया? राजतरंगिणीकार कल्हण का श्लोक है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्द्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्म्मणः॥

आनन्दवर्द्धन, आचार्य ही नहीं, कवि भी थे। अतः विधायक कल्पना के भी धनी थे। कल्हण के अनुसार वे कश्मीर नरेश अवन्ति वर्मा के साम्राज्य में विद्यमान थे। विद्यमान ही नहीं थे—प्रथित भी हो चुके हैं। अवन्ति वर्मा का राज्यकाल है सन् 855 से 883 तक। 'ध्वन्यालोक' में अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों के नामों और ग्रन्थों

का उल्लेख है तथा बाद के आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में इनकी चर्चा बड़े सम्मान के साथ की है। इससे इनका समय स्पष्ट हो जाता है। एक तरफ सन् 800 के आसपास विद्यमान उद्भट के 'ध्वन्यालोक' में स्मरण है और दूसरी ओर 900-925 के बीच विद्यमान राजशेखर इनकी सादर प्रशस्ति कर रहे हैं और मत उद्धृत कर रहे हैं। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय के 'अभिनवगुप्त' के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि आनन्दवर्द्धन ने बौद्ध ग्रन्थ 'प्रमाणविनिश्चय' की टीका 'धर्मोत्तरा' पर 'धर्मोत्तमा' नामक एक टीका भी लिखी थी, जिसका समय 847 ई० माना जाता है। आनन्दवर्द्धन की एक रचना है 'देवीशतक', जिस पर कैयट की टीका सन् 977 की लिखी प्राप्त है। अभिनवगुप्त का भी लगभग यही समय है, जिन्होंने 'ध्वन्यालोक' पर टीका लिखी है। नवम शतक के अन्त में होनेवाले भट्टनायक ने भी अपने 'हृदयदर्पण' में इसका खण्डन किया है—सो, इन सबके साक्ष्य पर यह स्पष्ट है कि आनन्दवर्द्धन का काल अष्टम् से दशम् शतक के मध्य विक्रम की दसवीं अथवा ईसा की नवीं शती है।

आनन्दवर्द्धन कश्मीर देश के वासी हैं। सुप्रसिद्ध राजानक वंश की प्रसूति हैं। इनके पिता का नाम 'नोण' है। हेमचन्द्र ने चित्रबन्ध के सन्दर्भ में आनन्दवर्द्धन के 'देवीशतकम्' से एक श्लोक उद्धृत किया है और इसी श्लोक में उनके पिता का नाम उल्लिखित है—

> देव्या स्वप्नोद्गमाविष्टदेवी शतकसंज्ञया।
> देशितानुपमाधादतो **नोण** सुतोनुतिम्॥

यह भी संकेत इस श्लोक से मिलता है कि 'देवी शतक' देवी की स्तुति है और स्वयं आराध्य देवी ने उन्हें, स्वप्न में, यह आदेश दिया था कि वे देवी की स्तुति में कुछ लिखें। देवी उनकी इष्ट थी और वे उनके पहुँचे हुए भक्त थे। इनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थ, जिनका उल्लेख 'ध्वन्यालोक' या 'लोचन' में है, ये हैं—1. महाकाव्य अर्जुन चरित, 2. स्तोत्रकाव्य देवीशतक, 3. प्राकृत काव्य विषम त्राण लीला, 4. दार्शनिक ग्रन्थ तत्वालोक तथा 5. धर्मोत्तिमावृत्ति। इनमें से ध्वन्यालोक तथा देवीशतक ही उपलब्ध हैं।

आनन्दवर्द्धन कवि और आचार्य तो थे ही, दार्शनिक और भक्त भी थे। स्वभाव से शिष्ट, सन्तुलित तथा गम्भीर थे। इस सन्दर्भ में उनका ही अपना एक श्लोक है, जिसमें उन्होंने अपने विषय में सबकुछ कह दिया है—

> या व्यापारवती रसान् रसयितुं काञ्चित् कवीनां नवा।
> दृष्टियां परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
> ते द्वे अप्यवलम्ब विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं।
> श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन ! त्वद्भक्ति तुल्यं सुखम्॥

हे अब्धिशयन ! जो सुख तुम्हारी भक्ति में अनुभूत हुआ, उसके बराबर कहीं भी नहीं मिला। उसी जाति का तो मिलना सम्भव ही नहीं है। हम लोग तो ऐसे हैं, जिन्हें मिथ्या दृष्टि, 'कविदृष्टि' तथा तत्वदृष्टि (वैपश्चितीदृष्टि) को दूसरों से

हड़पने की लत पड़ गयी है, क्योंकि अपने को जो मयस्सर न हो उसे हड़पना ही तो पड़ेगा। कवि-दृष्टि की विशेषता यह होती है कि वह स्थायीभाव को रसनीय बनाने के निमित्त विभावादिसंयोजन रूप-**वर्णना** से लेकर अनुरूप शब्द-योजना रूप-**घटना** तक क्रियाशील रहती है। यह दृष्टि, सामान्य इन्द्रियज ज्ञान नहीं है, अपितु वह प्रतिमान स्वरूप दृष्टि है। इसीलिए नवनवायमान अर्थों का नमन करती जाती है। तत्वदृष्टि का उन्मेष निश्चेतव्य विषय के अर्थ में अचल होता है। साथ ही, कवि-दृष्टि से उसकी विशेषता यह भी है कि वह कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध होती है, जबकि तत्वदृष्टि स्वतः सम्भवी होती है। इन उभयविध कवियों और विपाश्चितों की दृष्टि का सहारा लेकर सामस्येन और अनवरत 'वर्णना' भी की और सूक्ष्मेक्षिका द्वारा निरूपण भी किया, पर वह भक्ति-रूप सुख, अपनी समानता भी न पा सका। तद्रूप तो सम्भव ही नहीं। कवि के इस वक्तव्य से उनके स्वभाव की सहृदयता, कला-कुशलता, दार्शनिकता और परमेश के प्रति सर्वात्मना विसर्जन तो ध्वनित है ही, यह भी कि भक्ति से अन्य क्षेत्र केवल थकावट पैदा करनेवाले हैं; विश्रान्ति देने-वाले नहीं। दोनों प्रकार की दृष्टियों को कवियों और विपाश्चितों से ही जोड़ना और स्वयं (उनकी दृष्टि को) उधार लेने की बात करना यह ध्वनित करता है कि वे अपने को न तो कवि ही मानते हैं और न दार्शनिक—ऐसे हैं विनम्र आनन्दवर्द्धन।

साहित्य-सिद्धान्त

आनन्दवर्द्धन से पूर्व काव्य की दोनों विधाओं, दृश्य तथा श्रव्य को केन्द्र में रख-कर; काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, हेतु, प्रभेद तथा बहिरंग और अन्तरंग घटकों पर चर्चा होती आ रही थी। परन्तु यह स्थिर नहीं हो पा रहा था कि तत्वतः काव्य का केन्द्रीय तत्व क्या है, जिसके अनुरूप काव्य-उपकरणों की तारतमिक संगति बिठाई जाय। उपकरण तो लगभग पूर्ववर्ती आचार्यों को भी जैसे-तैसे ज्ञात थे—पर उनको ठीक ढंग से परिभाषित कर केन्द्रोन्मुख करने की अपेक्षा बनी हुई थी। इसे परिनिष्ठित रूप दिया आनन्दवर्द्धन ने। अनुयायियों द्वारा उसे और निखारा गया।

काव्य को आत्मा प्रतीयमान—अतिरिक्त अर्थ

आनन्दवर्द्धन ने काव्यस्वरूप परक यत्र-तत्र कई वक्तव्य दिये हैं। उनमें से सर्वप्रमुख है—"सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्"। काव्य वह शब्दार्थ है, जिसमें सहृदय का हृदय आह्लाद का अनुभव करे। काव्य वह, जो सहृदय में आह्लाद पैदा कर सके। आह्लाद का अनुभव कराने के लिए, शब्दार्थमय काव्य को **ललितोचितसन्निवेशचारु** होना चाहिए। ललितोचित सन्निवेशमय शब्दार्थ, काव्य का शरीर है। इस शब्दार्थमय शरीर में लालित्य का आधान गुण और अलंकार के कारण तथा औचित्य का आधान आह्लाद के आनुरूप्य निर्वाह से होता है। शब्दार्थमय शरीर यदि आह्लाद के अनुरूप है तो उचित, और गुण

तथा अलंकार से मण्डित है तो ललित। यदि ललितोचित सन्निवेशचारु शब्दार्थ को शरीर कहा जाय, तो उसके अस्तित्व और व्यवहार के लिए शरीरी, आत्मा या सार की भी कल्पना करनी चाहिए। शरीर को अनुप्राणित करनेवाला कोई-न-कोई सारतत्व होना चाहिए। वह पूर्ववर्ती आलंकारिकों द्वारा चर्चित **गुण** या **अलंकार** हो नहीं सकता; कारण यह है कि आत्मा का शरीरी, **गुणी** और **अलंकार्य** होता है। वाचक (लक्षक भी) तथा वाच्य (लक्ष्य अर्थ भी) सर्वजन-सम्वेद्य होने से स्थूल है। स्थूल शरीर की तरह है, वे भी **शरीरी** नहीं हो सकते। लौकिक या वैदिक वाक्य उस तरह का आह्लाद अनुभवगोचर नहीं कराते जैसा काव्य-वाक्य। इसलिए कोई-न-कोई **अतिरिक्त तत्व** होना ही चाहिए, जो सहृदयानुभव-साक्षिक आह्लाद को अनुभवगोचर करा सके। शरीर तो शव भी होता है। क्या गुण-अलंकार मण्डित होकर, वह चारु या सुन्दर प्रतीत होगा? इसलिए काव्य में गुण, अलंकार, रीति और वृत्ति तथा वाचक (लक्षक भी) और वाच्य (लक्ष्य भी) के अतिरिक्त कोई सारवान् अर्थ होना चाहिए, जिसके कारण गुणालंकार मण्डित शब्दार्थ उचित और चारु जान पड़े। लौकिक-वैदिक वाक्य से **'काव्य-वाक्य'** की सहृदयश्लाघ्यता यह सिद्ध करती है कि काव्य-वाक्य में कुछ अतिरिक्त है। आनन्दवर्द्धन इसे ही **प्रतीयमान** कहते हैं। यही काव्य की आत्मा है। यही वह सारवान भाग है, जिसके अस्तित्व से चारुता प्रतीत होती है। गुण एवं अलंकार, चारुता के आश्रय नहीं हैं; महज प्रकाशक हैं। सौन्दर्य या चारुता का नियत स्रोत **प्रतीयमान** ही है। वे मानते हैं कि जहाँ-जहाँ चारुता प्रतीत होती है, वहाँ-वहाँ प्रतीयमानार्थ के अस्तित्ववश ही। जहाँ लौकिक-वैदिक वाक्यों में प्रतीयमानता नहीं है, वहाँ चारुता या सौन्दर्य भी नहीं है और जहाँ चारुता या सौन्दर्य नहीं है, वहाँ अनुभाविता में आह्लाद भी नहीं है। काव्य स्वरूप के अन्तर्गत 'आह्लाद' पद का सन्निवेश कर आनन्दवर्द्धन ने काव्य-चिन्तन को 'आस्वाद्य' से खींचकर आस्वादयिता की ओर मोड़ लिया। महाकवियों की वाणी में अनुभवसिद्ध यह प्रतीयमान अर्थ लोकप्रसिद्ध वाच्य तथा लक्ष्यार्थ से सर्वथा भिन्न है। शरीर में प्रसिद्ध तत्-तत् अंगों पर झलकता हुआ लावण्य जैसे उन अंगों से अतिरिक्त होता है, वैसे ही प्रतीयमान भी शब्दार्थमय प्रसिद्ध काव्य-शरीर के सहारे उफनता हुआ उनसे अतिरिक्त होता है। यही अतिरिक्त अर्थ सहृदयों के लोचन में अमृत का-सा असर पैदा करता है।

अतिरिक्त शक्ति-व्यंजना

इसी सन्दर्भ में आनन्दवर्द्धन ने वाच्य (तथा लक्ष्य) अर्थ से प्रतीयमान अर्थ को, भिन्न सिद्ध करने में अनेक तर्क दिये। एक ही वाक्य से प्रतीत होता हुआ **वाच्य** अर्थ एक होता है और सन्दर्भ भेद से **प्रतीयमान अर्थ** अनेक होते हैं। वाच्यार्थ प्रतिभा-हीन योद्धा भी समझ लेता है, किन्तु प्रतीयमान अर्थ प्रतिभावान विदग्ध के ही पल्ले पड़ता है। वाच्यार्थ विधि रूप हो सकता है और प्रतीयमान निषेध रूप। वाच्यार्थ

तथा प्रतीयमान अर्थों की प्रतीति में पौर्वापर्य क्रम भी होता है। इन सब कारणों से प्रतीयमान अर्थ, वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न होता है। वह संकेत निरपेक्ष होने से वाच्य-भिन्न तथा मुख्यार्थ-वाच्य आदि निमित्तों से निरपेक्ष होने के कारण, लक्ष्य से भी भिन्न होता है। प्रतीयमान अर्थ शब्द प्रमाण से ही प्राप्त होता है—अन्य प्रमाण से नहीं; फलतः वह शब्द का ही अर्थ है। कुछ लोग इसे प्रमाणान्तर लभ्य मानते हैं—साहित्यिक आनन्द-वर्द्धन नहीं। विशेषतः जो लोग इसे अनुमान-प्रमाण से प्राप्त मानते हैं, वे अनुमापक सामग्री में सत्-असत् का विचार करते हैं; साहित्यिक केवल 'आह्लाद' में रुचि रखते हैं, प्रतीति मात्र को परमार्थ कहते हैं—माध्यम की सत्-असत् परीक्षा नहीं करते। इस प्रतीयमान को कुछ लोग अभिधा तथा तात्पर्य को निरवधि मानकर अन्तर्भुक्त करना चाहते हैं, पर वह प्रक्रिया केवल विरोध के लिए विरोध है। निरवधि अभिधा और निरवधि तात्पर्य को प्रतीयमान तक ले जाने पर प्रक्रियान्तर से आनन्द-वर्द्धन की अतिरिक्त अर्थ-कल्पना को ही मान्यता देनी है। अखण्ड शब्द से अखण्डार्थ के बोध के पारमार्थिक स्तर की बात, परमार्थ के स्तर पर सही हो सकती है; पर जब व्यवहार में हम उतरते हैं, तो निरवधि भेद की स्थिति माने बिना कार्य नहीं चल सकता। फिर तो, शब्द-भेद, शक्ति-भेद और अर्थ-भेद भी मानना ही पड़ता है। इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने चतुरस्र प्रयास कर प्रतीयमान अर्थ की अतिरिक्तता सिद्ध की है और तदर्थ व्यंजना शक्ति की स्थापना की है। शब्द का अपना अर्थ—जो समय सापेक्ष होता है, वाच्यार्थ कहा जाता है, पर समय-निरपेक्ष परकीय अर्थ के प्रकाशक शब्द को प्रकाशक या व्यंजक ही कहना चाहिए—वाचक नहीं। इस प्रकार काव्य की आत्मा के रूप में 'प्रतीयमान' अर्थ की स्थापना, प्रतीयमान को प्रसिद्ध अर्थ से अतिरिक्त सिद्ध करना तथा तदर्थ व्यंजना नाम की शक्ति की स्थापना का श्रेय आनन्दवर्द्धन को है। यह सही है कि वैयाकरणों के स्फोटवाद में व्यंजना का संकेत विद्यमान है और पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने व्यंजन, अवगमन आदि शब्दों से उसकी ओर संकेत किया है, तथापि **काव्य की आत्मा ध्वनि है**—इसकी चतुष्पाद प्रतिष्ठा का श्रेय आनन्द को ही है।

ध्वनि संज्ञा और उसके विभिन्न अर्थ

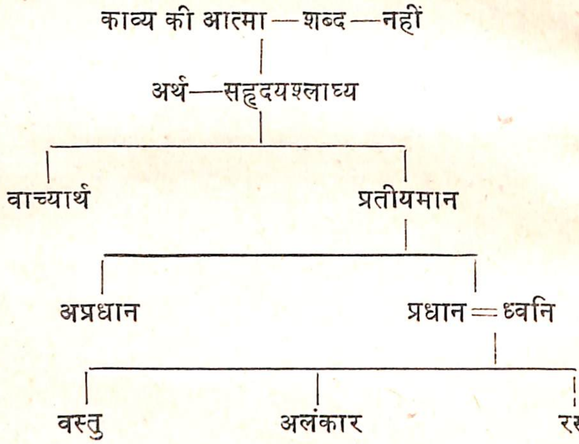
यही प्रतीयमान जब अन्य अर्थों की अपेक्षा प्रधान रूप से आह्लादकर होता है, तब 'ध्वनि' संज्ञा से मण्डित होता है। स्फोटात्मक शब्द के साम्य पर पहले व्यंजक शब्द को ही ध्वनि कहा गया, पर अन्ततः आनन्दवर्द्धन ने इन अर्थों में ध्वनि शब्द का प्रयोग किया। (1) व्यंजक शब्द तथा अर्थ; (2) व्यंग्य अर्थ, (3) व्यंजन या ध्वनन व्यापार, (4) वह काव्य जहाँ ये सभी हों। इस ध्वनि को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा—'जहाँ उपसर्जनी कृतात्मा अर्थ और उपसर्जनी कृतार्थ शब्द अर्थात जहाँ अर्थ अपने आपको और शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर, किसी अतिरिक्त अर्थ की व्यंजना करे, वहाँ ध्वनिकाव्य का व्यवहार होता है।' इस

परिभाषा में अर्थ-शक्ति मूल-ध्वनि और शब्दशक्ति मूल-ध्वनि—ध्वनि के द्विविध भेदों को लक्ष्य में रखकर लक्षण किया गया है।

रसध्वनि ही काव्यात्मा

इस ध्वनि या प्रधानतः प्रतीयमान अर्थ के, तीन रूप होते हैं—वस्तुध्वनि, अलंकार-ध्वनि तथा रसध्वनि। इनमें से वस्तु तथा अलंकार तो वाच्य भी हो सकते हैं, परन्तु रस सदा प्रतीयमान ही होता है। काव्य की आत्मा (प्रतीयमान) के सम्बन्ध में विचार करते हुए आनन्दवर्द्धन के तीन तरह के वक्तव्य आपाततः दृष्टिगोचर होते हैं—

1. काव्यस्यात्मा ध्वनिः
2. सहृदयश्लाघ्य अर्थ काव्य की आत्मा है और उसके दो भेद हैं—वाच्य तथा प्रतीयमान।
3. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथाचारिकवेः पुरा।
   क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥
   अर्थात्—



वस्तुतः भूमिका बाँधते हुए अरुन्धती-वसिष्ठ न्याय से सूक्ष्मतम आत्मतत्व के रूप में **ध्वनित** रस की ही प्रतिष्ठा की है। इसीलिए इतिहास का साक्ष्य देते हुए बताया कि वाल्मीकि का शोक ही उफनकर श्लोक बन गया। आदिकाव्य करुणरस की ही परिणति है। आनन्दवर्द्धन ने स्पष्ट कहा है—"…रसादिरूप व्यंग्यतात्पर्यमेवैषांयुक्तमिति यत्नोऽस्माभिराख्यो न ध्वनि प्रतिपादन मात्राभिनिवेशेन"।[1] 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ के निर्माण द्वारा केवल ध्वनि के प्रतिष्ठापन में ही सारा तात्पर्य पर्यवसित है—ऐसा नहीं, प्रत्युत परम तात्पर्य, ग्राहक तथा कवि, दोनों की दृष्टि से, रसध्वनि की स्थिति बताने में है। इस ध्वनि को सामान्य रूप से परिभाषित कर लेने के बाद, उसके प्रभेदों का भी उल्लेख किया गया है। वैसे तो ध्वनिभेद के नाम पर, उसे वे गणनातीत कहते हैं, पर उदाहरणों के साक्ष्य पर उसके

14 भेद कहे जा सकते हैं—अविवक्षितवाच्य के चार और विवक्षित वाच्य के दस, कुल मिलाकर चौदह भेद।

काव्यहेतु— प्रतिभा नामक परवाग्देवता

काव्यस्वरूप, **काव्यप्रयोजन** तथा **काव्यात्मा** के बाद काव्यहेतु की बात आती है। काव्यहेतु के साथ महाकवि विषयक अवधारणा भी जुड़ी हुई है। चतुर्थ उद्योग में वे कहते हैं —"येषां सुकविनां प्राक्तनपुण्यपरिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थ-परिग्रह निस्पृहाणां स्वव्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते। सै व भगवती सरस्वती स्वयमभिमनमर्थमाविर्भावयति। एतदेव महाकवित्वं महाकवीनाम्" अर्थात काव्य मनःस्थिति विशेष में होता है, जो प्राक्तन पुण्य के परिपाक का सुफल है। इस विशेष क्षण में जो काव्य प्रवृत्ति होती है, उसमें कवि का संकल्प होता है कि वह कुछ अपूर्व और नया कहेगा। नयापन लाना अभीष्ट रहता है, अतः दूसरों की रचना के प्रति तो वह निःस्पृह रहता ही है—उनसे तो उधार लेता ही नहीं, आनन्दवर्द्धन का कहना है कि उसे स्वार्जित का भी बोधपूर्वक उपयोग नहीं करना चाहिए। फिर कविता होगी कैसे? उत्तर है—सरस्वती ही अभिमत अर्थ का प्रकाशन करेगी। महाकवियों के महाकवित्व का यही रहस्य है। यह प्रतिभा नामक परवाग्देवता ही है जो संकल्पित अर्थ को प्रकट करती है। इसीलिए अन्यत्र उन्होंने यह भी कहा है कि सर्जक की ओर से जो प्रतिभा नामक परवाग्देवता सक्रिय रहती है, वही ग्रहण के समय ग्राहक को स्वतः प्रस्नुत कामधेनु की भाँति वाग्धेनु रस को निःष्यन्दित करती है और ग्राहक रसावेश में उस प्रतिभा का भी साक्षात्कार कर लेता है। यही वह प्रतिभा है जिससे महाकवि की पहचान होती है। इसी निकष पर कसने से अपार महाकवि परम्परावाही संसार में दो-तीन या अधिक-से-अधिक चार-पाँच लोग महाकवि के रूप में उन्हें दिखायी पड़े। इसकी पहचान यह भी है कि इसके द्वारा निर्मित काव्य 'प्रसन्न' और 'गम्भीर' होता है। इसके द्वारा प्रयुक्त शब्द 'ध्वनि' कहा जाता है। यह ऐसा शब्द होता है, जिसके द्वारा प्रकाश्य चारुता प्रकारान्तर से किसी भी व्यापार से प्रकाशित नहीं हो सकती। साथ ही इनका अभीष्ट 'अर्थ' और उसका व्यंजक 'शब्द' कुछ और ही होता है—ग्राहक को चाहिए कि वह उनका यत्नपूर्वक पुनः-पुनः अनुसन्धान या प्रत्यभिज्ञान करे। यही प्रतिभा काव्य का हेतु है। इसके द्वारा आह्लादानुरूप विभावादि संयोजन ही कवि का मुख्य कर्म है।

काव्य के प्रभेद की व्यवस्था

यह तर्कसंगत लगता है कि जब प्रतीयमान ही काव्य की आत्मा है तब उसकी दो ही स्थितियाँ हो सकती हैं—विवक्षित तथा अविवक्षित। विवक्षित होने पर भी दो ही पक्ष सम्भव हैं—प्रधान और अप्रधान। प्रधान है तो ध्वनिकाव्य और अप्रधान है तो गुणीभूत व्यंग्य। यदि प्रतीयमान रहते हुए भी जहाँ विवक्षित ही नहीं है वहाँ काव्य ही नहीं मानना चाहिए। वह काव्य नहीं, काव्य-चित्र है। निष्प्राण काव्य है।

यह निष्प्राण या चित्र-काव्य शब्द-चित्र तथा अर्थ-चित्र रूप, दो प्रकार का हो सकता है। निश्चय ही **अर्थगत चमत्कार** के आधार पर काव्य के भेद पहले-पहल इन्हीं द्वारा उद्भावित किये गये हैं।

गुण आत्मभूत रस के धर्म

काव्यचारुता के स्रोतों के विषय में भी आनन्दवर्द्धन ने ही सर्वप्रथम पहल की और पहल अपने ढंग की। इन्होंने तीन ही गुण माने—माधुर्य, ओज और प्रसाद। वे उपचारतः शब्दार्थनिष्ठ भी हो सकते हैं—आत्मभूत रसगत तो हैं ही। वे पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति न तो उन्हें संघटनात्मक कहते हैं और न ही संघटनाश्रित, प्रत्युत संघटना ही उनके आश्रित है। रहते हैं ये गुण आत्मभूत रस में ही, पर शरीर के माध्यम से उनका प्रकाश होता है। रसानुभूति में आर्द्रता की अनुभूति का निमित्त माधुर्य, दीप्ति का ओज और निर्मलता या स्वच्छता का प्रसाद है। सामान्यतः संघटनात्मक गुण नियन्त्रित ही होते हैं पर कभी-कभी वक्ता और वाच्य के अनुरोध से अन्यथा भी हो जाता है।

अलंकार अंगाश्रित धर्म

अलंकार के विषय में उनकी मान्यता है कि अंगी के सहारे गुण रहते हैं और अंग के सहारे अलंकार। प्रतिभासम्पन्न कवियों के यहाँ ये 'अपृथग्यत्न निर्वर्त्य' होते हैं, जबकि व्युत्पत्ति और अभ्यासवालों के यहाँ अन्यथा। प्रातिभ कवियों की रचना, रसावेश में सक्रिय प्रतिभा की विभावादिसंयोजनात्मा प्रक्रिया में, स्वतः, यथास्थान बैठते चले आते हैं। उनके लिए पृथक् से यत्न नहीं करना पड़ता। प्रयत्न रसावेश की अभिव्यक्ति के लिए होता है। अलंकार उसी प्रयत्न में खिंचे चले आते हैं। जिन लोगों के पास ऐसी प्रतिभा नहीं है—उन्हें अलंकार का नियोजन करते समय निम्न-लिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—(1) रसानुरूप साधन हों, (2) अंगीरूप में विनिर्मुक्त न हो जायँ, इसके प्रति सावधान रहें, (3) अवसर देखकर ग्रहण किये जायँ, (4) अवसर उपयुक्त न हो तो गृहीत का त्याग भी कर दिया जाना चाहिए, (5) इस बात का अभिनिवेशया दुराग्रह न होना चाहिए कि किसी अलंकार का अन्त तक निर्वाह करना ही है, (6) और अन्ततः नियोजित का प्रभाव ग्रहण करके देखना चाहिए कि जैसा प्रभाव अंगरूप में उसका होना था वैसा हो तो रहा है।

दोषविचार भी रसाश्रित

इसी प्रकार दोष का विचार भी 'रस' ध्वनि को ही केन्द्र में रखकर किया गया है। इसको केन्द्र में रखने पर ही, उसकी नित्यता-अनित्यता का विचार सम्भव है। रसप्रवाह में बाधा डालने पर ही दोष, दोष होता है—अन्यथा, वह अदोष ही है। निष्कर्ष यह कि सभी धर्मों का विचार धर्मी काव्यात्मा, रस को ही केन्द्र में रखकर किया गया है।

रस की सर्वापहारी और सर्वातिशायी व्यापक सत्ता

भरत ने केवल दृश्यकाव्य में ही 'रस' को प्रयोजन रूप में प्रतिष्ठित किया था, जबकि आनन्दवर्द्धन ने दृश्य के साथ-साथ श्रव्यकाव्य में भी उसकी प्रतिष्ठा की। इसी तरह प्रबन्ध की भाँति मुक्तक में भी उन्होंने रस को निष्पाद्य ठहराया। इनका तर्क है कि काव्यवस्तु, चाहे वह प्रौढ़ोक्ति सिद्ध हो या स्वतः सम्भवी, विहीत हो नहीं सकता और वस्तु ऐसी नहीं हो सकती जो कविप्रतिभा का संस्पर्श पाकर मन पर सुखद असर न डाले और यह सुखद मनोवृत्ति ही रस है, अतः काव्य हो और रसशून्य हो, यह भी अकल्पनीय है। रसानुभव सर्वोपरि होता है; अतः विचार करने पर सर्वत्र रसध्वनि की स्थिति सिद्ध होती है। फिर यदि ग्राहक को निर्लिप्त ही रखना हो, तो काव्य-प्रक्रिया में प्रवृत्ति क्यों होगी? इस प्रकार—

"तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः।"[2]

फिर भी इस वस्तु सत्य के बावजूद कवि की विवक्षा ही उसकी वाक्‌रचना की परिणति के विषय में सबकुछ है। काव्यसंसार कविप्रजापति की इच्छा के अधीन है। यदि उसकी इच्छा विवक्षा रसभावादि शून्य है—प्रतीयमानप्रवण नहीं है—शब्दालंकार या अर्थालंकार के प्रदर्शन में ही रत है, तो रस या प्रतीयमान की स्थिति दुर्बल हो जाती है। इसलिए, काव्यचित्र या निष्प्राण-काव्य की भी स्थिति आ सकती है। लेकिन ऐसी विवक्षा नौसिखुओं में ही होती है, परिपक्व बुद्धिवालों में नहीं। परिणत प्रश्नों की विवक्षा रसमयी भी होती है और यदि रसभावादिमग्न विवक्षा हुई तो ऐसी कोई वस्तु है नहीं, जो उसका अंग न बन जाय। निष्कर्ष, यदि नौसिखुओं की बात छोड़ दी जाय तो—

"प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यमितिस्थितमेतत्"[3]

परिणत प्रश्न लोगों के लिए यह सर्वथा दृढ़ सिद्धान्त है कि काव्य तो रसध्वन्यात्मक ही होता है, जिसकी प्रतीति व्यंजना-व्यापार से होती है। निर्माण या ग्रहण—दोनों ही दृष्टियों से निरूपित, यह सिद्धान्त कवि और सहृदय ग्राहक के लिए परा-प्रकर्ष-पदवी पर अभिषिक्त करा देगा। इस ध्वनि काव्य के भेदों की कोई इयत्ता नहीं है—शुद्ध, संकर तथा संसृष्टिवश यह निरवधि हो जाता है।

काव्य की नवता भी रसाश्रित

ध्वनि के लिए इस आनन्त्य से एक अनुभव और सिद्ध हो जाता है और वह यह कि ध्वनिगत आनन्त्य से अर्थगत आनन्त्य, अर्थगत आनन्त्य से प्रतिभागत आनन्त्य और प्रतिभागत आनन्त्य से वाणी में नवत्व और इस वाग्गत नवत्व से कवि का कवित्व निरवधि बना रहता है। कुछ लोग यह सोचते हैं कि वर्णनीय वस्तु विषयक प्रज्ञा विशेष ही तो प्रतिभान है। यह वर्णनीय सामग्री योगी की ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय नहीं है, जिसमें अनावर्तन शील वैयक्ति विशेष विद्यमान हो। यह तो कवि के प्रतिभानकाल में स्फुरित होनेवाली पूर्वानुभूत सामग्री ही है। उसमें भी उसकी सीमा यह है कि कट-छँटकर वह उतनी ही आती है, जितना ग्राहक के, ग्राहकप्रतिभान में भी आ सके। फिर काव्य

शब्द से अर्थ उतना ही तो प्रतीत होगा, जितने में सांकेतिक होगा। वह सामान्यात्मक होने से परिमित है, फलतः निर्माण और ग्रहण, दोनों दृष्टियों से वर्ण्य सामग्री ही जब परिमित है, तब उसी के बल पर सक्रिय प्रतिभा कैसे अपरिमित हो जायेगी ? इस प्रश्न का समाधान भी ग्रहीता और निर्माता की रसमयी मनोदशा ही है। आनन्द-वर्द्धन कहते हैं —

"सर्वे नवा इवाभान्ति काव्ये रस परिग्रहात्"[4]

नया का अर्थ **नया-सा** है, सर्वथा नया नहीं, और वह सामग्री के रसस्नात होने से होता है।

प्रदेय

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन के प्रदेय यों हैं—

1. प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है जो प्रसिद्ध अर्थ से अतिरिक्त है। परिणत प्रश्नों की रचना में वही रस ध्वनित है। व्यंग्य-व्यंजक भाव के अनन्त होते हुए कवि को, रसमय काव्य के प्रति सावधान होना चाहिए।

2. इसी आह्लादमय प्रतीयमान को केन्द्र में रखकर काव्य का समग्रता में चिन्तन करना चाहिए।

3. यह प्रतीयमान, शब्द के व्यंजनाव्यापार से मिलता है।

सन्दर्भ

1. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक, चौखम्भा संस्करण, पृ. 364
2. वही, पृ. 497
3. वही, पृ. 499
4. वही, पृ. 528

आचार्य अभिनवगुप्तपाद

जीवनवृत्त

परम्परा में 'अभिनव' नाम के चार विद्वानों का उल्लेख मिलता है। इनमें से एक हैं, जिनका आदि शंकराचार्य से शास्त्रार्थ हुआ था। ये कामरूप देश के थे। शेष तीन दशम ईसवीय शतक के हैं, जिनका निवास स्थान कश्मीर था। निश्चय ही परवर्ती तीन में से ही ये अभिनवगुप्त एक हैं। जिस 'लोचन' तथा 'अभिनवभारती' नामक काव्यशास्त्रीय तथा नाट्यशास्त्रीय टीकाकार अभिनवगुप्त का यह प्रसंग है—उन्होंने स्वयं को 'लोचन' में 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' के रचयिता श्रीमदुत्पलदेव का प्रशिष्य कहा है और तन्त्रालोक में अपने पूर्वजों का उल्लेख करते हुए बताया है कि इनके पूर्वज मध्यदेश की अन्तर्वेदी में कान्यकुब्ज जनपद के निवासी थे। इनके पूर्वजों में अभिगुप्त का निवास स्थान यहीं था। उस समय उस जनपद पर यशोवर्मा नामक राजा राज्य कर रहा था। ललितादित्य ने यशोवर्मा को पराजित किया और विजयश्री के द्वारा आलिंगित होने पर वह विद्वत् शिरोमणि अभिगुप्त को भी कश्मीर ले आया था। वहाँ उन्हें वितस्ता के किनारे प्रवरपुर के पास अचल सम्पत्ति देकर बसाया। इस अभिगुप्त के वंश में वराहगुप्त, उनके पुत्र नरसिंहगुप्त थे। अभिनव इन्हीं नरसिंहगुप्त के पुत्र थे। इनकी माता का नाम था दुस्सला। कुछ लोग "विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहाजननी" के साक्ष्य पर माता का नाम विमलकला भी मानते हैं। अपने ग्रन्थों में इन्होंने अनेक लोगों का प्रसंग नामोल्लेखपूर्वक दिया है। विशेषकर अपने चाचा वामन का, जो अच्छे कवि भी थे। एक ओर अपने चचेरे भाइयों क्षेमगुप्त, उत्पलगुप्त, अभिनवगुप्त, चन्द्रगुप्त तथा पद्मगुप्त आदि का उल्लेख करते हैं तो दूसरी ओर कश्मीर नरेश यशस्कर के ब्राह्मण मन्त्री वल्लभ, पुत्र शौरि, पौत्र कर्ण, कर्ण के मित्र मन्द्र, पत्नी अम्बा तथा मन्द्र की चाची वत्सला आदि का भी उल्लेख किया है। प्रसिद्धि है कि प्रसिद्ध ग्रन्थ तन्त्रालोक मन्द्र के ही अनुरोध पर वत्सला द्वारा दिये गये भवन में रहकर लिखा था।

जहाँ तक अभिनव के समय का सम्बन्ध है—अपने ग्रन्थों में स्वयं इन्होंने काल-निर्देश किया है और परवर्ती ग्रन्थकारों ने भी इनका सादर स्मरण किया है। ऊपर

कहा गया है कि दसवीं शती के तीन अभिनवगुप्तों में से एक यह थे। निवास तो कश्मीर था ही। इनके द्वारा लिखित 45 ग्रन्थों की सूची तो मिलती ही है— साहित्यदर्शन प्रस्तुत करनेवाली 'लोचन' और 'अभिनवभारती' नामक टीकाओं का स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही भाँति उल्लेख किया जाता है। इन ग्रन्थों में से 'क्रमस्तोत्र' का रचनाकाल 990-91 ई., 'भैरवस्तोत्र' का 992-993 ई., ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृतिविमर्शिनी का 1014-15 ई. दिया हुआ है। यह प्रामाणिक कालावधि 25 वर्षों की है। अब यदि यह मान लिया जाय कि इन कृतियों के निर्माण के बाद 10-15 वर्ष भी जीवित रहे हों, तो उनके जीवनकाल की अन्तिम सीमा 1030 मानी जा सकती है। जहाँ तक पूर्वसीमा का सम्बन्ध है, ई. 950 तो निर्विवाद है। कारण, तन्त्रालोक इनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और इसके पूर्व कुछ ग्रन्थ अवश्य लिखे जा चुके होंगे। इस ग्रन्थ में उन्होंने अपनी जिन विशिष्ट वृत्तियों का उल्लेख किया है, वे प्रौढ़ तारुण्य की सूचना देती हैं। यदि तन्त्रालोक का निर्माणकाल 40 से 50 वर्ष के बीच की वय में मान लिया जाय और यह वय लगभग ई. 1000 में हो, तो होना सम्भव है। बात यह है कि अभिनव में जिज्ञासा का ऐसा भूमा था कि उन्होंने विविध विषयों के ज्ञान के लिए, अनेक गुरुओं का शिष्यत्व ग्रहण किया था। कहा जाता है कि लगभग 25 गुरुओं से पढ़ चुके थे। इतना सब होते-होते 40-50 वर्ष की अवस्था होनी सम्भव है। इस प्रकार यदि तन्त्रालोक का रचनाकाल ई. 1000 मान लिया जाय तो 50 वर्ष की अवस्था मानकर उनका आरम्भ काल लगभग 950 ई. माना जा सकता है। इस प्रकार इनकी स्थिति 950-1030 ई. के बीच मानी जा सकती है।

अभिनव के पूर्वज परम माहेश्वर अथवा शैव थे। पितामह, पिता तथा माता सभी शिवोपासक थे। शिव और शिवा रूप में अपने को समझनेवाले पिता और माता से उत्पन्न होने के कारण इन्हें 'योगिनीभू' कहा जाता है। उस समय का उनका सारा वातावरण ही शिवमय था। इनकी माता का अल्पवय में ही निधन हो गया था। पिता विरक्त जीवन व्यतीत कर रहे थे, फलत: इस स्थिति में अभिनव अधिकांश गुरुकुलों में ही पर्यटन करते रहे और अन्ततः स्वयं भी विरक्त हो गये। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के कहीं संकेत नहीं मिलते। सारा जीवन अध्ययन, मनन, लेखन तथा निदिध्यासन में बीता। अभिनवगुप्त अपने साहित्यशास्त्र के गुरुओं में इन्दुराज को बहुत महत्त्व देते थे और उन्हें व्यास तथा वाल्मीकि की पंक्ति में रखते थे। अभिनवगुप्त को विरासत में 1200 वर्षों की अक्षुण्ण साहित्य-परम्परा प्राप्त थी। सभी ग्रन्थ उपलब्ध थे। संगीत और नाट्य के निष्णात प्रयोक्ता और नाट्यमण्डप सुलभ थे। वे स्वयं सहृदय तथा प्रतिभासम्पन्न थे। इन सबके कारण उनका जो विशिष्ट रूप उभरा, औरों के लिए वह सुलभ न था। प्रसिद्धि है कि श्रीनगर और गुलमर्ग के बीच कोई भीरुआ नाम का गाँव है और उसी के पास इसी नाम की गुफा भी। इस गुफा में भैरवस्तोत्र का पाठ करते हुए अभिनव ने उसी गुफा में समाधि ले ली। शिष्यों में कितनी श्रद्धा थी, इसका पता उनके शिष्य द्वारा निम्नलिखित श्लोक

में मिलता है—

> अभिनवगुरुसारस्वत मार्तण्डमरीचिपरिचयोन्निद्रे ।
> हृद्‌पुण्डरीककुहरे निवसति नियमेन मोक्षलक्ष्मीर्नः ।।

अभिनवगुप्त सच्चे अर्थों में सद्‌गुरु हैं । सारस्वत क्षेत्र में तो सूर्य ही हैं, अज्ञानान्धकार के विनाशक । आराधक शिष्यों का हृद्‌कमल इस सूर्य की रश्मियों से उत्फुल्ल हो जाता है । परिणाम यह होता है कि हृदयकमल को मोक्ष-लक्ष्मी ने स्वयं अपना लिया है । निःसन्देह अभिनवगुप्त एक महान दार्शनिक, काव्य मर्मज्ञ, संगीत निष्णात, नाट्यरसिक तथा शिव के अनन्य उपासक भक्त थे । साहित्यचिन्तन को दार्शनिक आभा से मण्डित करने का श्रेय इसी विद्वान को है ।

साहित्य-सिद्धान्त और प्रदेय

अभिनवगुप्त 'लोचन' और 'अभिनवभारती' जैसी टीकाएं लिखकर ही साहित्य-शास्त्र में आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गये । यद्यपि 'परात्रिंशिका', 'तन्त्रालोक', 'प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी' प्रभृति अपने तन्त्र ग्रन्थों में भी उन्होंने यहाँ-वहाँ अत्यन्त मार्मिक सूत्र-संकेत दिये हैं, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हुए उस सन्दर्भ में आनुषंगिक ही हैं। यद्यपि आनन्दवर्द्धन भी दार्शनिक हैं—भक्त हैं, पर उनके विवेचनों में वह दार्शनिक रंग नहीं उभरा जो अभिनव की विवेचनाओं में मिलता है । वे कश्मीरी शैवागम के अद्वैतवादी प्रत्यभिज्ञा प्रस्थान के आचार्य हैं । इसलिए अपनी तत्वदृष्टि में केन्द्रित एवं प्रतिष्ठित रहकर ही उन्होंने काव्यचिन्तन किया । 'रस' की काव्य-नाट्य **प्रस्तुति** से लेकर **प्रक्रिया** और परिणति तक, जो गम्भीर दार्शनिक और कहीं-कहीं साम्प्रदायिक रंग भी दिया है, वह उल्लेख्य है। परवर्ती रसव्याख्या के ये मेरुदण्ड हैं। आनन्द-वर्द्धन ने रससूत्र की व्याख्या नहीं की, यद्यपि ध्वन्यात्मक व्यापार की जमकर प्रतिष्ठापना की । अभिनवगुप्त के विवेचन को उनकी दार्शनिक पदावली और साम्प्रदायिक मान्यताओं से अपरिचित व्यक्ति नहीं समझ सकता ।

संक्षेप में उनका मत यह है कि चरमसत्ता 'परमशिव' है। सिसृक्षा काल में यही परमतत्व द्विधा विभक्त हो जाता है—शिवतत्व और शक्तितत्व । पहला प्रकाश है, दूसरा विमर्श । विमर्श-दर्पण में ही प्रकाश अपनी सम्पूर्ण अहंता का बोध कराता है । **शिवशक्ति** तत्व के आन्तर निमेष को **सदाशिव** (शांकरवेदान्त का ब्रह्म) और बाह्य उन्मेष का नाम **ईश्वर** है । सदाशिवतत्व में अहमंश का प्राधान्य और इदमंश अव्यक्त रहता है। ईश्वर तत्व में इदमंश की स्फुट अभिव्यक्ति हो जाती है, पर रहते दोनों अभिन्न ही हैं । **शुद्धविधा** में अहम्-इदम् समकक्ष हो जाते हैं । **आणवमल** से स्वरूप विस्मृति, **मायीयमल** से अहम् और इदम् का पार्थक्य तथा **कार्यमल** से जाति, आयु तथा योग का आरम्भ हो जाता है। **माया** सहित **राग, कला, काल, विद्या** और **नियति** शिव को पुरुष या जीव की भूमिका में तथा इदमंश को प्रकृति की भूमि पर अवतीर्ण कराते हैं। सांख्य के 25 और प्रत्य-भिज्ञा के 11 तत्वों को मिलाकर कुल 36 तत्व हैं। इसीलिए अभिनव ने नाट्य-

शास्त्र के छत्तीस अध्यायों को प्रत्यभिज्ञा के छत्तीस तत्वों के सन्दर्भ में संगत बताकर अपनी दृष्टि का संचार किया—

षट्त्रिशर्कं भरतसूत्रमिदं वितृण्वन्वंदे शिवं श्रुतिमहार्थविवेकधाम।

अर्थात् छत्तीस अध्यायवाले इस भरतसूत्र की व्याख्या करते हुए मैं छत्तीस तत्वों से युक्त जगदाकाश को प्रकाशित करनेवाली ज्ञानज्योति की रश्मियों से सुशोभित वेद तथा उसके अर्थज्ञान के आश्रय तेजस्वरूप शिव को नमस्कार करता हूँ। इससे अभिनव का प्रस्थान स्पष्ट है। 'लोचन' में भी यही शैवी दृष्टि आद्यन्त व्याप्त है। उन्होंने सारस्वत तत्व का नाम दिया, कवि-सहृदय और बताया कि सारस्वत तत्व प्रख्या और उपाख्या (दर्शना और वर्णना अथवा करना और जानना) के माध्यम से अपूर्व सृष्टि करता है, प्रस्तरसदृशनीरससृष्टि को सरस करता है और वैसा ही भासित भी करता है।

अभिनव और सारस्वत तत्व —**कवि : काव्य : काव्यहेतु—काव्यरचनाप्रक्रिया**

भारतीय रहस्यदर्शी किन्तु दार्शनिक मनीषियों की सरणि है, समाधिभाषा; परोक्षवाद [परोक्षम् अस्पष्टं समाधिगम्यं वदतीति परोक्षवादाः] भागवत कहता है—"परोक्षवादाः ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम्।" फलतः इस भाषा का प्रयोग करते हुए वे कहते हैं—

यदुन्मीलनशक्त्चैव विश्वमुन्मीलति क्षाणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां वंदे तां प्रतिमां शिवाम्॥

यहाँ कवि की प्रतिभा को शिव की शिवा के साथ रखकर देखा गया है और विश्व-सृष्टि तथा शैवी सृष्टि में प्रक्रिया और परिणति की एकरूपता संकेतित की गयी है। शैवीदृष्टि में जिसके स्पन्दित होते ही विश्व स्फुरित होने लगता है, वह शिवा नमस्कार्य है। वह शिवा निरन्तर अपने स्वरूप में ही विश्रान्त रहती है। विश्रान्ति ही तो आनन्द है—विश्व इसी आनन्दभरित शक्ति की छलकन ही तो है, और है क्या? अभिनव के गूढ़ आशय को स्पष्ट करनेवाले कहते हैं कि प्रत्येक कवि अपनी काव्यसृष्टि में उसी प्रक्रिया से गुजरता है, उसी शक्ति के सहारे। काव्य के सन्दर्भ में, काव्यसृष्टि के सन्दर्भ में भी, वही शक्ति **प्रतिभा** नाम से सक्रिय है। वही प्रतिभा कवि-हृदय में निरन्तर वासना के रूप में विलीन रहकर विद्यमान रहती है। यह प्रतिभा शिवा है, रसावेशवैवद्यसुभग है। यह प्रतिभा वर्णनीय वस्तुनिष्ठ प्रज्ञाविशेष का ही नामान्तर है। इसके उन्मीलित होते ही बाहर तदनुरूप विश्वाभास होने लगता है। अभिनव आनन्दवादी हैं—फलतः वे मानते हैं कि काव्य तो वस्तुतः रसमय ही है (**रसस्यैव वस्तुतः काव्यात्मत्वात्**) और वह रसमय काव्यानन्द आत्मानन्दामृताम्भोधिलहरी की एक बूँद-भर है जो हममें निरन्तर विश्रान्त है। तुलसी 'सीकर ते त्रैलोक्य सुभासी' और घनानन्द 'ताको कोउ तरल तरंग कन छूट्यो' से, यही दुहरा रहे हैं। मायूराण्ड रसन्याय से वही आनन्दकण स्थूल-स्थूलतर होता हुआ विभावादि योजना से लेकर अनुरूप शब्द घटना के रूप में व्यक्त होता है। व्यक्ति

रचयिता हो ही नहीं सकता, जब तक वह अपनी सीमाओं से चिपकी चेतना को मुक्त नहीं कर देता। सीमित चेतना को विराट् चेतना में विसर्जित नहीं कर देता। आनन्दानुभूतिमयी प्रतिभा, प्रतिभा ही नहीं है, जब तक सीमाओं से मुक्त नहीं होती। व्यावहारिक स्तर की चेतना, जब तक विराट् चेतना (सीमामुक्त होती हुई) नहीं बन जाती तब तक वह रसमय काव्य-सृष्टि कर ही नहीं सकती। आनन्द पूर्णता का दूसरा नाम है। पूर्णता ही विश्रान्ति है और जब तक इसका परामर्श नहीं होता, रसमयता नहीं होती। इसके लिए अपूर्णता से चेतना को मुक्त करना पड़ता है। मुक्ति 'विषय' की भूमिका पर हो या 'भाव' की भूमिका पर हो या उभयातीत स्वरूप की भूमिका पर हो—अर्थात् विषयानन्द हो या काव्यानन्द हो या स्वरूपानन्द हो। अभिनव ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी' में लिखा है—"स्वरूपस्य स्वात्मनः परिपूर्णनिजस्वभावप्रकाशनमेव परामर्शमयतांदद्यदानन्द इत्युच्यते··· यत्रापि अत्यन्तमन्यथाभावमतिक्रम्य सुखमास्वाद्यते अर्जनादिसंभाव्यमानविघ्नान्तर-जिरासाद् वैषयिकानन्दविलक्षणश्रृंगारादौ **नाट्यकाव्यादिविषये** तत्र वीतविघ्नत्वा-दैव असौ रसनाचर्वणा निर्वृत्तिः प्रतीतिः प्रभातृताविश्रान्तिरेव···।" अभिनव आदर्श-वादी दार्शनिक हैं। वे वस्तुसत्ता को आत्मसत्ता से पृथक् नहीं मानते, केवल उसकी आनन्दोच्छलित स्थिति का रूपान्तर मानते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में रस ही काव्य है—'रस एव नाट्यम् या नाट्य मेव रसः'—रस ही नाट्य है, नाट्य रस ही है। वैसे काव्य और नाट्य की रसमयता में थोड़ा अन्तर भी करते हैं—काव्यरस को वे 'परोक्षप्राय' कहते हैं और नाट्यरस को प्रत्यक्ष कहते हैं। उन्हें नाट्यरस में जैसी पूर्णता प्रत्यक्ष आस्वादगोचर होती है, वैसी काव्य में नहीं। उसका कारण 'तन्त्रालोक' में बताया है—कहा है—

तथा हृदयेकाग्रसकलसामाजिक जनः खलु।
नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते॥
तत एवोच्यते मल्लनटप्रेक्षोपदर्शने॥
सर्वप्रमातृतादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम्॥

× × ×

संवित्सर्वात्मिका देहभेदाद् या संकुचिता तु सा।
मेलकेऽन्योन्यसंघट्टप्रतिबिम्बाद्विकस्वरा॥
उच्छलन्निजरश्म्यौघः संवित्सु प्रतिबिम्बितः।
बहुदर्पणवद्दीप्तः सर्वांशेनाप्ययत्नतः॥
अतएवनृत्तगीतप्रभृतौ बहु पर्षदि।
यः सर्वतन्मयीभावो ह्लादोनत्वकैकस्य सा।
आनन्द निर्भरा संवित् प्रत्यक्षं खा तथैकताम्।
नृत्तादौ विषये प्राप्ता पूर्णानंदत्वमश्नुते॥

इस अन्तर के बावजूद आनन्दमय शक्ति को मूल मानना और इसी केन्द्र से सारी व्याख्या करना अभिनव का वैशिष्ट्य है।

अभिनव ने आनन्दमय प्रस्थानबिन्दु से काव्य और नाट्य को रसमय तो सिद्ध किया ही, उनको परिभाषित भी उसी केंद्र से किया यद्यपि आनन्द ने ही इसका बीजवपन कर दिया था, परन्तु अभिनव ने उसका दार्शनिकीकरण कर दिया। एक बात और भी की—विशेषकर नाट्य का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए। उन्होंने नाट्यानुभूति या काव्यानुभूति को सर्वथा स्वायत्त सिद्ध किया। उन्होंने बताया कि काव्य या नाट्य अपनी प्रस्तुति प्रक्रिया और परिणति में सर्वत्र, अर्जन, विसर्जन, प्रवण, व्यावहारिक अनुभूति से सर्वथा भिन्न है। उनको व्यवहार तथा शास्त्र सिद्ध किसी भी अनुभूति के खाने में नहीं रखा जा सकता। नाट्य की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा—"तत्र नाट्यं नाम लौकिकपदार्थव्यतिरिक्तं तदनुकार-प्रतिबिम्ब-आलेख्य-सादृश्य-आरोप-अध्यवसाय-उत्प्रेक्षा-स्वप्न-माया-इन्द्रजालादि विलक्षणं तद्ग्राहकस्य सम्यक्ज्ञानभ्रांति-संशय-अवधारण-अनध्यवसाय-विज्ञानभिन्न तथा आस्वादनरूप संवेदनसम्बन्धवस्तु रसस्वभावामिति वक्ष्यामः।" वैसे यह सबकुछ नाट्यशास्त्र के अपने अध्यापक भट्टतौत के नाम से सब कहते जाते हैं, पर उनके द्वारा साहित्य शास्त्र की परम्परा में, पहले-पहल ये सब बातें आयीं। वे कहते हैं कि प्रस्तुति की दृष्टि से विचार करें तो उसे व्यवहार में जितने समशील प्रसंग मिल सकते हैं, उनमें से एक भी नहीं है—अनुकरण, प्रतिबिम्ब, चित्र, सादृश्य, आरोप, अध्यवसाय, उत्प्रेक्षा, स्वप्न, माया और इन्द्रजाल कुछ भी नहीं। ग्राहक की अपनी प्रतीति की दृष्टि से देखें तो यथार्थज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशय, अनवधारण, अनध्यवसाय से भी भिन्न लगता है। वस्तुतः वह नाट्य आस्वाद स्वरूप साक्षात्कारात्मक ज्ञान से ग्राह्य **रसात्मक वस्तु** है। भरत ने जहाँ 'नाट्यं भावानुकीर्तनम्' कहा, वहाँ भी अभिनव ने 'अनुकीर्तन' का अर्थ 'अनुव्यवसाय' ज्ञात का ज्ञान—अनुभूत (वासना) की अनुभूति ही बताया। भरत ने जहाँ 'रस' को 'आस्वाद्य' कहकर वस्तुगत कहा था, वहाँ अभिनव ने 'आस्वादनात्मानुभवः रसः काव्यार्थं इष्यते', कहकर उसे आत्मगत बताया। तत्वतः वे आत्मा और वस्तु को पृथक् नहीं मानते, अतः बौद्धों का साक्ष्य देकर 'स्वाकार इव अभिन्न' बताया मम्मट ने।

काव्यरचनाप्रक्रिया

नाट्यप्रस्तुति से पूर्व काव्य है। काव्य की रचनाप्रक्रिया पर दृष्टिपात करते हुए उन्होंने रचना का क्रम इस प्रकार कहा है—"तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतांलोकिकशोकव्यतिरिक्तांस्वचित्तवृत्तिद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नः रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवच्चित्तवृत्तिनिः त्र्यंदस्वभाववागविलापादिपच्च समयानपेक्षत्वेऽपिचित्तवृत्तिव्यंजकत्वात्—इतिनयेन अक्तकतयैवआवेशवशात् समुचितच्छन्दोवृत्तादिनियंत्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः—विभावादिचर्वणाहृदयसंवाद→तन्मयीभवन→आस्वाद्यभाव की रसरूपता—परिपूर्ण कुम्भोच्चलनवत् रसपूर्ण हृदय का छलकना→अनायास समुचित छन्दोवृत्तादिनियंत्रित (काव्यात्मक) श्लोकात्मक परिणति।

सहृदय का स्वरूप

इस रस की फलात्मक परिणति, सहृदय सामाजिक में होती है। अतः 'सहृदय' शब्द की भी इनकी नयी व्याख्या मिलती है।

- सहृदय—अर्थ
  - रूढ़िशक्तिगम्य
  - योगशक्तिगम्य
    - समान हृदयवाला
    - हृदयसहित
      - विमर्शात्मक हृदयसहित
      - उत्कृष्ट हृदयसहित
        - उत्कर्ष के स्रोत
          - प्रमातृवैशिष्ट्यवश
          - प्रमेयवैशिष्ट्यवश
          - चित्तवैशिष्ट्यवश

परात्रींशिका या परात्रिंशिका में अभिनव ने कहा है—'वीर्यविक्षोभात्मा हि सहृदयता'। शुक्रशरीर के स्तर पर मूलशक्ति का ही सार है—काव्यानन्द की अभिव्यक्ति उसके निष्क्रिय होने में नहीं, उत्तेजित होने में नहीं—अपितु 'चल' (स्पन्दित) होने में है। यह स्थिति संयम से सम्भव है। इसलिए नाट्यपरिवेश की रागोत्तेजक सामग्री अ-हृदय (असंयत) लोगों के लिए व्यसनता पैदा करती है जबकि वही सामग्री सहृदयों के हृदय को परिष्कृत कर समुन्नत भूमि पर पहुँचती है। शक्ति के संयत रहने पर सौन्दर्य समग्रता में ग्रहीत होता है और वह रचनात्मक होता है। अभिनव ने सहृदय का अर्थ समान हृदयवाला कहकर ग्राहक और आश्रय के तादात्म्य की ओर संकेत किया है। 'हृदय' का अभिधा में अर्थ करते हुए उसे प्रकाश-विमर्शमय-परमसत्ता के विमर्शांश का पर्याय कहा है और कहा है कि 'भाव' की भूमि पर जब संविद केन्द्रित रहकर विश्रान्त होती है तब 'विमर्श' जिसे 'हृदय' कहते हैं, उसकी प्रधानता रहती है और जब ऐन्द्रिय विषय पर चेतना एकाकार रहती है तब प्रकाशांश उद्रिक्त रहता है और ऐसी दशा में प्रमाता ग्रहीता कहा जाता है। विमर्श रूप 'हृदय' की जिसमें प्रधानता हो—वह सहृदय कहा जाता है। सहृदय का उन्होंने एक और अर्थ भी किया—वह हृदय जिसमें आस्वादोपयोगी योग्यता या उत्कर्ष हो। इसके अर्जन के लिए तीन स्रोत बताये गये 1. वर्णनीय तन्मयीभवनयोग्ता, 2. तादात्म्यसमापत्तियोग्ता, 3. स्वहृदयसंवादभाजकता वह उत्कृष्ट 'हृदय' है जिसमें वर्णनीय से तन्मय हो जाने की योग्यता हो अथवा आश्रय से तादात्म्यापन्न हो जाने की योग्यता हो अथवा जिसका हृदयसंवाद में प्रमाण हो या जिसका हृदय

संवादशाली हो।

भरत के रससूत्र की भी अभिनव की अपनी व्याख्या है। इनकी व्याख्या अभिव्यक्तिवादी मानी जाती है। अभिव्यक्तिवाद व्यक्ति या व्यंजनावाद है, जो काम भट्टनायक भावना और भोग के बल पर सम्पन्न करते थे, अभिनव वही काम व्यंजना के बल पर कर रहे हैं। भट्टनायक ग्राहक के अपने स्थायी भाव की अभिव्यक्ति की बात नहीं कर रहे थे, अपितु विभावादि से सम्बद्ध स्थायी ही साधारणीकृत होकर सर्वजनसंवेद्य हो जाता था। अभिनव दोनों ही बातें नहीं मानते। वे काव्यानन्दात्मक प्रतीति के दो भाग मानते हैं—एक प्रकाशमय संविद् का, दूसरा चित्तवृत्तियों का। पहला, अभिनव से पूर्व ही आगमों तथा सोमानन्द और उत्पल के विवेचनों में आ चुका था—तथापि काव्यानन्द के सन्दर्भ में उनके विनियोग की पहल अभिनवगुप्त ने ही की। इनकी धारणा अपने दर्शन के अनुसार यह है कि आनन्द तो एकमात्र आत्मपरामर्श से ही होता है—चाहे वह विषयों की भूमिका में हो, चाहे भावों की भूमिका में, चाहे निजचित्स्वभाव की भूमिका में। भावों की भूमिका में होनेवाले आत्मपरामर्श में प्रकाशांस वेद्यविश्रान्त होता है, किन्तु विमर्शांश चित्तवृत्ति में अपेक्षाकृत उद्रिक्त होता है। विमर्श या हृदय की इसी प्रधानता के कारण, इस प्रतीति को सहृदयता भी कहते हैं। इस प्रकार निष्कर्ष यह कि भावों की भूमिका में आत्मपरामर्श होने से जो संविद् विश्रान्ति होती है, वही काव्यानन्द या रसानुभूति है। विषयानन्द में चित्त के व्यावहारोपयोगी अर्जन—विसर्जन में अविश्रान्त रहने से जो विघ्न होता है वह यहाँ नहीं होगा—इसलिए इस प्रतीति को 'वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्य' कहते हैं। व्यावहारात स्थायीभाव से रसोन्मुखी या रसपर्यवसित स्थायी विलक्षण होता है—इसलिए 'स्थायी विलक्षणो हि रसः' भी कहा जाता है।

जिन विघ्नों से यह प्रतीतिरहित या शून्य होती है, वे कुल सात प्रकार के होते हैं—सम्भावनाविरह, स्वपरातदेशकालविशेषावेश, निजसुखादिविवशीभाव, प्रतीत्युयापवैकल्य, स्फुटत्वाभाव, अप्रधानता, संशययोग। सर्जक और ग्राहक में भावनाशक्ति होनी चाहिए जिससे वे रसोपयोगी रूप में सामग्री का भावन कर सकें। दूसरा विघ्न केवल ग्राहक से सम्बद्ध है। रसिक में यदि दूसरों की आँख से अपने को बचाकर नाट्यदर्शन की चेतना होगी, तो हो गयी रसनिष्पत्ति। तीसरे, विघ्न का आशय है वैयक्तिक सुख-दुख से चेतना का ग्रस्त होना। चौथे का आशय है, रसप्रत्यापक उपकरणों का अधूरा होना। पाँचवें विघ्न का आशय है, सामग्री का स्फुट या बोधगम्य होना। छठे विघ्न का आशय है—काव्यगत सामग्री का गौणप्रधानभाव से सन्तुलित संयोजन का न होना। सातवें का अभिप्राय है कि सामग्री ग्राहक में संशय पैदा न करे। इन सब प्रकार के विघ्नों से हीन होने पर ही प्रतीति रसात्मक होती है। अभिनव काव्यरस से नाट्यरस की प्रतीति को विशिष्ट अर्थात् पूर्ण मानते हैं। काव्य में ग्राहक एकल रसानुभूति करता है—वहाँ समष्टि के साथ न रहने से संविद् का वह विकास नहीं होता जो नाट्यशाला में समष्टि के साथ सामाजिक

रूप में सम्मिलित होने से होता है।

काव्य या नाट्यसामग्री से ग्राहक को जो रसानुभूति या आस्वादनात्मक रस की प्रतीति होती है—उसकी प्रक्रिया क्या है? ऊपर कहा जा चुका है कि काव्यानन्द भाव की भूमि पर निष्पन्न होता है। चित्तविशेष की भूमिका में निष्पन्न होता है। आस्वाद या काव्यास्वाद एक सम्मिश्र प्रतीति है, पानकरसन्वायेन। इसमें अनेक तत्वों का मिश्रण होता है, पर सब मिलकर प्रतीति में एकाकार हो जाते हैं। कोई भी अंश पृथक् से उद्रिक्त नहीं रहता। इस प्रतीति में विभावादि सामग्री तो है ही, चित्तगत वासना भी है, बल्कि चित्त की भूमिविशेष पर यह सब होता है, अतः वासना ही प्रधान है, जिसके कारण रसभेद होता है। शैवी धारा में यह चित्त चित् की ही चेतन पद से अवरूढ़ स्थिति विशेष है, इसलिए एक तरफ उसमें **प्रकाश विमर्श** मयता भी है तो दूसरी ओर माया राज्य की वस्तु होने से सत्वरजस्तमो मयता भी है। आस्वाद काल में सामग्री भी अपना व्यवहारोपयोगी रूप त्याग देती है और साधारणीकृत हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप जो चित्त एकाग्र होने लगता है, वह सत्वांश के आपेक्षित प्राबल्य से। इससे चित्त पर आये हुए न केवल मोह के बादल ही छँटते हैं अपितु उसका साधारण्य भी हो जाता है—भट्टनायक की भाँति वह व्यष्टिसीमा का नहीं होता अपितु व्यष्टिसीमा के साथ देशकाल की संकोचक चेतना से भी मुक्त हो जाता है—भावमयचित्त देशकालादि से अनालिंगित हो जाता है। उस क्षण में रसोपयोगी रूप में नाट्यसामग्री की परिणति जिस प्रक्रिया से होती है, वही प्रक्रिया साधारणीकरण है। काव्य या नाट्यसामग्री में रसभावन की यह क्षमता उसकी अभिनयकुशलता या गुणालंकारमण्डित काव्यत्व में होती है। यह उसकी व्यंजनाशक्ति है। यहाँ सामग्री भावक के चित्त से सम्बद्ध तो होती है, पर यह सम्बन्ध एक प्रकार के लौकिक सम्बन्धों (मेरा ही है, शत्रु का ही है, तटस्थ का ही है) से रहित लोकोत्तर सम्बन्ध से जुड़ती है। इस सामग्री के निर्विशेष या भावभूमि के निर्विशेष होने का आशय यह है कि वे व्यवहारोपयोगी व्यक्तिगत लाभ-हानि पैदा करनेवाले 'विशेष' नहीं हैं। नट की अतीतवाली चेतना और नाट्योपयोगी अनुकार्यवाली चेतना के परस्पर विरोधी अंश होने के कारण चेतना पटल से गलकर अचेतन में चले जाते हैं—फलतः भावभूमि और सामग्री सभी निर्विशेष हो जाते हैं। साथ ही, नाट्य में समष्टि के साथ संविद् विकास का भी अवसर रहता है। इस प्रकार नाट्य का यह आस्वाद भाव की भूमि पर आत्म-परामर्श से सम्भव होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त का सारा प्रदेय 'रस' की विशिष्ट दृष्टि और उसके ही आलोक में उनका किया हुआ विवेचन है।

ध्वनिसिद्धान्त और नवचिन्तन

काव्य : स्वानुभूत सत्य की अभिव्यक्ति प्रभावी भाषा द्वारा

पूर्व-पश्चिम, प्राचीन-अर्वाचीन, साहित्य-चिन्तकों की चिन्तनाओं के अनुशीलन से यह धारणा उत्तरोत्तर बलवती होती जा रही है कि साहित्य में सर्जक-प्रक्रिया, अभिव्यंजन-प्रक्रिया और ग्रहण-प्रक्रिया, सर्वत्र कहीं-न-कहीं, एक रूप होंगी। इन तीनों पक्षों से सम्बद्ध बहुत सारी बातें भाषा-शैली में, भिन्न-भिन्न होती हुई भी आशयगत एक रूप होंगी। जहाँ तक काव्य में शब्द और अर्थ की बात है, हर स्वस्थ और परिणत चिन्तक (अस्वस्थ और अधकचरों की बात अलग है) मानता है कि व्यवहार और शास्त्र-विज्ञान के क्षेत्र के भाषा-प्रयोग से काव्य-क्षेत्र का भाषा-प्रयोग 'कुछ और' होता है। इसका कारण है, प्रयोजन-भेद। सर्जक चूँकि अनुभूत सत्य का सम्प्रेषण करता है और चाहता है कि ग्राहक 'सत्य' का नहीं, 'सर्जक के अनुभूत सत्य' का साक्षात्कार करे। 'सम्वाद' द्वारा 'पहचाने,' अत: उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि 'भाषा' को 'प्रभावी' बनाये। प्रभावी भाषा ही ग्राहक को 'प्रभावित' कर सकती है, उसको अपने साथ कर सकती है। सर्जक की आँख दे सकती है, ताकि ग्राहक सर्जक की चेतना से एकरस होकर, उसके 'अनुभूत सत्य' को 'पहचान' सके। यह कहना सरासर गलत है कि कविता के क्षेत्र में ग्राहक सर्जक से तटस्थ रहकर, अपने व्यक्तित्व का विगलन किये बिना कविता को चरितार्थ कर सकता है। कवि अपने हृदय का भार कविता में उतारकर रखता है, पर यह भार तब तक कवि ही ढोता रहता है, जब तक उसे यह विश्वास न हो जाय कि ग्राहक ने उसके 'अनुभूत सत्य' को पूर्णतः साक्षात्कृत कर लिया। इसीलिए किसी ने ठीक कहा है कि सर्जक को तो उसकी सर्जनात्मकता के कारण वन्द्य माना ही जाता है, पर उससे भी अधिक वन्दनीय वह है जो सर्जक को ठीक-ठीक समझकर उसके हृदय का भार हलका कर देता है, उसे राहत प्रदान करता है···वंदेतरां तं पुनः।

यो विज्ञातपरिश्रमोऽयमनयोभारावतारक्षमः।[1]

भाषा के प्रभावी होने का आशय

अभिप्राय यह कि कविगण 'स्वानुभूत सत्य' की अभिव्यक्ति के लिए अपनी भाषा को 'प्रभावी' बनाना चाहता है। 'प्रबोधी' की अपेक्षा 'प्रभावी'। व्यवहार तथा शास्त्र-दर्शन की भाषा 'प्रबोध' कराने के लिए प्रयुक्त की जाती है। यह सही है कि वक्ता, श्रोता या ग्राहक को विचारों से भी 'प्रभावित' करता है। 'प्रभावित' करना 'अनुकूल' करना होता है। 'प्रबोधित' करना तटस्थ विचारोत्तेजन के लिए भी हो सकता है। 'प्रभावित' में 'भाव' मुख्य है, 'प्रबोधित' में 'बोध'। 'प्रभावित' में 'बोध' भी 'भाव'—पर्यवसित होता है—'अनुभूति'—पर्यवसित होता है। काव्य में 'बोध' अनुभव या अनुभूति का अंग बनकर नहीं आया, तो अकाव्यात्मक होकर ही रह जायेगा और यदि अनुभूति का अंग बनकर आया है तो अनुभूति पर्यवसित होकर ही ग्रहीत होगा। अभिप्राय यह कि काव्य में 'भाषा' के 'प्रभावी' होने का एक खास अर्थ है।

प्रभावी का अर्थ स्रष्टा द्वारा भाषा में व्यंजनात्मक क्षमता का आधान

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की 'भावना' को व्यंजना में गतार्थ करते हुए यही कहा था कि काव्य की भावकता है क्या? 'गुणालंकारानुगृहीतत्व'[2] ही न? काव्य भाषा के प्रभावी होने का मतलब है–प्रभावोत्पादक उपकरणों से मण्डित होना। गुणालंकारादि महज उपलक्षण हैं। भाषा के प्रभावोत्पादक उपकरण कौन-कौन से हैं, इसका सम्बन्ध स्रष्टा की क्षमता से है और स्रष्टा की क्षमता की कोई इयत्ता नहीं। स्रष्टा अपने द्वारा प्रयुक्त शब्द में 'क्षमता' भर देता है और 'क्षमता' भरकर उसे 'प्रभावी' बना देता है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने 'क्षमता' के सर्वोत्कृष्ट रूप को 'व्यंजना' या 'व्यक्ति' कहा है। इसी 'क्षमता' से वह काव्य के क्षेत्र में शब्द को 'प्रभावी' बनाता है। आत्मवाद के आलोक में सोचनेवाले भारतीय आचार्य ने इस सर्वोत्कृष्ट 'क्षमता' को 'आत्मा' ही कह दिया है—'व्यक्तिश्चभग्नावरणाचित्'[3] व्यक्ति या व्यंजना चित् ही है, जिसका आवरण हट गया रहता है।

इस व्यंजनात्मक क्षमता से कवित्वोन्मेष के लिए अपेक्षित 'नवता' या 'विशेष' का उद्रेक

कवि की 'क्षमता' ही उसकी रचना को प्रभावी बनाती है—अतः यहाँ रचना की प्रभाविता का सर्वोपरि मानदण्ड यही है। इसके सामने और सारे नियम-विधान नतशिर हो जाते हैं। इस प्रकार तीन बातें सामने आयीं—रचनाकार, उसकी क्षमता और रचना का प्रभावी होना। व्यवहार तथा शास्त्र-विज्ञान में भी शब्द का प्रयोग होता है, पर पहले क्षेत्र में शब्द का लक्ष्य महज व्यवहार चलाना होता है और दूसरे में अर्थ के सहारे चिन्तन को पकड़ना। दोनों ही स्थलों में शब्द से प्राप्त 'सामान्य' अर्थ का बोध ही अभीष्ट है। दोनों स्थलों में शब्द का प्रयोक्ता, ग्रहीता या श्रोता को भावान्दोलित करना नहीं चाहता। उसकी चित्तवृत्ति को स्पन्दित करना

प्रमुख लक्ष्य नहीं मानता। प्रमुख लक्ष्य मानता है योग-क्षम का निर्वाह तथा तथ्यावबोध। अतः इन स्थलों में 'सामान्य' अर्थबोध से काम चल जाता है, 'विशेष' की आवश्यकता नहीं पड़ती। काव्य में 'विशेष' की जरूरत है, क्योंकि सामान्य अर्थ तो सबको ज्ञात ही रहता है, अतः कुछ 'विशेष' ही को लक्ष्य में रखकर कवि 'शब्द' का प्रयोग करता है। ध्वन्यालोककार ने स्पष्ट कहा है—"यदि सामान्यमात्रमाश्रित्य काव्यं प्रवर्तते किंकृतस्तर्हि महाकविनिवध्यमानानां काव्यार्थानामतिशयः"[4] अर्थात् यदि 'सामान्य' अर्थ को ही दृष्टिगत कर काव्यनिर्माण होता, तो उतना पूर्वतः संकेतग्रहीत होने से पुराना ही होता, उसमें नया क्या होता। उसमें 'अतिशय' या 'विशेष' क्या होता? और यह 'अतिशय' या 'विशेष' न होता, तो रचना की रचनात्मकता के लिए अपेक्षित 'नयापन' क्या होता? 'नयापन' तो रचना का स्वरूपगत धर्म है—उसके बिना रचना रचना वैसे ही नहीं हो सकती, जैसे ऊष्मा के बिना आग आग नहीं हो सकती। फलतः रचना को प्रभावशाली होने के लिए 'विशेष' मण्डित 'सामान्य' अर्थवाली होना चाहिए। 'विशिष्ट' अर्थ का बोध कराने की क्षमता से सम्पन्न शब्द ही काव्य के क्षेत्र का प्रभावी शब्द होगा। कुन्तक ने ऐसे ही शब्द को 'वक्र' शब्द कहा है और उससे ग्रहीत होनेवाले 'विशिष्ट' अर्थ की प्रतिपादक क्षमता को 'विचित्र अभिधा'[5] माना है। यह 'सामान्य अर्थ' ग्रहण करानेवाली 'अभिधा' रूप क्षमता से भिन्न है। कुन्तक ने भी वर्ण्यवस्तु के स्वभाव में निहित असाधारणता या विशेष को उभारने की बात कही है–'लीनं वस्तूनि येन सूक्ष्मसुभगंतत्वं गिरा कृष्यते'[6] कवि नहीं है, जो अपनी वाणी से वर्ण्यवस्तु के स्वभाव में निहित 'सूक्ष्म सुभगतत्व' को ऊपर उभार लाये। महिमभट्ट ने इस आशय को और भी स्पष्ट करते हुए कहा :

> उच्यते वस्तुनस्वावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते।
> तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः॥ 113
> स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकार्तितः।
> अतएवाभिधेयं ते सामान्य बोधयन्त्यलम्॥ 114
> विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः।
> स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्॥ 115
> रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमिचेतसः।
> क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥ 116
> सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
> येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥ 117
>
> × × ×
>
> यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्थाः प्रतिभार्पिताः[7]॥ 120

अर्थात् वस्तु के दो रूप होते हैं—सामान्य और विशिष्ट। पहला शब्द का प्रदेय होता है, अतः शब्द, अर्थ का 'सामान्य' रूप से बोध कराकर, अपनी अभिधात्मक क्षमता समाप्त कर देता है। दूसरा रूप है, विशिष्ट। यह रूप शब्द प्रमाण से नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहीत होता है। यहीं 'विशिष्ट', विशेष संवलित अर्थ कवि की प्रतिभा से

प्रसूत वाणी या शब्द का विषय होता है। वस्तुतः कवि की प्रतिभा है क्या ? प्रतिभा वह प्रज्ञा है, जिसमें सर्जनात्मक अनुभूति के अनुरूप शब्दार्थान्वेषण में एकतान कवि वर्ण्यवस्तु के उन 'विशेषों' का साक्षात्कार कर लेता है, जो और लोग प्रत्यक्ष प्रमाण से देख पाते हैं। वस्तुतः यह भगवान शंकर का तृतीय नेत्र है, जिसके द्वारा कवि त्रिलोकवर्ती भावमात्र का साक्षात्कार-सा कर लेता है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कवि जिन शब्दों का प्रयोग करता है—वह 'सामान्य' अर्थ मात्र का बोध कराने के लिए नहीं, प्रत्युत 'विशेष' मण्डित अर्थ का बोध कराने के लिए होते हैं क्योंकि उसी रूप में 'नयापन' उभरेगा—जिससे ग्राहक प्रभावित होगा। इन उद्धरणों से अभिप्रेत 'विशेष' वस्तु का प्रत्यक्षायमाण रूप उपस्थित कराना है, जिसको लक्ष्य में रखकर कवि कुछ कहने को उद्यत होता है। ग्राहक भी अपनी भावयित्री प्रतिभा से इसी अर्थ-विशेष युक्त या विशिष्ट अर्थ को पकड़ता है और प्रभावित होता है।

विशेष के दो रूप

(क) बिम्बार्थ ग्राही विशेष : अर्थ अपने प्रत्यक्षायमाण रूप से, जो 'विशेष' संवलित होता है—तो प्रभावित करता है, प्रभावोद्रेकी अन्यविध 'विशेष' से भी प्रभावित करता है। मतलब यह कि 'विशेष' भी दो प्रकार के हैं—एक तो अर्थगत प्रत्यक्ष-ग्राह्य विशेष और दूसरे अर्थगत सन्दर्भ द्वारा आहित या न्यस्त विशेष। पहला तो स्पष्ट है, कोई भी वस्तु अपनी प्रत्यक्षग्राह्य अशेष विशेषताओं से मण्डित होकर प्रतीत हो।

(ख) अभिप्रेतार्थ ग्राही विशेष (ध्वन्यालोककार के साक्ष्य पर)

"जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं"[8]

यहाँ 'शरीर' का एक सामान्य अर्थ है, जो देह, काम, तन सबका वाच्य है। धर्मी विशेष की दृष्टि से सभी शब्द पर्याय हैं—पर 'विशेष' के कारण पृथक्-पृथक् भी हैं—'शरीर' का अर्थ वह पिण्ड विशेष है, जो उत्तरोत्तर क्षयमाण होता जाता है, 'देह' या 'काम' में वह 'विशेष' नहीं है। इसी 'विशेष' से मण्डित होने के कारण 'शरीर' शब्द ध्वन्यालोककार के शब्दों में काव्योचित है, अपरिवर्त्य है—सटीक और ध्वन्यात्मक शब्द है। कारण, जिस प्रभाव या सौन्दर्य का उद्रेक इस शब्द से हो पा रहा है, वह उसी के अन्य पर्यायवाची शब्दों से सम्भव नहीं है। इसी आशय को व्यक्त करते हुए ध्वन्यालोककार ने कहा —

उत्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥[9]

अर्थात् जो प्रभाव या चारुता शब्दान्तर से प्रकाश्य न होकर उसी 'शब्द' से हो, वह 'ध्वनि' शब्द कहा जाता है। पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त ने 'पल्लव'[10] की भूमिका में ऐसे अपरिवर्त्य शब्दों के अनेक उदाहरण दिये हैं। उनकी दृष्टि में ऊर्मि, लहर, तरंग, वीचि पर्याय होते हुए भी 'विशेष' विशेषताओं से मण्डित होकर अपनी

व्यक्तिगत विशिष्टता सुरक्षित कर लेते हैं—और कवि की प्रज्ञा जिस 'विशेषता' से मण्डित होने में शब्द की प्रसंगोपयोगिता देखती है, उसी से मण्डित होने की क्षमता वाले शब्द का वह प्रयोग करती है, जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है।

पं. पट्टाभिरामजी शास्त्री के मत में ध्वन्यालोककार का अभिप्रेतार्थ रूप

पण्डित पट्टाभिरामजी शास्त्री का पक्ष है कि आनन्दवर्द्धन जिस प्रकार एक शब्द के अनेक व्यंग्य अर्थ मानते हैं, उसी प्रकार अनेक वाच्य अर्थ भी।[11] अर्थात् शब्द का वाच्य अर्थ भी एक ही नहीं होता, अपितु अनेकविध होता है। देह, शरीर, दोनों के वाच्यार्थ एक ही प्रकार के नहीं हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। अपनी इसी विशिष्टता के कारण 'वाच्य' अर्थ कभी सहृदयश्लाघ्य होता है और कभी नहीं। शास्त्रीजी का तर्क है कि इसी आशय से आनन्दवर्द्धन ने

> योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
> वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतो ॥[12]

इस कारिका में 'वाच्यप्रतीयमान' को द्वन्द्व समास के अन्तर्गत रखकर दोनों का समप्राधान्य सूचित किया है। दोनों ही अर्थ-वाच्य, प्रतीयमान्य, सहृदयश्लाघ्य होने के कारण समप्रधान हैं। यह सहृदयश्लाघ्यता तभी बन सकती है, जब पर्यायवाची शब्दों के वाच्यार्थ में अनेकरूपता स्वीकार की जाये। उनका कहना है—

"आनन्दवर्द्धनः प्रथमोद्योत्ते योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः 'इत्यत्र' वाच्यप्रतीयज्ञानाख्यौ"—इति वाच्यपदमय्युयादत्ते। तच्च द्वन्द्वघटितमिति समप्रधानमिति निर्विवादम्। तन्निर्वाहाय लोचनकारस्तत्र तत्र यतत एव। तथा च प्रकृते व्यंग्यार्थस्मेव वाच्यस्याभ्यानन्त्यं प्रसाधनीयम्। तदैव नवत्वं वाच्यस्य सिद्धं भवेत्। इदमेव च नवत्वम्—तात्पर्यभूत विशेषार्थ प्रतिपादकत्वम्। तच्चाभिधयैव न वृत्तयन्तरेण। मम्मटानन्दवर्द्धनयोरयं विशेषः। मम्मटः व्यंग्यस्य वाच्यातिरिक्तत्वं साधयितुं वाच्यस्मैकरूपत्वं व्यंग्यस्य चानेकरूपत्वं स्वीकरोति। आनन्दवर्द्धनस्तु वाच्यस्याधनेकरूपत्वभंगीकृत्य व्यंग्यस्य तदतिरिक्त्वं प्रसाध्यतीति।"[13]

मम्मट और आनन्दवर्द्धन के भिन्न-भिन्न पक्ष

अर्थात् वाच्यार्थ में 'नवता' तभी आती है जब वह अभिप्रेत 'विशेष' का भी प्रतिपादन करता हो। आनन्दवर्द्धन की दृष्टि से यह 'विशेष' (पिण्डगत क्षीयमाणता) अभिधा से ही मिल जाता है। मम्मटाचार्य इससे सहमत नहीं हैं, वे 'विशेष' को व्यंजनागम्य मानते हैं। 'वाच्य' तभी होगा, जब संकेत गोचर होगा, अन्यथा असंकेतित वाच्य किस तरह होगा? इस रीति से 'वाच्यार्थ' को अनेक रूप मानने की आवश्यकता क्या है? पर्यायवाची शब्द विशेष्यांश (सामान्य धर्मी) को लेकर पर्यायवाची हैं, विशेषांश को लेकर 'भिन्नार्थवाची'। इस दृष्टि से मम्मट का मत ही समीचीन प्रतीत होता है।

बिम्बार्थोपयोगी विशेष की वृत्तिवेद्यता पर विचार

इसी प्रसंग में प्रत्यक्षायमाण अर्थगत 'विशेषों' की वृत्तिवेद्यता पर भी विचार कर लेना चाहिए। इतना तो महिम ने स्वीकार किया कि प्रत्यक्षायमाण रूप प्रज्ञा में स्फुरित होता है। कवि की प्रतिभा में झलकता है। सामान्य प्रज्ञा में नहीं। इसी अर्थ में कवि की प्रतिज्ञा 'अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा'[14] कही जाती है। वस्तु में अपूर्वता का सन्निवेश प्रज्ञा ही करती है—शब्द की क्षमता—अभिधा या व्यंजना नहीं।

डॉ. नगेन्द्र का अभिमत और उस पर विचार

डॉ. नगेन्द्र[15] ने एक भिन्न बात कही। उनका कहना है कि यह शब्द की व्यंजनात्मक क्षमता है जो कल्पना या प्रतिभा का सामान्य अर्थ में 'विशेष' या अपूर्व का आधान करने के लिए उकसाती है। परन्तु शब्द की क्षमता का अभी तक एक ही कार्य सुना गया है, अर्थ का प्रत्यायन, न कि कल्पना का उकसाव। जो भी हो, इतना निश्चित है कि 'विशेष' मिलता है, प्रतिभावान् को ही। चाहे वह 'विशेष' बिम्बार्थघटक होकर प्रत्यक्षायमाणता का निमित्त हो, अथवा अभिप्रेतार्थ 'विशेष' रूप हो।

प्रतिभास्फूर्त 'विशेष' अभिधा या वृत्त्यन्तरवेद्य

सर्जन की ओर से सोचने पर तो स्वाभाविक लगता है कि अनुभूति की झोंक में प्रत्यक्षायमाण अर्थ प्रतिभा में उभर आये, पर ग्रहण की ओर से शब्द से वाच्यार्थ की प्रतीति पहले सामान्य रूप में ही होगी या विशेष संवलित प्रत्यक्षायमाण रूप में? यदि पहले सामान्य हो गयी तो 'शब्द बुद्धि कर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' के न्याय से दूसरी बार प्रज्ञा में जो प्रत्यक्षायमाण अर्थ उभरेगा—वह व्यञ्जनागम्य ही होगा। पर ऐसा मानने पर फिर प्रज्ञा की कार्यकारिता का क्या होगा? उस अपूर्वता या 'विशेष' के निर्माण का श्रेय प्रतिभा को किस प्रकार मिल सकेगा? मध्यवर्ती मार्ग यह निकालना कि शब्द की व्यञ्जनात्मक क्षमता प्रज्ञोद्रेक द्वारा तन्निर्मित 'अपूर्व' संवलित प्रत्यक्षायमाण अर्थ का बोध कराती है। प्रज्ञोद्रेक व्यापार स्थानीय हो जाये और प्राचीन आचार्यों की मान्यता के अनुसार करण [व्यापार वदसाधारणं कारणं करणम्—इति प्राचीन नैयायिकाः] रहे शब्द ही। नव्यनैयायिकों की भाँति अव्यवहित को ही 'करण' माना जाये, तो शब्द की प्रज्ञोद्रेकी क्षमता को क्या कहा जायेगा? यहाँ दो ही रास्ते हैं। या तो डॉ. नगेन्द्र का मत स्वीकार किया जाये अथवा प्राचीन नैयायिकों का मार्ग अपनाया जाये। साथ ही यह भी है कि प्रतिभा की जो परिभाषाएँ मिलती हैं, उनमें 'अपूर्व' के निर्माण की क्षमता को प्रतिभा की ही क्षमता कहा गया है। मम्मट और आनन्द पर प्राचीनों का ही प्रभाव है।

नवता या विशेष का अर्थ सर्वथा नया अथवा नया-सा

इस प्रकार जिस 'विशेष' के कारण रचना में नवता आनी है—वह दो प्रकार की

है—एक, वस्तु को प्रत्यक्षायमाण रूप में प्रस्तुत करनेवाली तथा दूसरा अभिप्रेतार्थ विशेष रूप। पहला, प्रतिभा की निर्मिति है और दूसरा, आनन्दवर्द्धन की दृष्टि से अभिधावेद्य तथा मम्मट की दृष्टि से व्यंजनावेद्य।

इस 'नवता' के विषय में एक प्रश्न और भी है और वह यह कि इस नव-सृष्टि 'विशेष' की स्फूर्ति सर्वथा नयी होती है, अदृष्ट पूर्व अथवा दृष्टपूर्व? डण्टन नाम का आचार्य इसे सर्वथा नया मानता है और कहता है कि काव्य में जिन पदार्थों का वर्णन होता है, वे अनुभूतिसापेक्ष कल्पना से तो आते ही हैं—सबसे बड़ी और उत्कृष्ट सृष्टि वह है जो अनुभूतिनिरपेक्ष कल्पना से सम्पन्न होती है। इसे वे Dramatic or Absolute Vision[16] मानते हैं। बताते हैं कि अनुभूतिसापेक्ष कल्पना से जो निर्मिति होती है वह अनुभूत की ही होती है। अन्यत्र उसका आरोपण होता है और इससे या तो आश्चर्यपूर्ण प्रसादन होता है अथवा आश्चर्यपूर्ण विषादन। 'Absolute Vision' ही सच्चे और उत्कृष्ट कवि का 'Vision' है, जो कुतूहल मात्र पर्यवसायी होता है, भारतीय आचार्य और चिन्तक इससे असहमत हैं। वे मानते हैं कि काव्य द्वारा अनुभूत की ही अनुभूति होती है। ज्ञात का ही ज्ञान होता है, अतः 'नयापन' का अर्थ 'नया-सा' है, सर्वथा अदृष्टपूर्व नहीं। यदि ऐसा ही अर्थ काव्य में भर गया, तब तो काव्य अजायबघर हो जायेगा। साथ ही, नये चिन्तक भी जो यह कहते हैं कि काव्यार्थ पहचाना जाता है, उससे ग्राहक सहृदय का संवाद होता है, इसकी भी संगति और उपपत्ति ठीक-ठीक नहीं बैठ पायेगी। इसलिए भारतीय प्रज्ञा मानती है—

सर्वेनवा इवाभान्ति काव्ये रसपरिग्रहात्[17]

रसावेश या सर्जनात्मक अनुभूति के आवेश में जो अभिव्यक्ति होती है वह 'नयी' नहीं, नयी-सी लगती है और 'नयी'-सी लगने में सर्जनात्मक अनुभूति का संस्पर्श कारण बताया गया है। इसी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए 'विशेष' की व्यञ्जना या सृष्टि होती है, जिसकी चर्चा विस्तार से ऊपर की गयी है। इसके साथ एक बात और, वह यह कि काव्य में जो कुछ वर्णित होता है, वह स्वतःसम्भवी तो होता ही है, 'कवि प्रौढ़ोक्ति निर्मित' भी होता है। कल्पना की भी कुछ उपज होती है, जो सर्वथा नयी या 'बौद्ध' मात्र कही जा सकती है, पर यहाँ भी, यह ध्यान रखना ही होगा कि इन द्विविध पदार्थों की सार्थकता अनुभूत भावों की ही अनुभूति कराने में भारतीय चिन्ता धारा स्वीकार करती है। डण्टन का समर्थन इससे भी नहीं होता।

काव्य का अकाव्यात्मक उक्ति से व्यावर्त्तक तत्त्व व्यंजना प्रतिपाद्य विशेष

इस प्रकार उक्त वैचारिक पीठिका पर भारतीय काव्यशास्त्रियों ने यह स्थिर किया है कि नवता रचना का स्वरूपाध्यायक अर्थात् अनिवार्य तत्त्व है। इस 'नवता' की सम्पत्ति के लिए वर्ण्यवस्तु में 'विशेष' का आधान करना पड़ता है। इस 'विशेष' को उभारने के लिए कवि को 'शब्द' में कुछ अतिरिक्त क्षमता भरनी पड़ती है। शब्द की यही अतिरिक्त क्षमता अतिरिक्त अर्थ प्रदान करती है। यही अतिरिक्त

अर्थ काव्य को व्यावहारिक और शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक उक्ति से भिन्न कर देता है। आलोककार ने इस अतिरिक्त अर्थ को 'प्रतीयमान' कहा और कहा कि 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव'।[18] प्रतीयमान अर्थ 'कुछ और' ही अर्थ है। इसी 'कुछ और' को कहीं 'असाधारण' कहीं 'विशेष' और कहीं 'नव' से इंगित किया।

पश्चिमी आचार्य और व्यंजना

पश्चिमी आचार्यों की ओर से भी इस पक्ष पर ग्रन्थकार ने तथा अन्य काव्यचिन्तकों ने भी चर्चा की है। इसलिए मैं इस पक्ष का अधिक विस्तार न कर केवल एवर क्राम्बे का कथन उद्धृत कर हिन्दी के नवलेखन और उसके नये रचना संसार की ओर उतरकर ध्वनिसिद्धान्त की सम्भावनाओं का संकेत करना चाहूँगा। एवर क्राम्बे ने ध्वनिसिद्धान्त के समानान्तर कितना सटीक कहा है—

"Poetry is electrification of language with extra meaning."[19]

प्रतीकवादी आन्दोलन में शब्द की इसी अतिरिक्त क्षमता का महत्त्व प्रतिपादित है। 'एम्पसन' की 'Seven types of ambiguity' में इसी अतिरिक्त अर्थ पर बल है। अस्तु !

हिन्दी-साहित्य : काव्यचिन्तन और व्यंजना

हिन्दी-साहित्य में जहाँ तक प्राचीन साहित्य की बात है, उसके समानान्तर प्रवहमान रीतिग्रन्थों में ध्वनिसिद्धान्त की महत्ता और रसात्मक साहित्य के निर्माण की बात निःसन्दिग्ध है। आधुनिक साहित्य में खड़ी बोली में निहित समता का काव्योचित समुद्रेक छायावादी काव्य में लक्षित होने लगता है। यहाँ पन्तजी ने जहाँ एक ओर काव्य-भाषा को चित्र-भाषा[20] कहा और पर्यायवाची शब्दों की बारीकियों को रेखांकित करते हुए अतिरिक्त अर्थ के साहित्यिक सौन्दर्य की बात की, वहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने समस्त छायावाद की ही शैलीपरक व्याख्या करते हुए उसका लक्षण कर दिया, अतः छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ—'प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन'[21]। इस प्रकार समस्त छायावाद ही 'व्यंजना'-परक काव्य हो गया। प्रसाद[22] जी ने 'छाया' शब्द का अर्थ भारतीय काव्यचिन्तनपरक दृष्टि से 'कान्ति' माना और बताया कि छायावादी कविता वह कविता है जहाँ कान्ति या लावण्योपम अर्थ वाच्यार्थ के भीतर से झलक मारता हो।

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीसुमहाकविनाम् यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभातिलावप्यभिवांगनासु[23]।" अर्थात् महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान रूप से कुछ और ही वस्तु झलक मारती रहती है। अंगना के प्रसिद्धावयवों के माध्यम से छलकनेवाला किन्तु उनसे अतिरिक्त जो स्थान लावण्य का है, वही स्थान यहाँ 'छाया' या प्रतीयमान अर्थ का है। प्रसादजी ने बताया कि ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, उपचारवक्रता और अनुभूति की विवृत्ति; ये ही छायावाद की

विशेषताएँ हैं। निराला तो अतिरिक्त अर्थ भरने के लिए बदनाम कवि हैं ही। महादेवीजी प्रतीक व्यंजना की प्रतिमूर्ति ही हैं।

छायावादोत्तर काव्यचिन्तन और व्यंजना : ध्वनि

छायावादोत्तर काव्यचिन्तन के धरातल पर जो चौमुखी अस्वीकृति का स्वर उभरा उसमें परम्परागत भारतीय प्रतिमानों की वर्तमान रचना के सन्दर्भ में निरर्थकता का स्वर पर्याप्त मुखर हुआ। **भाषा और संवेदनाकार**[24] डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे सुधी चिन्तकों ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि नयी काव्यधारा के सौन्दर्य विश्लेषण में प्राचीन भारतीय प्रतिमान अक्षम हैं। उनमें अब ऐसी कोई सम्भावना भी शेष नहीं है जिसे नयी काव्यधारा के सन्दर्भ में उभारा जा सके। भारतीय काव्यशास्त्र से अपरिचित ऐसे तमाम काव्यचिन्तक हैं, जिनके उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

छायावादोत्तर काव्यप्रवृत्तियों और उसके आलोचकों की बात तो विचारणीय है ही, एक समय था जब स्वच्छन्दतावादी या छायावाद के समीक्षक ही यह कहने लग गये थे कि काव्य के उस रूप के सौन्दर्य परीक्षण में पुरातन भारतीय प्रतिमान अपर्याप्त हो गये हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों छायावादी आस्वाद और भारतीय प्रतिमान (रस-ध्वनि) के नजदीक आते गये, त्यों-त्यों उनका अजनबीपन मिटता गया। एक तरफ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी[25] 'भावनिरूपण के पद्धतिबद्ध रूप' को हेय बताते हुए भी युगोचित परिष्कार के साथ 'रस' को काव्य की निर्विवाद आत्मा घोषित करते हैं और दूसरी ओर प्रसादजी[26] 'छाया' या 'प्रतीयमान' अर्थ को काव्य का सर्वस्व कहते हैं। उक्त स्थापनाओं द्वारा इन कवियों और आलोचकों ने भारतीय प्रतिमानों में निहित सम्भावनाओं को देखा है और उसे छायावादी साहित्य के लिए भी उपयोगी माना है। स्वच्छन्दतावादी साहित्य के विषय में कतिपय चिन्तकों की यह धारणा भी थी कि इस साहित्य से अभिव्यक्त सौन्दर्य का सम्वेदन काव्यगत विषय से आगे बढ़कर कवि की अन्तरात्मा के साक्षात्कार से सम्भव है (क्योंकि ये लोग सौन्दर्य को आत्मनिष्ठ मानते हैं) जबकि रस का ग्रहण काव्यगत विषय (विभावादि) से ही हो जाता है, अतः रसवादी प्रतिमान की बात फिर भी निरर्थक है। वस्तुतः यह आक्षेप रस के मध्यकालीन, माध्यम-प्रधान अथवा ढाँचाबद्ध, विजड़ित रूप को ध्यान में रखकर किया गया है, न कि आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त की मूल धारणा को समझकर। आनन्दवर्द्धन की रसविषयक धारणा पर्याप्त सम्भावनाओं से संवलित है। उन्होंने तो रस को ऐसी अनुकूल मनोवृत्ति या चित्तदशा माना है जो काव्यवर्णित वस्तु या स्थितियों से उत्पन्न होती है। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा है कि ग्राहक काव्य-विषय को ग्रहण करता हुआ रसावेश में कवि की प्रतिभा का भी साक्षात्कार कर लेता है। इसी प्रकार प्रगतिवादी भी पहले 'रस' से मुँह बिचकाते थे, किन्तु अन्ततः उन लोगों ने भी यह स्वीकार किया कि यदि रस को

विजड़ित कर देने वाले जाल को हटा दिया जाये तो रसवादी सरणि उन लोगों के बहुत काम की है।

नयी कविता के रचनाकारों की मनोभूमियाँ और रसध्वनि

'नयी कविता' के मर्मज्ञों ने इसकी मूल प्रेरक वृत्ति को गैर-रोमाण्टिक कहा और अपनी सर्जनात्मकता में कविता को अपरिभाषेय माना। बताया यह भी कि 'कविता क्या है', यह समझने के लिए कविता क्या नहीं है, यह समझना होगा। इसी सन्दर्भ में यह कहा गया कि 'कविता' में भावावेग या रोमाण्टिक मनःस्थिति का होना अनिवार्य नहीं। छायावाद और प्रगतिवाद उभयत्र भावावेग की संस्थिति मानी गयी—एक का अवलम्बन प्रकृति या नारी और दूसरे का धुएँ में सना मजदूर। फलतः रसात्मक प्रतिमान या अनुभावन की समस्या यहाँ तक कोई समस्या नहीं थी। समस्या वहाँ से आरम्भ हुई, जहाँ काव्य-सम्बन्धी पुरानी धारणाओं, छन्द, भावावेग आदि को निषिद्ध मानकर भी कविता या सर्जनात्मकता की चुनौती का निर्वाह किया जाने लगा, जहाँ सर्जनशीलता के नये आयाम उद्घाटित किये गये; इसे भाषिक सर्जनात्मकता कहा गया।

इस प्रकार 'नयी कविता' में प्रायः समस्त पुरातन धारणाओं, कलात्मक उपकरणों तथा क्रमागत जीवन-मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह और प्रस्थान की बात इस आशा से की गयी कि काव्योचित सर्जनात्मकता या नवता के अंकुरित होने योग्य भूमियाँ और भी हैं, उनकी ओर भी दृष्टिपात होना चाहिए। कहा तो यह भी गया है कि 'नयी काव्यधारा' में जिस अनुभूति ने अभिव्यक्ति पायी है, उसकी बुनावट और बनावट अपनी गुणात्मक विशेषताओं में भिन्न हो गयी है और उसका कारण तेजी से होनेवाले जीवनगत, गुणात्मक परिवर्तन हैं। इस प्रकार ऊपर-ऊपर से विचार करनेवालों ने यह स्थिर कर दिया है कि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र या उसके द्वारा निरूपित काव्य-प्रतिमान जिस 'लक्ष्य' को सामने रखकर बने थे, वह लक्ष्य अब अपनी समस्त विशेषताओं के साथ निःशेष हो चुका है। आज का 'नया कवि' अथवा 'युवा कवि' जो कुछ दे रहा है, उसके लिए भारतीय प्रतिमानों में कोई सम्भावना शेष नहीं है। आज सामान्य, समाहिति, सामंजस्य और संश्लेष की जगह विशेष, व्यक्ति, बिखराव, द्वन्द्व और खण्ड-खण्ड की स्थितियाँ हैं। इस स्थिति में भारतीय काव्यशास्त्र को 'नयी काव्यधारा' के मूल्यांकन में या तो निःशेष मान लिया जाये अथवा उसकी नयी व्याख्या द्वारा शेष सम्भावना स्पष्ट की जाये।

इसके पूर्व के उक्त दोनों विकल्पों में से किसी एक की नयी काव्यधारा के सन्दर्भ में पुष्टि करें, एक बार पुनः देख लें कि ग्राह्य काव्य-धारा में भाव या भावना सामान्य या व्यापकता और सामंजस्य या सौन्दर्य की वृत्ति कहीं शेष है या नहीं। साथ ही यह भी देखें कि अस्ति और नास्ति पक्षवाली रचनाओं में, किसे इस धारा की चरम उपलब्धि स्वीकार किया गया है? प्रतिमान का निकष चरम उपलब्धि की रचनाएँ ही मानी जानी चाहिए। उन्हीं से प्रतिमान निकाले भी जाने चाहिए।

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने गैर-रोमाण्टिक काव्य की सम्भावनाओं पर विचार करते हुए कहा है कि कविता के लिए भावावेग अनिवार्य नहीं है। मतलब, भावावेग निषिद्ध भी नहीं है। स्वयं अज्ञेय में भावावेग की स्थितियाँ मिलती हैं और इन स्थितियों में उत्तम रचनाएँ भी आयी हैं। साथ ही यह भी लक्षित करने की बात है कि भावगत आवेग का निषेध हुआ, सामान्य भावबोध का नहीं, ताकि अनाविष्ट दशा का यथार्थ भी अभिव्यक्ति पा सके। भावबोध या रागात्मकता की स्वीकृति के साथ-साथ इस बात पर बल अवश्य दिया गया कि उन्हें उभारनेवाले जटिल-जटिलतर रागात्मक सम्बन्धों को अधिक प्रकाश में लाया जाये। इसीलिए अज्ञेय प्रभृति लक्ष्यकारों का कहना है कि नयी काव्यधारा में राग की जगह रागात्मक सम्बन्धों ने महत्व पा लिया है। कविता इसीलिए आज पहले की तुलना में जटिल-जटिलतर हो रही है क्योंकि सम्बन्ध वैसे हो गये हैं। पुरानी कविता जहाँ भीतर (भाव) से बाहर (रूप) की ओर आती थी, नयी कविता बाहर (जटिल सम्बन्धों) से भीतर (भाव) की ओर आ रही है। भोगे हुए जीवन से उपलब्ध राग या भाव को उसकी प्रामाणिक यथार्थता में चित्रित करने के लिए यह प्रयत्न अवश्य हुआ है कि उसे न तो गलदश्रुभावुकता से रँगा जाये और न ओढ़ी हुई आइडियोलाजी से विकृत किया जाये। नयी कविता की दिशा में दिखायी पड़ने वाली कतिपय शिथिल-ताओं की प्रतिक्रिया में युवा-कवि अपने आक्रोश और अनौपचारिक अभिव्यक्ति में आगे बढ़े और 'अकविता' या 'कवितान्तर' तक पहुँच गये। दूसरी ओर नयी कविता में जिस भावुकता या भावना का स्वर दबे-मुँदे ढंग से रिस रहा था, नवगीत में वह समस्त युगानुरूप कलात्मक उपकरणों के साथ अपना स्वतन्त्र प्रस्थान लेकर चला। नयी कविता के भावात्मक और अ-भावात्मक प्रवृत्तियों के ये दो सीमान्तगामी शिखर हैं—इनके बीच अन्यान्य प्रवृत्तियों की हरी-भरी घाटियाँ भी हैं।

युवालेखन के तेवर

युवालेखन के विषय में मर्मज्ञों की विविध धारणाएँ मिलती हैं। श्री ओमानन्द सारस्वत आदि की धारणा है कि युवालेखन में कतिपय कृतियाँ या कृतिकार ऐसे हैं, जिनमें काव्य या कवि का अन्वेष्य 'सहज' उभरता हुआ लक्षित हो रहा है। **क्षत्रज्ञ** के सम्पादक को डर है कि समकालीन जीवन-सन्दर्भों और केन्द्रीय स्थितियों से सीधे साक्षात्कार की चुनौती को अप्रासंगिक करने पर युवालेखन कहीं सम्भावनाहीन एक-रसता का शिकार न हो जाये। उनकी धारणा यह है कि आक्रोश और विद्रोह का बेमानीपन अब स्वतःसिद्ध हो चुका है, चूँकि किसी ठोस बुनियादी चिन्तन के अभाव में नाराज भंगिमाओं की कोई तर्क-संगति नहीं है।

इस प्रकार नयी काव्य-प्रवृत्ति में युवालेखन की अभी इतनी समीपी प्रवृत्ति है कि उसकी वयस्कता परीक्षणीय है। इसकी ऊँचाई, गहराई तथा प्रसार और व्यापकता अभी कोई सुस्थिर रूप नहीं ग्रहण कर सके हैं। फलतः, न तो इस पर कोई प्रतिमान लागू किया जा सकता है और न इससे कोई प्रतिमान गढ़ा जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि उस विद्रोह और विरोध में सम्भावनाहीन एकरसता का भय होता है, जिसके मूल में किसी मूल्य के प्रति आस्था नहीं है। ऐसा आस्थाहीन संघर्ष क्षयी और शुष्क हो जाता है। जहाँ मूल्यान्वेषण का बीज-भाव नहीं है, वहाँ का विद्रोह और संघर्ष सर्जनात्मक नहीं, वरन् अराजक और विध्वंसक होता है। एक तरफ भारत के सामूहिक मन में व्यवसायी युग द्वारा दमित मूल्य-प्राण, जातीय मनोवृत्ति का बाहर आने के लिए द्वन्द्व और संघर्ष तथा दूसरी ओर व्यवसायी और अवसरवादी बलवती शक्तियों से पराजित, फलतः आचार ग्रहण करने में असमर्थ, इस दलदल की, युवालेखन अजीब फाँसी भोग रहा है। इस संघर्ष का सर्वाधिक प्राणवत्ता में भोग निराला और मुक्तिबोध ने किया था। उनकी रचना ही इसकी साक्षी है। इसीलिए नयी काव्य-प्रवृत्तियों के मर्मज्ञों का निर्णय है कि मुक्तिबोध और उनकी रचनाएँ नयी काव्यधारा की चरम उपलब्धि हैं।

नये काव्य की वयस्क रचनाएँ और ध्वनिसिद्धान्त

क्या ही अच्छा हो कि इसी चरम उपलब्धि को केन्द्र में रखकर भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रतिमानों की परीक्षा की जाये और देखा जाय कि वे अपने पूर्व-व्याख्यात रूप में ही यहाँ लागू हो सकते हैं अथवा नयी व्याख्या के साथ? निराला से लेकर मुक्तिबोध तक 'राम की शक्तिपूजा', 'असाध्य वीणा' एवं 'आशंका के दीप—अँधेरे में' अथवा 'ब्रह्मराक्षस' को विभिन्न रुचियों के लोगों ने एकमत से कविता और उत्कृष्ट कविता कहा है। विचारणीय है कि इन्हें कविता या उत्कृष्ट कविता कहने का आधार क्या माना गया है? क्या इसलिए कि इनमें घुटन, त्रास, खण्ड, वैयक्तिकता, असौन्दर्य, आसामंजस्य, असमाहिति, द्वन्द्व, बौद्धिकता, निर्मूल्य-विद्रोह, संघर्ष और रुक्षता है। या कोई उनसे बड़ी चीज है? क्या ये रचनाएँ इसलिए उत्कृष्ट हैं कि इनमें कोई आकर्षण नहीं है। एक बार पढ़ने पर ये बासी लगने लगती हैं? क्या है इन रचनाओं में जो इन्हें निरन्तर नवता और ताजगी दे रहा है—विभिन्न भूमिकाओं के लोगों को एक राह पर चला रहा है?

दृष्टियाँ

काव्य के सम्बन्ध में विचार करनेवाला प्रत्येक आलोचक इस बात से सहमत है कि काव्य और अनुभूति (या संवेदना) का सहज तथा अविच्छेद्य सम्बन्ध है। बहस और विवाद केवल इस बात पर है कि आज काव्य में अनुभूति और संवेदना का अनुपात क्या है? उसका नियोजन किस स्तर पर है? साथ ही उसकी बुनावट और बनावट कैसी है? विचारणीय यह है कि 'नयी कविता' और 'युवा कविता' की केन्द्रीय वृत्ति क्या है—संवेदना या ज्ञान? यहाँ संवेदना और अनुभूति की चर्चा विशेषतः इसलिए की जा रही है कि 'रस' से उसका सीधा सम्बन्ध है। संवेदना और अनुभूति पहले भी काव्य में महत्त्वपूर्ण थी और आज भी, अन्तर यह आ गया है कि जहाँ पहले रूप और व्यापार की योजना संवेदना, अनुभूति, राग या भाव से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती

थी, आज वे सम्बन्ध जटिल से जटिलतर हो गये हैं। इसीलिए जो (राग) वस्तु काव्य में सदा से अविशेष नहीं है, वह तो अविशेष है ही, पर युगीन प्रभाव के रूप में आज महत्त्व पा गये हैं—ये जटिलतर रागात्मक सम्बन्ध। अद्यतन कविता में 'अनुभूति' के स्वरूप पर विचार करते हुए भी श्री विजयदेवनारायण साही एवं डॉ. नामवर सिंह तो उसे हीरे की संरचना से उपमित करते हैं—जहाँ संरचना-ही-संरचना है और कुछ है ही नहीं। यदि आज की उत्कृष्ट कविता में अनुभूति ही निखालिस है—किसी अन्य विजातीय द्रव्य का वहाँ मिश्रण ही नहीं है, तब तो 'रस' (अनुभूति-मात्र) के विपक्ष में कुछ कहने को मिलता ही नहीं। यदि 'अनुभूति' के स्वरूप के विषय में ही कोई गहरा मतभेद हो तो उसे स्पष्ट उभरकर आना चाहिए। जिस प्रकार 'रस' का विरोध करते हुए उसकी स्वीकृति में अर्थवाद (व्याख्या) की अपेक्षा शर्त के रूप में प्रस्तुत की जाती है, वैसे ही मेरी भी जिज्ञासा है कि ये नव्य समीक्षक जिस 'अनुभूति' की बुनावट को हीरे की संरचना से उपमित करते हैं उसका भी विवरण और समन्वय व्याख्या के आधार पर दें, तभी बात आगे बढ़ सकती है।

नवचिन्तकों की काव्यविषयक धारणाएँ तथा ध्वनिसिद्धान्त

जब डॉ. नामवर[27] सिंह उत्कृष्ट काव्य के प्रतिमान के रूप में अर्थवान् शब्द के माध्यम से आवयविक अखण्डता की बात करते हैं, मुक्तिबोध[28] ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान की चर्चा चलाते हैं, ध्वनियों और चित्रों के साथ संवेदना प्रभाव के संवाद और आनुरूप्य पर बल देते हैं, गिरिजाकुमार माथुर[29] संवेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं, काव्य के सन्दर्भ में भावपक्ष, बिम्बपक्ष और नादपक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रत्यभिज्ञा को महत्त्व देते हैं, जब जगदीश गुप्त[30] अनुभूति और अभिव्यक्ति की सच्चाई को ही काव्योचित 'नवता' का मूलमन्त्र कहते हैं, जब अज्ञेय[31] सर्जनात्मक शक्ति के अस्तित्व की पहचान एकांगिता की सम्भावना के निःशेष होने में स्वीकार करते हैं, जब पन्त[32] आदि छायावादी झंकार में चित्र और चित्र में झंकार की समरसता को काव्य का निष्कर्ष मानते हैं, तब सुदूरवर्ती भारतीय आचार्य कुन्तक, अभिनवगुप्त और आनन्दवर्द्धन का यह उद्घोष कि अलंकार और अलंकार्य की तात्त्विक भूमि पर अखण्डता, काव्योचित उपकरणों की परिवृत्यसहता, काव्य की सहज स्फूर्ति भी हमें निराश नहीं करते। अन्दर प्रविष्ट होकर सहानुभूति के साथ देखने पर ये सारे-के-सारे प्रतिमान काव्य के समस्त उपकरणों में एक सहजता की माँग पर केन्द्रित जान पड़ते हैं। भेद प्रतिमान की मूल वृत्ति में नहीं है, युगोचित काव्यकृतियों के अनुरूप उनसे निर्गत उपरूपों में है। ये उपरूप जड़ और विकृत हो सकते हैं, इन्हीं को मूल वृत्ति मानकर एक-दूसरे का खण्डन हो सकता है, पर यह सब स्वयं का अज्ञान है जो खाने खींचता है और कलह करवाता है। सन्दर्भ-सापेक्ष प्रतिमान भी प्रतिमान है, पर देखना यह है कि सन्दर्भ-सापेक्ष रश्मियों के विकिरण की क्षमता प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में है या नहीं। यदि नहीं तो नयी व्याख्या की बात ही व्यर्थ है और हाँ, तो अभी तो वे

सम्भावनाएँ ही युगोचित रंगों से व्यक्त हो सकती हैं, नयी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि उन प्रतिमानों की मूलवृत्ति को परखा जाये और उसे सामयिक काव्य पर लागू किया जाये, उसके उपरूप निर्मित किये जायें।

रचना और आलोचना का समानान्तर प्रवाह

भारतीय काव्यशास्त्र या कोई काव्यशास्त्र आलोचक का बौद्धिक प्रयास है। बुद्धि द्वारा ऐसे प्रतिमान का निर्माण है, जो यथासम्भव काव्य के सौन्दर्य को अपरिणत प्रज्ञजन तक भी पहुँचा दे। यदि सर्जनात्मक शक्ति बुद्धि से परे कोई क्षमता है, तो बौद्धिक ढाँचों में काव्य का बहुत कुछ आ जाने पर भी कुछ शेष रह ही जायेगा, इसीलिए इस भूमि तक पहुँचकर जो लोग मूल्यांकन, मानदण्ड और प्रतिमान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाना चाहते हैं, वे गलत नहीं हैं। बुद्धि और सर्जनात्मक अनुभूति इन द्विविध शक्तियों का अर्धनारीश्वर मनुष्य एक तरफ अपने अथाह आत्माभि-व्यंजन में स्वभावानुसार सन्तोष पाता है तो दूसरी ओर उसको बौद्धिक ढाँचों या खानों में बाँधने के प्रयास में भी, दोनों ही उसका स्वभाव है। तत्वतः जो भी सही हो, स्वभावत: दोनों चलते रहेंगे। अन्ततः प्रतिमान भी अपनी अखण्डता में उसी सहज और अथाह की ओर संकेत करके अपनी सीमा स्पष्ट करते हैं।

काव्यगत नवता

अभिप्राय यह कि बौद्धिक वैभव के प्रदर्शन का मानवीय स्वभाव शास्त्र-निर्माण की प्रेरणा देता है। काव्यशास्त्र का निर्माण करते हुए बुद्धि ने पहला खाना खींचा कथ्य और कथन-सरणि का, वर्ण्य और वर्णना का। काव्य इन दोनों की अखण्ड स्थिति है, फिर भी महत्त्व इसी वर्ण्य (अनुभूति) को दिया गया और कभी 'वर्णना' को। (संकल्पात्मक अनुभूति ही काव्य[33] है, 'वर्णनाकाव्यमुच्यते')। 'वर्णनाकाव्यमुच्यते' की वर्तमान प्रतिध्वनि 'भाषिक सर्जनात्मकता' है। आनन्दवर्द्धन ने भी ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में दो ऐसे उदाहरणों को लेकर जिनमें वर्ण्य एक है, फिर भी 'नवता' काव्य की आत्मा को लेकर, पूर्व पक्ष के रूप में उसका भार 'उक्तिवैचित्र्य' पर मढ़ा है। बाद में विचार किया है—"किमिदमुक्तिवैचित्र्यम्? उक्तिर्हि वाच्यविशेष-प्रतिभादिवचनम्। तद्वैचित्र्ये कथं न वाच्यवैचित्र्यम्। वाच्यवाचकयोविभावेन प्रवृत्तेः, वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्या विशेषाभेदेनैव प्रतीयये, तैनोक्तिवैचित्र्यवादिना वाच्य-वैचित्र्यमनिच्छताप्यव श्मैवाम्युगन्तव्यम्"[34] अर्थात् यह उक्तिगत काव्योचित 'नवता' (भाषिक सर्जनात्मकता) है क्या? उक्ति वही न जो वाच्यविशेष का प्रतिपादन करनेवाली वाणी होती है? तो फिर उक्तिवैचित्र्य का मतलब वाच्यवैचित्र्य नहीं है? क्या कभी वाच्यनिरपेक्ष वाचक की और वाचक-निरपेक्ष वाच्य की कल्पना सम्भव है? एक-दूसरे का प्रयोग तो परस्पर सापेक्ष ही होता है। काव्य में वाच्य वस्तु और व्यापार जब बिम्बात्मक रूप में ग्राहक की प्रतिभा पर प्रतिभासित होते हैं तब वैयक्तिक विशेषता को साथ लिये हुए। निष्कर्ष यह कि

उक्तिवैचित्र्य या भाषिक सर्जनात्मकता की बात करनेवाले को चाहे-अनचाहे वाच्य-वैचित्र्य या वाच्यगत काव्योचित नवता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। सारांश यह कि सर्जना शक्तिजन्य काव्योचित 'नवता' काव्य के समूचे रूप से सम्बद्ध है—उसे काटकर देखना संगत नहीं है।

मुक्तिबोध की दृष्टि-सर्जना की निर्वैयक्तिक मनोभूमि पर विशेषों का उभरना

भारतीय काव्यशास्त्र या काव्य-प्रतिमान की बात करते हुए कहा यह जा रहा था कि बुद्धि कतिपय कल्पित खण्डों को लेकर विश्लेषणार्थ अग्रसर होती है। सर्जनात्मक अनुभूति अपने-आपमें आदि और अन्त में उसी प्रकार अखण्ड होती है, जैसे धरती की क्षमता विशेषता (गन्ध) पुष्प के आदि और अन्त में। [आदि में एक सर्जनात्मक शक्ति के रूप में और अन्त में सौन्दर्य या ग्रन्थ के रूप में। विश्लेषण के लिए इस मध्यवर्ती रूप को खण्ड-खण्ड कर दिया जाता है] काव्य भी अपने आदिरूप में एक सर्जनात्मक क्षमता है और मुक्तिबोध के शब्दों में अन्ततः एक संश्लिष्ट सौन्दर्यानुभव। वे इस सौन्दर्यानुभव को जीवनानुभव द्वारा प्रदत्त मानते हैं। उन्होंने कहा है कि "संवेदनात्मक उद्देश्य विधायक कल्पना की क्रिया को चालित करते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार जीवनानुभवों के तत्त्व कल्पना के संघटन विधानकारी हाथों से निराले और तरह-तरह के रूपों में प्रकट होते हैं। इस प्रकार जीवनानुभवों के तरह-तरह के पैटर्न कल्पना तैयार करती है, किन्तु उसकी क्रिया संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुशासन में रहती है। उनके अनुसार इस पूरी प्रक्रिया में सौन्दर्यानुभव तब घटित होता है जब मनःपटल पर **बिम्बित कल्पनाओं**, रूपों में डूबकर मन साधारण जीवन की अपनी निजबद्धता का परित्याग कर देता है···संक्षेप में तन्मयता और तटस्थता, निजबद्धता से मनःपटल पर अंकित बिम्बों में अपने स्वयं की व्यस्तता, संलग्नता, इन दो द्वन्द्वों की एक मनोदशात्मक परिणति ही सौन्दर्यानुभव है। इसीलिए सौन्दर्यानुभव जीवन के सारस्वरूप का प्रगाढ़ मार्मिक अनुभव है।"[35] मुक्तिबोध को इतना लम्बा सोद्देश्य उद्धरित किया गया है।

मुक्तिबोध और ध्वनिमत

भारतीय काव्यशास्त्र ने भी एक मनोदशात्मक परिणति विशेष (चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः न च तदस्ति वस्तु किंचिद्यन्न चित्रवृत्तिविशेषमुपजनयति, तदनुरूपादनेवा कवि-विषयतैव तस्य न स्यात्[36]) को ही काव्य का लक्ष्य कहा है। अन्तर वहाँ आ गया है, जहाँ युगोचित रूप, व्यापार और मानवीय सम्बन्ध बदल गये हैं। अन्तर सामग्री का भी है। इसी सामग्री को कथ्य और कथन में बाँटकर भारतीय काव्यशास्त्र ने जिन प्रतिमानों (वस्तुपरक रस सिद्धान्त, कलापरक अलंकार, रीति, वक्रोक्ति) की चर्चा की थी, 'ध्वनिसिद्धान्त' ने सबको आत्मसात् कर एक स्वस्थ रूप दिया। ध्वनिसिद्धान्त अपनी समग्रता से एक सशक्त काव्य-प्रतिमान है और खण्डता

में वस्तुसिद्धान्त (रसध्वनि) और कलासिद्धान्त (वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि)। इसीलिए ध्वन्यालोककार ने कहा है कि अभ्यास काल, पुनः प्राणार्जन काल या संक्रान्तिकाल में कविता चाहे जैसी हो किन्तु 'प्राप्तपरिणतीना' तु ध्वनिरेवकाव्यमितिस्थितमेतत्[37] अर्थात् अभ्यासार्थियों के काव्य को आप चाहे जो कहें, पर परिणतावस्था में तो जो काव्य होता है, वह 'ध्वनि' ही है, ध्वनिकाव्य ही है।

नये कवि की तीन वयस्क रचनाएँ और ध्वनिसिद्धान्त

ऊपर जिन तीन आधुनिक उत्कृष्ट रचनाओं की बात कही गयी है, उन पर भारतीय काव्यशास्त्र अर्थात् ध्वन्यात्मक प्रतिमान पूरे तौर पर लागू होता है। कविता वही उत्कृष्ट होती है, जो अभिव्यक्तिगत सहजता से, हर समय के लोगों के सम्वेदना तन्तुओं को, स्पन्दित कर सके (जिनके तन्तु मर चुके हों उनकी बात अलग है) अथवा हर युग के अनुरूप, प्रत्येक परिवेश के अनुरूप व्याख्या की सम्भावनाएँ अपने भीतर रखे। इन तीनों परिणत कविताओं में ये दोनों बातें मिलती हैं जो ध्वन्यात्मक प्रतिमान में निहित हैं। ध्वन्यालोककार ने ही कहा है कि महाकवि वह है जिसके शब्दों की झंकार हर युगवाले को अनुरूप सुनायी दे और पुनः-पुनः तन्मयकारिता पैदा कर सके। 'निराला' की 'राम की शक्तिपूजा', 'अज्ञेय' की 'असाध्य वीणा' और 'मुक्तिबोध' की 'ब्रह्मराक्षस' या 'अँधेरे में'—इनसबमें दोनों बातें लागू होती हैं। 'राम की शक्तिपूजा' में राम के साथ तादात्म्य अनुभव करता हुआ पाठक बार-बार करुणा से भर उठता है। राम के आँसू के साथ-साथ पाठक के आँसू ढुलक पड़ते हैं। 'ब्रह्मराक्षस' में कुबेरनाथ राय ने रसबोधक तत्त्वों का अस्तित्व देखा है, जिनके कारण उन्हें (या किसी को) मुक्तिबोध की रचनाएँ बासी नहीं लगतीं। 'असाध्य वीणा' में कोई ऐसी चीज है जो उसे कोरी दार्शनिक स्थापना होने से बचाती है। व्यक्तित्व विलयन अथवा समर्पण जो रससिद्धान्त की एक शर्त है, वह 'असाध्य वीणा' की रीढ़ है। निष्कर्ष यह कि जहाँ एक ओर इन कविताओं में मानवीय संवेदन तन्तुओं को स्पन्दित कर अपने को निरन्तर ताजा बनाये रखने की क्षमता है, वहाँ बदलते हुए परिवेशों के अनुरूप नयी 'वस्तु' झंकृत करने की भी क्षमता है। 'राम की शक्तिपूजा' में निराला का वैयक्तिक जीवन-संघर्ष, तात्कालिक स्वातन्त्र्य संग्राम में विदेशी आसुरी शक्ति के समक्ष नैतिक शक्ति से जूझते हुए गाँधी, मानस जगत में निरन्तर चल रहे आसुरी और मानवी शक्ति के द्वन्द्व और संकल्प की अन्ततः विजय अथवा सार्वभौम भूमिका पर चल रहे निरन्तर सत् और असत् का संघर्ष, कुछ भी बदलते परिवेशों के अनुरूप वस्तुध्वनि निकाली जा सकती है। इसी प्रकार 'असाध्य वीणा' से भी काव्यात्मक सर्जना के माध्यम से शाश्वत विराट् सर्जना की रहस्यमयी प्रक्रिया का संकेत झंकृत है। 'ब्रह्मराक्षस' में एक शाश्वत सत्य तो यहीं है जो सदा-सदा के लिए मनोविज्ञान सिद्ध उतर सकता है कि जातीय दमित वृत्तियाँ दोहरी यातना भोगती हैं। एक तरफ अकालग्रस्त जातीय सात्त्विक वृत्तियों का भारतीय ब्रह्मराक्षस मन की बावली में निवास करता है और दूसरी ओर उसके

बाहर आती आवाजें साम्प्रतिक व्यवसायवादी वृत्ति से दबा दी जाती हैं। इस वस्तु-ध्वनि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की ध्वनियाँ भी यहाँ सम्भावित हैं।

ध्वनिसिद्धान्त की व्यापकता

इस प्रकार स्पष्ट है कि वस्तुपक्ष और कलापक्ष, दोनों को आत्मसात् करता हुआ तात्त्विक भूमिका का संकेतक ध्वनिसिद्धान्त कभी भी अपने मूलस्वरूप में ज्यों-का-त्यों प्रतिमान के रूप में ग्राह्य है। हाँ, तात्कालिक लक्ष्यों को देखकर जो खाने और ढाँचे, तात्कालिक विवेचकों ने अवान्तर उपभेद के रूप में गढ़े हैं—उन्हें यथासम्भव मानकर या लाँघकर नये उपरूपों की रचना का दायित्व आज के स्वस्थ समीक्षक पर है। अभिप्राय यह है कि भारतीय साहित्यशास्त्र की मूल वृत्ति तो आज भी यथावत् ग्राह्य है। उपरूप नये हो सकते हैं। काव्य में जिस अभिधा और लक्षणा की बात कही गयी है, उन्हें व्यंजनामुखी कर दिया गया है और व्यंजना के ग्रहण की सामर्थ्य अन्ततः प्रतिभा पर छोड़कर उसकी सम्भावनाओं का द्वार उन्मुक्त रखा गया है। कहा है—

····"प्रतिभाजुषाम् योऽन्योर्थो व्यज्यते यत्र व्यापारो व्यक्तिरेव सा।"[38]

भारतीय काव्यशास्त्र ने 'प्रतिभा' को अनन्त सिद्ध करने के लिए ही ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना कर रखी है। कहा जाता है कि गैर-रोमाण्टिक नयी कविता अथवा 'युवा लेखन' का मूल्यांकन छायावादी छद्म संस्कारों से मुक्त समझदार ही कर सकते हैं। ऐसे छद्म संस्कारों से आक्रान्त भावुक सहृदय नयी कविता का मूल्यांकन नहीं, अवमूल्यन कर बैठते हैं। ऐसे लोगों को छायावादी रोमानियत और सौन्दर्यबोध तथा आइडियालॉजी के अवशेष ही आकृष्ट करते हैं, नयी धारा के प्रासाद नहीं। इसीलिए मैंने प्रतिमानों पर विचार करने के लिए कविता (चरम उपलब्धि) चुनी है, छायावादी या किसी वाद से आक्रान्त रचना नहीं।

छायावादोत्तर इस सैद्धान्तिक चिन्तन के साथ-साथ रचनाओं के साक्ष्य पर भी फिर से ध्वनिसिद्धान्त की सम्भावनाएँ देखनी चाहिए। हमें इस लम्बी सैद्धान्तिक चर्चा के बाद उस आरम्भिक वक्तव्य का पुनःस्मरण करना चाहिए, जहाँ कहा गया है कि काव्य या रचना को रचना कहे जाने के लिए 'नवता' आवश्यक है। 'नये काव्य' के सन्दर्भ में काव्यमात्र के लिए अपेक्षित इस 'नवता' के साथ एक विशेष 'नवता' की भी बात की जा सकती है जो नये युग की नयी मानसिकता से जुड़ी हुई है।

नये काव्य की नयी मानसिकता

'नये काव्य' का सम्बन्ध नयी मानसिकता से है—ऐसी नयी मानसिकता से, ऐसे 'नयेपन' से, जो अज्ञात भाव से धीरे-धीरे विकसित नहीं हुआ है, बल्कि छलाँग मारता हुआ आया है। इसीलिए इस नयेपन को रेखांकित किया जाता है, वरना घनानन्द की कविता भी लीक-बद्ध, लोक प्रचलित कविता से इतनी भिन्न थी कि 'प्रवीननि की मति जाति जकी'। बड़े-बड़े सहृदयम्मन्य आलोचकों की प्रज्ञा स्तब्ध रह जाती

थी, फिर भी उसे कोई विशिष्ट संज्ञा नहीं दी जा सकी। एक 'नयापन' तो ऐसा है जो रचना मात्र के लिए अनिवार्य है। 'नयापन' के बिना कोई निर्मिति अथवा अभिव्यक्ति रचना हो ही नहीं सकती, फिर भी यह 'नयापन' अनुभूति-सापेक्ष कल्पना से ही आने के कारण ज्ञात का ही नयापन होता है, अज्ञात का नहीं। भारतीय परम्परा डण्टन के उस (Dramatic or Absolute Vision) अनुभूतिनिरपेक्ष कल्पना की कुतूहल मात्र पर्यवसायी सर्वथा नूतनवैचित्र्य का समर्थन नहीं करती। कविता अनुभूत की ही अनुभूति कराती है। ज्ञात का ही ज्ञान कराती है। सहृदय ग्राहक को उसमें 'नयापन' प्रतीत होना चाहिए। उसे लगना चाहिए कि वह कर तो रहा है अनुभूत की ही अनुभूति, पर लग रहा है उससे (अनुभूत की अनुभूति से) 'कुछ और ही'—तभी वह प्रभावित होगा। रचना वही है जो 'प्रभाव' डाले। यह एक ऐसा निष्कर्ष है, जिसमें कदाचित् ही किसी को विवाद हो—

> बाध्य हैं हम दोनों
> एक-दूसरे से घृणा
> करते हुए
> करने को प्यार[39]

श्रीकान्त वर्मा की ये पंक्तियाँ हैं। इसमें समाज की जकड़न, यौन नैतिकता के संस्कार तथा व्यक्तिगत अराजक यौन भावनाओं के अदम्य समुच्छलन से उत्पन्न पारस्परिक अविश्वास और विसंवाद की स्थिति का उल्लेख है और उसके कारण विद्रोह की भावना है। आप इसे नयी मानसिकता की छलकन कहेंगे। क्या यह अनुभूत की अनुभूति नहीं है? व्यष्टि मानस के लिए अपरिचित हो, पर क्या सामूहिक अवचेतन या समाज-मानस के लिए भी अपरिचित है? भाषा का सहारा लेते ही कविता सामाजिकों के लिए सामाजिक हो जाना चाहती है, अभिप्राय यह कि यह अननुभूत नहीं अनुभूत की अनुभूति है—पर 'कुछ और' इसमें न होता, 'नयापन' न होता तो इसे कोई कविता न कहता। यह 'कुछ और' ही कविता की जाँच है। इसके पूर्व कि छलाँग मारता हुआ आनेवाला नयापन क्या है, इस पर विचार करें—कविता-मात्र के लिए अपेक्षित और अनिवार्य इस सामान्य 'नयेपन' को भारतीय काव्य-चिन्तन के आलोक में देख लें।

काव्य का कार्य है साधारण में से असाधारण को उभार देना

> सिंहासन ऊँचा है, सभाध्यक्ष छोटा है
> अगणित पिताओं के
> एक परिवार के
> मुँह बाये बैठे हैं लड़के सरकार के
> लूले काने बहरे विविध प्रकार के
> हलकी-सी दुर्गन्ध से भर गया है सभाकक्ष।[40]

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा, 'इस उद्धरण में किसी

सामान्य सभाकक्ष का वर्णन भी है और किसी विशिष्ट सभाकक्ष का बिम्ब भी। इन पंक्तियों में वर्णन और बिम्ब के स्तरों की टकराहट, अर्थ को असाधारण विस्तार देती हैं। यह 'असाधारणता' क्या है? अज्ञेय के साथ, उनके सभी अनुयायी यह मानते हैं, बल्कि अननुयायी भी, कि नयी कविता का भाव और शिल्प दोनों ही पहले से कहीं अधिक जनतान्त्रिक हो गये हैं। अब उदात्त के साथ अनुदात्त और विशिष्ट के साथ सामान्य भी काव्य का विषय बन गया है। कवि का कार्य है, साधारण में भी असाधारणता उभार देना, 'कुछ और' उभार देना। शायद अज्ञेय ने ही कहा है कि काव्य में 'आम' प्रविष्ट होते ही 'खास' हो जाता है।

कुन्तक और आनन्द की सहमति

भारतीय काव्यचिन्ता धारा में 'साधारण' में निहित 'असाधारण' को उभारने की बात पर बड़ा बल दिया गया है, 'कुछ और' को कविता की जान भी बताया गया है। एक ओर वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक कहता है कि वर्ण्यवस्तु के स्वभाव में जो 'सूक्ष्म सुभगतत्व' निहित है, कवि की वाणी उसी को प्रतिभाशक्ति से खींचकर ऊपर ला देती है—यही सूक्ष्म सुभगतत्व, वर्ण्यवस्तु की स्वभावगत असाधारणता है, बाँकपन है—'कुछ और' है। उन्होंने इसी बाँकपन या असाधारणता को मर्मभ्रान्त लोगों को समझाते हुए कहा है—

> स्याञ्जसेन प्रकारेण परिपोषणमेय
> स्वभाव वक्रतायाः परंरहस्यम्।[41]

स्वभावगत असाधारणता को उभारकर रख देना ही वक्रोक्तिवाद का परम रहस्य है, उन्होंने कहा—

> लीनं वस्तूनि सेन सूक्ष्मसुभगंतत्वं गिरा कृष्यते
> निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव योवा कविः।
> वंदे द्वावपि तावहं कविवरौ वंदेतरां तं पुनः
> यो निज्ञातपरिश्रमोऽयमनयोः भारावतारक्षमः।[42]

मैं उन दोनों प्रकार के कवियों को तो वन्दनीय मानता ही हूँ, जिनमें से एक तो वर्ण्यवस्तु में लीन सूक्ष्म सुभगतत्त्व की असाधारणता को, अपनी वाणी से कुरेदकर ऊपर ला देता है, सर्वसंवेद्य बना देता है; और दूसरा अमनोहर को भी अपने वाग्विकल्प से मनोहरता प्रदान करता है अर्थात् जिसमें कोई स्वभाव सौन्दर्य नहीं है, फिर भी, अपनी क्षमता से उसमें कुछ और ही छटा डाल देता है। उन आलोचकों और सहृदय पाठकों को भी वन्दनीय मानता हूँ, जो ऐसी रचनाओं का आस्वाद लेकर स्रष्टा के सर्जन श्रम को हलका कर देते हैं, उन्हें समझकर उन्हें राहत देते हैं।

दूसरी ओर आनन्दवर्द्धन हैं, उन्होंने इस 'कुछ और' की व्याख्या करते हुए कहा है—

> प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीसु महाकवीनाम्।
> यत्तप्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥[43]

प्राचीन चिन्तन में भी स्रष्टा और सृष्टि-उभयत्र रसात्मक प्रभाव पर बल

महाकवियों की वाणी में झलकनेवाली 'कुछ और' ही बात होती है, ठीक वैसे ही जैसे अंगनाओं के अंग-अंग में झलकनेवाला लावण्य। इस 'असाधारणता' को उभारनेवाले शब्द, सही शब्दों की तलाश कवि करता है। अभिव्यक्ति तब तक अभिव्यक्ति नहीं है, जब तक यह सही शब्द नहीं मिलता। ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने कहा है—

> उक्त्यन्तरेणा शक्यं मत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
> शब्दो व्यंजकता विभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ।।[44]

उस कविता की जान 'कुछ और' को, जो उक्ति, शब्द को ठीक-ठीक, अपनी अपरिवर्तनीयता के साथ उभार दे, वही ध्वनि प्रतिमान है। कविता, अकविता सभी के पक्षधर इस प्रतिमान की सम्भावना से सहमत होंगे। लोग कहते हैं कि भारतीय रस चिन्तन 'माध्यम' (विभावादि) को ही महत्त्व देता है—सर्जक के व्यक्तित्व की यहाँ उपेक्षा है, उसमें निहित सौन्दर्य का अग्रहण है। पर ऐसी बात भी नहीं है—

> सरस्वती स्वादु तदर्थं वस्तुनिःष्यंदमाना महतांकवीनाम्।
> अलोकसामान्यमभिव्यक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।[45]

अर्थात् कवि की वाणी ग्राहक को प्रभावित करती हुई प्रभाव के ही आवेश में अपनी मूलवर्तिनी प्रतिभा का भी साक्षात्कार करा देती है।

काव्य सत्य के ग्रहण में व्यक्ति विलयन आवश्यक शर्त

नया चिन्तन कहता है कि कविता अनुभूत सत्य के प्रकाशन का ही माध्यम नहीं है, अननुभूत सत्य के जानने का भी माध्यम है। अज्ञेय तथा नामवरसिंह के इस वक्तव्य के साथ, जगदीश गुप्त का भी स्मरण करना चाहिए। उन्होंने कहा है कि कवि ऋषि की तरह 'सत्य' का अन्वेषी और द्रष्टा होता है और काव्य इसी दृष्ट या साक्षात्कृत सत्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है। अभिव्यक्त 'सत्य' को यथावत् ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि ग्राहक 'आब्जेक्टिव' रहे, अपने व्यक्तित्व को स्रष्टा के व्यक्तित्व में विलीन न करे, तभी नये काव्य की सम्प्रेष्य सह-अनुभूति, जो रसानुभूति की विरोधी है, का ग्रहण हो सकता है। मैं यहाँ केवल इतना ही जानना चाहता हूँ कि ग्राहक कवि के अनुभूत सत्य का ग्रहण करता है, या मात्र 'सत्य' का? पहला विकल्प तभी सम्भव है जब ग्राहक स्रष्टा की आँख से उसके अनुभूत सत्य को देखे अर्थात् व्यक्तित्व का विलयन करे। दूसरा पक्ष काव्य और कवि के सन्दर्भ का है ही नहीं।

अब यह कि काव्य सत्य की अभिव्यक्ति का ही माध्यम नहीं है, सत्य के जानने का भी माध्यम है, का आशय क्या है? यह कि वह सत्य अननुभूत है या अनुभूत? यहाँ भी यदि वह 'सत्य' अननुभूत है, तो कविता का सत्य नहीं है। हाँ, यदि उसका आशय अचेतनगत अनुभूत को चेतन में लाने का माध्यम भी कविता है, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। फिलहाल, यह तय हुआ है कि कविता द्वारा अनुभूत की ही

अनुभूति होती है—पर 'नयेपन' के साथ, 'कुछ और' के साथ। और इस सन्दर्भ में ध्वनिसिद्धान्त की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता।

अब रहा रससिद्धान्त, जिसको खूब फींचा जा रहा है। फींचा जा रहा है, पर रंग निकलता ही जा रहा है। लोग इसे तब तक फींचेंगे, जब तक रंग पूर्णरूप से न निकल जाये। लेकिन यदि वह रंग-ही-रंग हो, और कुछ हो ही नहीं? अस्तु! आलंकारिक ढंग छोड़कर सीधे अपनी बात पर आना चाहिए। रस के विषय में सबसे पहली बात यह कि न केवल रसात्मक प्रतिमान बल्कि कोई भी प्रतिमान रचना और रचना के मूल में रहनेवाली सर्जनात्मक अनुभूति से गुजर चुकने के बाद, उसकी धातु पहचान लेने के बाद ही लागू किया जाना उचित है, भारतीय आचार्यों का यही परिनिष्ठित मत है। तभी वस्तु व्यंजनागर्भ रचनाओं पर रसात्मक प्रतिमान का संचार करनेवाले समीक्षकों को अभिनवगुप्त ने रसान्ध कहा था। इसीलिए प्रातिक सरम्भ का विचार करनेवाले आचार्यों ने रसात्मक प्रतिमान की दृष्टि से काव्य को कभी भेद-प्रभेदों में बाँट दिया था। वे भी उसी रचना पर रसात्मक प्रतिमान लादते थे, जिसमें अनुभूति साक्षिक रसात्मकता की प्रमुखता होती थी। अतः विवाद इस बात का नहीं है कि रसात्मक प्रतिमान का सर्वत्र संचार किया जा सकता है या नहीं, विवाद इस बात का है कि तदनुरूप नयी मानसिकता है या नहीं? यहाँ फिर ठहरकर, क्रमागत 'नयापन' उभारने में उसका योगदान है या नहीं—पहले यह देख लें।

रसात्मक ध्वनिसिद्धान्त का नयी रचनाओं में संचार

आनन्दवर्द्धन ने कहा है—

सर्वे नवा इवाभान्ति काव्ये रस परिग्रहान।

पतझर के ठूँठे पेड़-पौधे मधुमास में डूबकर जैसे नयेपन से मण्डित हो जाते हैं वैसे ही सर्जनात्मक अनुभूति के मधुमास में निकली अर्थराशि नयी-सी लगने लगती है।

कलेण्डर दिसम्बर तक फटा है, ग्लास चटके हुए हैं, किताबों
के पन्ने फट-फटकर एक-दूसरे में मिल गये हैं
कान टूटने से प्यालियाँ कटोरियाँ बनी हुई हैं
दीवालों पर लाल काली मकड़ी जालियाँ लिखी हैं
टेबललैम्प में न बल्ब है न छत ही, मौसमी
फुलवाड़ी में सिर्फ डण्ठल और डाल है,
शिशु हाथी की सूँड जैसे चंचल हाथों वाली मेरी
लक्ष्मी—यहाँ एक महीने रहकर गयी[46]

मदन वात्स्यायन की 'स्वस्ति मेरी बेटी' शीर्षक यह रचना है, रस की दृष्टि से इसे वात्सल्यविप्रलम्भ की रचना कह सकते हैं। ऐसी बन्ध्या अनुभूतियाँ अपने उद्गारों के साथ अनेक बार आती-जाती सुनी गयी होंगी, किन्तु प्रस्तुत रचना में वही अनुभूति सर्जनात्मक होकर अपनी अभिव्यक्ति में आकर्षक हो गयी है—नयी-सी

लगने लगी है—प्रभावित करती है। इसमें यथार्थ जीवन की सच्ची तस्वीर है, व्यंजक अर्थ सामग्री के माध्यम से युगीन बोध है। वर्गीय पारिवारिक जीवन का जाना-पहचाना चित्र है। निष्कर्ष यह कि जब नयी कविता के शलाका पुरुष मानते हैं कि उनका 'हृदय उथला नहीं हो गया है' तब रसात्मक उद्‌गारों के अभाव की शपथ ठीक नहीं होगी। हाँ, यह अवश्य है कि आज के भौतिकतापरक व्यावसायिक मानसवाले औसत प्रवाह में कूटनीतिक फलत: जटिल व्यापारों का ऐसा माहौल बन गया है कि भुक्कड़ और निर्मम, रक्तलोभी गिद्धी मौसम में 'हृदय' दुबका हुआ है। पर यह कैसा जनतन्त्र! जहाँ दुबके-सिमटे को कविता और स्वप्न में भी बाहर निकलते भय महसूस हो रहा हो?[47]

अज्ञेय का रस समर्थन

अज्ञेयजी तो निर्भीक होकर कह रहे हैं, कलाकार और रसिक—दोनों की दृष्टि से एक कलाकृति की मूल कसौटी यही है कि वह चमत्कारयुक्त हो, रसयुक्त या रसात्मक हो। रसिक कला से रस माँगता है, तो कलाकार को अपनी कला से वही देना चाहिए और ऐसे रूप में देना चाहिए कि उसमें रस की अवहेलना न हो। ये सामान्य उक्ति से काव्यात्मक उक्ति को उसकी वक्रता में विशिष्ट मानते हैं और मानते हैं कि उक्तिगत वक्रता स्थायी और संचारी के चामत्कारिक योग से ही संयुक्त होकर रस की सृष्टि कर सकती है। (त्रिशंकु। दूसरा सप्तक) भारतीजी का भी ख्याल है—'बहुत-सी कविताएँ अच्छी लगती हैं। वे प्रभावित करती हैं और उनका प्रभाव स्थिरता लिये हुए होता है, इसकी (प्रभाव की) परिधि में भाव और ज्ञान, दोनों ही आ जाते हैं।'[48] ये वक्तव्य सम्भाव्य स्थलों में रसमयता, ध्वनिमत्ता तथा वक्रता का नये काव्य में होना समर्थित करते हैं। मुख्य बात यह है कि वह अपनी संवेदनाओं के आग्रह से अपने अनुभवों के आधार पर, कल्पना द्वारा जीवन की पुन: रचना करता है, अपने अनुसार। कल्पना के रंगों में डूबी इस जीवन पुन: रचना के रंग नि:स्सन्देह भावुक हैं। इन चित्रों के रंगों में डूबकर उन्हीं चित्रों से प्राप्त संवेदनाओं में ग्राहक भावुक होकर रम जाता है। अपने मनोमय जीवन के इन क्षणों में, जब वह उन चित्रों में तन्मय होकर, उनमें प्रस्तुत हुए जीवन की संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ ग्रहण करने लगता है, उस समय, वास्तविक बाह्य से क्रिया-प्रतिक्रिया करने में व्यस्त और ग्रस्त करनेवाले मन को जो वैयक्तिक सुख-दुख से मण्डित रहता है, बहुत पीछे छोड़ देता है। उसके ऊपर उठ जाता है, उसके परे हो जाता है।[49]

मुक्तिबोध की दृष्टि में प्रभावी भाषा का रहस्य

सौन्दर्यानुभूति का क्षण कलात्मक अनुभव का क्षण है। गहन अनुभूति के क्षण थोड़े होते हैं। वे सौन्दर्यानुभव के क्षण होते हैं, जब हमारे भीतर एस्थेटिक इमोशन जाग उठता है, तब हम कविता लिखते हैं—ऐसे एस्थेटिक इमोशन्स केवल लेखक में ही नहीं

होते, साधारणजन के हृदय में भी आते-जाते हैं और खूब आते हैं। जनता स्वयं 'एस्थेटिक इमोशन' का भण्डार है। यह कोई राजनैतिक बात नहीं, नितान्त सत्य है। फिर हमीं क्यों कवि हो जाते हैं, वे क्यों नहीं होते ? यह इसलिए नहीं हो पाता कि यद्यपि वे भावों की व्यक्तिबद्ध दशा से हटकर, ऊपर उठकर सामान्य और उच्चतर रसदशा में चले जाते हैं, फिर भी कभी-कभी वे उनका विलगीकरण 'एब्स्ट्रैक्शन' नहीं कर पाते। किन्तु बहुत बार वे लोग बातचीत के दौरान वैसा कर जाते हैं, तब उनकी बात का प्रभाव रसात्मक होता है और वाणी द्वारा प्रस्फुटित उनकी आत्माभिव्यक्ति की अपनी शैली होती है, जिसमें प्रभावात्मक शब्द-योजना रहती है—सामान्यजन में यही प्रभावात्मक शब्द-योजना नहीं होती, जिससे वह अपने सूक्ष्म भावों और आशयों को ठीक-ठीक प्रस्तुत कर सके।[50]

'अपने से परे उठने और परे जाने की यह जो प्रवृत्ति है उसी की एक विशेष शाखा है—सौन्दर्यानुभूति। यह सौन्दर्यानुभूति केवल कलाकार की विशेषता नहीं है वरन् वह उन सबकी विशेषता है जिन्हें हम मनुष्य कहते हैं। वह मनुष्यत्व का एक लक्षण है।'[51]

'समाज की मूल आत्मा जनतान्त्रिक है।'

ये उद्धरण ध्वनिगम्य या ध्वन्यात्मक रसवत्ता की ही बात करते हैं।

नयी रचना और नये चिन्तन के सन्दर्भ में

अब, रेखांकित की गयी 'नयी मानसिकता' और उसके कारण आनेवाले 'नयेपन' के सन्दर्भ में भी भारतीय काव्य-तत्त्वों तथा प्रतिमानों की स्थिति देख लेनी चाहिए। यह 'नयी मानसिकता' विज्ञान के प्रभाव में भौतिकता को ही समष्टि और व्यष्टि के धरातल पर, चरम प्राप्य मानकर, सर्वथा व्यावसायिक हो जाने के सन्दर्भ में आयी है। इसीलिए इसके प्रभाव में अव्यावसायिक मानवीय मूल्य विघटित हुए हैं। क्षयिष्णु वृत्तियों ने जीवन पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली है। बुद्धिवाद कूटनीतिवाद हो गया है। राजनीति स्वार्थनीति हो गयी है। सर्वत्र विसंगति, विखण्डन और असामंजस्य उभर आया है। इस सांस्कृतिक संकट से समाज का मेरुदण्ड चरमरा उठा है। भौतिक दूरी कम होती जा रही है—मानसिक बढ़ती जा रही है। हर आदमी हृदय थामे-थामे थक गया है। उसे कोई जगह नहीं मिलती, जहाँ वह उसे उतारकर क्षणभर के लिए रख दे और राहत की साँस ले। सारा विश्व हाँफ रहा है। निश्चय ही इन प्रत्यभिज्ञापक रेखाओं के कारण 'नयी मानसिकता' पुरानी मानसिकता के तारतम्य में रेखांकनीय हो उठी है। वहाँ धर्म, अध्यात्म, दैव, प्रारब्ध के साये में अमेय सहिष्णुता थी, समझौता था, बागीपन और विद्रोह का मुँह बन्द था। सम्प्रति वह साया भी हट गया है और वह भूमि भी कट गयी है—फलतः 'नयी मानसिकता' साफ दीखने लग गयी है। अज्ञेयजी कहते हैं[52]—

रसध्वनि विरोधी तर्क और समाधान

(1) रस का आधार है—समाहिति, अद्वन्द्व; किन्तु नयी कविता द्वन्द्व और असामंजस्य की कविता है।

(2) नयी कविता वर्तमान पर केन्द्रित है, जबकि रस की दृष्टि अतीतोन्मुख रहती है। नयी कविता का विषय है क्षण की अनुभूति, जबकि रस का आधार है वासना और स्थायीभाव।

(3) रस सिद्धान्त में कवि के व्यक्तित्व की पूर्ण उपेक्षा है—अतः रसानुभूति में केवल अव्यक्तिगत भावना का ही आस्वादन सम्भव है, किन्तु आज की कविता का सम्बन्ध अत्यन्त व्यक्तिपरक अनुभूति है, जिसे रसानुभूति के समक्ष सह-अनुभूति की संज्ञा दी जा सकती है।

(4) नयी कविता का मूल स्वर बौद्धिक है, रागात्मक नहीं; आदि-आदि।

इन प्रश्नों का उत्तर देने से पहले मैं अपनी उस पूर्व प्रतिज्ञा को पुनः दोहराना चाहता हूँ कि भारतीय आचार्य न तो रसात्मक प्रतिमान का अन्धा होकर सर्वत्र संचार करते हैं, न करने की वकालत करते हैं। यह प्रतिमान वहीं लागू होगा, जहाँ रचना का मूल उत्स--सर्जनात्मक अनुभूति--रसात्मक होगी। पर जब यह कहा जाता है कि 'नयी मानसिकता' से समुद्भूत 'नयी कविता' में रसात्मक मनःस्थिति कभी आ ही नहीं सकती, तब यह शपथ भी, एक अतिचार लगता है। ऊपर के उदाहरण ही इसके जवाब हैं। यह कहना कि उक्त उदाहरण में 'नयी कविता' के अनुरूप 'नयी मानसिकता' ही नहीं है, शायद जबर्दस्ती होगी। फिर 'नयी कविता' में भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के लोग हैं। वे 'जीवन में सौन्दर्य लहलहायेगा,' इस आस्था के साथ सामाजिक भूमि पर संघर्षरत हैं। उनकी रचनात्मक मनोभूमि इस परिवेश में भी सामाजिक और रचनात्मक है। सारी नयी कविता में मनोविश्लेषणात्मक चिन्तन और अभिव्यंजन की बँधी-बँधायी पद्धति पर व्यक्ति-मन की अँधेरी गुहाओं के भूत-प्रेत ही नहीं ताण्डव करते लक्षित होते। Impersonal भूमिका पर रचना के मुखापेक्षी रससिद्धान्त के विरोध में जब Personal या व्यक्तिगत भूमिका की बात की जाती है, तब मैं जानना चाहता हूँ कि व्यावहारिक और कलात्मक मनोभूमिकाओं में कोई अन्तर है या नहीं ? क्या कलात्मक मनोभूमिका पर भी जो कुछ होता है उसके कलात्मक परिणामों की वैसी ही चिन्ता होती है, जैसी व्यावहारिक मनोभूमियों की व्यावहारिक परिणतियों को लेकर होती है ? यदि दोनों की एक ही तरह की, निर्माण से लेकर परिणति तक की, स्थितियाँ हैं, तो दो मनोभूमिकाएँ मानने की आवश्यकता क्या है ? क्या कथ्य की प्रकृति में अन्तर हुए बिना अभिव्यक्ति की प्रकृति में अन्तर आना नयी कविता की क्रिस्टल-कल्प अवधारणा में घातक न होगा ? क्या नितान्त व्यक्तिगत वृत्तियाँ अपनी असाधारणता में सर्वसंवेद्यता प्राप्त कर सकेंगी ? यदि अनुभूति में सर्वसंवेद्य होने की (अपनी नितान्त वैयक्तिकता के कारण) सम्भावना ही न होगी तो महज भाषा का इन्द्रजाल साधारणीकरण की समस्या कहाँ तक सुलझा सकेगा ? मैं ऐसे असम्भव स्थलों में रस

प्रतिमान की बात ही नहीं करता, न भारतीय आचार्य करते हैं। 'नयी कविता' में सारी रचनाएँ व्यक्तिमन की अँधेरी गुहा का असंवेद्य प्रश्वास ही हैं, क्या यह सच है ? निश्चय ही रसात्मक प्रतिमान Impersonal मनोभूमिका की रचना और ग्रहण की उभयत्र माँग करता है और नयी कविता में इस मनोभूमि का अभाव नहीं है, सद्भाव है। मैं 'नयी कविता' मात्र पर इस प्रतिमान के लागू करने का न तो पक्षधर ही हूँ और न ये सर्वत्र लागू ही होंगे। जहाँ इस तरह की स्थिति होगी, वहाँ यह प्रतिमान लागू होगा।[53]

रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि अ-व्यक्तिगत भूमिका पर उभरनेवाला 'भाव' मात्र अक्षोभकारी होने के कारण रस होता है, अतः असमाहिति या असामंजस्य के नये मानसिक प्रवाह में उभरनेवाले 'तनाव' 'सन्त्रास' जैसे सभी भाव भी कलामय सर्जनात्मक मनोभूमि पर उभरे हैं तो ग्रहण की दृष्टि से वे अक्षोभकारी होने के कारण रसात्मक हो सकते हैं। फलतः उन लोगों की शपथ जो इस 'नयी मानसिकता' में रसात्मकता की सम्भावना कहीं देखते ही नहीं, समझ में नहीं आती।

भारतीय आचार्यों ने 'वासना' की क्षणविरोधी स्थिरता के कारण संचारी और स्थायी जैसा भाव-भेद स्थापित नहीं किया है बल्कि उनका सहृदय संवेद्य भाव पर्यवसायी तथा रस पर्यवसायी स्थितियों के आधार पर। अतः यह आधार भी कुछ समझ में नहीं आता।

रसध्वनि के संचार के क्षेत्र

आनन्दवर्द्धन ने रस को चित्तवृत्ति की दशाविशेष माना है जो प्रभावी वर्णन के सन्दर्भ में उपजती है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि कवि ऐसी बात ही क्यों कहेगा जिससे पाठक प्रभावित न हो, उसकी चित्तवृत्ति प्रभावित न हो, अतः जब हृदय उथला नहीं हो गया है, तो उसे बदलता हुआ भी सन्दर्भ प्रभावित करेगा ही। 'रस' शब्द पुराना है पर हृदय का प्रभावित होना भी पुराना हो गया। यदि कहीं अव्यक्तिगत भूमिका पर प्रभावी रचना होगी तो रसात्मक स्थिति उत्पन्न होगी ही।

फिर बिम्ब और प्रतीकों के प्रयोग क्या बताते हैं ? 'बिम्ब' का प्रयोग 'प्रभाव' के लिए ही होता है और 'प्रतीक' में व्यंजनात्मक झंकृतियाँ विद्यमान रहती हैं। वाग्भंगिमाओं की कोई इयत्ता नहीं है। ये सब मिलकर हृदय के तार को कभी झनझनायेंगे ही नहीं, मैं नयी रचनाओं के साक्ष्य पर यह नहीं मानता। लक्ष्मीकान्त वर्मा की एक रचना देखें, जहाँ इन सब काव्यात्मक तत्त्वों के साथ अमर्ष या क्रोध की व्यंजना की गयी है---उन स्वार्थान्ध मक्कार समाज के कर्णधारों पर जो समाज की गाय को निर्मम मक्कारी के साथ दुह रहे हैं और दुहने में पटु हैं—

> भर दो
> इस त्वचा की मृतात्मा की, सूखी ठाठर में
> यह घास-पात कूड़ा कबाड़ सबकुछ भर दो

लगा दो आँखों में नकली कौड़ियाँ
कानों में सीपियाँ
पैरों में खपच्चियाँ
मेरी इस हृदयहीन धमनीहीन स्नायुहीन काया में
सभी कुछ भर दो
ताकि मैं इस स्निग्ध पयोमती माता के निकट
अपनी चेतनाहीन पूँछ को एक स्थिति में उठा
उसके वात्सल्य को, हृदय को, आकर्षण को, चेतना को
सबको उभार दूँ
और तुम इस मुर्दे के उपजाये स्नेह को निचोड़कर
जीवित रहो
जिन्दा रहो।[54]

अन्याय के खिलाफ आवाज बुलन्द करना आधुनिक भावबोध है और इस रचना में वह मुखर है। दूसरी ओर आधुनिक भावबोध के अन्तर्गत यह भी है कि मानवता के भविष्य निर्माण के संघर्ष में हम और भी अधिक दत्तचित्त हों तथा वर्तमान परिस्थिति को सुधारें, नैतिक ह्रास को थामें, उत्पीड़ित मनुष्य के साथ एकात्म होकर उसकी मुक्ति का उपाय करें। विशेष लोकादर्श के लिए कविता लिखना भी आधुनिक भावबोध के अन्तर्गत है।[55]

निष्कर्ष

इस प्रकार हिन्दी का नया रचना-संसार और उसके समानान्तर चलनेवाला काव्य-चिन्तन, दोनों की भूमियों पर दृष्टिपात करने से ध्वनिसिद्धान्त की भारतीय काव्य-चिन्तन द्वारा निर्धारित प्रतिष्ठित प्रतिमान की सम्भावनाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। अस्वीकार के पहले परिचय आवश्यक है।

सन्दर्भ

1. कुन्तक : वक्रोक्ति जीवित, चौखम्भा प्रकाशन, 1967, पृ. 265
2. अभिनवगुप्त : ध्वन्यालोकलोचन, चौखम्भा प्रकाशन, 1940, पृ. 188
3. पण्डितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर, निर्णयसागर, 1947, पृ. 26
4. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक, चौखम्भा प्रकाशन, 1940, पृ. 542
5. कुन्तक : वक्रोक्ति जीवित, चौखम्भा प्रकाशन, पृ. 48
6. वही, पृ. 265
7. महिमभट्ट : व्यक्ति विवेक, चौखम्भा प्रकाशन, पृ. 390-91
8. तुलसीदास : रामचरित मानस, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. 2004, पृ. 419
9. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक, पृ. 146

10. सुमित्रानन्दन पन्त : पल्लव, राजकमल प्रकाशन, 1958, पृ. 29-30
11. पं. पट्टाभिराम शास्त्री से व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार का साक्ष्य
12. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक, पृ. 42-43
13. देखिये, सन्दर्भ संख्या 11
14. अभिनवगुप्त : ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 92
15. (सं. डॉ. नगेन्द्र) हिन्दी ध्वन्यालोक, हिन्दी अनुसंधान, भूमिका से
16. रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग 1, ना. प्र. सभा, 1939, पृ. 189
17. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक, पृ. 528
18. वही, पृ. 48-49
19. एवर क्रांबे : दि प्रिंसिपिल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, 1965, पृ. 19
20. सुमित्रानन्दन पन्त : पल्लव, पृ. 30
21. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, ना. प्र. सभा, पृ. 453
22. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, पृ. 122-23
23. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक, पृ. 48-49
24. रामस्वरूप चतुर्वेदी : भाषा और संवेदना, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1964, आरम्भिक वक्तव्य, पृ. 12
25. नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, पृ. 114-15
26. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ. 122
27. डॉ. नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन
28. ग. मा. मुक्तिबोध : नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 10
29. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी : भारतीय काव्यशास्त्र : नयी व्याख्या, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 8
30. जगदीश गुप्त : नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1968, पृ. 108
31. स. ही. वा. अज्ञेय : हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1967, पृ. 16
32. सुमित्रानन्दन पन्त : पल्लव, पृ. 30
33. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ. 37
34. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक, पृ. 542-43
35. ग. मा. मुक्तिबोध : नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र—कलात्मक अनुभव शीर्षक निबन्ध,
36. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक. पृ. 495
37. वही, 499-500
38. मम्मटाचार्य : काव्य प्रकाश, भण्डारकर ओरियण्टल रि. इ., पंचमावृत्ति, पृ. 72
39. 'आधुनिकता और मोहन राकेश' से उद्धृत
40. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी : नयी कविताएँ : एक साक्ष्य, लोकभारती, पृ. 32-33
41. कुन्तक : वक्रोक्ति जीवित, पृ. 163
42. वही, पृ. 283
43. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक, पृ. 48-49
44. वही, पृ. 146
45. वही, पृ. 91

46. (सं. अज्ञेय) : तीसरा सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृ. 155
47. अज्ञेय : त्रिशकु, सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर, पृ. 41
48. (सं. अज्ञेय) दूसरा सप्तक, भारती का वक्तव्य, पृ. 166
49. ग. मा. मुक्तिबोध : नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ. 151
50. वही
51. वही
52. डा. नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृ. 345
53. रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग-1, ना. प्र. सभा, 1970, पृ. 202
54. लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता, अंक-3, पृ. 91
55. ग. मा. मुक्तिबोध : नयी कविता का आत्मसंघर्ष, पृ. 16

वक्रोक्ति मत

भारतीय रचनात्मक तथा शास्त्रात्मक वाङ्मय में भामह, दण्डी जैसे अलंकारवादी आचार्यों से पूर्व वक्रोक्ति को उस तरह से उपस्थापित नहीं किया गया, जिस तरह से इन लोगों ने किया। भामह ने काव्य का केन्द्रीय तत्व चारुता माना और उसका स्रोत अलंकार।[1] उनकी धारणा है कि इन अलंकारों की स्वरूप निष्पत्ति वक्रता-सापेक्ष है।[2] इनकी दृष्टि में 'वक्रता' शब्द और अर्थ की लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थिति है।[3] इन्होंने 'अतिशय' को उसके पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है। यह मानना कि 'वक्रता' में उक्ति को घुमा-फिराकर प्रयुक्त किया जाता है और 'अतिशय' में बढ़ा-चढ़ाकर, फलतः दोनों में भामह अन्तर करते हैं, ठीक नहीं[4]। भामह पर यह उनका आरोपण है, वास्तव कथन नहीं। दण्डी ने वाङ्मय को वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति[5] जैसे दो भेदों में विभाजित किया है और कहा है कि शास्त्र में स्वभावोक्ति तथ्य कथन होती है और काव्य में वक्रोक्ति[6] किन्तु इसका आशय यह नहीं कि काव्य में स्वभावोक्ति होती ही नहीं। निश्चय ही उनकी दृष्टि में शास्त्रीय 'स्वभावाख्यान' असुन्दर तथा काव्यार्त्रीय स्वभावाख्यान सुन्दर होता है, फलतः —

'काव्येष्वप्येतदीप्सितम्'[7]

काव्य में भी स्वभावोक्ति का प्रयोग अभीष्ट है। यह अवश्य प्रतीत होता है कि स्वभावोक्ति अलंकार में भी जिस प्रकार भामह वक्रोक्ति की व्याप्ति मानते थे, उसी प्रकार दण्डी भी मानते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। वे वक्रोक्ति के साम्राज्य से स्वभावोक्ति को पृथक् कर देते हैं और भामह की तुलना में वक्रोक्ति की व्याप्ति कम कर देते हैं। वामन ने वक्रोक्ति की अर्थव्याप्ति और भी कम की। उन्होंने कहा —'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'।[8]

सादृश्यमूलक लाक्षणिक प्रयोगों में ही वक्रोक्ति की संस्थिति कही जाती है। यद्यपि इन्होंने 'अतिशय'[9] की भी बात की है, पर उसकी व्याप्ति कतिपय इने-गिने अलंकारों में ही प्रदर्शित की है। रुद्रट[10] ने इस वक्रोक्ति को और सीमित कर दिया। उन्होंने उसे शब्दालंकार के एक भेद के रूप में स्वीकार किया, जिसके दो भेद किये गये—काकु-वक्रोक्ति और श्लेष-वक्रोक्ति। इन आलंकारिकों ने अर्थालंकार के वर्गीकरण के सन्दर्भ में वास्तव[11], औपम्य, श्लेष के साथ अतिशय का भी नाम

लिया। पर 'अतिशय' भामह की वक्रोक्ति के पर्याय रूप में नहीं था, सीमित था। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन ने परम्परागत दोनों अर्थों में प्रयुक्त 'वक्रोक्ति'[12] का उल्लेख किया, पर वह जिस 'अलंकार' स्वरूप का निवर्तक माना गया, उसे व्यवस्थित कर दिया गया। सौन्दर्य स्रोतों में से एक और असाक्षात् (आत्म) सम्बद्ध तथा अनियत[13] निरूपित किया गया।

इस रूप में परम्परा चर्चित 'वक्रोक्ति' को निर्माण की दृष्टि से सोचनेवाले कुन्तक ने काव्य को 'जीवित'[14] रूप में उपस्थापित किया।

प्रश्न यह खड़ा होता है कि 'जीवित' शब्द का आशय क्या है? डॉ. राघवन ने क्षेमेन्द्र के औचित्य सम्बन्धी चिन्तन के प्रसंग में 'रस' को **आत्मा** और 'औचित्य' को **जीवित** के रूप में ग्रहण कर यह सिद्ध करना चाहा है कि क्षेमेन्द्र (ध्वनित) रसवादी अभिनवगुप्त के विरोधी नहीं हैं, अन्यथा यदि 'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य **जीवितम्**' के 'जीवितम्' को 'आत्मा' से अभिन्नार्थक माना जाता तो क्षेमेन्द्र अभिनव के विपक्ष में चले जाते। निष्कर्ष यह कि काव्यात्मवाद के सन्दर्भ में डॉ. राघवन[15] ने आत्मा को Soul तथा जीवित को Life के अर्थ में लेकर अभिनव और क्षेमेन्द्र के बीच एक संगति लगायी है। लेकिन इस भिन्नार्थकता से एक दूसरी समस्या भी खड़ी होती है और वह यह कि कुन्तक के 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' में भी क्या इसी प्रकार 'जीवित' को समझा जाय? "काव्यस्यात्मा स [रस] एवार्थः"[16] "काव्यस्यात्मा ध्वनिः"[17], "रीतिरात्मा काव्यस्य"[18]—इन धाराओं में प्रयुक्त 'आत्मा' शब्द और वक्रोक्ति धारा का 'जीवित' शब्द क्या भिन्नार्थक माने जायें? विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दृष्टान्त में भले ही 'आत्मा' और 'जीवित' भिन्नार्थक हों, पर 'काव्य' में दोनों शब्द समानार्थक ही सम्भव हैं। काव्यात्मवाद के सन्दर्भ में 'आत्मा' शब्द का आशय 'सारसत्ता' ही है जो 'जीवित' का भी अभिप्रेत है। कुन्तक के प्रयोगों का भी साक्ष्य लिया जाय—

(1) "उचिताख्यान जीवितम्—उदाराभिधानं जीवितं परमार्थो यस्य"[19]

(2) "काव्यैकजीवितम्—काव्यस्य परः परमार्थ इत्यर्थः"[20]

(3) "शरीरं जीवितेनैव स्फुरितेनैव जीवितम्।
विना निर्जीवतां येन वाक्यं याति विपश्चिताम्॥"[21]

इन प्रयोगों को देखने से लगता है कि कुन्तक ने जीवित शब्द का प्रयोग सारसत्ता के ही अर्थ में किया है। निष्कर्ष यह कि आत्मवाद के सन्दर्भ में प्रयुक्त 'आत्मा' और 'जीवित' को समानार्थक ही माना जाना चाहिए। फिर 'औचित्यमत' के सन्दर्भ में जो भिन्नार्थकता बतायी गयी उसका क्या होगा? श्री रामपाल विद्यालंकार ने भी भेद नहीं माना,[22] भेद तो डॉ. के. कृष्णमूर्ति ने भी नहीं माना,[23] फलतः काव्य में रस को अंगी मानने वाले अभिनव से 'औचित्य' को अंगी मानने वाले क्षेमेन्द्र को विरोधी बताया और कारण यह बताया कि क्षेमेन्द्र रसौचित्य को औचित्य का एक भेद मानते हैं। मेरा विचार यह है कि डॉ. राघवन व्यर्थ ही अवरोध के लिए 'आत्मा' और 'जीवित' को भिन्नार्थक मानते हैं। भिन्नार्थक माने बिना भी उनका पक्ष सिद्ध हो सकता

है। यदि यह मान लिया जाये कि क्षेमेन्द्र **आलोचक की दृष्टि** से महत्वपूर्ण तत्त्व का अनुसन्धान कर रहे हैं और अभिनव ग्राहक की ओर से, अतः पहला 'औचित्य' [जो जहाँ है वह वहाँ ठीक तो है] को महत्व दे रहा है, रस को भी औचित्य की परिधि में ले रहा है और दूसरा ग्राह्य रस को। अतः दृष्टि-भेद से ही अभिनव तथा क्षेमेन्द्र के आपाततः प्रतीयमान विरोध का निरास हो जाता है--इसके लिए 'आत्मा' और 'जीवित' को भिन्नार्थक मानने का प्रयास निरर्थक है।

एक बात अवश्य है कि काव्य के सारतत्व पर आलोचक, सर्जक और ग्राहक, तीनों दृष्टियों से विचार हुआ है। आलोचक की दृष्टि से वह तत्व 'औचित्य' है, ग्राहक की दृष्टि से 'रस' और सर्जक की दृष्टि से अलंकार, रीति और वक्रोक्ति। सर्जक अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किस सारतत्व का उपयोग करे? प्रभाव की प्रकृति क्या हो? भामह की कारिका --"न कांतमपि निर्मूलं विभाति वनिताननम्"[24] से स्पष्ट है कि जिस प्रकार अलंकारवादियों को वनिता के आनन पर राजमान सहज कमनीयता आकृष्ट नहीं कर पाती---फलतः आकर्षण के लिए भूषण द्वारा उत्पादित या प्रवर्द्धित सौन्दर्य ही अपेक्षित होता है, उसी प्रकार इन अलंकारवादियों को सहज कमनीयता संवलित उक्ति तब तक आकर्षक नहीं होती जब तक उस पर आलंकारिक छटा न उभर जाये। रुचि-रुचि की बात है। रीतिवादी यौवन-प्रभव सहज कमनीयता में ही कवित्व का प्रस्फुटन मान लेता है—अलंकार उसको प्रवृद्ध मात्र करते हैं।[25] भामह की कारिका बता रही है कि सहज कमनीयता की भित्ति तो अवश्य होनी चाहिए, पर वह आलंकारिक पेण्टिंग कवित्व के उन्मेष के लिए अपेक्षित है और इस पेण्टिंग के लिए 'रंग-वक्रता' या 'लोकोत्तर अतिशय'[26] का हो---यह शर्त है। यह अतिशय लोकोत्तर रूप से उक्ति की संस्थिति[27] पर निर्भर है। शास्त्र और व्यवहार की पिटी-पिटाई पद्धति से अलंकार निर्माण के लिए अपेक्षित वक्रता कुछ और ही होती है। उक्ति में यह वक्रता सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति के प्रातिभ आवेश में फूटती है। उक्ति की काव्यात्मक परिणति के लिए अलंकारवादी, वक्रता-गर्भ अलंकारों की अनिवार्यता मानता है और रीतिवादी[28] गुणों की। एक अलंकारों में सभी सौन्दर्य-स्रोतों को समाविष्ट करना चाहता है और दूसरा गुणों में। सौन्दर्य दोनों को अभीष्ट है, उस तरह का प्रभाव दोनों उत्पादित करना चाहते हैं, पर एक सहज और दूसरा कृत्रिम। लोचनकार ने इसी आशय को व्यक्त करते हुए कहा था --"चारुत्वं द्विविधं स्वरूपनिष्ठं, संघटनानिष्ठं[29] च" अर्थात् चारुता या सौन्दर्य उक्ति के स्वरूप में भी है और संघटना में भी। स्वरूपनिष्ठ सौन्दर्य का स्रोत अलंकार है और संघटना [रीति] निष्ठ सौन्दर्य का स्रोत गुण। इन अलंकार और रीतिवादी आचार्यों की दृष्टि से श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत 'रस' को वह सर्वातिशायी मान्यता प्राप्त नहीं थी जो आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त के मत से आगे चलकर हुई।[30] भामह अलंकार में ही उसे अन्तर्भूत कर लेता है और रस व अलंकार नाम से कहता है, जबकि वामन दीप्ति रसवाले ओजगुण से सम्पृक्त होने पर भी गौड़ी या[31] रीति को अनात्मभूत या तुच्छ समझता है। इससे

स्पष्ट है कि आनन्दवर्द्धन से पूर्व श्रव्यकाव्य में चारुता का प्रवाह और दृश्यकाव्य में रसानुभूति का प्रवाह स्थापित था। यह आनन्दवर्द्धन हैं जिन्होंने उभयत्र 'रसप्रवाह'[32] के प्रामुख्य की बात की दृश्यकाव्य में ही नहीं, मुक्तककाव्य[33] में भी रस की सर्वातिशायी प्रतिष्ठा की। इन्होंने गुण और अलंकार की जगह व्यंजकत्व[34] को चारुता का स्रोत निरूपित किया और उस चारुता को रस में पर्यवसित किया। वैसे कवि की प्रतिभा सर्वोपरि है। मूलतः सौन्दर्यस्रोत या सौन्दर्यमय वही है। वह जिसके चाहे, उसके सिर पर सौन्दर्यस्रोतस्कता का सेहरा बाँध सकती है। उसके लिए अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का नियम नहीं है, वह नियतिकृत नियमरहित और स्वतन्त्र है। इसीलिए कालिदास की अभिधा समर्थित उपमा में जो सौन्दर्य फूटता है, वह उत्प्रेक्षा सम्राट श्रीहर्ष की व्यंजना-समर्पित उपमा में नहीं। इसीलिए प्रतिभावादी आनन्दवर्द्धन व्यंजकत्व को चारुता का स्रोत कहकर भी अभिधा की सम्भावना का निराकरण नहीं करते। यदि कवि की प्रतिभा-शक्ति का हस्तावलम्ब अभिधा को मिल गया, तब वह भी काव्योचित चारुता का स्रोत बन सकती है। इस गूढ़ तथ्य का संकेत आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योग में किया है। उन्होंने कहा है—"वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्य विशेषाभेदनैव प्रतीयते"[35] —काव्य में शास्त्र और व्यवहार की अपेक्षा वाच्यार्थ की प्रतीति प्रत्यक्ष की भाँति प्रातिस्विक विशेषताओं से संवलित रूप में होती है, फलतः काव्योचित चारुता से मण्डित होती है। यह प्रत्यक्षायमाण वाच्यार्थ, वाच्यार्थ ही नहीं होगा, यदि अभिधा का विषय नहीं होगा। व्यवहार और शास्त्र में **सामान्य** रूप से वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, पर काव्य में **विशिष्ट** रूप में होती है। महिमभट्ट ने कहा है कि शब्द की अभिधा शक्ति से समर्थित अर्थ दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशिष्ट। और 'विशिष्ट' का स्वरूप निर्धारण करते हुए कहा कि—"विशिष्ट यस्य मद्रूपं तत्प्रत्यक्षस्य गोचरः।"[36]

अभिधा लब्ध अर्थ का विशिष्ट रूप वही है जो प्रत्यक्ष का विषय [व्यक्तिगत विशेषताओं से संवलित] होता है। महिम के मत से—"स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभामुवाम्।"[37]

वह व्यक्तिगत विशेषताओं से संवलित प्रत्यक्षगोचर अर्थ ही प्रतिभाप्रसूत कवि की वाणी या शब्द का अर्थ होती है। बात यह है कि प्रतिभा कवि की तीसरी आँख है, जिसके समक्ष अतीत और भूत का आवरण हट जाता है और सबकुछ वर्तमान-सा ही हो जाता है–प्रत्यक्षायमाण हो जाता है। राजशेखर आदि समीक्षकों की धारणा है कि 'कवि में यदि प्रतिभा है तो वह अप्रत्यक्ष को भी प्रत्यक्ष कर लेती है।'[38] वह योगी हो या नहीं, पर प्रतिभाशक्ति उसे उस भूमि पर कभी-कभी उठा ले जाती है और वह सबकुछ दिखा देती है, जो योगी साधनावश देखता है। पं. केशवप्रसाद मिश्र के इस कथन में सचाई है कि 'योगी जिस भूमि पर साधना के बल से पहुँचता है, प्रातिभ वैभवसम्पन्न कवि वहाँ अनायास ही प्रतिष्ठित हो जाता है।'[39] लेकिन यह दृष्टान्त ही है, सर्वथा एकरूपता करनी सम्भव नहीं है। निष्कर्ष

यह कि यदि प्रतिभाशक्ति है तो चारुता का कौन-सा स्रोत किसके बल पर कब फूट जाय यह नियम बनाना कला के क्षेत्र में असम्भव है। इसीलिए यद्यपि [अभिनव गुप्त और] आनन्दवर्द्धन व्यंजकत्व को काव्योचित सौन्दर्य का स्रोत निरूपित करते हैं, तथापि उपर्युक्त पंक्ति के आलोक में (वाच्यानां च⋯) प्रातिभ सामर्थ्य के समक्ष उसे शिथिल भी कर देते हैं। 'अभिनवभारती' में इस 'साक्षात्कारकल्पः' अर्थ का संकेत, अभिनवगुप्त भी देते हैं।"[40] अतः के. कृष्णमूर्तिजी की यह स्थापना कि रस-समर्थकता[41] के कारण ही काव्य-भाषा व्यवहार और शास्त्र की भाषा से पृथक् हो जाती है---विचारित सुस्थ नहीं है। उसके और भी स्रोत हैं। पश्चिमी समीक्षा में तो क्रोचे ने Intutive Knowledge का विषय ही प्रत्यक्ष गोचर 'व्यक्ति'[42] को बताया है। बिम्बवादी आचार्यों ने इस पर इतना बल दिया है कि कवित्व का एकमात्र स्रोत ही बन गया।[43] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[44] तथा प्रायः समस्त छायावादी चिन्तकों[45] ने इसी अभिप्राय से काव्य भाषा को चित्र भाषा कह दिया। चित्रार्थ-बिम्बार्थ समर्थक भाषा कह दिया। वहाँ तो Imagination उस शक्ति या Faculty को कहा गया जहाँ Image या बिम्ब गढ़ा जाता है। इसीलिए भारतीय प्रतिभा उसको आत्मसात करती हुई भी उसका पर्याय नहीं है, विशेषकर काश्मीरी आलं-कारिकों के सन्दर्भ में। आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त तथा कुन्तक उसी काश्मीरी धारा के आगमिक आचार्य हैं। इस चर्चा को यहाँ रोककर प्रकृत में यह कहना चाहता हूँ कि श्रव्यकाव्य के क्षेत्र में काव्यभाषा द्वारा जिस प्रकार का प्रभाव अलंकारवादी और रीतिवादी अभिव्यक्त करना चाहते थे, वह चारुतात्मक था। ये लोग रस को वह महत्व नहीं दे रहे थे, जो आनन्द और अभिनव द्वारा दिया गया।

कुन्तक का काव्य-प्रस्थान सर्जनापक्षीय है इसीलिए भाषा ही, शब्दार्थ ही उसके लिए सब-कुछ है---

> कविहिं अरथ आखर बल साँचा।
> अनुहरि ताल गतिहिं नट नाचा।।[46]

इसीलिए अलंकार और रीतिवादियों की भाँति उन्हें भी अपनी सारी क्षमता का उद्रेक शब्दार्थ को ही केन्द्र में रखकर (अलंकार्य बनाकर) बताना पड़ा। अलंकार-वादियों और रीतिवादियों की तुलना में कुन्तक को विरासत में बहुत कुछ मिला था, इसीलिए उन्हें ध्वनि तथा रसवादियों की विरासत को आत्मसात् करके अपने को प्रस्तुत करना पड़ा। इसीलिए उनकी दृष्टि में एक तरफ 'स्वभाव' और 'रस' अलंकार्य[47] हैं और दूसरी ओर 'शब्दार्थ' भी अलंकार्य[48] है। ग्रहण पक्ष से वे वस्तु-सौन्दर्य पर भी बल देते हैं और पर्यवसित रसवत्ता या लोकोत्तराह्लाद पर भी। पर इन सबका स्रोत 'वक्रता' को ही निरूपित करना है, इसीलिए उनकी स्थापना है---

> लोकोत्तराह्लादकारिवैचित्र्यसिद्धये।
> काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।।[49]

सामान्य भाषा से काव्यभाषा का व्यावर्तक पूर्व सूरियों द्वारा अनुद्भावित 'वक्रता' का विधान कुन्तक का अपना पौरुष है। लोकोत्तराह्लादकारिता काव्यभाषा का

लक्ष्य होने से व्यावर्तक है-—सामान्य काव्यभाषा यह काम नहीं करती। लोकोत्तराह्लाद समर्थक होने से ही काव्यभाषा का सामान्य भाषा से प्रस्थान भेद है। काव्यभाषा में यह समर्पकता कविव्यापार स्वरूप 'वक्रता' है। काव्यगत वस्तु और काव्यगत आह्लाद, व्यवहार और शास्त्रगत वस्तु और आह्लाद से भिन्न प्रकृति का है, इस भिन्नता को उभारने का श्रेय कविव्यापार को है। अलंकार और गुण भी यह काम करते थे, पर 'वक्रता' की व्याप्ति उनसे बढ़कर है। अलंकार शब्दार्थ रूप भाषा की विशेषता है और वामन ने 'गुण' को भी भाषा धर्मरूप[50] से ही स्थापित किया है। कुन्तक ने अपनी 'वक्रता' में इन सबका समावेश करते हुए भी (वैभिन्य या वैचित्र्यसम्पादक काव्यभाषा गत धर्म) उसे और व्यापक भूमिका दी है। अलंकार या गुण (वर्ण, पद तथा वाक्य) शब्द तथा अर्थ के ही धर्म हैं, प्रकरण या प्रबन्ध के स्तर पर उभरनेवाली चारुता के स्रोत रूप में उनका विधान नहीं है। ध्वनिवादी आचार्य की दृष्टि इस ओर गयी। उसने प्रकरण और प्रबन्ध के सौन्दर्यस्रोत के रूप में 'ध्वनि' की व्याप्ति स्थापित की. कुन्तक ने इस विरासत को भी आत्मसात किया और आगे बढ़े। एक ओर ध्वनि के समस्त प्रभेदों की 'वक्रता' में आत्मसात किया और दूसरी ओर 'व्यंजकत्व' को भी सौन्दर्यस्रोत के रूप में आत्मसात कर सौन्दर्यस्रोत को और व्यापकता दी। व्यंजकत्व को सौन्दर्यस्रोत मानने से वाचकत्व की बिम्बार्थसमर्थक रूप में सौन्दर्यस्रोतस्कता छूट जाती है। 'वक्रता' को मानने से काव्यभाषा की कोई शक्ति नहीं छूटती। कुन्तक ने अर्थप्रत्यायकत्व रूप साम्य से उपचारतः शब्दमात्र को काव्य में 'वाचक' कहा। यह वाचक काव्य में वही 'सटीक शब्द' है, जिसकी ओर आनन्दवर्द्धन ने—

> उक्त्यनतरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्
> शब्दो व्यंजकतां विभ्रद ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्।[51]

इस कारिका द्वारा संकेत किया था। अर्थात आनन्दवर्द्धन ने कहा था कि अभीष्ट चारुता के प्रकाशक सटीक शब्द की, जिसका कोई पर्याय किसी अन्य शक्ति से उसे समर्पित न कर सके, व्यंजक या ध्वनि शब्द कहते हैं। ध्वनिवादियों की धारणा ही हो गयी थी—"न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनामृष्ट प्रतीयमानः स्वतः एव चमत्कारमाधातुं प्रभवति"[52]—अर्थात ऐसा कोई वाच्यार्थ हो ही नहीं सकता, जो प्रतीयमानार्थ की अपेक्षा किये बिना, स्वयं चमत्कारोत्पादन में सक्षम हो सके। कुन्तक इस सम्भावना का विस्तार करते हुए **काव्यभाषा** मात्र से उसे जोड़ना चाहते हैं। यह अवश्य है कि वे काव्य में न तो शब्द-भेद स्वीकार करते हैं, न ही अर्थभेद, किन्तु व्यवहार और शास्त्र की जड़भाषा से काव्यभाषा का व्यतिरेक दिखाने के लिए उसे 'वक्र' या 'विचित्र' कहना चाहते हैं। उनका 'विचित्रैवाभिधा वक्रोक्ति'[53] प्रमाणभूत वक्तव्य है। उन्हें काव्यभाषा में प्रसिद्ध-प्रस्थान से व्यतिरेक इष्ट है। यद्यपि यह व्यतिरेक निम्नगामी या अपकृष्ट होने में भी सम्भावित है, तथापि सौन्दर्य के साथ लोकोत्तर आह्लाद के साथ जुड़े रहने के कारण उसे उत्कर्ष के साथ ही जुड़ना होगा। काव्यभाषा अभीष्ट सौन्दर्य के सम्प्रेषण में क्षम हो, वह चाहे जिस

सामर्थ्य से हो। यह कविव्यापार है, प्रतिभा है, जो अपने पारस स्पर्श से काव्य-भाषा की प्रत्येक क्षमता को सौन्दर्य-सम्प्रेषण का स्रोत बना सकती है। इसे कोई नियम रोक नहीं सकता। इसीलिए तो वह नियतिकृत नियमरहित है।[54]

कुन्तक 'वक्रता' नामक अलंकृति को अलंकार्य काव्य से वस्तुतः अपृथक् सि मानते हैं, केवल समझने-समझाने के लिए अलग कर लेते हैं[55]। समूचा काव्य-शब् और उससे समर्पित अर्थ ही 'चक्र' है, लोकोत्तर है, शास्त्र और व्यवहार की अपेक्ष 'कुछ और' है। वर्ण्यवस्तु यदि स्वभाव-सुन्दर है, तब तो कवि प्रतिभा उसे यथाव उकेर ही देती है, यदि वैसी नहीं है तो बना देती है। सामान्यतः औचित्य तो यह कहता है कि पेण्टिंग के लिए आधार को स्वभाव-सुन्दर होना चाहिए। स्वभाव प ही वक्रता फबती है। कुन्तक ने तो यहाँ तक कह दिया है— "स्वभावस्यैव आञ्जस रूपेण निरूपणमेव हि वक्रतायाः परम रहस्यम्।"[56] वक्रता की अन्तरात्मा स्वभाव क ही सहज उभार है। कुन्तक ने कहा था—

> लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्म सुभगतत्वं गिरा कृष्यते
> निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा बहिः
> वंदे द्वावपि तावहम्—[57]

मैं उन दोनों प्रकार के कवियों की वन्दना करता हूँ, जो वस्तु में निहित स्वभावसि अव्यक्त सुभगतत्त्व को वाणी के सहारे उभार देते हैं अथवा जो भूत को अप क्षमता से सुन्दर बना देते हैं। मतलब, कवि लीन सौन्दर्य को उभारता भी है औ अपनी प्रौढ़ि से आहित भी करता है, और यह सब होता है कविव्यापार से। व वस्तु में लीन सुभगतत्त्व कहने का स्पष्ट आशय है कि सौन्दर्य लोकोत्तर-चार उसमें स्वभावतः है, पर न तो वह सर्वसामान्य की आँखों में आता है, न ही व बन पाता है। उसके लिए तो कवि की तीसरी आँख अपेक्षित होती है जिसकी ओ महिम ने संकेत किया है—

> सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमितिगीयते
> येन साक्षात्करोत्येव भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः।[58]

अर्थात यह कवि की प्रतिभा नामक तीसरी आँख है, जिससे वह त्रैलोक्यवर्ती औ त्रिकालवर्ती पदार्थ समुदाय को देख लेता है। इतना ही नहीं, वह उस लोको सुभगतत्व का भी साक्षात्कार करता है, जो सर्वसामान्य की आँखों का विषय न बना।

प्रश्न यह भी है कि यह चारुता या सुभगतत्व है क्या? कुन्तक क्या इस त कोई दार्शनिक आलोक भी विकीर्ण करते हैं? यह स्वभाव है क्या, जो वक्रता परम रहस्य है? कुन्तक इस वक्रता को केवल प्रौढ़ि प्रसूत भी नहीं मानते औ ही सर्वथा लोकरूढ़। वास्तव में कुन्तक कश्मीरी आलंकारिक हैं और शैवद (त्रिकदर्शन या स्पन्ददर्शन) से परिचित हैं। परिचित ही नहीं—'वक्रोक्ति जी के मूल में वही दृष्टि अन्तर्निहित है। आरम्भ के मंगलाचरण में ही उन्होंने कह कि 'उस शिव को नमस्कार है, जिसे विश्वचित्र का निर्माण करने में केवल परिस्प

स्वभाव आत्मशक्ति मात्र का सहारा लेता है'।[59] आगम का व्यावर्तक लक्षण है–'शक्ति की विशिष्ट अवधारणा'।[60] इनके अनुसार मूलतत्व 'द्वयात्मक अद्वय' है। इस मत में जगत मिथ्या नहीं है। मूलतत्व की चिन्मयी संकोच प्रसारात्मिका शक्ति का विस्फार है। एक तरफ श्रुति कहती है—'एकाकी न रमते'[61] 'सु द्वितीयमैच्छत्'[62] और दूसरी तरफ कहती है–'द्वितीया द्वै भयं भवति'[63] अर्थात् एक तरफ वह लीला के लिए 'द्वितीय' भी चाहता है और दूसरी ओर 'द्वितीय' को भयोत्पादक भी मानता है। इस अन्तर्विरोध का निवारण इसमें है कि वह स्वयं अपनी क्षमता से 'द्वितीय' बन जाय, इस तरह उसकी इच्छाशक्ति भी कार्यान्वित हो जाती है और भयोत्पादन की स्थिति भी नहीं आती। शांकर अद्वैत में 'द्वितीय' सर्वथा भिन्न है। आगम में शक्तिमान की अपनी शक्ति का ही रूपान्तरण है। यही वह शक्ति है जिसका सहारा लेकर शिव या शक्तिमान जगत् का निर्माण करता है। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए कहा गया—

> जगत् त्रितम वैचित्र्य चित्रकर्मविधायिनम्।
> शिवं शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरणं नुमः॥[64]

इस शक्ति का स्वरूप स्पन्दात्मक है, संकोच प्रसारात्मक है। 'तन्त्रालोक' में अभिनवगुप्त ने कहा कि 'जिस प्रकार बड़वा विसर्गकाल में वरांग का संकोच प्रसार करती हुई आत्मानन्दलाभ करती है, उसी प्रकार सृष्टिकाल में स्पन्द स्वभाव'[65] यह शक्ति भी आनन्दमय होती है।

'स्पन्द' का शाब्दिक अर्थ है–कम्पन, जिसकी निष्पत्ति किंचिच्चलनार्थक 'स्पदि' धातु से होती है। यह एक ज्योतिर्मय बिन्दु है। कम्पनात्मक होते हुए भी इस तत्व को उस 'क्रिया' शब्द से बोधित नहीं किया जा सकता जो जागतिक क्रिया का, काल विशेष में घटित होनेवाली 'क्रिया' का बोधक है। स्पन्द को यदि समझकर कहा जाये तो 'शक्ति' भी कहा जा सकता है, स्पन्द को इच्छा भी कहा जा सकता है, पर यह समझकर कि स्पन्द 'इच्छा' बनती है, पर 'इच्छा' 'स्पन्द' नहीं। अतः उसे 'इच्छा' से भिन्न भी नहीं कहा जा सकता। 'स्पन्द' सक्रिय भी है और निष्क्रिय भी। सक्रिय इसलिए कि उसमें कम्पन के कारण देश प्रच्युति रूप क्रिया रहती है, पर इस देश प्रच्युति की सन्तति नहीं चलती, अतः जागतिक क्रिया के बोधक क्रिया शब्द का प्रयोग भी यहाँ नहीं किया जा सकता, फलतः इस दृष्टि से उसे निष्क्रिय भी कहा जा सकता है। वह चित् स्वरूप नहीं, चित् शक्ति रूप है। वैसे शक्ति और चैतन्य पर्याय ही हैं। चित्-स्वरूप शिव की स्वभावभूता 'शक्ति' उससे निकलकर पुनः उसी में समा जाती है। विश्रान्त होती रहती है। यह आवर्तात्मक कम्प नहीं स्पन्द है, जो निष्क्रिय एवं सक्रिय के मध्य है।[66]

वैसे स्पन्दन नैयायिकों और वैशेषिकों के परमाणु में, सांख्यों के गुण में और शक्ति में तीनों जगह हैं। योग भाष्यकार ने कहा है—"यावता समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यादुत्तरदेशं सम्यधेन्त् स कालः क्षणः"[67]—अर्थात् जितने समय में एक परमाणु स्वदेश प्रच्युति करता है, वही समय 'क्षण' है। इसी का बुद्धिगत

प्रतिबिम्ब समुदित होकर काल कहा जाता है, जिसमें भूत-भविष्य की कल्पना होती है।

यह 'स्पन्द' स्थिर भी है और गतिशील भी। गतिशील इसलिए कि यह कम्पन है और स्थिर इसलिए कि उसमें स्वदेश प्रच्युति नहीं होती। यही स्पन्द सारी सृष्टि का मूल स्रोत है, पर इसके लिए सामान्य स्पन्द में वैषम्य आना आवश्यक है। रामकण्ठ ने इस 'स्पन्द' की चर्चा करते हुए कहा है—"स्पन्द शब्दश्चायं स्वस्वभावपरामर्शमात्रस्य नित्यस्य शून्यव्यतिरेचनकारणभूतस्य तावन्मात्रसंरंभात्मनः शक्त्यपराभिधानस्य पारमेश्वरस्य धर्मस्य किंचिच्चलनात् 'स्पन्द' इति अर्थानुगमात् वाचकत्वेन व्यपदिश्यते"[68]—अर्थात् यह स्पन्द परमेश्वर का किंचिच्चलनात्मक विशेषता है। उसे शक्ति भी कहा जाता है। यह स्पन्द दो प्रकार का है, सामान्यात्मक तथा विशेषात्मक। 'सामान्य स्पन्द' का स्वरूप इस प्रकार है—"एष उपादेयतमः परमकारण-भूतस्य सत्यस्य आत्मस्वरूपस्य अयमहमस्मि—अतः सर्व प्रभवति, अत्रैव च प्रलीयते—इति प्रत्यवमर्शात्मको निजो धर्मः सामान्य स्पन्दः।"[69] अर्थात इस संसार का परम कारण स्वरूप सत्य अपने स्वरूप का—यह मैं हूँ, इसी से सबका उद्भव होता है और इसी में सब प्रलीन हो जाते हैं—इस प्रकार का जो प्रत्यवमर्शात्मक निज धर्म है, वही सामान्य स्पन्द है। यह कम्पनशील पदार्थ मात्र में अनुस्यूत सामान्य स्पन्द है। यह वह सदृश परिणामवाही ज्योतिर्मय बिन्दु है जहाँ शिव और शक्ति समरस हैं। शिव तत्व की दृष्टि से वही निस्पन्द है और शक्ति तत्व की दृष्टि से सदृश परिणामवाही शक्ति। सांख्यों का पुरुष भी ज्योतिरूप है—पर परिणमनशील नहीं। वहाँ तो इसे छोड़कर प्रकृति और तत्प्रसूत भावमात्र परिणामशील हैं। यह सदृश परिणामवाही प्रकृति या सामान्य स्पन्द उस ऋतुमती स्नाता नायिका-सी है जिसमें केवल गर्भधारण की स्वरूप योग्यता है, कार्यकारी योग्यता नहीं। इस सामान्य स्पन्द में अशेष विशेष स्पन्द समाये हुए हैं। उसमें इच्छा (कामाख्य बीज) का प्रतिफलन हुआ कि विशेष स्पन्द व्यक्त हुआ। सामान्य स्पन्द के सहारे ही अनिच्छात्मक इच्छावश विशेष स्पन्द बनते हैं। विशेष स्पन्द का स्वरूप निर्देश करते हुए कहा गया है—"विशेषस्पन्दा अनात्मभूतेषु देहादिषु आत्माभिमानमुदभावयन्तः परस्पराभिन्नमायीय प्रमातृ विषया सुखितोऽहं दुखितोऽहमित्यादयो गुणमया प्रत्यग्रप्रवाहाः संसार हेतवः"[70]—अर्थात् विशेष स्पन्द के कारण ही अनात्मभूत देहादि में आत्माभिमान पैदा होता है, भिन्न-भिन्न माया प्रमाताओं में 'मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ' इस तरह का त्रिगुणात्मक ज्ञानप्रवाह उत्पन्न होता रहता है। ये विशेष स्पन्द स्वरूप के आच्छादक हैं। इस प्रकार कश्मीरी दर्शन में जिस 'स्पन्द' का अत्यन्त सूक्ष्म और गहन विवेचन हुआ है—उसकी चर्चा 'वक्रोक्ति जीवित' में अनेकशः हुई है। फलतः इस दार्शनिक विवेचन के आलोक में उसे समझने का प्रयास करना चाहिए।

कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवित' में 'स्पन्द' शब्द का प्रयोग विभिन्न रूपों में किया है। काव्यमार्ग में अर्थ का स्वरूप क्या होना चाहिए—इस पर कुन्तक का कहना

है—"अर्थः सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दरः"[71] और इसकी व्याख्या में वे स्पष्ट कहते हैं—"काव्ये ये सहृदयाःकाव्यार्थविदः तेषामाह्लादमानंदम्करोति यः तेन स्व स्पन्देन आत्मीयेन सुन्दरः सुकुमारः"[72]—काव्य में जिस अर्थ का विधान हो, वह अपने स्पन्दात्मक स्वभाव से सुन्दर प्रतीत होकर सहृदयों को आह्लादमग्न कर सके। यह स्पन्द वस्तु का स्वभाव है, उसके बिना तो वह कही ही नहीं जा सकती। इसी स्वभाव के कारण वस्तुगत उत्कर्ष की अभिव्यक्ति होती है। उन्होंने 'स्वभाव' का बहुत ही स्पष्ट व्याख्यान करते हुए कहा है—"अपरिम्लानः प्रत्यग्र परिपोष पेशलः यः स्वभावः पारमार्थिको धर्मः···"[73]—स्वभाव वस्तु का परमार्थ रूप है, जो अभिनव और रसमय होता है। निष्कर्ष यह वर्ण्यगत जिस सुभगतत्त्व की लीनता या संस्थिति बतायी जाती है—वह स्पन्दमयता ही है, वही वस्तु मात्र का स्वभाव है, जो अपनी समग्रता में कवि की प्रतिभा का ही विषय होता है। कवि प्रतिभाप्रसूत वाणी से उसे उभारकर भावयित्री प्रतिभा के सामने प्रस्तुत कर देता है और भावक आह्लादमग्न हो जाता है।

अलंकार सर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने कुन्तक के आशय को और भी स्पष्ट किया है[74]। उसने कहा और ठीक कहा कि शब्द और अर्थ की योजना में इनसे अतिरिक्त कोई अलंकार नाम की वस्तु नहीं है। अपितु विलक्षण कविव्यापार पूर्वक अभिधान ही इसका अलंकार है। स्पष्ट ही इस प्रक्रिया में व्यापार की ही (वक्रता की) महत्ता है। उसी का प्राधान्य है। वही काव्य का जीवित है। इसीलिए कुन्तक ने अलंकृत को ही काव्य कहा, काव्य को अलंकार नहीं। आनन्दवर्द्धन ने कहा था कि व्यापार वाक्यार्थ नहीं होता, व्यापार से वाक्यार्थ निष्पन्न होता है और कलात्मक वाक्यार्थ व्यंग्यार्थ ही है। वही गुण और अलंकार का उपस्करणीय है, फलतः वही प्रधान है, वही विश्रान्तिधाम है, अतः आत्मा है।[75] कुन्तक ने अर्थ का यह गौरव व्यापार के योग से सिद्ध करते हुए व्यापार प्राधान्यवाद चलाया, भट्टनायक ने भी व्यापार को ही महत्ता दी थी। अभिनवगुप्त ने कुन्तक और भट्टनायक से परिचित होने के कारण ध्वनन व्यापार को प्राधान्य देकर आनन्द-वर्द्धन का समर्थन किया और कुन्तक की प्रतिस्पर्धिता की।

अब, दूसरा सवाल यह खड़ा होता है कि वक्रता नामक अलंकार के माध्यम से ही 'काव्य चमत्कार' की स्थिति सम्भव माननेवाला कुन्तक 'रस' के विषय में क्या सोचता है? काव्य की आत्मा का प्रश्न उठने पर 'रस' के विषय में आखिर वह क्या कहता है? यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वे सर्जना की दृष्टि से सारसत्ता का अनुसन्धान करने चले हैं और मानते हैं कि कवि व्यापार का पारस-संस्पर्श उद्दिष्ट सौन्दर्य की निष्पत्ति में अपेक्षित है। उसकी वक्रता वस्तु के काव्योचित स्वभाव का अविच्छेद्य वैशिष्ट्य है—

उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेनवर्तनम्
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता।[76]

काव्योचित शब्द द्वारा वस्तु का काव्योचित रूप में प्रतीत होना ही उसका बाँकपन

है। इस रूप में प्रतीत वस्तु आह्लाद पर्यवसित होती है। अतः यह कहना कि कुन्तक काव्य की आत्मा की खोज करने चले और रह गये अलंकार तक ही, माध्यम तक ही, पूर्ण विचारित नहीं है। कुन्तक आनन्दवर्द्धन की भाँति किसी भी स्थिति में रस को अप्रधान नहीं करना चाहते। महिम की भी यही स्थिति है। वस्तु और अलंकार की तरह रस कभी वाच्य नहीं होता और व्यंग्य होते ही वह स्वतः अन्य अर्थों को उपाय बना देता है, स्वयम् उपेय बन जाता है। निष्कर्ष यह कि उनका विवेचन आह्लाद तक जाता है, साध्य तक जाता है, बीच में ही नहीं रुकता।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद

हिन्दी आलोचना में वक्रोक्ति मत के साथ प्रायः पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र के अभिव्यंजनावाद की बात उठायी जाती है। इसलिए वक्रोक्ति की चर्चा के सन्दर्भ में इस बात को उठाये बिना इसकी सुसम्पन्नता नहीं होगी। इन दोनों मतों के साम्यवैषम्य को स्पष्ट करने के लिए दोनों की दार्शनिक पीठिका का विवेचन आवश्यक है, इसी विवेचन से इनका दृष्टिकोण स्पष्ट होगा। दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण से परिदृश्य साफ होगा। दर्शन की भूमि पर कुन्तक स्पन्दवादी हैं। स्पन्दवाद (द्वयतागर्भ) अद्वैतवाद है। बिल्डनकार ने 'Philosophy of Croce' [77], में कहा है कि यद्यपि क्रोचे एक सम्पूर्ण दार्शनिक योजना करने का दावा तो नहीं करता, परन्तु एक ऐसे दर्शन की योजना अवश्य करता है, जिस पर वह अपनी बात स्पष्ट कर सके। काण्ट और हीगेल को आत्मसात करता हुआ उनका उपयोग वह अपने ढंग से करता है। उसकी दार्शनिक योजना उसे द्वैत तत्त्व कल्पना से मुक्ति दिलानेवाली है। डॉ. एस. एन. दासगुप्त [78] की व्याख्या है—"क्रोचे बाह्य वस्तु की स्वतन्त्रता स्वीकार नहीं करते, अतएव लोग उन्हें परिकल्पनावादी या विज्ञानवादी मानते हैं।" डॉ. रामअवध द्विवेदी का मत [79] है कि काण्ट और हीगेल से भी आगे बढ़कर क्रोचे ने 'मानसिक क्रियाओं' को ही एकमात्र मान्यता प्रदान की है और बाह्य उपकरणों को केवल गौण साधन के रूप में ग्रहण किया। उसकी दृष्टि में चेतना या मनस्तत्व व्यापारशील है। उसके व्यापारों में भेदक्रम तथा सम्बन्ध की व्यवस्था तो की जा सकती है, पर उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। उसके मूलतः दो व्यापार हैं, ज्ञानात्मक और प्रायोगिक। प्रथम के भी दो रूप स्वयंप्रकाश तथा तर्काश्रित और द्वितीय के भी दो रूप, नैतिक तथा आर्थिक। पहले का विषय कल्पना के माध्यम से प्राप्त बिम्ब विशेष या व्यक्ति है और दूसरे का विषय तर्क से प्राप्त सामान्य या जाति है। ये व्यापार या तो एक-दूसरे के अनुवर्ती होकर उपस्थित होते हैं या एक साथ इनका व्यापार चला करता है। भारतीय शैव स्पन्दवाद दर्शन में भी परमशिव पञ्चकृत्यकारी माना जाता है—उससे पञ्चविध व्यापार निरन्तर चलते रहते हैं—वे हैं—निग्रह, अनुग्रह, सृष्टि, स्थिति तथा संहार।

क्रोचे अपने दर्शन में माइण्ड और मैटर शब्द का प्रयोग करते हैं और दोनों के भिन्न-भिन्न धर्म मानते हैं—मसलन, आत्मा या मन चेतन गत्यात्मक तथा साँचे

(Form) वाला है और मैटर (Matter) या द्रव्य अवचेतन, स्थिर तथा साँचों (Form) रहित है। अनुभव की उपपत्ति के लिए यदि एक जगह 'साँचा' नहीं मानते तो अन्यत्र मानना ही पड़ेगा, इसलिए द्रव्य को रूपरहित और आत्मा को रूपसहित माना गया है। क्रोचे की दृष्टि में किसी वस्तु के बाह्यरूप की चर्चा निराधार है। वास्तव में वस्तु के बाह्य रूप की बात करना अपने संस्कारों और कल्पनाओं की चर्चा है। जिसे हम वस्तु का समग्र ज्ञान कहते हैं, वह हमारे चित्त का ही प्रकाश है। इन्द्रियों द्वारा वस्तु का ज्ञान महज संवेदन (Sensation) है, कुछ है, मात्र इतना ही। वस्तुतः वस्तु का समग्र बोध मनोगत संस्कारों से रंजित होकर प्रकाशित होना वस्तु का समग्र ज्ञान है।[80] रवीन्द्र सहाय का तो यह कहना है कि वस्तु कल्पना और संस्कार से रंजित ही नहीं होती, अपितु वह कल्पना और संस्कार के अतिरिक्त और कुछ होता ही नहीं। वस्तु का परिचय तत्त्वतः हमारी ही आत्माभिव्यक्ति है। रूपहीन वस्तु या द्रव्य के सान्निध्य से मन या चेतना क्रियाशील होती है और इसकी क्रियाशीलता के फलस्वरूप साँचेवाले मन से रूपहीन वस्तु का तादात्म्य होता है। यही वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान है। जब क्रोचे यह मानता है—"Without matter, however, our spiritual activity would not have its abstractions to become concrete"[81] —तब स्पष्ट है आत्मेतर द्रव्य की बात तो करता है, यह अलग बात है कि 'सत्ता' संज्ञा से वह तभी अभिहित होता है, जब चेतना अपनी क्रिया से उससे तादात्म्यापन्न हो जाती है। असल में क्रोचे की 'सत्ता' सुसम्पूर्णता के अर्थ में प्रयुक्त है और इस पारिभाषिक अर्थ में चेतना की ही एकमात्र सत्ता है। इस विवेचन के आलोक में क्रोचे अपने को भले अद्वैतवादी,[82] विज्ञानाद्वैतवादी की तरह मान लें, पर तत्वतः अद्वैतवादी है नहीं। रामचन्द्र शुक्ल भी स्पष्ट करते हैं,[83] आत्मा द्रव्य की प्रतीति मात्र कराती है, उसकी सृष्टि नहीं करती। आत्मा की अपनी स्वतन्त्र क्रिया है कल्पना, जो रूप का सूक्ष्म साँचा खड़ा करती है और उस साँचे में स्थूल द्रव्य को ढालकर (मन में सचित उसकी छाया और संस्कारों को) अपनी कृति से गोचर करती है। यह 'साँचा' आत्मा की कृति या आध्यात्मिक वस्तु होने के कारण परमार्थतः एकरस और स्थिर होता है। उसकी अभिव्यंजना में जो नानात्व दिखायी पड़ता है, वह स्थूल द्रव्य के कारण, जो परिवर्तनशील होता है। कला के क्षेत्र में यही साँचा सबकुछ है, द्रव्य या सामग्री ध्यान देने की वस्तु नहीं है।

भारतीय दर्शन में यह अद्वैतवाद बौद्धों के विज्ञानवाद तक भी नहीं पहुँच पाता। कारण, वह मानता है कि चित्त ही एकमात्र सत्य है, शेष सब कुछ तो उससे भिन्न है। उसी का प्रतिभास है। जैसे स्वप्न में चित्त ही ज्ञाता और वही क्षेम है। लंकावतार में कहा गया है—

> चित्तमात्रं न दृश्योऽस्ति द्विधा चित्तं हि दृश्यते।
> ग्राह्यग्राहक भावेन शाश्वतोच्छेद कारणम्।

दृश्यते, न विद्यते वाह्यं चित्तचित्रं हि दृश्यते।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्रमात्रं वदाम्यहम्। [84]

विज्ञानवादी मानते हैं कि दृश्यजगत् दिखायी भर पड़ता है, है नहीं। वह सत्ताशून्य है। सत्ता तो केवल विज्ञान या चित्त की ही है, वही भोक्ता, भोग्य और भोग रूप में प्रतीत होता है। निश्चय ही क्रोचे का अद्वैतवाद विज्ञानवाद तक भी नहीं पहुँचता। उसका अद्वैतवाद इसलिए शिथिल है कि उसने सत्तावान बाह्य जगत् को सत्तावान नहीं माना। उसकी सुसम्पूर्ण उपलब्धि मनःसापेक्ष्य है और सत्ता इसी सुसम्पूर्णता का पर्याय है। बिल्डनकार भले ही क्रोचे को अद्वैतवादी कहें, भारतीय दार्शनिक उसे द्वैतवादी ही मानेंगे। ऐसा द्वैतवादी, जो चेतना को प्रमुख और द्रव्य को गौण मानता है।

कुन्तक की दृष्टि स्पष्ट ही स्पन्दाद्वैतवादिनी है। वह स्पन्द का 'प्रतिभास' जगत् को नहीं मानता, रूपान्तरण मानता है। इन दो कारणों से कुन्तक और क्रोचे का दार्शनिक स्तर अवश्य भिन्न है। दोनों के पीछे दोनों की दर्शन परम्परा सर्वथा भिन्न है।

सम्प्रति दोनों का साहित्यिक दृष्टिकोण देखना चाहिए। क्रोचे काव्य को कला मानते हैं और कला सामान्य का विवेचन करते हैं, जिसके अन्तर्गत कला के सभी भेद आ जाते हैं। कुन्तक उस परम्परा के आचार्य हैं, जो काव्य को कला से बाहर मानते हैं। कला के अन्तर्गत मानने का ही परिणाम है कि पाश्चात्य चिन्तन काव्य में 'सौन्दर्य' का ही विचार करता है और कलाबाह्य मानने का परिणाम है कि भारतीय धारा काव्य को लोकोत्तर आह्लाद या रस से जोड़ती है। काव्य का लक्ष्य 'रंजन' से बड़ा 'रमण' है—तन्मयीभवन। दोनों का एक और मूलभूत अन्तर है। कुन्तक स्पन्दवादी हैं, शब्द और अर्थ का अभेद माननेवाले; शब्द की सूक्ष्म-सूक्ष्मतर सत्ता माननेवाले, परापश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीवाले। वे रूपात्मक अभिव्यक्ति को आन्तरिक और शब्द माध्यम को उसके अनुवाद में उपयोगी बाह्य तत्व नहीं मानते—उसके वहाँ समग्र काव्य (शब्दार्थमय) प्रतिमानमय और आन्तरिक है, वही ज्यों-का-त्यों समाधिस्थ या एकतान मनोदशा से बाह्य भी होता है। यहाँ अनुवाद का प्रश्न ही नहीं है। यहाँ प्रतिभा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है—"सा च काव्य घटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः।[85] प्रतिभा आन्तर प्रक्रिया है और वहाँ शब्दार्थमय काव्य की स्फुरणा होती है। मूड विशेष के रूप में उभरती हुई काव्यसृष्टि ज्यों-ज्यों, स्थूल-स्थूलतर होती जाती है, त्यों-त्यों शब्दार्थ का भेद स्पष्ट होता जाता है। अभिन्न शब्दार्थ का भेद उसका रूपान्तरण ही है—सूक्ष्म से स्थूल दशा में आना ही है।

सौन्दर्यबोध तथा सौन्दर्यसृष्टि की सामग्री में ह्लाद, ज्ञान, संस्कार तथा व्यापार, इन चार उपादानों का संग्रह होता है। इस क्षेत्र में विचार करनेवाले कभी किसी को और कभी किसी को केन्द्र में रख देते हैं। **कुन्तक और क्रोचे दोनों ही व्यापार प्राधान्यवादी हैं।**[86] कुन्तक कहते हैं[87] कि प्रत्यक्षदृष्ट यथार्थ को जैसा-का-तैसा रख

दिया जाये तो उसमें कोई आकर्षण नहीं और केवल व्यक्तिगत रुचि के अनुरूप अपनी मनीषा से उद्भावित सर्वथा नूतन का विन्यास कर दिया जाये, तो वह केवल प्रौढ़िमात्र होगी। उसमें कोई असलियत न होगी, अतः इन दोनों अतिवादी स्थितियों से हटकर कवि का कर्म होना चाहिए। ऐसा, जिसमें दोनों बातें हों, विश्वसनीयता भी हो और नवीनता भी। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए 'वक्रोक्ति' की स्थापना की जा रही है। कुन्तक और क्रोचे दोनों ही सर्जन के कोण से काव्य और कला पर विचार कर रहे हैं। कुन्तक यह सोच रहे हैं कि लोकोत्तराह्लाद-कारिता वस्तु में कैसे आहित की जाय, क्या किया जाय कि वस्तु या वर्ण्यवस्तु में लोकोत्तराह्लाद उत्पन्न करने की क्षमता आ जाय। वह ह्लादकारी सौन्दर्य से मण्डित हो जाय, ऐसा वैचित्र्य या नवीनता वस्तु में कैसे लायी जाय? कुन्तक ने काव्य मार्ग के सन्दर्भ में कहा है—यत् किंचनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिमोदभवम्।[88]

सौकुमार्यपरिस्पन्द स्पान्दि यत्र विराजते।।

ह्लादकारी जितना भी वैचित्र्य या वक्रता है, वह सब कवि प्रतिभा, कवि व्यापार (वक्रत्वं कविव्यापार)[89] का पौरुष है। वस्तु का ज्ञान नहीं, प्रतिमान उसे अपेक्षित सौन्दर्य या ह्लादकारिता प्रदान करता है। इसीलिए कुन्तक को **व्यापार-प्राधान्यवादियों** में भारतीय काव्यशास्त्रियों ने स्थान दिया है। अभिनव ने भी शाकुन्तल वाले मृगपोत के भय को **प्रतिभानमय**[90] निरूपित किया है। क्रोचे का भी पक्ष है कि कला Form है—प्रकाशभंगिमा है, Form ही सौन्दर्य का प्राण है। वह केवल Expressive activity है जो सौन्दर्य की सृष्टि करती है। वस्तुतः सौन्दर्य के विषय में तीन पक्ष हैं—एक वह जो वस्तु को सुन्दर मानता है। दूसरा वह जो प्रकाशभंगिमा (Form) को सुन्दर मानता है और तीसरा वह जो दोनों की एकाकारिता में सौन्दर्य देखता है। क्रोचे पहली और तीसरी स्थापनाओं के विपक्ष में हैं और दूसरी के पक्ष में—"The aesthetic fact, therefore, is form, and nothing but form."[91] क्रोचे की दृष्टि में Form तथा Content क्या है—इसे स्पष्ट करते हुए वह कहता है—"The form is constant, it is spiritual activity, while matter is changeable, without matter, however, our spiritual activity would not leave its abstraction to become concrete and real, this or that spiritual content, this or that definite intuition-"[92] फार्म को कूटस्थ भी कहता है, साथ ही उसे आध्यात्मिक व्यापार भी बताता है जबकि विषय परिवर्तनशील है। वह यह मानता है कि विषय या द्रव्य (मानसिक संस्कार) ही 'फार्म' के रूप में रूपान्तरित होता है—लेकिन जब तक द्रव्य का रूपान्तरण नहीं होता, वह ज्ञेय नहीं होता, प्रकाश्य नहीं होता, तब तक उसकी निश्चयात्मक विशेषताओं का पता नहीं चलता। द्रव्य की प्रकृति के विषय में वह कुछ भी कह सकने में अक्षम है। इसका प्रभावी रूपान्तरण ही सुन्दर है। द्रव्य और रूप या प्रकाशभंगिमा में वही अन्तर है जो फिल्टर द्वारा छने और अनछने पानी में होता है।

कुन्तक 'वक्रोक्ति-जीवितम्' में केवल काव्य का विचार करते हैं और उसे बाह्य शाब्दिक अभिव्यक्ति के रूप में मानते हैं—अन्यथा वह ग्राहक को लोकोत्तर आह्लाद कैसे दे सकेगा ? कुन्तक कविव्यापार को महत्त्व देते हैं—परन्तु वे काव्यसामग्री या वस्तु को प्रतिमानमय मानते हैं— दोनों की अखण्डता में विश्वास करते हैं। विवेचन के लिए 'अलंकृति' और 'अलंकार्य' को अलग करते हैं, तत्वतः वे कार्य को अखण्ड मानते हैं। अखण्ड तो क्रोचे भी कहता है। सुसम्पूर्णता में ही सौन्दर्य तो वह भी मानता है, पर वस्तु को नगण्य कर देता है। काव्य या कलाकृति को प्राथमिक और परवर्ती—बाह्य, मानते तो दोनों हैं, पर कुन्तक प्राथमिक या आरम्भिक और बाह्य में भेद नहीं करते, परन्तु क्रोचे वास्तविक कला आन्तरिक अभिव्यक्ति को ही मानते हैं, बाहरी तो मूल की अपूर्ण अनुकृति है। कुन्तक की दृष्टि में मानसिक या बाह्य, दोनों अभिव्यक्तियाँ प्रतिमानमय रूप में ग्रहीत होकर सुन्दर कही जायेंगी, परन्तु क्रोचे के यहाँ बाह्य कलाकृति आन्तरिक कला का स्मारक है। उसे सुन्दर लाक्षणिक रूप से कहा जा सकता है, कुन्तक की तरह अभिधा में नहीं। लाक्षणिक रूप से इसलिए कि वह आन्तरिक अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का पान कराने में माध्यम का कार्य करता है। वह स्वयं सुन्दर नहीं है, 'सुन्दर' की अनुभूति कराने में उत्तेजक है—

> The beautiful is not a physical fact, it does not belong to things but to the activity of men to spiritual energy.[93]

कला की वास्तविक अभिव्यक्ति मन में होती है, अतः क्रोचे मानता है कि वह अपने में पूर्ण और स्वतन्त्र है जबकि कुन्तक काव्य की परिभाषा या स्वरूप-निर्देश करते हुए उसे उक्त्यात्मक अर्थात बाह्य कहते हैं—

> शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापारशालिनी।
> बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥[94]

चारुता की अभिव्यक्ति के निमित्त परस्पर प्रतिस्पर्धी फलतः समप्रधान भाव से युक्त शब्दार्थ, उक्ति, काव्य है। इस शब्दार्थ को ऐसे बन्ध में व्यवस्थित होना चाहिए—जो षडविधवक्रता रूप कविव्यापार से विभूषित हो, फलतः काव्यवेत्ताओं को आह्लाद प्रदान करनेवाला हो। क्रोचे की कला कलाकार की इच्छा के परे है, संवेदना से लेकर बुद्धि तक के स्तरों से भी ऊपर है—वह स्वयं प्रकाश है। यह आध्यात्मिक क्रिया रूप कला कला के लिए है। वह स्वयं अपना प्रयोजन है। वह स्वातिरिक्त प्रयोजन से निष्पन्न नहीं हुई है। कुन्तक का काव्य उक्त्यात्मक और बाह्य है और बाह्य निरूपण की समस्त प्रक्रिया इच्छा-शक्ति से निकटतर सम्बन्ध रखती है। कुन्तक ने इसीलिए कहा है—

> धर्मादिसाधनोपायः सुकुमार क्रमोदितः।
> काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥[95]

सर्गबद्ध काव्य अभिजात वर्ग के हृदय को आह्लादित कर उसे पुरुषार्थोपार्जन में प्रवृत्त करती है, कारण, उसका क्रम शास्त्र की भाँति कठोर नहीं, सुकुमार होता है। इसी प्रयोजनेच्छा से काव्य किया जाता है। अर्थात कुन्तक-सम्मत काव्य इच्छाधीन और

प्रयोजन परतन्त्र है। क्रोचे, कला को इन सभी बन्धनों से मुक्त कर अपने-आपमें सम्पूर्णता और स्वातन्त्र्य प्रदान करता है। एक साम्य अवश्य है कि दोनों काव्य-क्रिया को अखण्ड मानते हैं। अलंकृति और अलंकार्य का भेद नहीं मानते। परन्तु जहाँ क्रोचे फार्म की अखण्डता की बात करते हैं वहाँ कुन्तक (फॉर्म या कण्टेण्ट) अलंकृति और अलंकार्य-- दोनों की अखण्डता की बात कर, काव्य में वस्तु का भी महत्त्व स्थापित करते हैं। सवाल यह खड़ा होता है कि क्या क्रोचे के यहाँ कलागत बाह्य प्रकाशन या सम्प्रेषण का कोई स्थान है या है ही नहीं और है तो क्या उसी रूप में जैसा कुन्तक में है या उससे भिन्न ? क्रोचे ने इसे कला की अनिवार्यता नहीं माना है, महज सहायक साधन माना है। सामाजिक उपयोग और सहृदय संवेद्य होने के लिए कला का बाह्य प्रकाशन होता है और यह इच्छाधीन है। इच्छा होगी कि जो कला मन में सम्पूर्णता प्राप्त कर चुकी है, वह दूसरों के आनन्दोपभोग के लिए या नैतिक परिष्कार के लिए उपलब्ध हो। विभिन्न माध्यमों से उपलब्ध कला का बहिरंग रूप सहृदय आलोचक में अभिव्यंजना की पुनरावृत्ति करता है। आलोचक में जब तक उसका पुनरुज्जीवन नहीं होता, जब तक वह स्वयं कलाकार नहीं बनता, तब तक कला को समझेगा कैसे? अभिव्यंजना ज्ञान रूप है और बाह्य प्रकाशन कर्म-रूप। हाँ, व्यावहारिक क्रिया में कलाकार को उन तमाम प्रक्रियाओं और तन्त्रों की क्षमता होना आवश्यक है, जो प्रायोगिक के लिये अपेक्षित होती है। कलानिरूपिणी समीक्षा में इस तन्त्र की गुंजाइश ही नहीं है, पर वैज्ञानिक समीक्षा में है। क्रोचे के यहाँ उन सब मानदण्डों की कलानिरूपिणी समीक्षा में आवश्यकता नहीं है जिसका विवेचन काव्यमर्म के उद्‌घाटन के लिए कुन्तक करता है। क्रोचे के यहाँ कलात्मक सौन्दर्य या अभिव्यंजना से सदाचार या उपयोगिता का कोई सम्बन्ध नहीं है, कुन्तक के काव्य-विवेचन में है। क्रोचे के यहाँ कला का एक ही प्रयोजन है और वह है मन में सहज ज्ञान का आलोकित होना---स्वयंप्रकाश ज्ञान का अभिव्यंजित होना, वीक्षावृत्ति से द्रव्य का साँचे में ढलना। इससे जो सन्तोष और आनन्द मिलता है---वही काव्य का आनन्द है। उसे सदाचार और उपयोगिता की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। क्रोचे के यहाँ सुरूपता या सुन्दरता अभिव्यंजना की सफलता का नामान्तरण है और कुरूपता या असुन्दरता अभिव्यंजना की असफलता का, जबकि कुन्तक के यहाँ इसके अतिरिक्त और आचार सम्भव हैं। वहाँ रूप और वस्तु की उक्त्यात्मक अभिव्यक्ति में कुरूपता तथा सुरूपता के अनगिनत स्रोत हो सकते हैं। यह तो ऊपर स्पष्ट किया ही जा चुका है, क्रोचे के कला विषयक आनन्द की प्रकृति और कुन्तक के काव्य से होनेवाले लोकोत्तराह्लाद की प्रकृति में अन्तर है। जिस प्रकार व्यवहार जगत् में वस्तु का नैतिक और भौतिक मूल्य है, उसी प्रकार उसका भावनात्मक (सुखदुःखात्मक प्रभाव) आनन्द भी। कुन्तक के काव्य में इन्द्रियगोचर वस्तु का शब्द से उपादान होता है और काव्य का वह अनिवार्य घटक है। अतः कुन्तक के यहाँ भावस्तरीय आनन्द सम्भव है, रसानुभूति की वहाँ चर्चा है, पर क्रोचे के यहाँ आत्मा के साँचे में वस्तु ढलकर केवल रूप बन जाती है और रूप (Form)

ही वहाँ फला है । वस्तु का सम्पर्क है ही नहीं, अतः कला के स्तर पर इन्द्रियगोचर वस्तु के बोध से उत्पन्न होनेवाले आनन्द का सवाल ही नहीं उठता । इसीलिए क्रोचे ने मैटर का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है—'Matter is understood as emotionality not aesthetically elaborated. Matter is the emotivity —not aesthetically elaborated.'[96]

क्रोचे प्रगीतात्मक चेतना को ही कला का आत्मतत्त्व मानता है जबकि कुन्तक के यहाँ वक्रता वर्ण से प्रबन्ध तक व्याप्त है । क्रोचे ने पहले तो भावना का कलात्मक सौन्दर्य, जो केवल रूपगत है, से कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया था, पर बाद के निबन्धों में इसका महत्त्व बढ़ता लक्षित होता है । इसीलिए प्रगीतात्मक चेतना की कलागत केन्द्रीयता अपना स्थान बनाती गयी है । क्रोचे के यहाँ कला-समीक्षा का एक ही आत्मनिष्ठ मानदण्ड है और वह है कला के बहिरंग अनुदित रूप के सहारे आलोचक के मन में पुनरुज्जीवित अभिव्यंजना का सफल रूप । कुन्तक के यहाँ समीक्षा की षडविधवक्रताओं के अनन्त भेद-प्रभेद हैं । क्रोचे इन्हें कला-समीक्षा में अनुपयोगी बताता है और वैज्ञानिक समीक्षा में उपयोगी । क्रोचे के यहाँ रचना और आलोचना दोनों ही आत्मनिष्ठ हैं, जबकि कुन्तक ने मानदण्डों के निरूपण द्वारा आलोचना को वस्तुनिष्ठ बनाने का प्रयत्न किया है । यहाँ तक कि रचना के लिए जिन स्वभावानुसारी (आत्मनिष्ठ) मार्गों का विवेचन हुआ है, वह स्वभाव भी वस्तुनिष्ठ हो गया है । स्वभाव के वस्तुनिष्ठ होने का आशय है कुछ विशेषताओं से उसे बाँध देना । कुन्तक ने काव्यमार्ग के दो सामान्य (औचित्य और सौभाग्य) और चार-चार विशेष गुण (प्रसाद, माधुर्य, लावण्य और आभिजात्य) निर्धारित कर दिये हैं ।[97] क्रोचे ने अपने कला निरूपण में कला को इतर तत्त्वों से पृथक् करते-करते सर्वथा स्वायत्त बना दिया है । उसने जहाँ एक ओर अपनी कला सम्बन्धी मान्यताओं की परिधि से बाहर भौतिकवादी और मनोवैज्ञानिक मान्यताओं को पृथक् कर दिया है उसी प्रकार नैतिकता, उपयोगिता, व्यावहारिकता तथा बौद्धिकता को भी वर्जित कर दिया है । समीक्षा में भी क्रमागत तमाम भेदोपभेदों और मानदण्डों को इन्कार कर उसे रचना की ही भाँति आत्मनिष्ठ बना दिया है । उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि यही है । कुन्तक रचना में स्वभाव को मान्यता देकर भी परम्परा को आत्मसात करते हुए समीक्षा को वस्तुमुखी बनाते हैं । इस प्रकार क्रोचे और कुन्तक में उतना ही अन्तर है जितना पूर्व और पश्चिम में ।

एक बात और, कुन्तक केवल सैद्धान्तिक विवेचक ही नहीं हैं, उनमें काव्यमर्म को पकड़ने की अद्भुत अन्तर्दृष्टि भी है । तमाम प्रख्यात कवियों के काव्यों और काव्यरूपों के वर्ण से लेकर दृश्य-श्रव्य-प्रबन्ध व्यापी सौन्दर्य का इतना मर्मस्पर्शी विवेचन बहुत कम ही मिलता है । यदि वे आनन्दवर्द्धन की तरह अपरिमेय दार्शनिक दृष्टि नहीं रखते, तो इसका यह भी अर्थ नहीं है कि 'दृष्टि' शून्य हैं । उनकी स्पन्दवादी दृष्टि का ऊपर उल्लेख हो चुका है ।

सन्दर्भ

1. भामह : काव्यालंकार, चौखम्भा, 1985, पृ. 2
2. वही, पृ. 17
3. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक लोचन, चौखम्भा संस्करण, पृ. 467
4. भामह : काव्यालंकार, सं. देवेन्द्रनाथ शर्मा, भूमिका
5. दण्डी : काव्यादर्श, पृ. 276
6. वही, पृ. 87
7. वही, पृ. 87
8. वामन : काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, पृ. 235
9. वही, पृ. 249
10. रुद्रट : काव्यालंकार, पृ. 37
11. वही, पृ. 190
12. आनन्दवर्द्धन : ध्वन्यालोक, पृ. 469-70
13. मम्मट : काव्यप्रकाश, चौखम्भा संस्करण, 1984, पृ. 487
14. कुन्तक : वक्रोक्ति जीवित
15. 'Some concepts of the Alankar Shastra' शीर्षक पुस्तक में संकलित History of Auchitya in Sanskrit Poetics शीर्षक लेख
16. ध्वन्यालोक—प्रथम उद्योत, चौखम्भा, काशी, सम्वत् 1997, पृ. 84
17. वही, पृ. 9
18. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—वाणीविलास प्रेस, 1909, पृ. 15
19. वक्रोक्ति जीवितम्—कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, 1977, पृ. 67
20. वही, पृ. 69
21. वही, पृ. 26
22. क्षेमेन्द्र की औचित्य दृष्टि—मोतीलाल बनारसीदास, पटना, पृ. 9
23. वक्रोक्ति जीवितम्—सं. के. कृष्णमूर्ति, धारवाड़ विश्वविद्यालय, 1977, पृ. 19
24. भामह : काव्यालंकार, चौखम्भा, 1985, पृ. 2
25. वामन : काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, पृ. 69-70
26. भामह : काव्यालंकार, चौखम्बा, पृ. 17
27. वामन : काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, पृ. 16
28. अभिनवगुप्त : ध्वन्यालोक लोचन, चौखम्भा, काशी, संवत् 1997, पृ. 467
29. वही, पृ. सं. 16
30. वही, पृ. 186
31. वामन : काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—'ओज: कान्तिमती गौड़ीया', पृ. 19
32. ध्वन्यालोक लोचन—चौखम्भा—'काव्येऽपि च···इयमेव रस वार्ता', पृ. 186
33. वही, पृ. 360/325
34. वही, पृ. 358
35. वही, पृ. 543
36. महिम भट्ट : व्यक्ति विवेक, पृ. 390
37. वही, पृ. 390
38. काव्य मीमांसा—राष्ट्रभाषा परिषद्, बिहार, 1954, पृ. 27

39. श्यामसुन्दरदास : साहित्यालोचन, 1942, पृ. 280
40. अभिनवगुप्त : अभिनवभारती भाग—1, गायकवाड़ सं., 1956 पृ. 287
41. अप्रकाशित लेख—'Abhinawa Gupta's Integral view of Aesthetic concepts—By K. Krishnamurthy', पृ. 136
42. चिन्तामणि भाग-2 से उद्धृत, पृ. 156
43. कविता क्या है, चिन्तामणि भाग-1, पृ. 120
44. वही, पृ. 120
45. सुमित्रानन्दन पन्त : पल्लव, पृ. 30
46. रामचरित मानस—गीताप्रेस गोरखपुर, पृ. 997
47. वक्रोक्ति जीवित—पृ. 120-21
48. वही, पृ. 20
49. वही, पृ. 2
50. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, पृ. 17
51. ध्वन्यालोक, पृ. 146
52. पण्डितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर—प्रथम आनन, पृ. 94
53. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवितम्
54. मम्मट : काव्यप्रकाश—भ. आ. रि. इं. पूना, 1933, पृ. 2
55. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवितम्, पृ. 6
56. वही, पृ. 70
57. वही, पृ. 120
58. महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक, चौखम्भा, 1936, पृ. 391
59. कुन्तक : वक्रोक्ति जीवितम्, पृ. 1
60. गोपीनाथ कविराज : तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि-, प्रस्तावना, पृ. 3
61. अज्ञात : वृहदारण्यक, पृ. 39
62. वही, पृ. 39
63. वही, पृ. 38
64. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवितम्, पृ. 1
65. अभिनवगुप्त : तन्त्रालोक, कश्मीर सिरीज, 1918
66. स्पन्दकारिका विवृति 2/5
67. पतंजलि : पातंजल योगदर्शन—व्यास भाष्य, पृ. 288
68. रामकण्ठ : स्पन्दकारिका विवृति 2/5
69. वही, पृ. 55
70. वही, पृ. 56
71. कुन्तक : वक्रोक्ति जीवितम्, पृ. 14
72. वही, पृ. 17
73. वही, पृ. 137
74. समुद्रबन्ध : अलंकार सर्वस्व की भूमिका—
शब्दार्थों पथग्वस्थितौ न के नाप्यतिरिक्तेनालंकारेण योन्येते, किन्तु वक्रतया वैचित्र्य
गिताय।ऽभिधानमात्रमेयान योरलंकार: तस्यैव शोभातिशयकारित्वादिति। व्याप
प्राधान्यमिति।
75. वही, "ध्वनिकार: व्यापारस्य च वाक्यार्थत्वाभावाद् वाक्यार्थस्यैव च व्यंग्यरूप
गुणालंकारोपस्कर्तव्यत्वेन प्राधान्यवाद् विश्रान्तिधामत्वादात्वत्वं सिद्धांतिमत"

76. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवितम्, धारवाड़ संस्करण, पृ. 125
77. विल्डनकार : Philosophy of Croce, पृ. 209
78. डॉ. सुरेन्द्रदासगुप्त : सौन्दर्यतत्व, भारती भण्डार, प्रयाग, पृ. 107
79. डॉ. रामअवध द्विवेदी : साहित्य सिद्धान्त, पृ. 156
80. डॉ. रवीन्द्र सहाय वर्मा : पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1960, पृ. 59
81. बेनेडेट्टो क्रोचे : Aesthetic, पृ. 6
82. विल्डनकार : Philosophy of Croce, पृ. 4
83. रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग-2, पृ. 137
84. लंकावतार—3/65
85. पण्डितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर, निर्णयसागरप, 1947, बम्बई, पृ. 9
86. क्रोचे : Aesthetic (Intuition and art), पृ.12
87. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवितम्—'व्यापारस्य च प्राधान्यं प्रतिभेद' सं के. कृष्णमूर्ति, धारवाड़ प्रकाशन, 1977, भूमिका, पृ. 28

यथातत्वं विवेच्यन्ते भावांस्त्रैलोक्य दर्शिन: ।
यदितन्नाद्भुतं नाम दैवरक्ता हि किंशुका: ।।
स्वमनीषिकमैवाथ तत्वं तेषां यथारुचि ।
स्थाप्यते प्रौढ़िमात्रं तत्परमार्थों न तादृश: ।।
येन द्वितयमप्येतत्तत्वनिर्मितिन्लक्षणम् ।
तद्वदामद्भुतामोद्चमत्कारं विद्यास्यति ।।

88. वही, पृ. 43
89. वही, पृ. 13 अथवा 26
90. अभिनवगुप्त : अभिनव भारती, बड़ौदा
91. क्रोचे : Aesthetic, पृ. 16
92. वही, पृ. 6
93. वही, पृ. 97
94. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवितम्, पृ. 6
95. वही, 1/3, पृ. 3
96. बेनेडेट्टो क्रोचे : Aesthetic II, पृ. 15
97. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवितम्, पृ. 61/69

औचित्य-दर्शन

प्रस्तुत सन्दर्भ में 'औचित्य' का विचार काव्य के सन्दर्भ में किया जा रहा है औ
काव्य से सम्बद्ध तत्त्वों या घटकों का विचार प्रायः तीन बिन्दुओं से होता है—सर्ज
ग्रहण तथा समीक्षण। सामान्यतः कार्य-मात्र से औचित्य का सम्बन्ध है और क
तीन हैं—सर्जन, ग्रहण और समीक्षण। अतः औचित्य का विचार तीनों ही बिन्दु
से सम्भव है और हुआ भी है। काव्यार्थ का विचार किस प्रकार किया जाय, इस
किसी ने कहा है—

> काव्यं कवीनामुपलालयन् हि भुङ्क्ते रसज्ञो युवतीं युवेव।
> तामेव भुङ्क्ते ननु तार्किकोऽपि प्राणान् हरन् भूत इव प्रविष्टः।[1]

सहृदय की दृष्टि से 'औचित्य' पर विचार

रामपाल और डॉ. राघवन द्वारा उत्पादित भ्रान्तियों या असंगतियों का खण्डन-

काव्यार्थ के ग्रहण में सहृदयता होनी चाहिए। अर्थात जिस प्रकार रसज्ञ-यु
युवती को दुलार-पुचकारकर अनुकूल करता हुआ आस्वाद ग्रहण करता है, उ
प्रकार काव्यार्थ-ग्रहीता भी रचयिता से सहानुभूतिवश तादात्म्यापन्न होकर उ
की प्रातिभ आँख से उसकी कृति का सौन्दर्य ग्रहण करे। ग्रहण उस शुष्क तार्किक
तरह नहीं होना चाहिए, जो काव्य का आस्वाद लेने के बदले उसका सर्वनाश
दे। ठीक वैसे ही जैसे प्रेत तरुणी का आस्वाद लेने में प्रवृत्त तो होता है, पर ऐ
चूसता है कि उसके प्राण ही निकल जाते हैं। अभिप्राय यह है कि ग्रहण में सहृदय
सुलभ-औचित्य का ध्यान रखना चाहिए। सर्जना की दृष्टि से विचार करनेवाले
काव्यघटकों या काव्यतत्त्वों के औचित्य पर विचार करते ही हैं, ग्रहण की दृष्टि
काव्यार्थ (समग्र प्रभाव या अभीष्ट अर्थ) पर विचार करनेवाले भी वर्ण्यसा
और अभिव्यंजनोपयोगी कलात्मक उपकरणों के अनुरूप विधान पर प्रसंगवश वि
करने लगते हैं। अभिप्राय यह है कि औचित्य सम्बन्धी जितना विचार सर्जन प
हुआ है, उतना अन्य पक्षों से नहीं। वस्तुतः प्रथम तो सर्जन ही है, ग्रहण और आलो
तो परवर्ती है, अतः वहीं पर औचित्य का विचार सर्वाधिक हुआ। जहाँ तक क्षे
का सम्बन्ध है, उन्होंने निश्चय ही समीक्षण की दृष्टि से 'औचित्य' पर प्रकाश डा

है, अन्यथा 'रस' को औचित्य का एक भेद (रसौचित्य) कहकर 'औचित्य' को अंगी और 'रस' को अंग न बनाते। इस दृष्टि की ओर दृष्टि न जाने के कारण ही रामपाल विद्यालंकार को भ्रम हुआ कि क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त के विरोधी हैं। डॉ. राघवन की तरह केवल यह मानना कि चूंकि क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त की परम्परा में हैं, उनके शिष्य हैं, इसलिए विरोधी नहीं हो सकते, पर्याप्त सन्तोषजनक नहीं है। औचित्य-विवेचनगत दृष्टि-भेद को लक्षित किये बिना उक्त विरोधाभास का शमन नहीं हो सकता। अभिनवगुप्त ग्रहण की दृष्टि से 'रस' को अंगी मानते हैं और औचित्य को उसका साधक अंग, जबकि क्षेमेन्द्र औचित्य को अंगी मानकर रसौचित्य भेद कहकर 'रस' को उसका अंग। दोनों के दृष्टिभेद को ही लक्षित करने से यह विरोध शान्त होगा, केवल गुरु-शिष्य भाव-सम्बन्ध से नहीं।

क्षेमेन्द्र का वक्तव्य तथा औचित्य चिन्तन से उत्पन्न समस्याएँ और समाधान

एक बात और। क्षेमेन्द्र औचित्य का महत्त्व बताते हुए अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही कहते हैं—'पर-परोपकारी शब्दार्थमय काव्य में अलंकार बाह्य शोभाकारी होने से कटकादि की भाँति अन्ततः अलंकार ही हैं और गुण भी श्रुत, सत्य, शील आदि की तरह अर्जित हैं, सहज नहीं; अतः वे भी गुण ही हैं। पर जहाँ तक औचित्य का सम्बन्ध है, वह काव्य का स्थिर और अविनश्वर जीवित है, जिसके बिना काव्य निर्जीव है, बेजान है।[2] क्षेमेन्द्र के इस वक्तव्य से कई प्रश्न खड़े होते हैं। उक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि काव्य में जीवित के रूप में औचित्य ही हो सकता है, गुण और अलंकार नहीं। अर्थात जो लोग गुण और अलंकार को जीवित समझते हैं, उक्त कारणों से अतर्कसंगत और अग्राह्य हैं। निश्चय ही यहाँ क्षेमेन्द्र की अलंकार और गुणविषयक धारणा अलंकार और रीतिवादियों की है, अभिनवगुप्त की नहीं। अभिनव तो अलंकार को अप्रत्यक्ष रूप से शोभाकारक ही मानने के पक्ष में हैं। रहे गुण, वे तो रस की अर्जिति नहीं, स्वाभाविक विशेषता हैं। अतः यह निष्कर्ष निकालना ही होगा कि क्षेमेन्द्र अलंकारवादी और रीतिवादी के पक्षों से अपनी असहमति व्यक्त करते हैं और औचित्य को काव्य का जीवित सिद्ध करना चाहते हैं। पहला सवाल यह है कि फिर वक्रोक्ति, रस और ध्वनि के विषय में उनकी मान्यता क्या है? 'औचित्य रस सिद्ध काव्य का जीवित है', यह माननेवाला क्षेमेन्द्र 'रस' का विरोधी तो नहीं है, पर रूपक के सांगोपांग निर्वाह की दृष्टि से प्रश्न यह है कि यदि 'औचित्य' जीवित है तो 'रस' क्या है? दूसरे 'ध्वनि' और 'वक्रोक्ति' के सम्बन्ध में उसके मौन की क्या व्याख्या है? पहले प्रश्न का उत्तर देते हुए डॉ. राघवन[3] ने कहा कि काव्य में औचित्य जीवित है तो रस है आत्मा। अर्थात् शब्दार्थ शरीर और रस रूपी आत्मा का सहावस्थान होने पर भी यदि प्राणन क्रिया नहीं है तो सब निरर्थक। औचित्य काव्य की प्राणन क्रिया है, औचित्य शून्य काव्य निष्प्राण, निर्जीव है। क्षेमेन्द्र ने निर्जीव शब्द का ही प्रयोग किया है। 'जीव' से यहाँ आत्मा

समझी जाये या जीवनप्राणन ? यदि क्षेमेन्द्र के शब्दों पर विशेष ध्यान दिया जा
तो स्पष्ट है कि काव्य में दो चीजें ऐसी हैं, जिनमें से यदि एक अविनश्वर या स्था
जीवन देता है, तो दूसरा अस्थायी और विनश्वर। उन्होंने रसायन के स्थान पर र
को रखा है। रसायन से जैसे काव्यसिद्धि की जाती है, उसी प्रकार से रस से
काव्यसिद्धि (काव्यत्वसिद्धि) की जा सकती है। लेकिन काव्य की सिद्धि या प्रा
होने पर भी स्थायित्व औचित्य ही देता है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि क्षेमेन्द्र
की भी अपेक्षा औचित्य का व्यतिरेक सिद्ध करते हैं, पर इस व्यतिरेक से यह
सिद्ध होता है कि औचित्य अपने आपमें साध्य है ? औचित्य से काव्य में जान प
लगती है, उसके न रहने से वह बेजान-सा लगता है—अर्थात औचित्य काव्य
जीवित 'रस' का भी जीवित है, जीवित को उजागर तथा स्थायी बनानेवाला है
स्पष्ट ही औचित्य का जीविकत्व लाक्षणिक है, अभिधात्मक नहीं। रस अभिधा
काव्य का जीव है और औचित्य लक्षणा में। इस विवेचन के आलोक में
डॉ. राघवन की तरह रस को आत्मा और औचित्य को जीवित कहकर उसका
नहीं करना चाहता बल्कि, आत्मा (रीतिरात्मा काव्यस्य) तथा (वक्रोक्ति का
जीवितम्) जीवित को एकार्थक मानना चाहता हूँ। अर्थात् रस और औचित्य
ही जीवित हैं। पहला विनश्वर तथा दूसरा अविनश्वर। पहला जीवित तथा दू
जीवित का भी जीवित। उनकी प्रतिज्ञा है–'रस जीवितभूतस्य विचार: क्रियतेयुन
अन्यत्र, जिस प्रकार डॉ. राघवन औचित्य 'जीवितम्' को रस ('आत्मा') वि
प्रस्थान नहीं मानते वैसे ही वक्रोक्ति भी रस-विरोधी प्रस्थान नहीं होगा। कहा
सकता है कि कुन्तक वक्रोक्ति की रसविरोधी स्थापना करते ही कहाँ हैं ? व
प्रतिज्ञा करते हैं—

लोकोत्तराह्लाद (रस) कारिवैचित्र्यसिद्धये।

अर्थात् वह उस वक्रता की स्थापना करने जा रहे हैं जो रस साधक है।
डॉ. राघवन की बात मान ली जाय तो असंगति क्या है ? जहाँ-जहाँ काव्यात्म
आचार्य जीवित शब्द का प्रयोग करें, वहाँ-वहाँ रस को आत्मा और अन्य (औ
तथा वक्रोक्ति) को जीवित मान लिया जाय ? नहीं, मान लेने में हर्ज यह
फिर औचित्यमत की भाँति वक्रोक्तिमत को भी रसप्रतिपक्षी, काव्यात्मवाद
मानना होगा। पर ऐसा चल सकता है क्या ? इस प्रकार उचित यह प्रतीत हो
कि जैसा क्षेमेन्द्र ने कहा है वैसा ही माना जाय, डॉ. राघवन का सुझाव नहीं।

क्षेमेन्द्र की दृष्टि में औचित्य रससिद्ध काव्य का जीवित है—अर्थात् का
जीवित का जीवित है। हाँ, पहला अस्थायी जीवित है और दूसरा स्थायी। रस
काव्य को स्थायित्व प्रदान करनेवाला औचित्य ही है, इस मन्थन से जो नि
मिले, वे इस प्रकार हैं—

1. औचित्य काव्य का स्थिर जीवित है, अर्थात रससिद्ध काव्य की जान है
   उसे स्थिरता प्रदान करता है।
2. औचित्य स्वयं साध्य नहीं है, पर साध्य को भी स्थिरता प्रदान कर

कारण महत्त्वपूर्ण है।

3. औचित्य की तुलना में अलंकार बहिरंग और गुण अस्वभावगत अर्जित धर्म है।

इस प्रकार ग्रन्थकार औचित्य का व्यतिरेक अलंकार, गुण तथा रस—तीनों की अपेक्षा सिद्ध कर रहा है।

रहा दूसरा प्रश्न कि 'वक्रोक्ति' तथा 'ध्वनि' से परिचित होकर भी क्षेमेन्द्र ने इनकी अपेक्षा औचित्य का व्यतिरेक क्यों नहीं दिखाया? मुझे ऐसा लगता है कि ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना हो जाने के बाद श्रव्य-दृश्य उभयत्र रस का महत्त्व तो मान ही लिया गया। उससे पूर्व के अलंकार तथा रीतिवादी आचार्य व्यामुग्ध थे—उन्हें रस भी या तो अलंकार दिखायी पड़ता था या कान्ति गुण में अन्तर्भुक्त होकर या गौण। दीप्त रसमय कान्ति से घटित गौड़ी रीति काव्य की आत्मा का पद न पा सकी। ध्वनिवाद 'रस' को सर्वोपरि मानता ही था, रसवादी (भावना योगवादी) मानते ही थे रस को, वक्रोक्तिवादी ने भी रस को साध्य ही माना है। उसे साधन कोटि में नहीं रखा। यह अवश्य है कि कुन्तक ने 'रस' को कण्ठरवेण अर्थात स्पष्टतः अलंकार्य नहीं कहा, अलंकार्य कहा शब्दार्थ को और अलंकृति के रूप में वक्रता की प्रतिष्ठा की। किन्तु 'स्वभावोक्ति तथा रसवदलंकार' का खण्डन करते हुए यह सिद्ध कर दिया कि 'रस' या 'भाव' तथा 'स्वभाव' अलंकार नहीं हो सकते, वे तो अलंकार्य ही हैं। इस समझ के कारण ही सम्भव है, रस को मान्यता देनेवाले वक्रोक्ति तथा ध्वनि से औचित्य का व्यतिरेक अलग से बताने की कोई अपेक्षा या आवश्यकता न समझी गयी हो। वक्रता और ध्वनि भी औचित्य मण्डित होकर ही अभीष्ट प्रभाव पैदा कर सकते हैं। अभीष्ट प्रभाव पैदा करने में सभी औचित्य के मुखापेक्षी हैं। ध्वनिसिद्धान्त प्रस्थापन के अनन्तर रस की साध्यता काव्यमात्र में निर्विवाद हो गयी, विवाद इस बात पर छिड़ गया कि उस तक पहुँचने का माध्यम क्या है—व्यञ्जना, भावनाभोग, तात्पर्य, अनुमिति, विचित्र अभिधा या क्या, अर्थात अलंकार और रीति के बाद बहस का बिन्दु रस तक पहुँचने का मार्ग क्या है, बन गया। इसके साथ यह प्रश्न भी जुड़ा हुआ है कि माध्यम रूप में रस की काव्यगत स्थिति क्या है? ध्वनिवादी ध्वनित रस को, रसवादी रसमात्र को तथा वक्रोक्तिवादी रस को आत्मसात करनेवाले लोकोत्तर आह्लाद को साध्य मानता है। इस विवेचन से निष्कर्ष यह निकला कि रस से औचित्य का व्यतिरेक सिद्ध होने पर पृथक् से वक्रोक्ति तथा ध्वनि से व्यतिरक सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं रही।

सम्प्रति, तीसरा प्रश्न यह है कि औचित्य का स्वरूप क्या है? क्षेमेन्द्र अन्य तत्त्वों की महत्ता का खण्डन करते हुए क्या किसी विशिष्ट मतवाद की स्थापना करना चाहते हैं? ग्रन्थकार क्षेमेन्द्र का कहना है—

"उचितं प्राहुराचार्याः सदृशंकिल यस्ययत्"[5]

आचार्यगण सदा से कहते आये हैं कि जो जिसके अनुरूप है, वही उचित है और इसी उचित का भाव औचित्य है। इस प्रकार औचित्य और आनुरूप्य पर्याय हैं, जहाँ

जो जँच जाय वही वहाँ उचित है और ऐसा पारस्परिक आनुरूप्यवश ही सम्भव है। दो अनुरूप सम्बन्धियों का सम्बन्ध ही आनुरूप्य है—औचित्य है।

यदि 'काव्य में महत्त्वपूर्ण तत्त्व क्या है'—इस पक्ष का सर्जन पक्ष से उत्तर देते हुए अलंकार, गुण तथा वक्रता को महत्त्वपूर्ण बताने पर आग्रह किया जा सकता है, ग्रहण पक्ष से ध्वनि और रस पर बल दिया जा सकता है, तो समीक्षण पक्ष से औचित्य पर बल देना उसे सर्वप्रमुख बताना भी क्यों अस्वीकार्य है? वह भी एक मतवाद क्यों नहीं? मतवाद सौन्दर्य के स्रोत के ही विषय में तो खड़े किये गये। इस क्रम में यदि कोई दृष्टिभेद से औचित्य का पक्ष लेता है तो उसे भी इस काव्यात्मवाद के सन्दर्भ में एक पक्ष विशेष का पक्षधर क्यों न माना जाये? औचित्य भी एक काव्यात्मवाद है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में कुछ लोग इसे एक मतवाद स्वीकार करते हैं और कुछ लोग नहीं। मैंने स्वयं अपने पूर्ववर्ती विचारों में इसे पृथक् मतवाद मानने का खण्डन किया है। लेकिन अब पुनः सोचता हूँ, मतवाद न मानने के पक्ष में कोई तर्क दिखायी नहीं पड़ता, यह कहना कि औचित्य स्वयं में साध्य नहीं है, तो वक्रोक्ति ही कौन स्वयं में साध्य है? यदि किसी दृष्टि से व्यञ्जकता, वक्रता, गुण, अलंकार तथा भावकत्व का महत्त्व है, तो दृष्टिभेद से औचित्य का भी महत्त्व है, अतः इसके स्वतन्त्र मतवाद पर पुनः सोचना चाहिए।

पाश्चात्य चिन्तन और औचित्य के नये क्षितिज

क्षेमेन्द्र के माध्यम से औचित्य विषयक भारतीय धारणा को स्पष्ट कर लेने के बाद यह देखना आवश्यक है कि अन्य देश-काल के चिन्तकों के चिन्तन के आलोक में औचित्य को समझने के और कौन-कौन से नये क्षितिज उद्घाटित किये गये और इन नवोद्घाटित क्षितिजों पर औचित्य की और कौन-कौन सी सम्भावित नयी परतें खुलीं।

जिस चिन्तन की पीठिका पर भारतीय आचार्य काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अपनी-अपनी उद्भावनाएँ दे रहे थे, वह अपने आवृत-अनावृत रूप में आत्मवादी ही था। पश्चिम में आत्मवाद के अतिरिक्त न केवल पदार्थवादी तथा अन्तश्चेतनावादी आदि नव्य चिन्तनभूमियाँ आविष्कृत हुईं, अपितु काव्यशास्त्र के अतिरिक्त एक वाग्मिताशास्त्र भी चल रहा था, जो वाणीगत प्रभावी तत्वों की खोज कर रहा था। कुल मिलाकर ये भिन्न तथा नवीन क्षितिज हैं जिनके आलोक में औचित्य (प्रोप्राइटी) को और दृष्टियों से देखा गया और तद्गत अन्य सम्भावनाओं को उभारा गया। तर्कविरोधी क्रिश्चियानिटी पूर्व ग्रीक-रोमन युग में काव्यशास्त्र और वाग्मिताशास्त्र का प्रणयन जोरों पर था। इस युग की उत्पत्ति थी—'कला का सौन्दर्य आंगिक संगति और बाह्य नियमों पर आश्रित है।' भारतीय चिन्तन में भी अलंकार एवं रीतिवादी 'सौन्दर्य' का सम्बन्ध शरीर अर्थात शब्दार्थ से माना जाता था और शरीराश्रित अलंकार तथा गुण के समुचित नियोजन से उसकी निष्पत्ति स्वीकार की जाती थी। अलंकार युग में कलागत सौन्दर्य का मूल उत्स इन्द्रियातीत सत्ता में

माना गया, उसी प्रकार भारतीय चिन्तन में भी कश्मीरी दार्शनिकों ने शरीर की तह में रहनेवाली आत्मा को ही सौन्दर्य का स्रोत बताया और समानान्तर रूप से काव्य में भी शब्दार्थ की तह में विद्यमान रस को काव्य की आत्मा कहकर सौन्दर्य का सीधा सम्बन्ध उसी से निरूपित किया और रस को केन्द्र बनाकर ही औचित्य पर विचार किया, नवजागरण में ग्रीस-रोमकालीन निष्पत्तियों की बुद्धिसंगत व्याख्या हुई और स्वच्छन्दतावादी समुत्थान में नव्यशास्त्रवादी मान्यताओं के विपरीत 'कल्पना' की अतीन्द्रिय व्याख्या की गयी। इस प्रकार 19वीं शताब्दी से पूर्व काव्य का केन्द्रीय तत्व 'सौन्दर्य' था और उसकी बहिरंग तथा अन्तरंग व्यवस्था से निष्पत्ति, काव्यशास्त्रियों का प्रतिपाद्य था। विवेक अथवा स्वतःस्फूर्त्त प्रतिभा से सायास अथवा निरायास औचित्य-गर्भ, कलात्मक उपकरणों का नियोजन होता था, सौन्दर्य और आनन्द की एक विशिष्ट अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में उद्रिक्ति होती थी।

स्वच्छन्दतावादी युग की समाप्ति के अनन्तर 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में विज्ञान ने जीवन के माध्यम से साहित्य और साहित्यचिन्तन पर अपना प्रभाव डालना आरम्भ किया। डार्विन, मार्क्स तथा फ्रायड ने क्रमागत मान्यताओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये, फलतः औचित्य को नये परिप्रेक्ष्य में भी देखा गया। वैज्ञानिक प्रवाह के साथ या समानान्तर आदर्श और अध्यात्मवादी प्रवाह भी सक्रिय थे, वे निःशेष नहीं हुए थे। वस्तुतः इस समय आलोचना के क्षेत्र में मुख्यतः दो प्रकार की विचारधाराएँ काम कर रही थीं– भौतिकवादी यथार्थनिष्ठ वैज्ञानिक प्रभावसम्पन्न-विचारधारा तथा आदर्श एवं अध्यात्म से प्रभावित विचारधारा। पहली की प्रबलता पहले फ्रांस, इंग्लैण्ड और बाद में रूस में थी तथा दूसरी की प्रमुखता जर्मनी में थी, फिर भी सामान्यतः परस्परविरोधी ये दोनों विचारधाराएँ 19वीं सदी के अन्त तक यूरोप के सभी प्रगतिशील देशों में प्रवाहित होती रहीं। यों समय के प्रवाह में आदर्शवादी धारा की अपेक्षा भौतिकवादी धारा विशेष सबल और प्रभावी थी, पर बीसवीं सदी के आरम्भ से कुछ लोगों में भौतिकता की प्रतिक्रिया आरम्भ होने लगी। क्रोचे ऐसे ही लोगों में था। इंग्लैण्ड में यह प्रवृत्ति ब्रेडले आदि में परिलक्षित हुई। इसका एक कारण आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र पर मनोविज्ञान का प्रभाव भी था। मनोविज्ञान मानस की अतल गहराइयों का संकेत देने लगा। इसी शती के अनेक साहित्यिक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में मनोवैज्ञानिक तथ्य एवं सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। दादावाद, घनवाद, भविष्यद्वाद, अभिव्यंजनावाद सभी के सभी यथार्थवादी भौतिकधारा के विरोधी हैं। इन सबमें मानसिक स्थिति के सांकेतिक निरूपण का प्रयास था। जहाँ तक अतियथार्थवाद का सम्बन्ध है, उसमें मार्क्स के सामाजिक उद्देश्यों के साथ फ्रायड की मान्यताओं का भी समावेश है। दो महायुद्धों के बीच उत्पन्न आस्तिक और नास्तिक अस्तित्ववाद ने जीवन के प्रति अपना एक अलग ही नैराश्यवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इसमें आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दोनों तरह के नियतिवाद से 'सत्ता' को 'स्वतन्त्र' घोषित किया गया। इसने 'स्वतन्त्रता' की ऐसी

व्याख्या की जो अब तक किसी ने नहीं की थी। अस्तित्ववाद सभी वस्तुनिष्ठ दर्शनों की आलोचना करता है, क्योंकि वे बुद्धि और जीवन को असम्बद्ध कर देते हैं। इनके अनुसार कोई सर्वस्वीकृत वस्तुनिष्ठ सत्य होता ही नहीं, वह तो विचारक की व्यक्तिगत प्रतिबद्धता से तय होता है। अस्तित्ववाद तर्क बुद्धिवाद के सभी रूपों का विरोधी है। कारण, तर्क से सत्य नहीं जाना जा सकता। व्यक्ति की स्वतः-स्फूर्ति और अद्वितीयता ही उसकी स्वतन्त्रता का एक लक्षण है। अस्तित्ववाद किसी भी प्रश्न का समाधान देने या कोई व्यवस्थित दर्शन देने में विश्वास नहीं करता। कारण, ऐसा करने से व्यक्ति-स्वतन्त्रता का अपहरण होता है। व्यक्ति, व्यक्ति है, उसकी परिस्थितियाँ व्यक्तिगत हैं, उसका समाधान भी उन्हीं परिस्थितियों में स्वतःस्फूर्त्त होगा। यह दर्शन किसी सामाजिक और वस्तुनिष्ठ विचारधारा में आस्था नहीं रखता। स्पष्ट है कि यदि औचित्य अपने वर्ण्यरूप में सामाजिकता का ही पर्याय है, तो वैसा कोई औचित्य यहाँ नहीं है। औचित्य का व्यक्ति निर्धारण करेगा। यह अविज्ञानवादी और अतर्कवादी दर्शन है। यह उन आदर्शवादियों का भी खण्डन करता है, जो तर्क से अपना दर्शन निरूपित करते हैं। वस्तुतः यह अ-दर्शन का दर्शन है। इस तरह की विचारधारा से औचित्य पर दृष्टिक्षेप नूतन प्रयास ही है। औचित्य का कलागत रूप, जो स्वतःस्फूर्त्त है, अवश्य यहाँ होगा।

इस अद्भुत विचारधारा के साथ अन्य तरह की विचारधाराएँ भी सक्रिय थीं। एक ओर तोल्स्तोय भी हैं, जो यह मानते हैं कि कला की सफलता मनुष्य, ईश्वर तथा मानवमात्र के पारस्परिक सम्बन्ध को दृढ़ बनाने में है। वह कला को सौन्दर्य की वस्तु नहीं मानते और न ही उसका लक्ष्य आनन्द या मनोरंजन मात्र। उनकी दृष्टि से कला के अस्तित्व की सफलता, उसके लोकमांगलिक होने में है। इस प्रकार के आलोक में उन्होंने कला का उपकरणों पर विचार किया और प्रश्न किया कि वस्तु तथा रूपपक्षीय औचित्य क्या है? इस सन्दर्भ में उन्होंने विज्ञान की भी आलोचना की और कलावाद तथा यथार्थवाद की भी। यही नहीं, प्राचीन ध्येयवाद का भी खण्डन किया और सबकी एकांगिता प्रदर्शित की। उन्होंने औचित्य का चतुरस्र निर्वाह कहीं नहीं देखा, अतः कला में वस्तु तथा रूपगत औचित्य पर जमकर विचार किया। यह स्पष्ट है कि वस्तुगत औचित्य पर उन्होंने जितना गहरा विचार किया, उतना सम्प्रेषण के उपकरणों पर नहीं। इसीलिए समीक्षकों का ख्याल है कि अपनी इस विशेष रुचि के कारण वह काव्य के आनन्दमय पक्ष के साथ न्याय नहीं कर पाये हैं।

आदर्शवादी सौन्दर्य की चरम परिणति क्रोचे के विचारों में मिलती है। उसका चिन्तन भी अपने ढंग का सर्वथा नूतन है, जिसका केन्द्रीय तत्व है—'इण्ट्यूशन'। 'इण्ट्यूशन' के ही व्यक्त होने तथा उसके द्वारा मन के आलोकित होने का नाम ही अभिव्यंजना है। मानसजगत् में अरूप की स्वयंप्रकाश के रूप में अभिव्यक्ति का नाम कला है। इस प्रकार इनके मत से कला के प्रकाशन से समापन तक का सारा व्यापार मानस है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि उस औचित्यविचार का, जो

सामाजिक एवं समीक्षक के सौन्दर्य-प्रतिमानों अर्थात् व्यवस्था-घटक-तत्वों एवं नियमों से सम्बद्ध है, इस व्यक्तिगत मानसव्यापार से क्या सम्बन्ध ? औचित्य का विचार तो तब हो, जब वह बाहर आये और उसका सामाजिकीकरण हो। वस्तुगत औचित्य तो सामाजिकता का निर्वाह है, व्यष्टिगत मानसव्यापार में निहित सौन्दर्य का मेरुदण्ड है या नहीं ? है, तो सहृदय ग्राहक समाजसम्मत है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर दूसरा तभी दे सकता है, जब कलाकारगत मानसव्यापार जैसा ही व्यापार ग्राहक में भी हो और वह बाह्य प्रकाशन, रूप माध्यम के बिना सम्भव नहीं। इसलिए किसी न किसी रूप में क्रोचे ने ये बातें मानी हैं— गौण रूप से ही सही, पर बाहरी उपयोगिता के ख्याल से बाह्यप्रकाशन की भी बात आयी है और इसी प्रसंग में उसके मूल्यांकन की चर्चा उठाते हुए यह भी कहा गया है कि वहाँ कवि एवं ग्राहक का समान 'इण्ट्यूशन' हो जाता है। यथार्थ में क्रोचे ने विभिन्न औचित्यावह नियमों के आधार पर विचार करने की प्राचीन पद्धति का परित्याग किया है, तब भी जो सौन्दर्य-प्रक्रिया का अनिवार्य पक्ष है, उस पर मौन रहने से या वाणी द्वारा निषेध करने से कुछ नहीं हो सकता। जब सौन्दर्यानुभूति अथवा तज्जनित आह्लाद-अनुभूति गोचर होती है, तब यह मानना ही होगा कि उसकी उद्भावक सामग्री में एक व्यवस्था या संगति अवश्य होगी। वह सायास न हो, यह दूसरी बात है। इस प्रकार औचित्य के अनायास अस्तित्व की कलागत सिद्धि होती ही है।

आई. ए. रिचर्ड्स एवं औचित्य

औचित्य के दोनों पक्षों, विषयगत एवं पद्धतिगत का विचार, रिचर्ड्स के मूल्य एवं प्रेषण (वैल्यू एण्ड कम्युनिकेशन) सम्बन्धी सिद्धान्तों में निहित है। अपने मूल्यवादी सिद्धान्त को समझाते हुए उन्होंने कहा है कि मानव अथवा मानवसमाज का चिर आकांक्ष्य व्यग्रता नहीं, शान्ति है, व्यग्रतामूलक दुःख नहीं, आनन्द है। इस वैज्ञानिक युग में शान्ति एवं आनन्द और व्यवस्था का स्रोत उत्तरोत्तर गिरता हुआ धर्म नहीं हो सकता। आज उस साध्य का स्रोत काव्य ही है। काव्य उस शान्ति एवं आनन्द की प्राप्ति सौन्दर्य के माध्यम से कराता है। ध्यान रखने की बात यह है कि सुन्दर वही है जो मूल्यवान हो और मूल्यवान वही है जो मानसिक जगत में अव्यवस्था और असन्तुलन को हटाकर व्यवस्था और सन्तुलन लाये। व्यवस्था और सन्तुलन लाने का अर्थ यह है कि मानव-मन में जो रागमय एवं द्वेषमयी नानाविध वृत्तियाँ हैं, उनसे जो निरन्तर आवेग बने रहते हैं, उन आवेगों एवं मनोवेगों में अधिक सन्तुलन और सामंजस्य लाना। काव्य में ऐसी वस्तु का उपस्थापन उचित है जो उपर्युक्त प्रयोजन का निष्पादन करती हुई अपनी मूल्यवत्ता के कारण सुन्दर कही जा सके।

इसके अनन्तर रिचर्ड्स ने प्रेषण पर भी विचार किया है और इस पर भी कि प्रेषण का माध्यम कैसा होना चाहिए ? इस प्रसंग में छन्द, लय और नाद से लेकर तथ्य निरूपक शब्द, रूपक एवं प्रतीकों तक के प्रयोगों की बात कही है। उसका पक्ष है कि विज्ञान की तथ्य निरूपक भाषा से भिन्न काव्य की भावात्मक भाषा (इमोटिव

लैंग्वेज) होनी चाहिए। कारण, काव्य की महत्ता भावों को हृदयान्तरित करने और जगाने में है और यह कार्य भावात्मक भाषा से ही सम्भव है। निष्कर्ष यह कि माध्यमगत औचित्य का यह तकाजा है कि काव्य की भाषा भावात्मक हो और उसके लिए विभिन्न उपकरणों का भी विचार हो।

टी. एस. इलियट और औचित्य

टी. एस.इलियट अपने काव्यीय सिद्धान्तों और प्रयोगों में परम्परावादी माने जाते हैं, पर इनके परम्परावाद में नूतन एवं पुरातन प्रवृत्तियों का इस प्रकार मिश्रण है कि उसकी प्रकृति पर विचार करते हुए इन्हें आधुनिक परम्परावादी कहा जाये तो ज्यादा उचित होगा। उनके उक्त दृष्टिकोण का पता उनके द्वारा लिखे हुए 'सफल समीक्षक' आदि निबन्धों से लग जाता है। उक्त दृष्टि के दो आधारभूत तत्त्व हैं— वैयक्तिक और विशिष्ट से ऊपर निर्वैयक्तिक और सामान्य की स्थापना तक काव्य में मूर्तविधान। साथ ही, परम्परागत सांस्कृतिक प्रभाव की अभिव्यक्ति में स्वकीय प्रतिभा को माध्यम बनाकर व्यक्तिगत रागात्मक प्रवृत्तियों को सार्थक और सार्वभौम बनाना। कवि परम्परा को इस प्रकार आत्मसात करता है कि उसका व्यक्तित्व उसी में विलीन हो जाता है।

दूसरी स्थापना उनकी यह भी है कि कवि की प्रतिभा विभिन्न भावों, अनुभवों एवं सम्वेदनाओं को व्यवस्था प्रदान करती है। रिचर्ड्स भी व्यवस्था पर बल देते हैं और इलियट भी, पर पहला सहृदय होने के कारण सहृदय पक्ष से और दूसरा कवि होने के कारण कवि और उसके रचनापक्ष से।

इलियट ने समीक्षा के जो प्रयोजन निर्धारित किये हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि वह काव्यगत उसी वस्तु को उचित समझते हैं जिसमें परम्परागत सांस्कृतिक मूल-तत्त्व विद्यमान हों, जिससे लोगों की रुचि संस्कृत होती रहे और समाज के सुचारु रूप से परिचालन के लिए एक सुरुचिपूर्ण व्यवस्था मिलती रहे। इस प्रकार अभिव्यक्ति पक्ष से देखा जाय तो उनका कहना यह है कि जिस कविता में जितनी ही व्यवस्था हो, वह उतनी उत्कृष्ट है। वस्तुपरक संयोजना (आब्जेक्टिव कोरिलेटिव) सिद्धान्त के आधार पर यह भी मानते हैं कि काव्य की सफलता इस बात में है कि भावनाओं और मूर्त्तविधान में पूर्ण सामंजस्य और एकरूपता हो। पद्धतिगत औचित्य का यही निष्कर्ष है।

मार्क्सवादी दृष्टि और औचित्य

विश्व का प्रत्येक चिन्तक अपने ढंग से यह सोचता है कि किस प्रकार मानव को सुख-शान्ति मिले ? किस प्रकार उसे दुखों से मुक्ति मिले ? मार्क्स ने भी इस बात को अपने ढंग से सोचा। उसने परलोकवादियों एवं अध्यात्मवादियों की तरह मानव की पारलौकिक नहीं, इहलौकिक मुक्ति एवं सुख-शान्ति के सम्बन्ध में सोचा। उसने उनके विपरीत भीतर से बाहर का नहीं, वरन् बाहर से भीतर का नियमन स्वीकार

किया। चेतना से बाह्य अस्तित्व को नहीं, प्रत्युत बाह्य अस्तित्व से चेतना को नियन्त्रित बताया। उसने बताया कि मानवमुक्ति की कल्पना वर्गहीन समाज की स्थापना में निहित है। इसी के फलस्वरूप मानव के इतिहास को नियन्त्रित रखने-वाली बाह्य जगत की वस्तुगत शक्तियाँ मनुष्य के अधीन रहकर इच्छित फल देंगी और आवश्यकता के निम्नतम सोपान से स्वातन्त्र्य के मूर्धन्य सोपान पर आरोहण करायेंगी। लेकिन इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए रास्ते में अनेक बाधाएँ भी हैं, जिन्हें हमें साफ करना है और साफ करने के लिए, एक व्यापक विप्लव अपेक्षित है। मार्क्सवाद साहित्य को इसी विप्लव में साधन मानता है। इन लोगों की दृष्टि से काव्य चेतन मन की, सामाजिक उत्तरदायित्वों से नियन्त्रित मन की सोद्देश्य अभिव्यक्ति का एक प्रकार है, जो भावावेग के सामाजिक दाय को कलात्मक रूप से प्रतिपादित करता है।

ये लोग कला की अपेक्षा काव्यगत विषय का महत्त्व ज्यादा मानते हैं। काव्य में उक्त लक्ष्य की पूरक तथा सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप ग्रहीत विषय-वस्तु ही उचित है। इस दृष्टि के अनुसार किसी भी रचनात्मक चेष्टा का औचित्य राज-नीतिक सम्बन्ध, व्यवस्थानीति, योजना और राष्ट्रनिर्माण के प्रति उसकी सक्रिय अनुकूलता से है। मार्क्सवाद का आग्रह कला और साहित्य के सम्बन्ध में यथार्थ परिस्थितियों और यथार्थ चरित्रों की सामाजिक विशेषताओं के निर्वैयक्तिक चित्रण पर था, यानी परिस्थितिजन्य, यथार्थमूलक, निर्वैयक्तिक और चारित्रिक विशिष्टता का निष्कर्ष देनेवाले अनुभवों की अभिव्यक्ति पर था। कला में यथार्थवाद की बाबत एंगेल्स ने स्पष्ट लिखा है कि उसके विचारानुसार यथार्थवाद का तात्पर्य विस्तृत विवरण की सचाई, विशिष्ट चरित्रों के सच्चे प्रतिफलन और विशिष्ट परिस्थितियों के यथार्थ चित्रण में निहित है। साथ ही रचनाकार की वैयक्तिक धारणाएँ जितनी दूर तक अव्यक्त रहेंगी, कलाकृति उतनी ही श्रेष्ठ होगी। किसी भी कृति की निर्वैयक्तिक रचनाप्रणाली में स्थितियाँ, क्रियाशीलता और स्वाभाविक यथार्थचित्रण ही उचित माध्यम माने गये हैं, जिनके द्वारा कृतिकार के विचार और ऐतिहासिक समाधान व्यक्त हो सकते हैं। इन माध्यमों के अतिरिक्त विलग या तटस्थ रूप से कृतिकार अपने पूर्वग्रह, चिन्तन और समाधान को असंगत रूप से किसी चरित्र पर लाद दे या विवेचित करे—यह किसी कला या रचनात्मक साहित्य में उचित नहीं।

अन्तश्चेतनावाद और औचित्य

कहा जाता है कि सच्चे कवियों के भावों एवं विचारों का उत्स किसी रहस्यमय स्थान में होता है। मनोवैज्ञानिक इस रहस्यमय प्रदेश को अचेतन मन (फ्रायड के मत से व्यष्टि एवं 'युंग' के मत से सामूहिक) कहते हैं। मार्क्स के यहाँ चेतन मन, समाजसापेक्ष-मन, समाज के उत्तरदायित्वों से जकड़ा हुआ मन, काव्यसृष्टि में संलग्न होता है। फलतः वहाँ समाजानुमादित औचित्य की बात स्वयं आ जाती है। परन्तु जहाँ सामाजिक यथार्थ से निरपेक्ष, सामाजिक नियन्त्रणों से अछूता अचेतन

मन ही काव्यसृष्टि का मूल उत्स है, वहाँ लोकानुमोदित, विवेकप्रसूत औचित्य का प्रसंग कहाँ से आ सकता है ? पर जब हम यह देखते हैं कि व्याधिग्रस्त कल्पना के विपरीत, कलाकार की मानस सृष्टि व्यक्ति की सीमा पार कर समाज तक पहुँच जाती है और अपनी असाधारण मानससृष्टि को साधारण बना देती है और व्याधि-ग्रस्त की विक्षेपात्मक प्रक्रिया के विरुद्ध वह उदात्तीकरण की प्रक्रिया से अपना कार्य करने लगती है, तब वह यथार्थ से अपना सम्बन्ध बना लेती है, फलतः कलात्मक औचित्य ही हस्तावलम्ब प्रदान करता है। व्यष्टिमानस का यथार्थ से सम्बन्ध-स्थापन करनेवाली प्रक्रिया ही कला है। कलाकार वह कार्य समुचित रूप-सृष्टि, रूपविकृति, छद्मवेश एवं स्थानान्तरण की सहायता से सम्पन्न करता है। पर यदि अचेतन पर सामाजिक अनियन्त्रण की भाँति अभिव्यक्ति पर विवेक का नियन्त्रण अनावश्यक माना गया, तब तो यहाँ विषयगत औचित्य के साथ कलागत औचित्य भी आता रहेगा। ऐसे सिद्धान्तों से अनुप्राणित रचनाएँ औचित्य विचार के परे हैं।

वर्तमान रचना संसार और औचित्य

इस प्रकार चिन्तन के ये और ऐसे अनेक नये आयाम खुले हैं, जिन पर विचार किये बिना 'औचित्य' की नयी तथा सम्भावित परतों का उघड़ना सम्भव नहीं है। कला या काव्य जब तक सहृदय समाज की वस्तु से ग्राह्य बनेगा, तब तक सामाजिकता के अनुरूप संस्कार के बिना सम्वाद किस तरह सम्पन्न होगा ? नया जीवन-प्रवाह अपेक्षाकृत विघटनात्मक है, संकीर्ण स्वार्थ की ओर झुकने के कारण वह व्यक्ति-केन्द्रित होता जा रहा है, सिर और धड़ में भी सम्वाद न होने से वह स्वयं में भी खण्डित होता जा रहा है। चारों तरफ टूटन नजर आ रही है। साहित्य में भी यही प्रतिफलित हो रहा है। यह टूटन क्रमागत सभी व्यवस्थाओं की है, चाहे वह समाज-गत हो या कलागत। यदि सामाजिकता ही औचित्य है, और है, तो उसकी कमी होती जा रही है और कलात्मक उपकरणों के लिए भी जो माँज-मँजाव है, अभ्यास के अभाव में उसकी भी कमी दृष्टिगत हो रही है। मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे' में कलागत औचित्य तो है, पर वस्तुगत औचित्य है क्या ? वह जीवन विधेय रूप से प्रस्तुत है ? नहीं तो निषेध्य या कम-से-कम विचारणीय रूप से ही ग्रहीत हो सकता है। आज हम जीवन और समाज की विकृतियों और विद्रूपताओं को ही देखने-दिखाने में ज्यादा लगे हैं। यद्यपि वह हमारे सामने एक समाधेय समस्या के रूप में ही चित्रित है। अप्रस्थानवालों की बात भिन्न है, उनसे उनका ही समाज नहीं चल सकता, पूरे समाज की तो बात ही भिन्न है। यह संक्रमणकाल है। मानव मानस वैचारिक वैविध्य से आक्रान्त है। मन्थन चल रहा है। विष का पहले आना स्वाभाविक है। वही विष या अनौचित्य साहित्य में भी लक्षित हो रहा है। अमृत-कलश के उदय की सम्भावना की पूर्वभूमि ही इसे समझें। किसी अमृतदर्शन के भी उदय की सम्भावना करनी चाहिए, जिससे वैचारिक अनेकता की धुन्ध समाप्त हो और पथ प्रशस्त बने।

सन्दर्भ

1. अज्ञात : परम्परा में प्रचलित सूक्ति
2. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी : औचित्य विमर्श, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, सं. 2021, पृ. 185
3. डॉ. राघवन : सम कांसेप्ट्स आफ अलंकार शास्त्र, (आड्यार, मद्रास) में संकलित 'हिस्ट्री आफ औचित्य इन संस्कृत पोयटिक्स' शीर्षक लेख, 1942
4. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी : औचित्य विमर्श, पृ. 185
5. वही, पृ. 186

खण्ड दो

काव्यशास्त्र के नये क्षितिज

ध्वनिसिद्धान्त में 'बिम्ब' और 'प्रतीक' की सम्भावना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने एक जगह कहा है—'बाह्य कारणों के सब विषय अन्तः-करण में 'चित्र रूप' से प्रतिबिम्बित हो सकते हैं। इसी प्रतिबिम्ब को हम दृश्य कहते हैं।'

यह तो स्पष्ट है कि 'प्रतिबिम्ब' या 'दृश्य' का ग्रहण 'अभिधा' द्वारा ही होता है, पर 'अभिधा' द्वारा ग्रहण एक ही प्रकार का नहीं होता। हमारे यहाँ आचार्यों ने संकेतग्रह के जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा चार विषय बताये, पर स्वयम् **संकेतग्रह के दो रूपों का विचार नहीं किया**। अभिधा द्वारा ग्रहण दो प्रकार का होता है—बिम्बग्रहण और 'अर्थग्रहण'। किसी ने कहा 'कमल'। अब, इस कमल पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिये हुए सफेद पंखुड़ियों और नाल आदि के सहित एक फूल का चित्र अन्तःकरण में थोड़ी देर के लिए उपस्थित हो जाय और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो, केवल पद का अर्थमात्र समझकर काम चलाया जाय। व्यवहार में तथा शास्त्रों में भी इसी दूसरे प्रकार के संकेतग्रह से काम चलता है। यहाँ एक पद के वाच्यार्थ पर अड़ते चलने की फुरसत नहीं रहती, पर काव्य के दृश्य चित्रण में संकेतग्रह पहले प्रकार का होता है। उसमें कवि का लक्ष्य बिम्बग्रहण कराने का रहता है, केवल अर्थग्रहण कराने का नहीं।

काव्यशास्त्रीय चिन्तन के यह सर्वथा अनुरूप है, पर विवादास्पद एक ही बात है और वह है—"पर संकेत ग्रह के दो रूपों का विचार नहीं किया।"[1] शुक्लजी का यह कहना तो संगत है कि संकेतग्रह की चर्चा के सन्दर्भ में बिम्बार्थ का विचार नहीं किया, पर यदि इसे बढ़ाकर कहा जाय कि काव्यशास्त्र में काव्यगत 'वाच्य' का व्यवहार तथा शास्त्रगत 'वाच्य' से व्यतिरेक दिखाते हुए कहीं भी 'बिम्बार्थ' का विचार नहीं किया तो यह सर्वथा गलत होगा। भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिम्बार्थ' का विचार विभिन्न आचार्यों ने कहीं भाविक के प्रसंग में तो कहीं 'स्वभावोक्ति' के प्रसंग में और सबसे स्पष्ट आनन्दवर्द्धन ने 'काव्य-गत' वाच्य का व्यतिरेक उसकी बिम्बात्मकता में दिखाया है।[2] इस सन्दर्भ में उनकी महत्वपूर्ण पंक्ति है—

"वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषा भेदेनैव प्रतीयते।"[3]

अर्थात् व्यवहार और शास्त्र की अपेक्षा काव्य में प्रतिभासमान 'वाच्य' कुछ विशेष होता है, वह सहृदय ग्राहक की प्रतिभा में प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण योग्य 'विशेषताओं' से युक्त होकर उभरता है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने इस 'विशेष' का आशय स्पष्ट करते हुए कहा है कि शब्द या पद की अभिधा चाहे जाति में हो, जातिविशिष्ट व्यक्ति में हो, अपोह या अतद्व्यावृत्ति में हो, जहाँ कहीं भी हो, अभिधालब्ध अर्थ के विषय में चाहे जो भी विवाद हो, परन्तु इस बिन्दु पर किसी का भी मतभेद नहीं है कि वाच्यार्थ सदा 'विशेष' ही होता है। यहाँ तक कि अभिधा की 'अन्वितार्थ' में स्थिति माननेवालों को भी यही मानना पड़ता है। अभिनवगुप्त की यह व्याख्या वाक्यार्थ को 'विशेष गर्भ' प्रतिपादित करती है, जबकि मूल ग्रन्थ में 'वाच्यार्थ' को 'विशेष गर्भ' होने की बात कही जा रही है। प्रसंग को देखते हुए मूल ग्रन्थ अशुद्ध नहीं लगता। प्रसंग है यह कि महाकवि कौन? उत्तर है जिसमें प्रतिभागुण हो। जिसमें प्रतिभा नामक गुण है, उसके लिए वर्ण्यविषय की कमी नहीं हो सकती। कहने के ढंग से तो वर्ण्यवस्तु भिन्न हो ही जाती है, व्यक्तिगत रूप से भी भिन्न होती है। यह कहना कि काव्य में, जो शब्दात्मक होता है, अर्थप्रत्यय शब्द से होगा और शब्द अपनी अभिधा-शक्ति से उसका 'सामान्य' रूप से बोध करा सकता है, व्यक्तिगत विशेषताओं से संवलित रूप में नहीं। वह तो प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही सम्भव है, अतः वर्ण्यवस्तु व्यक्तिगत रूप से भिन्न होकर भी काव्यार्थ-बोध के रूप में वैयक्तिक विशेषताओं से युक्त नहीं हो सकती। आनन्दवर्द्धन इसी आक्षेप का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वाचक शब्द 'व्यवहार' और 'शास्त्र' में भी प्रयुक्त होते हैं और 'काव्य' में भी, पर काव्यगत 'वाच्य' का व्यतिरेक या वैशिष्ट्य इस माने में है कि वह ग्राहक या कवि की प्रतिभा के समक्ष व्यक्तिगत विशेषताओं से संवलित होकर प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में सामने आता है।

सवाल फिर भी यह खड़ा होता है कि क्या इस रूप में उपस्थित अर्थ 'वाच्य' अर्थ है? क्या इस रूप में ग्राहक ने संकेतग्रह किया है? अभिधा अधिगतार्थ का ही स्मारक होती है—अनाधिगतार्थ का नहीं। काव्य के सन्दर्भ में आनन्दवर्द्धन सम्मत 'विशेष संवलित वाच्यार्थग्रह' (ग्राह्य विशेष गृहीत विशेष नहीं) से संवलित है जो निश्चय ही कहीं-न-कहीं 'अनधिगत' हो सकता है और 'अनधिगत विशेष' अभिधा का नहीं, व्यंजना का विषय है। पण्डितराज काव्यगत अर्थ का व्यतिरेक उसके 'रमणीय' होने में बताते हैं और 'रमणीयता' का उद्रेक प्रतीथमान के सम्पर्क से शून्य वाच्य अर्थ में हो नहीं सकता, यह प्रतिपादित करते हैं। उनका कहना है:

"न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनांगनामृष्ट प्रतीयमान एव स्वतः रमणीयतामाधातुं प्रभवति।"[4]

पण्डितराज ही नहीं, कुन्तकादि आचार्य भी काव्यगत वाचक और वाच्य का व्यतिरेक शास्त्र-व्यवहारगत वाच्य से प्रतिपादित करते हैं, पर आनन्दवर्द्धन के

उपर्युक्त रास्ते से नहीं, प्रतीयमानार्थ के संस्पर्श से। देखिए, कुन्तक कहते हैं—

शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पंदसुन्दरः ॥[5]

अर्थात् व्यवहार और शास्त्र में एक ही अर्थ के बोधक पर्यायवाची शब्दों की बहुलता होती है, पर काव्य में अभीष्ट अर्थ का बोधक 'सहृदयाह्लादकारिस्वस्पंद-सुन्दर' उनमें से कोई एक ही होता है। इसी प्रकार नरेन्द्रप्रभ सूरि का भी कहना है—

"अथ सामान्यतः शब्दस्यस्वरूप मुक्त्वा व्यतिरेकोक्ति पूर्व काव्यांग वैचित्र्य-मुपदिशति—

किन्त्वनेकार्थप्रवृतेषु शब्देष्वन्येषु सत्स्वपि।
अभीष्टार्थविधायी यःतस्य वैचित्र्यचारुता ॥

सन्त्येव तुल्यार्थाः भूयांसः शब्दाः। किं पुनस्तेषु मध्ये यस्य विवक्षिताऽर्था भिधायित्वं तस्यैव वैचित्र्य रामणीयकं— स एव काव्याय।"[6]

अर्थात् शास्त्र व्यवहार प्रयुक्त शब्दों का सामान्य स्वरूप बता देने के बाद काव्यगत शब्द का व्यतिरेक बताते हुए कहा गया, काव्योपयोगी शब्द वे ही होते हैं, जिनमें कुछ वैचित्र्य निमित्तकचारुता हो। पण्डितराज, कुन्तक तथा नरेन्द्रप्रभ सूरि—तीनों काव्यगत वाच्य का व्यतिरेक उसके 'चारु' या 'रमणीय' होने में मानते हैं और उसका निमित्त अनाधिगत प्रतीयमानार्थता का संस्पर्श मानते हैं। आनन्दवर्द्धन भी काव्यगत वाच्यार्थ को काव्योपयोगी 'व्यतिरेक' बताना चाहते हैं, परन्तु अननधिगत प्रतीयमानार्थ के संस्पर्श से नहीं, अपितु प्रत्यक्षग्राह्य व्यक्तिगत विशेषताओं के सम्बन्ध से, इसे वे 'सामान्य' वाच्यार्थ से 'विशेष' कहते हैं। महिम-भट्ट ने भी स्वभावोक्ति-गत वैचित्र्य का मर्म स्पष्ट करते हुए कहा है—

उच्चयते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विधते।
तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विकल्पैक गोचरः।
स एव सर्वशब्दानांविषयः परिकीर्तितः।
अतएवाभिधेयं ते सामान्यं बोधयनत्यलम्।
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्यगोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम् ॥

मतः—

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्मिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवैः ॥
सा हि चक्षुर्मेगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्कारोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥[7]

अभिप्राय यह कि वस्तु के दो रूप होते हैं—उसमें से एक होता है सामान्य। यही शब्दमात्र का अभिधेयार्थ कहा जाता है। इसका एक दूसरा रूप भी होता है जिसे 'विशेष' या 'विशिष्ट' कहा जाता है। वह प्रत्यक्ष का विषय होता है। यही

सत्कवियों की वाणी का विषय बनता है। सवाल यह है कि जो सत्कवियों की वाणी का विषय बनता है, वह प्रत्यक्षगोचर अर्थ कैसे हो सकता है? उनका उत्तर है कि रसाविष्टचेता कवि की प्रतिभा का अर्थ है— वस्तु के प्रत्यक्षग्राह्य स्वरूप का स्पर्श करनेवाली प्रतिभा। इसे ही शम्भु का तीसरा नेत्र कहा गया है। प्रतिभारूपी इस तीसरी आँख से कवि त्रिलोकवर्ती भावों का साक्षात्कार कर लेता है। कारयित्री की भाँति भावयित्री की भी यही विशेषता है। प्रत्यक्षग्राह्य विशेषताओं से संवलित वर्ण्यवस्तु काव्यीय वस्तु है, काव्यीय वाच्य अर्थ है।

इस समस्त विवेचन से निष्कर्ष यह निकला कि शास्त्र एवम् व्यवहारगत 'वाच्य' अर्थ की अपेक्षा काव्यगत 'वाच्य' अर्थ कुछ और होता है। रमणीय चारु, आकर्षक अथवा सुन्दर होता है। इस चारुता का निमित्त है—'विशेष' का संस्पर्श। यह 'विशेष' वर्ण्यवस्तु में बाहर से भी आकर जुड़ता है और भीतर से उभरकर भी। कुन्तक तथा नरेन्द्रप्रभ सूरि बाहर से आकर जुड़नेवाले 'विशेष' की चर्चा करते हैं, पण्डितराज उसी का समर्थन करते हैं, आनन्दवर्द्धन तथा महिमभट्ट स्वगत (प्रत्यक्ष ग्राह्य) विशेष का भी उल्लेख करते हैं। बिम्बवादी पश्चिमी आचार्य और शुक्लजी इसी अर्थ को (बिम्बग्रहण) बिम्बार्थात्मक वाच्य अर्थ कहते हैं, इसलिए यह कहना कि भारतीय आचार्यों का ध्यान इस तरफ नहीं गया— ठीक नहीं।

हाँ, यह अवश्य विचारणीय है कि कारयित्री की तरह भावयित्री प्रतिभा का ग्राह्य वाच्य अर्थ जिस चारुताधायक 'विशेष' को लेकर भासमान होता है, वह संकेतित है या असंकेतित। यदि संकेतित है, तभी 'वाच्य' हो सकता है और इस रूप में क्षुण्ण होने से नवता नहीं है और 'नवता' नहीं, तो तन्निमित्तक चारुता भी सम्भव नहीं, रमणीय बिम्ब भी नहीं। दूसरा पक्ष लिया जाय कि वह 'असंकेतित' है तो 'वाच्य' नहीं होगा। संकेतित 'विशेष' गर्भ है तो 'नवता' नहीं, असंकेतित है तो वाच्यार्थ नहीं। लगता है कि आनन्दवर्द्धन 'असंकेतित' वाले पक्ष के ही हैं—इसीलिए 'ग्राह्य-विशेषभेदेन' कहा, 'गृहीत विशेषभेदेन' नहीं। ग्राह्य असंकेतित है, अतः उस 'ग्राह्य-विशेष' में नवता होने के कारण चारुता भी है। सवाल केवल उसकी 'वाच्यता' का शेष रह जाता है। इस पक्ष से यह कहा जा सकता है कि वे असंकेतित विशेष, भले संकेतित न हों, पर संकेतित जातीय होते हैं, इसीलिए व्यक्तिगत रूप में चाहे अनधिगत हो पर सामान्य या जाति रूप से अधिगत हैं, फलतः काव्यगतवाच्य में उसका समावेश हो सकता है और शास्त्र तथा व्यवहार की अपेक्षा काव्यगतवाच्य का व्यतिरेक उसके 'बिम्बात्मक' होने का है जिसमें वस्तुगत विशेष का संकलन रहता है। कल्पना सहकृत अभिधा उस बिम्बार्थ का बोध करा सकती है।

इससे यह भी स्पष्ट है कि ध्वनिसिद्धान्त के अन्तर्गत 'बिम्ब' और 'प्रतीक' तत्वों की सम्भावना निहित है। इसीलिए द्वन्द्व समासघटक[8] 'वाच्य' तथा 'प्रतीयमान' समान रूप में सहृदय वाच्य हो पाते हैं। इसलिए ''निमीलिताक्षीवभियामरावती'' को दृष्टिभेद से उत्तम भी कहा जा सकता है।

सन्दर्भ

1. चिन्तामणि, भाग-2, 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' से उद्धृत
2. सटीकलोचनोपेत ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत, पृ. 543
3. वही, पृ. 543
4. पण्डितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर, प्रथमं आनन, पृ. 23
5. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित, प्रथम उन्मेष, पृ. 14
6. नरेन्द्रप्रभ सूरि : अलंकार महोदधि, पृ. 16
7. महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक, पृ. 290-91
8. ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत—
   योऽर्थः सहृदयश्लाघ्य : वाच्य प्रतीयमानाख्यौ तस्यभेदावुभौस्मृतौ ।

बिम्बात्मक प्रतिमान और संस्कृत काव्यशास्त्र

व्यवहार में ही नहीं, 'दर्शन' और 'विज्ञान' में भी प्रयुक्त शब्द परोक्षरूप में अर्थात् सामान्य रूप में अर्थग्रहण मात्र कराते हैं। व्यवहार में सामान्य रूप से अर्थबोध काम चला देता है और दर्शन तथा विज्ञान में चिन्तन धारा के पकड़ने में सहायक हो जाता है। काव्य द्वारा कवि अनुभूत सत्य को प्रतिभा या कल्पना के सहारे पाठक तक सम्प्रेषित करना चाहता है और इस तरह सम्प्रेषित करना चाहता है कि वह 'प्रभावित' हो। प्रभावित करने में आकर्षण व्यापार अपेक्षित है, अनाकर्षण या विकर्षण नहीं। यह 'प्रभाव' या 'आकर्षण' ग्राह्य और सर्जक के 'संवाद' पर निर्भर है। यह 'संवाद' ज्ञात का ही ज्ञान है, पहचान है, इसीलिए अभिनवगुप्त ने रसात्मक प्रभाव को अनुव्यवसायात्मक कहा है–'नाट्यं भावानुकीर्त्तनाम्–अनुकीर्तनम्–अनुव्यवसाय:'। एक का दूसरे से 'संवाद' सामाजिक रूप में ही सम्भव है, वैयक्तिक रूप में नहीं, इसीलिए काव्य सामाजिक होता है, फलत: उसकी सामग्री सामाजिकता या औचित्य से संवलित होनी चाहिए। इसीलिए आस्वाद या प्रभाव ग्रहण में बाधक वैयक्तिकता का विगलन आवश्यक माना जाता है। निष्कर्ष यह कि काव्य की चरितार्थता चित्त को प्रभावित करने में है—आकृष्ट करने में, सौन्दर्यमान करने में है—रसोद्रेक में है। काव्य में सर्जक का लक्ष्य चूंकि सौन्दर्योद्रेक अथवा रसोद्रेक है, अत: शब्द से सामान्य रूप में होनेवाला अर्थग्रह निष्प्रयोजन होगा। **पाश्चात्यालोचन** में इसे चित्रकला के समकक्ष रखा जाता है और 'बिम्बग्रह' (Image) के नाम से बोधित किया जाता है। कहा जाता है कि काव्यभाषा चित्रभाषा है –उससे जो अर्थ प्रातिभपटल पर उभरे, वह 'सामान्य' नहीं, 'विशेष' रूप हो, 'बिम्बात्मक' हो, 'असाधारण' हो। 'क्रोचे' का साक्ष्य देते हुए कहा जाता है कि उसने मन या चेतना के दो व्यापार माने हैं, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। व्यावहारिक क्रिया इच्छाधीन है, अत: सप्रयोजन है और सैद्धान्तिक इच्छानधीन, अत: प्रयोजनातीत। प्रयोजनातीत सैद्धान्तिक ज्ञानात्मक व्यापार द्विविध है—स्वत: स्फूर्त स्वयम्प्रकाश्य तथा तर्काश्रित। पहला कल्पना से सम्बद्ध है और दूसरा बुद्धि से। पहले का विषय 'विशेष' है और दूसरे का 'सामान्य'। स्पिरिट जब इण्ट्यूट करती है तो उसका मतलब होता है—कल्पना में सौन्दर्योद्रेकी बिम्बात्मक रूपों का ढलना, अभिव्यक्त होना। 'एज़रापाउण्ड' ने तो

काव्य में बिम्बवाद की स्थापना ही कर दी। यह 'बिम्ब' काव्य का प्रतिमान बन गया। इसी के आधार पर कवित्व के उत्कर्ष की घोषणा की जाने लगी।

चिन्तन की इसी भूमिका पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा कि काव्य में अर्थ-ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, वहाँ बिम्बग्रहण होना चाहिए। जहाँ शुक्लजी ने एक तरफ यह कहा, वहीं उन्होंने दूसरी तरफ यह भी कहा कि संस्कृत के आचार्यों ने अर्थग्रहण–जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा के रूप में की चर्चा तो की, परन्तु 'बिम्ब' ग्रहण की चर्चा कहीं नहीं की। यहाँ शुक्लजी के इसी परवर्ती वक्तव्य को रेखांकित करना चाहता हूँ और अपने निबन्ध का केन्द्र बनाना चाहता हूँ।

भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग दृष्टान्त अलंकार के सन्दर्भ में अवश्य है, पर वह उक्त आशय को गर्भीकृत नहीं करता। यहाँ 'बिम्ब' शब्द का अर्थ है, कारयित्री अथवा भावयित्री प्रतिभापटल पर 'अर्थ' का अपने 'विशेषों' से संवलित होकर प्रत्यक्षायमाण रूप में उभर आना। निःसन्देह आधुनिक आलोचना में उक्त आशय का बोध करानेवाला शब्द 'बिम्ब', 'इमेज' के रूप में ही गृहीत हुआ है, लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना कि भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिम्ब' शब्द तो है ही नहीं, उसका आशय भी नहीं है, वह वस्तु भी नहीं है—चिन्त्य है। जैसा कि ऊपर कहा गया है सर्जन और ग्रहण दोनों ही स्तरों पर सौन्दर्यानुभूति के अनुरूप 'सामान्य' या 'साधारण' अर्थमात्र से नहीं, अपितु 'असाधारण', 'विशेष' या बिम्ब रूप अर्थ से ही लक्ष्यसिद्धि होती है, फलतः भारतीय काव्यशास्त्रियों की दृष्टि भी उस ओर गयी है। हाँ, यह सन्दर्भ शब्दार्थविचार का नहीं, काव्य रचनाप्रक्रिया का है। काव्य रचनाप्रक्रिया के सूत्र-संकेत 'प्रतिभा' की परिभाषाओं में भी मिलते हैं और मिलते हैं अन्यत्र काव्योपयोगी अर्थविधान के प्रसंग में। इस प्रसंग में मैं कुन्तक, आनन्दवर्द्धन तथा महिमभट्ट का उल्लेख करना चाहूँगा।

भारतीय काव्यशास्त्र ही नहीं, सभी स्वीकार करते हैं कि रचना में 'नयापन' (नवता) उसकी अनिवार्य अर्थात् स्वरूपाधायक विशेषता है, आगन्तुक नहीं। इस 'नयेपन' की ओर संकेत करते हुए 'प्रतिभा' की परिभाषा दी गयी—'अपूर्ववस्तु-निर्माणक्षमा प्रज्ञा प्रतिभा' काव्य रचनाप्रक्रिया में अनुभूत सत्य (सर्जनात्मक) की अभिव्यक्ति के लिए जो 'रूप' या 'अर्थ' उभरते हैं, वे अपूर्व अर्थात् नये होते हैं, सर्जक के लिए भी और ग्राहक के लिए भी। इस अपूर्वता की व्याख्या तीनों आचार्यों ने इस तरह की है जो 'बिम्ब' शब्दार्थ पर्यवसायी है।

कालक्रम से सर्वप्रथम आनन्दवर्द्धन आते हैं। इन्होंने कहा है—'नचतदस्ति वस्तु किंचित् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति, तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात्। परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते' अर्थात् काव्य वस्तु-शून्य हो नहीं सकता और वस्तु कोई ऐसी होती नहीं जो कवि-प्रतिभा-प्रसूत होकर किसी-न-किसी प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न न करे। ऐसी वस्तु कवि-व्यापार का विषय ही क्यों होगी जो चित्तवृत्ति को आन्दोलित न करे। ऐसे-वैसे कवि की बात तो आनन्दवर्द्धन नहीं करते, पर परिपक्व कवियों के विषय में उनकी

धारणा है कि उनका प्रातिभ प्रयास चित्तवृत्ति को आन्दोलित करने का ही होता है और यह उद्देश्य 'बिम्ब' ग्रहण द्वारा ही सम्भव है, वर्ण्य में अपूर्वता की सृष्टि से ही सम्भव है। इस अपूर्वता या नवता की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है--'वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद् रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषभेदेनैव प्रतीयते', अर्थात् वाच्य अर्थ काव्य में सामान्य रूप से प्रतिभासित नहीं होता, प्रत्युत 'विशेष' से युक्त होकर। यह 'विशेष' जिससे संवलित होकर वाच्यार्थ प्रतिभासित होता है--स्रष्टा कवि का तात्पर्यगोचर अर्थ होता है। यह विशेष अवस्था, देश, काल, स्वालक्षण्यकृत भी हो सकता है जो वस्तु के स्वभाव को प्रत्यक्षायमाण कर देता है। इसीलिए आनन्दवर्द्धन ने कहा---'स्वभावोत्तयाऽपि तावदुपनिवध्यमानेनिरवधिः काव्यार्थः सम्पद्यते' अर्थात् काव्य में शब्द से वाच्य रूप में जो अर्थ प्राप्त होता है, वह अर्थमात्र नहीं होता, प्रत्युत प्रत्यक्षगृहीत विशेष या ग्राह्य विशेष से वह मण्डित होता है।

कुन्तक ने भी इसी तथ्य का अनावरण अन्यथा किया है। उन्होंने भी कहा है कि सर्जक स्वानुभूत सत्य की अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में लेता उन्हीं अर्थों को है—जो सर्वसाधारण द्वारा दृष्ट तथा अनुभूत है, पर वह वर्ण्यवस्तु की सौन्दर्योद्रेकी 'असाधारणता का प्रतिभान करता है और उरेहता भी है, तदनुरूप काव्योचित वक्र शब्द' का प्रयोग करता है। वह मानता है कि यह सौन्दर्योद्रेकी 'असाधारणता' है वर्ण्यवस्तु के स्वभाव में निहित—परिस्पन्दात्मक स्वभाव में ही, कवि केवल प्रतिभा के सहकारवश अपनी वाणी की करामात से उसे सँवारकर ऊपर ला देता है—

'लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्वं गिरा कृष्यते'

इसी प्रकार महिमभट्ट ने भी इस क्रमागत आशय को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने कहा है—

उच्चयते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विधते।
तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विकल्पैक गोचरः॥
स एव सर्वशब्दानांविषयः परिकीर्तितः।
अतएवाभिधेयं ते सामान्यं बोधयनत्यलम्॥
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्यगोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्॥
रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्मिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवैः।
सा हि चक्षुर्मेगवतस्तृतीयमिति गीयते॥
येन साक्षात्कारोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः।
यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्थाः प्रतिमार्पिताः॥[1]

वास्तव में वस्तु के दो रूप होते हैं, एक सामान्य और दूसरा विशिष्ट विशेष-गर्भ। विकल्पगोचर सामान्य अर्थ ही शब्द का वाच्य-अर्थ होता है। इसलिए शब्द मात्र से जो अर्थ प्रतीत होता है वह 'सामान्य' रूप ही होता है। इसका जो विशिष्ट

रूप होता है, वह प्रयत्क्ष का विषय होता है। महिम का पक्ष है कि प्रतिभा-प्रसूत कवि की वाणी सामान्य वाणी से कुछ और ही होती है, क्योंकि उसे 'कुछ और' ही का बोध कराना अभीष्ट होता है। बात यह है कि सर्जनात्मक रसमय अनुभूति की चिन्ता में निमग्न कवि की प्रतिभा उस क्षण में इसी 'विशिष्ट' रूप का स्पर्श करती है। यही प्रतिभा भगवान् शंकर का तीसरा नेत्र है, जिससे कवि त्रिलोकवर्ती भावों का साक्षात्कार कर लेता है। महिम ने तत्वोक्तिकोश में प्रतिभा के इस रूप को बड़े विस्तार से निरूपित किया है। इस प्रतिभाप्रसूवाणी से जो अर्थ प्रतीत होते हैं, लगता है जैसे ग्राहक उनका प्रत्यक्ष ही कर रहा हो। अर्थ की यह प्रत्यक्षायमाणता उसकी बिम्बरूपता है। प्रतिभा में प्रत्यक्ष की तरह उभर आना उसका बिम्बात्मक रूप ही है।

निष्कर्ष यह कि मैं 'बिम्बार्थ' के सम्बन्ध में शुक्लजी की यह घोषणा कि संस्कृत-काव्यशास्त्र में इसकी कहीं कोई चर्चा नहीं—चिन्त्य मानता हूँ। काव्य में चाहे सर्जन पक्ष हो या ग्रहण, उभयत्र अर्थ को 'सौन्दर्योद्रेकी' होना चाहिए और ऐसा होने के लिए उसे प्रत्यक्षायमाण होना चाहिए।

सन्दर्भ

1. व्यक्तिविवेक : द्वितीय विमर्श, पृ. 290/91

बिम्ब, प्रतीक और मिथक–भारतीय चिन्तन के आलोक में

ये शब्द प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के लिए अपरिचित रहे हैं, परन्तु वर्तमान काव्य-चिन्तन समानान्तर प्रवहमान रचनात्मक साहित्य को केन्द्र में रखकर इन सौन्दर्य-स्रोतों पर भी विचार करने लग गया है। आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य में 'अर्थग्रहण' नहीं, 'बिम्बग्रहण' उपयोगी होता है, इस स्थापना के साथ यह भी कहा है कि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्यों ने 'बिम्ब' की चर्चा कहीं नहीं की। इसी प्रकार अंग्रेजी समीक्षा के मर्मज्ञ डॉ. रामअवध द्विवेदी ने भी अपने 'साहित्य रूप' में प्रतीक की विवेचना करते हुए यह कहा है कि प्राचीन काव्यशास्त्र (भारतीय) में 'प्रतीक' का विवेचन भारतीय आचार्यों ने नहीं किया है। यों वे स्वीकार करते हैं कि 'प्रतीक' की महत्ता उसके वैयंजनिक सामर्थ्य में है और ध्वनि-सिद्धान्त काव्योचित शब्द की अपरिमेय **व्यंजन-क्षमता** का प्रतिपादन करता है। इसी प्रकार 'मिथक' की भी स्थिति मानी जाती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'बिम्ब', 'प्रतीक' तथा 'मिथक' का भारतीय काव्य-शास्त्र (संस्कृत) में शब्दशः कहीं विवेचन नहीं है, परन्तु उन शब्दों का आशय और उन आशयों का सौन्दर्य-स्रोत के रूप में कहीं कोई संकेत भी नहीं है—यह मानना कठिन है। 'बिम्ब' के विषय में स्पष्ट ही आनन्दवर्द्धन, कुन्तक तथा महिम ने विचार-सूत्र दिये हैं। 'प्रतीक' का सारसर्वस्व है, उसकी अपरिमेय व्यंजन-क्षमता। पण्डितराज जगन्नाथ तथा ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन में से पहला 'व्यंजना' या 'व्यक्ति' को 'भग्नावरणाचित्' अपरिमेय आत्मतत्व ही मानता है और दूसरा उसी व्यक्ति या 'व्यंजना' सामर्थ्य का काव्य में सर्वातिशायी स्थापन करता है। हाँ, पुराण-कथा या पुरावृत्तों को आस्था और विश्वास के कारण चूंकि रचनाकारों ने यथावत् पकड़कर प्रयोग किया है, अतः आचार्यों ने उसे काव्यदृष्टि से उपादेय समझकर छोड़ दिया है।

बिम्ब

व्यवहार में ही नहीं, 'दर्शन' और 'विज्ञान' में भी प्रयुक्त शब्द परोक्ष रूप में अर्थात् सामान्यरूप में अर्थग्रहण मात्र कराते हैं। व्यवहार में सामान्यरूप से अर्थ-

बोध काम चला देता है और दर्शन तथा विज्ञान में चिन्तन धारा के पकड़ने में सहायक हो जाता है। काव्य द्वारा कवि अनुभूत सत्य को प्रतिभा या कल्पना के सहारे पाठक तक सम्प्रेषित करना चाहता है और इस तरह सम्प्रेषित करना चाहता है कि वह 'प्रभावित' हो। प्रभावित करने में आकर्षण व्यापार अपेक्षित है, अनाकर्षण या विकर्षण नहीं। यह 'प्रभाव' या 'आकर्षण' ग्राह्य और सर्जक के 'संवाद' पर निर्भर है। यह 'संवाद' ज्ञात का ही ज्ञान है, पहचान है, इसीलिए अभिनवगुप्त ने रसात्मक प्रभाव को अनुव्यवसायात्मक कहा है—'नाट्यं भावानुकीर्त्तनाम्—अनुकीर्तनम्—अनुव्यवसायः।' एक का दूसरे से 'संवाद' सामाजिक रूप में ही संभव है, वैयक्तिक रूप में नहीं, इसीलिए काव्य सामाजिक होता है, फलतः उसकी सामग्री सामाजिकता या औचित्य से सम्मिलित होनी चाहिए। इसीलिए आस्वाद या प्रभाव ग्रहण में बाधक वैयक्तिकता का विगलन आवश्यक माना जाता है। निष्कर्ष यह कि काव्य की चरितार्थता चित्त को प्रभावित करने में है—आकृष्ट करने में, सौन्दर्यमग्न करने में है, रसोद्रेक में है। काव्य के सर्जक का लक्ष्य चूँकि सौन्दर्योद्रेक अथवा रसोद्रेक है, अतः शब्द से सामान्य रूप में होनेवाला अर्थग्रहण निष्प्रयोजन होगा। पाश्चात्यालोचन में इसे चित्रकला के समकक्ष रखा जाता है—और 'बिम्बग्रह' (पोर्ट्रेट) के नाम से बोधित किया जाता है। कहा जाता है कि काव्यभाषा चित्रभाषा है, उससे जो अर्थ प्रातिभपटल पर उभरे, वह 'सामान्य' नहीं, 'विशेष' रूप हो, 'बिम्बात्मक' हो, 'असाधारण' हो। क्रोचे का साक्ष्य देते हुए कहा जाता है कि उसने मन या चेतना के दो व्यापार माने हैं–सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। व्यावहारिक क्रिया इच्छाधीन है, अतः सप्रयोजन है और सैद्धान्तिक इच्छानधीन, अतः प्रयोजनातीत। प्रयोजनतीत सैद्धान्तिक ज्ञानात्मक व्यापार द्विविध है—स्वतः स्फूर्त स्वयंप्रकाश तथा तर्काश्रित। पहला कल्पना से सम्बद्ध है और दूसरा बुद्धि से। पहले का विषय 'विशेष' है और दूसरे का 'सामान्य'। स्पिरिट जब इण्ट्यूट करती है तो उसका मतलब होता है—कल्पना में सौन्दर्योद्रेकी बिम्बात्मक रूपों का ढलना, अभिव्यक्त होना। एज़रापाउण्ड ने तो काव्य में बिम्बवाद की स्थापना ही कर दी। यह 'बिम्ब' काव्य का प्रतिमान बन गया। इसी के आधार पर कवित्व के उत्कर्ष की घोषणा की जाने लगी।

चिन्तन की इसी भूमिका पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा कि काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, वहाँ बिम्बग्रहण होना चाहिए। जहाँ शुक्लजी ने एक तरफ यह कहा, वहीं उन्होंने दूसरी तरफ यह भी कहा कि संस्कृत के आचार्यों ने अर्थग्रहण—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा के रूप में की चर्चा तो की, परन्तु 'बिम्ब' ग्रहण की चर्चा कहीं नहीं की। यहाँ शुक्लजी के इसी परवर्ती वक्तव्य को रेखांकित करना चाहता हूँ और अपने निबन्ध का केन्द्र बनाना चाहता हूँ।

भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग दृष्टान्त अलंकार के सन्दर्भ में अवश्य है, पर वह उक्त आशय को गर्भीकृत नहीं करता। यहाँ 'बिम्ब' शब्द का अर्थ है—कारयित्री अथवा भावयित्री प्रतिभापटल पर 'अर्थ' का अपने 'विशेषों' से

संवलित होकर प्रत्यक्षायमाण रूप में उभर आना। निःसन्देह आधुनिक आलोचना में उक्त आशय का बोध करानेवाला शब्द 'बिम्ब' (Image) के रूपान्तर रूप में ही गृहीत हुआ है, लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना कि भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिम्ब' शब्द तो है ही नहीं, उसका आशय भी नहीं है, वह वस्तु भी नहीं है—ठीक नहीं। जैसाकि ऊपर कहा गया है, सर्जन और ग्रहण दोनों ही स्तरों पर सौन्दर्यानुभूति के अनुरूप 'सामान्य' या 'साधारण' अर्थमात्र से नहीं, अपितु 'असाधारण', 'विशेष' या 'बिम्ब' रूप अर्थ से ही लक्ष्य-सिद्धि होती है—फलतः भारतीय काव्य-शास्त्रियों की दृष्टि भी उस ओर गयी है। हाँ, यह सन्दर्भ शब्दार्थविचार का नहीं, काव्य रचनाप्रक्रिया का है। काव्य रचनाप्रक्रिया के सूत्र-संकेत 'प्रतिभा' की परिभाषाओं में भी मिलते हैं और मिलते हैं अन्यत्र काव्योपयोगी अर्थ-विधान के प्रसंग में। इस प्रसंग में कुन्तक, आनन्दवर्द्धन तथा महिमभट्ट का उल्लेख करना चाहूँगा।

भारतीय काव्यशास्त्री ही नहीं, सभी स्वीकार करते हैं कि रचना में 'नयापन' (नवता) उसकी अनिवार्य अर्थात् स्वरूपाधायक विशेषता है, आगन्तुक नहीं। इस 'नयेपन' की ओर संकेत करते हुए 'प्रतिभा' की परिभाषा दी गयी—'अपूर्ववस्तु-निर्माणक्षम प्रज्ञा प्रतिभा' काव्य रचनाप्रक्रिया में अनुभूत सत्य (सर्जनात्मक) की अभिव्यक्ति के लिए जो 'रूप' या 'अर्थ' उभरते हैं—वे अपूर्व अर्थात् नये होते हैं—सर्जक के लिए भी और ग्राहक के लिए भी। इस अपूर्वता की व्याख्या तीनों आचार्यों ने इस तरह की है जो 'बिम्ब' शब्दार्थपर्यवसायी है।

कालक्रम से सर्वप्रथम आनन्दवर्द्धन आते हैं। इन्होंने कहा है—'नचतदस्ति वस्तु किंचित् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति, तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात्। परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते', अर्थात् काव्य वस्तु-शून्य हो नहीं सकता और वस्तु कोई ऐसी होती नहीं जो कवि-प्रतिभा-प्रसूत होकर किसी-न-किसी प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न न करे। ऐसी वस्तु कवि-व्यापार का विषय ही क्यों होगी जो चित्तवृत्ति को आन्दोलित न करे। ऐसे-वैसे कवि की बात तो आनन्दवर्द्धन नहीं करते, पर परिपक्व कवियों के विषय में उनकी धारणा है कि उनका प्रातिभ प्रयास चित्तवृत्ति को आन्दोलित करने का ही होता है और यह उद्देश्य 'बिम्ब' ग्रहण द्वारा ही सम्भव है—वर्ण्य में अपूर्वता की सृष्टि से ही सम्भव है। इस अपूर्वता या नवता की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है—'वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासभानानां यद् रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनेव प्रतीयते', अर्थात् वाच्य अर्थ काव्य में सामान्य रूप से प्रतिभासित नहीं होता, प्रत्युत 'विशेष' से युक्त होकर। यह 'विशेष' जिससे संवलित होकर वाच्यार्थ प्रतिभासित होता है, स्रष्टा कवि का तात्पर्यगोचर अर्थ होता है। यह विशेष अवस्था, देश, काल, स्वालक्षण्यकृत भी हो सकता है, जो वस्तु के स्वभाव को प्रत्यक्षायमाण कर देता है। इसीलिए आनन्दवर्द्धन ने कहा, 'स्वभावोक्त्याऽपि तावदुपनिवध्यमानेनिरवधिः काव्यार्थः सम्पद्यते' अर्थात् काव्य में शब्द से वाच्य रूप में जो अर्थ प्राप्त होता है, वह अर्थमात्र

नहीं होता, प्रत्युत प्रत्यक्षगृहीत विशेष या ग्राह्य विशेष से वह मण्डित होता है।

कुन्तक ने भी इसी तथ्य का अनावरण अन्यथा किया है। उन्होंने भी कहा है कि सर्जक स्वानुभूत सत्य की अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में लेता उन्हीं अर्थों को है—जो सर्वसाधारण द्वारा दृष्ट तथा अनुभूत हैं, पर वह वर्ण्यवस्तु की सौन्दर्योद्रेकी 'असाधारणता का प्रतिभान करता है और उरेहता भी है—तदनुरूप काव्योचित वक्र शब्द' का प्रयोग करता है। वह मानता है कि यह सौन्दर्योद्रेकी 'असाधारणता' है वर्ण्यवस्तु के स्वभाव में निहित—परिस्पन्दात्मक स्वभाव में ही, कवि केवल प्रातभा के सहकारवश अपनी वाणी की करामात से उसे सँवारकर ऊपर ला देता है—

'लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्वं गिरा कृष्यते'

इसी प्रकार महिमभट्ट ने भी इस क्रमागत आशय को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने कहा है—

उच्चयते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विधते।
तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः।
स एव सर्वशब्दानांविषयः परिकीर्तितः।
अतएवाभिधेयं ते सामान्यं बोधयनत्यलम्।
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्यगोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्।
रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्मिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्वर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवैः।
सा हि चक्षुर्मेवतस्तृतीयमिति गीयते॥
येन साक्षात्कारोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः।
यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्थाः प्रतिमार्पिताः॥

वास्तव में वस्तु के दो रूप होते हैं—एक सामान्य और दूसरा विशिष्ट विशेष गर्भ। विकल्पगोचर सामान्य अर्थ ही शब्द का वाच्य अर्थ होता है। इसलिए शब्द मात्र से जो अर्थ प्रतीत होता है वह 'सामान्य' रूप ही होता है। इसका जो विशिष्ट रूप होता है, वह प्रत्यक्ष का विषय होता है। महिम का पक्ष है कि प्रतिभाप्रसूत कवि की वाणी सामान्य वाणी से कुछ और ही होती है, क्योंकि उसे 'कुछ और' ही का बोध कराना अभीष्ट होता है। बात यह है कि सर्जनात्मक रसमय अनुभूति की चिन्ता में निमग्न कवि की प्रतिभा उस क्षण में इसी 'विशिष्ट' रूप का स्पर्श करती है। यही प्रतिभा भगवान् शंकर का तीसरा नेत्र है, जिससे कवि त्रिलोकवर्ती भावों का साक्षात्कार कर लेता है। महिम ने तत्वोक्तिकोश में प्रतिभा के इस रूप को बड़े विस्तार से निरूपित किया है। इस प्रतिभाप्रसूवाणी से जो अर्थ प्रतीत होते हैं —लगता है जैसे ग्राहक उनका प्रत्यक्ष ही कर रहा हो। अर्थ की यह प्रत्यक्षायमाणता उसकी बिम्बरूपता है। प्रतिभा में प्रत्यक्ष की तरह उभर आना उसका बिम्बात्मक रूप ही है।

निष्कर्ष यह कि मैं 'बिम्बार्थ' के सम्बन्ध में शुक्लजी की यह घोषणा कि संस्कृत काव्यशास्त्र में इसकी कहीं कोई चर्चा नहीं—चिन्त्य मानता हूँ। काव्य में चाहे सर्जन पक्ष हो या ग्रहण, उभयत्र अर्थ को 'सौन्दर्योद्रेकी' होना चाहिए और ऐसा होने के लिए उसे प्रत्यक्षायमाण होना चाहिए।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने 'बिम्ब' का आशय भी कहीं व्यक्त नहीं किया, शुक्लजी के इस आशय पर विचार कर लेने के बाद 'बिम्ब' से सम्बद्ध विचारकों के दो अतिवादी छोर आते हैं—एक कहता है कि 'बिम्ब' शब्द के प्रयोग की परिधि अपरिमेय है—फलतः उसे परिभाषित करना, उसकी प्रत्यभिज्ञापक रेखाओं को शब्दों में बाँध देना असम्भव है। अतः वे लोग 'बिम्ब' का ऐसा सर्वग्रासी रूप प्रस्तुत करते हैं कि उनकी सुन लेने पर यह कहना कठिन है कि बिम्ब क्या है और क्या नहीं है।

'बिम्ब' पर विचार करनेवाले सन्तुलित साहित्यिक चिन्तक भी हैं और 'बिम्बवादी' भी। निस्सन्देह सन्तुलित की अपेक्षावादी की दृष्टि अपने पक्ष से आग्रही कोटि तक इंगित रहती है। 'बिम्ब' विवेचक और 'बिम्बवादी' विवेचक दोनों ही एक बात में समान हैं कि काव्य में ताजे और मूर्त्त बिम्बों का विधान होना चाहिए। बिम्बवादी अमूर्त्त शब्दों का अपने घोषणापत्र में पूर्ण बहिष्कार करता है, पर दोनों ही काव्य की मूर्तिमत्ता पर जोर देते हैं और अमूर्त तथा सामान्य की अपेक्षा प्रत्यक्षग्राह्य व्यक्तिगत विशेषताओं से संवलित प्रत्यक्षायमाण अर्थविधान पर बल देते हैं। पर आज की समीक्षा में बिम्ब एक अधिक जटिल और सूक्ष्म शब्द बन गया है। आज इसे इतनी दूर तक घसीटा जा रहा है कि 'बिम्ब' विवेचकों और 'बिम्बवादियों' ने 'बिम्ब' की जो पहचान बनायी थी, वह मिट-सी गयी है। यहाँ वैचारिक बिम्ब भी होते हैं। इनकी ओर से यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक शब्द द्वारा अर्थबोध का अर्थ है, मन पर पूर्वानुभवजन्य छाप या संस्कार का उभर आना। यह उभार सामान्य भी हो सकता है और प्रभावग्रहण के सन्दर्भ में विशेष भी; परोक्ष भी और प्रत्यक्षायमाण भी, प्रत्यक्षगृहीत व्यक्तिगत विशेषताओं से संवलित भी और असंवलित भी। अर्थात् जब सम्भावना दोनों की है, और उसमें से एक 'बिम्ब' का स्वरूप घटक है, तो उसे विनियमक के अभाव में तर्क के स्तर पर कहाँ निषिद्ध किया जाय और कहाँ विहित ? दूसरी ओर यह भी कहा जा रहा है कि बिम्ब को अलग-अलग पिण्डों में न देखकर सम्पूर्ण कविता को एक घनीभूत बिम्ब के रूप में देखना चाहिए। डा. नगेन्द्र ने ठीक कहा है, "पश्चिम की भाषाओं के आलोचनाशास्त्र में काव्यबिम्ब का अत्यन्त सूक्ष्म, विस्तृत एवं वैविध्यपूर्ण विवेचन हुआ है। केवल अंग्रेजी में ही अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनमें काव्यबिम्ब के अन्तरंग और बहिरंग रूपों के सूक्ष्म और सर्वांग विवेचन का प्रयत्न किया गया है, परन्तु दुर्भाग्य से बिम्ब के स्वरूप विश्लेषण में इतने विविध दृष्टिकोण और प्रविधि भेद उलझ गये हैं, उस पर अलंकारशास्त्र के अतिरिक्त, मनोविज्ञान, नृतत्वशास्त्र, पुराणविद्या, समाज विज्ञान आदि इतने अधिक अनुशासनों का आक्रमण हुआ है और उसका स्वरूप इतना अस्थिर, जटिल, व्यापक एवं अमूर्त बन गया है कि बिम्ब का स्पष्ट बिम्ब—इमेज

की सही इमेज—जिज्ञासु के मन में स्पष्ट नहीं होती।"

प्रस्तुत प्रसंग में 'बिम्ब' पर विचार करते हुए मैं अपने को इस व्यामोहकारी स्थिति से पृथक् रखकर केवल काव्य और भारतीय काव्यशास्त्र के सन्दर्भ और आलोक में 'बिम्ब' का विचार करना चाहता हूँ और किया भी है। इसीलिए मैं शब्द से प्राप्त अर्थ को व्यवहारोपयोगी 'सामान्य' तथा दर्शनोपयोगी 'धारणा घटक' या 'धारणात्मक' अर्थ से पृथक् रखकर काव्योपयोगी 'विशेष' या 'प्रत्यक्षायमाणता' को ही 'बिम्ब' की प्रत्याभिज्ञापक और व्यावर्तक रेखा मानता हूँ। इसीलिए मैं उन लोगों से सहमत हूँ जो ताजगी, तीव्रता और सोयी हुई स्मृतियों को जगाने की शक्ति, इन तीनों को बिम्ब की मूलभूत विशेषता मानते हैं (आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब-विधान)। यह सही परिभाषा लगती है—'बिम्ब वह शब्दचित्र है जो कल्पना के द्वारा ऐन्द्रिय अनुभवों के आधार पर निर्मित होता है।' ऐसे बिम्बों के लिए 'वासना' तथा 'संवेग' का संस्पर्श आवश्यक है। विचारकों ने 'बिम्ब' की अनेक परिभाषाएँ दी हैं—जिनसे 'बिम्ब' का कोई-न-कोई पक्ष स्पष्ट होता है। इस प्रकार 'बिम्ब' काव्य में—

1. ऐन्द्रिय अनुभवों के आधार पर कल्पना निर्मित हो,
2. मूर्त हो, प्रत्यक्षायमाण हो,
3. सौन्दर्योद्रेकी या प्रभावोद्रेकी क्षमता हो,
4. उसमें ताजगी, तीव्रता तथा स्मृत्युत्तेजकता हो,
5. शीघ्र प्रस्फूर्तिमत्ता हो।

भाषाविद् मानते हैं कि वाक्य में दो तत्व होते हैं—सम्बन्धतत्व और अर्थतत्व। सो सम्बन्धतत्व का बोध करानेवाले शब्दों को छोड़कर 'अर्थतत्व' का बोध करानेवाले शब्दों में 'सौन्दर्योद्रेकी प्रत्यक्षायमाण' अर्थ देने की क्षमता होनी चाहिए। यहाँ मैं 'बिम्ब' से यही आशय समझता हूँ। यह क्षमता काव्य में 'अर्थतत्व' का बोध करानेवाले शब्दों में ही हो सकती है।

यह 'बिम्बात्मकता' एक पदार्थ की भी अपनी हो सकती है। और अनेक पदार्थों के संश्लेष से भी। 'कमल' शब्द से एक कामचलाऊ सामान्य अर्थ का व्यवहारोपयोगी अर्थ भी है और लाल-लाल पंखुरियों तथा अकेसर युक्त प्रत्यक्षायमाण सौन्दर्योद्रेकी रूप भी। इस रूप के उभरने में शब्द की कौन-सी 'शक्ति' काम करती है—सर्जन के धरातल पर तो यह रूप 'कल्पना' या 'प्रतिभा' करेगी और ग्रहण के स्तर पर भी 'सामान्य' की अपेक्षा 'विशेष' या 'बिम्ब' रूप में ग्रहण करने में ग्राहक भावयित्री प्रतिभा ही सहायक होगी। फिर इस अर्थ को उभारने में केवल 'शब्द' की क्षमता कैसे कहा जाय? या जैसी प्रतिभा सहकृत व्यंजना नामक शब्द-शक्ति काम करती है वैसे ही प्रतिभा सहकृत अभिधा नामक शब्द-शक्ति भी काम कर सकती है। इस तरह के सौन्दर्योद्रेकी प्रत्यक्षायमाण रूप का शब्द की अभिधा-शक्ति से अभिधान नहीं, प्रत्युत 'भावन' ही हो सकता है। अनेक पदार्थों के संश्लेष से उभरनेवाला एक संश्लिष्ट दृश्य जहाँ हो वहाँ भी वही बात होगी—

बज रहा ढोल धाधिन धाधिन
औ हुडुक घुड़कता ढिम ढिम ढिम
मदमस्त रजक, होली का दिन
लो छन-छन-छन-छन-छन
थिरक गुजरिया हरती मन

सौन्दर्यबोध प्रेरित कल्पना ने अनुरूप शब्दों के माध्यम से एक संश्लिष्ट चित्र यहाँ उपस्थित कर दिया है। भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली ग्रहण करते हुए कतिपय 'काव्य-बिम्ब' चिन्तकों ने कहा है—'लक्षणा और व्यंजना—दोनों ही बिम्ब का विधान करती हैं' और उदाहरणस्वरूप 'गंगा में घर' तथा 'आँचल में है दूध' रखा है। यह ठीक है कि वाक्य में अर्थ तत्व अपना एक बिम्बात्मक रूप रखता है—पर सर्वत्र यही रूप उभरता है ? ऐसा होने पर तो अर्थ ग्रहण 'निखकाश' हो जायेगा, उसका कोई स्थल ही नहीं होगा। अतः बिम्बार्थ को उभारने में ग्राहकीय भावना सहकृत शब्द की क्षमता विशेष ही समर्थ है। 'अभिधा' की एक सीमा है, वह पूर्वानुभूत की स्मृति कराती है, निर्माण नहीं करती। नयेपन से संवलित रूप में नहीं उभारती। इसीलिए व्यंजना से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कुन्तक अभिधा या काव्योचित अभिधान को 'विचित्र अभिधा' कहते हैं। आनन्दवर्द्धन के 'वाच्य' में उभरनेवाला 'विशेष'—जिससे उसकी प्रत्यक्षायमाणता अनुभूत होती है—कल्पना का ही कार्य है पर अब मेरी धारणा है कि कल्पना या प्रतिभा सहकृत शब्द की क्षमता-विशेष अभिधा का ही यह कार्य है अन्यथा काव्यक्षेत्रीय वाच्य का व्यतिरेक सिद्ध नहीं होगा। 'विशेष' संवलित प्रत्यक्षायमाण बिम्ब 'लक्षणा' से कहाँ मिलता है—इसका सटीक उदाहरण इस प्रकार होगा—

नदी-नाले, तुड़ा पगहा
उछलते-कूदते

यहाँ लक्षणा के बल से एक अप्रस्तुत बिम्ब प्रस्तुत वर्ण्य के साथ एकात्मतापन्न होकर सौन्दर्यबोध कराता है। भारतीय काव्यप्रयोगों में समासोक्ति के स्थलों पर ऐसा अप्रस्तुत बिम्ब विधान मिलता है। हो सकता है कि इसका अपवाद मिल जाय, पर मेरी धारणा यही है कि 'लक्षणा' के स्थलों में बाधित वाच्यार्थ अप्रस्तुत बिम्ब ही उभार सकता है, प्रस्तुत रूप में तो वह निरुपयोगी है। अन्त में एक बात और कहना चाहता हूँ कि प्रत्येक प्रतिमान का प्रयोग रचनानुभव से गुजर जाने के बाद ही करना चाहिए। यदि आपको रचना से सौन्दर्योद्रेकी प्रत्यक्षायमाण अर्थबोध होता है तो वहाँ 'बिम्बात्मक' प्रतिमान मानना चाहिए, अन्यथा यदि 'अर्थमात्र' या 'प्रत्यय' मात्र का बोध हो रहा हो, तो नहीं। वैसे शब्द द्वारा कराया गया प्रत्यक्षायमाण बोध सौन्दर्योद्रेकी होता ही है।

प्रतीक

मूलतः 'प्रतीक' शब्द चाहे जिन अर्थों में प्रयुक्त होता रहा हो, काव्य में अपनी अर्थ-

यात्रा करता हुआ आज यह शब्द एक अर्थविशेष का प्रत्यायक हो गया है। प्राचीन काव्यशास्त्र में तो नहीं, पर अध्यात्मवाङ्मय में इस शब्द का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। यहाँ एक शब्द प्रयुक्त होता है, प्रतीकोपासना। उपासना में मानसिक एकाग्रता आवश्यक है और मानसिक एकाग्रता साक्षात् हो या बहिरिन्द्रियों के माध्यम से हो, वहाँ किसी गोचर वस्तु को पकड़ना पड़ता है। यदि प्राप्तव्य तत्व अमूर्त और सूक्ष्म है तो हम किसी माध्यम में उसकी भावना करते हैं और वह 'प्रतीक' माना जाता है। इसीलिए 'प्रतीक' के अर्थ में 'प्रतिमा' का भी प्रयोग होता है। इसीलिए 'चिह्न' या 'अंग' के अर्थ में भी यह शब्द प्रयुक्त मिलता है। व्याख्याकार किसी श्लोक के अग्रिम अंश को भी 'प्रतीक' कहते हैं। लगता है कि यदि हमारी सामर्थ्य सीमित है, और हम असीम या अज्ञात को पकड़ना या संकेतित करना चाहते हैं तो अपनी परम्परा और संस्कार के सन्दर्भ में अभीष्ट की ओर अधिक-से-अधिक संकेतित करनेवाली इतर वस्तु को पकड़कर माध्यम बना लेते हैं। यही माध्यम प्रतीक बन जाता है। व्यवहार जगत की अभिव्यक्ति माध्यम भाषा और क्या है—प्रतीक ही तो। गणित में तमाम प्रतीकों का प्रयोग होता है जो किसी अभीष्ट के संकेतक माने जाते हैं। उपासना जगत् में उपासना साधन और उपास्य के बीच कल्पित माध्यम 'प्रतीक' माना जाता है। 'बिम्ब' और 'प्रतीक' भिन्न-भिन्न उपकरण हैं। साहित्य में बिम्ब में प्रभावी चित्रांकन अपेक्षित है और प्रतीक में वैयन्जनिक संकेत। पहले का शिल्प तथा वास्तुकला से और दूसरे का संगीत से सम्बन्ध अधिक है। काव्य के तीन स्तरों में प्रथम में फैंसी का, द्वितीय में कल्पना का और तृतीय में प्रतीक का स्थान है। कल्पना चेतन मन की शक्ति है जो बिम्ब विधान करती है। और प्रतीक का सम्बन्ध अचेतन मन से है। अचेतन मन व्यष्टि और समष्टि दोनों तरह का है।

इस प्रकार किसी अपरिमेय या अतिवर्चनीय लक्ष्य का बोध कराने के लिए अपनी परम्परा और संस्कार के अनुरूप जब हम किसी माध्यम या प्रतिनिधान का प्रयोग करते हैं, तो वह स्वेतर लक्ष्य का प्रतीक बन जाता है। प्रतीक का चेतन दशा में हम जान-बूझकर भी निर्माण करते हैं और अनजाने रूप बदलकर स्वप्न जगत में आनेवाले माध्यम भी प्रतीक माने जाते हैं। अर्थात् चेतन और अचेतन, व्यक्ति और समूह मानस द्वारा इन प्रतीकों का सायास-अनायास निर्माण होता रहता है। ये प्रतीक पात्र, घटना और कथा कुछ भी हो सकते हैं। काव्य में 'प्रतीक' की आवश्यकता हमें तब पड़ती है, जब हम जो कुछ कहना चाहते हैं, वह शब्द की अभिधा और लक्षणात्मक सामर्थ्य के बाहर हो जाता है। इसीलिए 'प्रतीक' सादृश्य अथवा सादृश्येतर सम्बन्ध-गर्भ अप्रस्तुत का पर्याय नहीं माना जा सकता। 'खिड़की से चाँद झाँक रहा है'। यहाँ 'चाँद' माध्यम है—स्वेतर सादृश्यगर्भ होने पर भी यह 'प्रतीक' नहीं है। कारण, वह गौड़ी साध्यवसाना लक्षणा के बल पर 'मुख' अर्थ का प्रत्यय कराता है। इस प्रयोग से व्यंजना के द्वारा चाँद की तमाम विशेषताएँ 'मुख' में प्रतीक होकर प्रयोग को प्रभावशाली, असरकारी अवश्य बना देती हैं। प्रतिपाद्य (मुख) की जगह दूसरे को माध्यम बनाकर वक्ता अपने प्रयोग को जितना प्रभाव-

शाली बना सका है, उसके अभिधायक का प्रयोग कर वह उतना प्रभावशाली अपने प्रयोग को नहीं बना सकता। इसी विवशता के कारण, उसे किसी अन्य माध्यम को पकड़ना पड़ा है, फिर भी इसे हम 'प्रतीक' नहीं कह सकते। यह तो 'आलंकारिकों' का एक रूढ़ प्रयोग है, जिसे वे रूपकातिशयोक्ति कहते हैं। 'प्रतीक' रूपकातिशयोक्ति से कुछ और होता है। 'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल', यहाँ 'दीपक' प्रतीक है। यद्यपि यहाँ भी लक्षणा शक्ति के द्वारा 'साधक' अर्थ लिया जाता है, परन्तु यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग नहीं होगा। यहाँ प्रयोक्ता का झुकाव 'साधक' अर्थ का बोध कराने की अपेक्षा साधक की विशेषताओं को जो अनेकानेक और साधना-परम्परा में प्रसिद्ध हैं, उनकी झंकृति या अनुरणन पर ज्यादा है। निष्कर्ष यह कि रूपकातिशयोक्ति और प्रतीक—उभयत्र लक्षणा और व्यंजना का सहारा लिया जाता है, पर जहाँ पहले में 'लक्षणा' की सहायिका व्यंजना होती है, वहाँ दूसरे में व्यंजना स्वयं प्रमुख बन जाती है, वहाँ परम्परा और संस्कार में धँसने की जिसकी जितनी क्षमता होगी, अर्थ-झंकृतियाँ उतनी ही मात्रा में अनुकरणात्मक ढंग से पकड़ में आती जायेंगी। इसीलिए 'प्रतीक' जब व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर आने लगते हैं तो दुरूहता बढ़ने लगती है, जो काव्यास्वाद के लिए घातक मानी जाती है। काव्य प्रयोगों को देखते हुए रूपकातिशयोक्ति और प्रतीक का यह अन्तर किया गया है।

व्यवहार और काव्येतर क्षेत्र में 'प्रतीक' रूढ़ हो जाते हैं, काव्य में अर्थगत नवीनता, ताजगी और तज्जन्य आकर्षण बनाये रखने के लिए आवश्यक है—वे यात्रा करते रहें, बदलते रहें। यही कारण है कि महादेवी की प्रतीक बहुल रचना की प्रशंसा करते हुए भी लोग इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि अन्त तक महादेवी अपने प्रतीकों में बँध गयीं, वहीं गोल-गोल घूमने लगीं। प्रतीकों के माध्यम से होनेवाला उनका सर्जनात्मक विकास अवरुद्ध हो गया। व्यवहार में 'झण्डा' हमारी राष्ट्रीय भावनाओं का रूढ़ प्रतीक है। मनोविज्ञान के अनुसार 'साँप' काम-भावना का रूढ़ प्रतीक है। इन पारिभाषिक और स्थिर प्रकृति के प्रतीकों द्वारा मनोविश्लेषक-रोगी का मनोविश्लेषण करते हैं। इसलिए व्यवहार और शास्त्र-विज्ञान के प्रतीक स्थिर-प्रकृति के हो जाते हैं। कॉडवेल जब काव्य को अप्रतीकात्मक उक्ति कहता है तो वह ऐसे ही काव्येतर प्रतीकों से उसे अलग करता है। प्रतीक काव्येतर क्षेत्र से काव्य में जब संचरित किये जाते हैं, तो प्रयोक्ता उनमें और अर्थ भरता है और यदि वह यह नहीं कर पाता, तो वह उस प्रतीक को काव्यात्मक नहीं बना पाता। 'ज़रा खिड़की खुली रखो' में 'खिड़की' खुले दिमाग का प्रतीक है। व्यवहार में इतने से काम चल जाता है, काव्य में यही 'प्रतीक' प्रयुक्त होकर सन्दर्भ से और-और अर्थों का भी अनुरणन करेगा। अतः 'प्रतीक' की, काव्यात्मक प्रतीक की पहचान करानेवाली जो शर्तें ऊपर विवेचित की गयी हैं, उनकी अव्याप्ति व्यावहारिक प्रतीकों को ध्यान में रखकर नहीं लगानी चाहिए।

काव्य में ऐसे अनेक प्रकार के प्रयोग मिलते हैं जहाँ व्यंजना-शक्ति सक्रिय

रहती है, पर उन सभी स्थलों पर 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग नहीं होगा। अन्योक्ति या अप्रस्तुत प्रशंसा में भी व्यंजना सक्रिय रहती है, पर वहाँ दो समानान्तर व्यापार-प्रवाह बिम्ब-प्रतिबिम्ब भावापन्न होते हैं। एक से दूसरे की झलक मिल जाती है। व्यंजना एक समानान्तर अर्थ-प्रवाह तक जाकर रुक जाती है, प्रतीक में व्यंजना का प्रवाह रुकना नहीं जानता। यह आकाश है, जहाँ पक्षी अपने पंखों के सामर्थ्य के अनुरूप उड़ता है। प्रतीक आकाश है, ग्राहक की प्रतिभा पक्षी है। **समासोक्ति हो या अन्यापदेश** (एलेगरी), सर्वत्र यही स्थिति है। फैण्टेसी में भी व्यंजक माध्यम का ही प्रयोग रहता है, पर आपाततः अभिधा के धरातल पर वह बेतरतीब प्रतीत होती हुई अपेक्षाकृत गम्भीर अर्थ का संकेत करती है। मनोविज्ञान जगत् की यह पारिभाषिक शब्दावली अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति के लिए प्रायः प्रयुक्त होती है। काव्य में फैण्टेसी आभ्यन्तरीकरण का बाह्यीकरण करने के उपयोग में आती है। अन्तश्चेतना को पर्याप्त गहराई और अविच्छेद्यता के साथ व्यक्त करने में इसका प्रयोग होता है। इसीलिए मुक्तिबोध ने प्रसाद की 'कामायनी' की कथा को उनकी रससिक्त अन्तश्चेतना का प्रकाशक, फैण्टेसी कहना चाहा है और उसी भूमिका पर कामायनी का मूल्यांकन किया है। मनोवैज्ञानिकों और मुक्तिबोध की चिन्तना में भेद होने पर भी दोनों इस तथ्य से सहमत हैं कि समूची अन्तश्चेतना, ज्यों-की-त्यों अपने अभिधायक शब्दों से व्यक्त नहीं की जा सकती, यह फैण्टेसी ही है, जो उसे व्यक्त कर सकती है। काव्यानुरूप मनःस्थिति भी एक विशिष्ट मनःस्थिति है और इसकी एक विशिष्ट प्रक्रिया है। फैण्टेसी इसी प्रक्रिया का अंग है। समानान्तर व्यापार प्रवाह की व्यंजना करनेवाले इन प्रयोगों की अपेक्षा 'प्रतीक' अपनी सम्बन्ध-दर-सम्बन्ध व्यंजना करने की प्रणाली में भिन्न है। अनुरणन की पद्धति में भिन्न है। कहा जा सकता है, कबीर के निम्नलिखित पद को लेकर कि यहाँ एक व्यापार समूह से व्यंजना, दूसरे व्यापार समूह की समानान्तर हो रही है, फलतः इसे प्रतीक कैसे कहा जाय ?

> गगन घटा घहरानी साधो गगन घटा घहरानी।
> पूरब दिसा से उठी है बदरिया रिमझिम बरसत पानी।
> आपन-आपन मेड़ सम्हारो, बह्यो जात यह पानी।
> सुरत निरत का बेला नहायन, करे खेत निखानी—

असल में, यह आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए गृहीत प्रतीकात्मक व्यापार शृंखला है जिसकी अर्थव्यंजना की कोई इयत्ता नहीं। वस्तुतः 'प्रतीक' के प्रयोग की मनोदशा अथाह होती है। इसी मनःस्थिति के प्रयोग में 'प्रतीक' निखरते हैं और सार्थक होते हैं। अन्यथा अध्यात्मवादियों और रहस्यवादियों को सिम्बोलिज्म का माध्यम न पकड़ना पड़ता। भाषा की अपनी अर्थव्यंजन क्षमता की सर्वोच्च ऊँचाई 'प्रतीक' में ही मिलती है। इसलिए यह मानना भी भ्रम है कि प्रतीक केवल एक पदार्थ ही होता है, दीपक, झंझा, नीरदमाला आदि की तरह, नहीं प्रतीक पात्र भी होता है, पदार्थ भी होता है और होती है, कथा भी। कभी-कभी पूरी मिथकात्मक

कथा प्रतीक बन जाती है। पुराणों में, वेदों में ऐसे मिथक भरे पड़े हैं जिनकी प्रतीकात्मक व्याख्या की जाती है। स्वामी प्रत्यगात्यानन्द सरस्वती ने अपने 'जमसूत्रम' की भूमिका में गंगावतरण की सारी कथा की गहन प्रतीकात्मक व्याख्या की है। विष्णुपद से लेकर गोमुखी तक की गंगाधारा को वाणी या वाक् के अवतरण का प्रतीक बताया है। और भी विभिन्न पौराणिक कथाओं को वाक् के ही भिन्न रूप बताये हैं। मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में कविता, पुरावृत्त या मिथक तथा स्वप्न तीनों की अभिव्यक्ति-प्रक्रिया अबुद्धि-नियन्त्रित होती है—स्वतःचलित या स्वतःस्फूर्त होती है, अतः इन तीनों में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की बात आती है। डॉ. पद्मा अग्रवाल का तो कहना है—'प्रतीक अज्ञातमन की एकमात्र भाषा (प्रतीकवाद) है। अज्ञात मन में संग्रहीत इच्छाओं की अभिव्यक्ति का स्वरूप सदैव प्रतीकात्मक होता है।' युंग की दृष्टि में यह अज्ञातमन सामूहिक है।

इस प्रकार अज्ञातमन के मूल सिद्धान्त में भेद होने के कारण युंग का कला-प्रतीक सिद्धान्त फ्रायड से बहुत भिन्न है। युंग के शब्दों में 'अज्ञातमन केवल अवांछनीय अतीत की इच्छाओं का संग्रहालय मात्र नहीं···बल्कि यह एक जीवित रणस्थल है जिसकी अभिव्यक्ति प्राचीन प्रतीकात्मक प्रतिभाओं द्वारा होती है और इन प्रतिभाओं से आत्मा के पुनरुत्थान की ओर संकेत होता है।' प्रतीकात्मक रूप में उभरनेवाली भावप्रतिमाओं के बारे में उसकी धारणा है कि ये मुख्यतः पौराणिक प्रतिमाएँ हैं (Archetype) जो पूर्वजों की असंख्य विशिष्ट अनुभूतियों के परिणाम हैं। युंग की दृष्टि से सच्ची कला वही है जिसमें युग-युगान्तर की मानवजाति के गूढ़तर भाव-विचारों की अभिव्यक्ति मिलती है। प्रतीकात्मक भाव व्यंजना का सच्चा स्वरूप यही है। वह कला सामान्य और निम्न कोटि की है जिसमें व्यक्तिगत दुर्बलता और भावग्रन्थियों मात्र की अभिव्यक्ति होती है। युंग के अनुसार सच्चा प्रतीक अन्तर-दृष्टि की अभिव्यक्ति है जिसके बारे में न तो कुछ ज्ञात है और न तो जिसकी अभिव्यक्ति किसी और रूप में हुई है। प्रतीक के बारे में कुमार स्वामी की भी यही धारणा है। स्थूल और धार्मिक दृष्टि से विकास केवल स्वरूप और अभिव्यक्ति में होता है, आधारभूत वृत्तियों में नहीं। इस प्रकार 'सामूहिक अज्ञातमन' जिसकी अपनी जातीय मानसिक विशेषताएँ हैं, और जो ज्ञात मन के स्तर पर नहीं लायी गयी हैं, सभी वर्ग की कला का मुख्य उद्गम हैं। मतलब यह कि युंग ने कला के प्रसंग में दमन क्रिया को कोई स्थान नहीं दिया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी काव्य में फ्रायडीय सिद्धान्त को अमान्य कर दिया है। लेकिन कला में असल में अवैयक्तिक की भाँति वैयक्तिक तथ्यों का भी समावेश होता है। यह अवश्य है कि वैयक्तिक जितना अवैयक्तिक होता जायेगा, कला उतनी निखरती जायगी। व्यक्तिगत आन्तरिक संघर्ष तो कला की प्रेरणा है। कला का सौन्दर्यमूल्य तभी प्रगट होता है जब व्यक्तिगत तथा जातीय तथ्य या अवैयक्तिक तथ्य का रूप ग्रहण कर लेते हैं। व्यक्तिगत संवेग से प्रेरित या ओतप्रोत होने पर भी कलाकार के अज्ञातमन को व्यक्त करनेवाली फैण्टेसी सार्वभौमप्रकृति की होती है, हो सकती है, कला का यह रूप

सर्वोत्तम होता है। मुक्तिबोध जो अभिव्यक्ति को फैण्टेसी से जोड़ते हैं, यह उनकी मनोविज्ञानसम्मत चिन्तन की परिणति ही है।

फ्रायड कला को कामवृत्ति से और युंग 'रचनात्मक वृत्ति' से जोड़ता है, पर भारतीय दार्शनिक अभिनवगुप्त कामवृत्ति को रचनात्मक शक्ति ही मानता है और मानता है कि जिस सौन्दर्य साक्षात्कार से अभिभूत होकर स्रष्टा रचना में प्रवृत्त होता है, वह शुक्र क्षोभात्मा सहृदयता से ही सम्भव है। 'एडलर' ने 'आत्मप्रतिपादन' वृत्ति का निम्न से उच्चतर स्तर पर स्थानान्तरण ही, कला माना है। इससे मानव अपनी हीन भावनाओं पर विजय पाता है। 'एडलर' की भी मान्यता युंग के मुकाबिले स्वीकृत नहीं हुई। हर्बर्ट रीड भी युंग का ही पक्षधर है। इस प्रकार प्रयोगवादी मनोविज्ञान के आलोक में 'प्रतीक' के स्वरूप पर पर्याप्त विचार हुआ है। सम्प्रति, कला या सौन्दर्यशास्त्र के आलोक में भी प्रतीक के स्वरूप पर विचार आवश्यक है।

सौन्दर्यात्मक प्रतीक का पहले एक रूढ़ दार्शनिक दृष्टि से व्याख्यान किया जाता है, सम्प्रति, 'संवेग सिद्धान्त' के सहारे इसे स्पष्ट किया जाता है। क्रोचे मानता है कि प्रतीक कला की आत्मा है और उसे सौन्दर्यानुभूति से पृथक् नहीं किया जा सकता। इस अर्थ में सम्पूर्ण कला प्रतीकात्मक है। विज्ञान में प्रतीक का प्रत्येय वस्तु से बाह्य सम्बन्ध होता है, सौन्दर्यात्मक प्रतीक में आन्तर। प्रतीक रूपक नहीं है। रूपक में जो प्रस्तुत रहता है उसका परिचय रहता है, प्रतीक में जो प्रस्तुत आदर्श रहता है—उसका परिचय नहीं होता। युंग की दृष्टि से प्रतीक की विषयवस्तु अज्ञातमन की भावात्मक प्रतिमाओं में निहित रहती है। आर्केटाइप अनन्त अनुभूतियों का मानसिक अवशेष है, अज्ञातमन का संवेगात्मक संस्थान है, जो सर्वसामान्य की अनुभूति का विषय है। जिस अनुपात में कल्पना स्वप्रेरित होगी, उसी अनुपात में कविता प्रतीकात्मक होगी। प्रतीकवादी तो प्रतीक को ही काव्य की आत्मा मानते हैं।

कला के प्रतीक स्वप्न के प्रतीकों से इसलिए भिन्न हैं कि पहला अव्यक्तिगत है और दूसरा व्यक्तिगत। कला की प्रकृति सार्वभौम होती है, वह यानी कलाकार सामूहिक इच्छाओं का पैगम्बर है।

मिथक

'मिथ' ही हिन्दी में 'मिथक' है। मूलतः 'मिथ' शब्द विदेशी है। हिन्दी साहित्य में उसके लिए धर्मकथा, धर्मगाथा, पुरावृत्त, पुराणकथा आदि अनेक रूपान्तर प्रचलित हैं, पर ज्ञान की विभिन्न शाखाओं, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, नृतत्वशास्त्र आदि के आलोक में यह 'मिथ' शब्द, जिन अर्थ-छायाओं से मण्डित हो चुका है उसका समग्रता में बोध इन रूपान्तरों में से कोई भी ठीक-ठीक नहीं करा पाता, फिर भी पुरावृत्त शब्द अधिक प्रचलित हो गया है। यहाँ 'मिथ' के लिए इसी शब्द का प्रयोग होगा।

धर्मगाथा या पुरावृत्त प्रागैतिहासिक लोकमानस की निर्मिति है। ऐसे लोक-

मानस की जिसमें तार्किक या वैज्ञानिक चिन्तन की क्षमता नहीं थी, जिसमें कल्पना थी और विश्वास था। इसीलिए वह पुरावृत्तात्मक कथा गढ़ लेता था। वह मानव सुदूर अतीत में प्राकृतिक शक्तियों के बीच रहता था। ये प्राकृतिक शक्तियां उसे लाभान्वित भी करती थीं और नुकसान पहुँचाकर भयभीत भी। फलतः श्रद्धा और भय की भावना कभी क्रियात्मक अनुष्ठानों में व्यक्त होती थी और वही कभी कथाओं में। वह प्रागैतिहासिक प्रावैज्ञानिक लोकमानस सृष्टि के अगणित व्यापार देखता था और तरह-तरह के विश्वासों तथा कल्पनाओं में जीता था, उनकी वाचिक और अवाचिक अभिव्यक्ति करता था।

मिथ व्यक्ति मानस की नहीं, लोकमानस की निर्मिति है, अतः जब विवेचकों के बीच उसे आदिम मनोवृत्ति (Primitive tendancy) की उपज कहा जाय तो बहुत कुछ सोच-समझकर कहना पड़ेगा। कारण, यह कि आदिम मनोवृत्ति या आदिम मानस के विकास के कुछ सोपान हैं, उन्हें पार करने पर ही पुरावृत्तों का निर्माण सम्भव है। इसी प्रकार पुरावृत्त निर्माण के लिए भाषा का उद्भव और प्रचार तो होना ही चाहिए। अतः अनुसन्धायकों का निष्कर्ष है कि आदिम मानस के विकास क्रम के सोपान यों हैं—

1. मेलेनेशियन द्वीप समूह में मन को आत्मशक्ति का भी मूल सार या तद्रूप ही माना जाता था। जबकि दूसरे लोग(एनिमेटिज़्म या) आत्मवत्वाद को ही लोक-मानस का मूल मानते हैं, 2. प्राकृतिवाद—प्राकृत पदार्थों के श्रद्धाभयोद्रेकी व्यापारों में किसी शक्ति की उद्भावना, 3. आत्मवत्वाद—आत्मवत् सर्वभूतेषु—मेरे जैसी बुद्धि, शक्ति पशु-पक्षियों में भी है, 4. पदार्थात्मवाद—समस्त पदार्थों में आत्मा है (एनिमिज़्म), 5. देववाद—देवताओं की कल्पना। पुरावृत्तों में पात्र देवी-देवरूप हैं, अतः निश्चय ही आदिम मानस की इस विकसित अवस्था में ही पुरावृत्तों के निर्माण की स्थिति आयी होगी। इसी प्रकार भाषा के माइथोलाजिकल रूप के विकास की भी अपेक्षा पुरावृत्तों को होगी। भाषा ने अपने विकास में न जाने किन-किन प्रक्रियाओं को पार किया होगा। यों मैक्समूलर ने—1. दी मेटिल पीरियड (धातु निर्माण), 2. डायलेक्टिक (भाषाओं की मूलजातियों का उद्भव), 3. माइथालॉजिकल, 4. लौकिक आदि सोपानों का उद्भावन किया। ऐसे और इस तरह के अनेक तर्कों से धर्मगाथा का सम्बन्ध मैक्समूलर ने लोकमानस से नहीं माना है। उसने पुरावृत्तों को भाषा का रोग कहा है। जो भी हो, पर इतना अवश्य है कि पुरावृत्तों में आदिम मानस ओतप्रोत है। उसमें समस्त विकार, विकास और उद्भावना लोक-मानस के परिणाम से है, संस्कृत मानस की मनीषा उसमें नहीं है ऐसी डॉ. सत्येन्द्र की धारणा है, उनके मतानुसार पुरावृत्त में निम्नलिखित शर्तें आवश्यक हैं :—

1. कथा का अंश अवश्य होता है।

2. वह अज्ञात स्रोतस्क होता है (अतः इतिहास नहीं)।

3. यहाँ कथा की तरह घटनाक्रम पर विशेष आग्रह नहीं होता, अपितु

भावात्मक और कल्पनात्मक क्षमता पर होता है।

4. इसमें अलौकिक तथा देव पात्र होते हैं, मानव होता भी है तो वह इस स्तर का जहाँ देव—मानव की रेखा मिट जाती है।
5. इसका सम्बन्ध जातीय जीवन से होता है।
6. इसके निर्माण में आदिम प्रवृत्तियाँ सक्रिय रहती हैं।
7. इनमें कहीं-कहीं गम्भीर अर्थ निहित होता है।

फ्रेजर के अनुसार यह मानना कि आदिम उद्‌गार धार्मिक भावना के मूल से सम्बन्ध रखते थे, विवादास्पद है। जादू-टोना के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए फ्रेजर का कहना है कि लोकवार्ता का मूल मानस 'मैजिक भाव' (जादू-टोना) का परिणाम है। टेलर ने उधर एनिमिज़्म की स्थापना की थी और रूस के विद्वानों की यह मान्यता हो रही है कि आदिम मानव की मूल अभिव्यक्ति 'धार्मिक मूल से' युक्त नहीं थी, यह शुद्ध लौकिक थी। किन्तु इन समस्त विवादपूर्ण स्थितियों के उपरान्त डॉ. सत्येन्द्र का यह कहना है कि वह धर्म भी लोकतत्व का अंग था और धर्मगाथाएँ उन्हीं लोक-तत्वों के आधार पर बनीं। निष्कर्ष यह कि धर्मगाथाएँ लोकवार्ता साहित्य की ही अंग हैं। दोनों का परस्पर सम्बन्ध है। धर्मगाथाओं के अध्ययन के लिए लोकवार्ताओं का स्वरूप समझना आवश्यक है।

भारतीय सन्दर्भ में 'मिथ' की रचना पर्याप्त जटिल है। कारण, इसमें आर्य, द्रविड़ तथा इतर आदिवासी संस्कृतियों के सामूहिक विश्वास और कल्पनाएँ घुलमिल गयी हैं। इसके साथ चूँकि मिथकों में लोक की ही नहीं, मनीषियों की भी आस्था होती है, अतएव कुछ लोगों का यह भी कहना है कि मिथकों का सम्बन्ध मनीषी काव्य रचना से है, विचारणीय तो है ही। जिस वैदिक वाङ्मय से 'मिथ' लिये जाते हैं और विवेचित होते हैं, उसकी ऋचाएँ ऋषि-प्रणीत हैं और एक तबका मानता है कि ये ऋषि रहस्यदर्शी हुआ करते थे। इसलिए नियमतः यही मान लेना कि 'मिथकों' में लोक-मानस, आदि लोक-मानस ही ओतप्रोत है, विचारणीय है। इन पुरावृत्तों में सृष्टि का जन्म, विविध प्राकृतिक तथा मानवीय व्यापारों के मूल कारण जातियों का उदय, सांस्कृतिक तत्वों की व्याख्या, आदि निरूपित हैं। 'एन इण्ट्रोडक्शन टु माइथोलाजी' में श्री लेवीस्त्रास ने लिखा है—'यह किसी देवता या परप्राकृत सत्ता का एक विवरण होता है, इसे साधारणतः आदिम विचारों की शैली में व्यक्त किया जाता है, जो अभिधात्मक की अपेक्षा लाक्षणिक होती है।' यह वह प्रयत्न है जिसके द्वारा मनुष्य का विश्व से सम्बन्ध समझाया जाता है और जो इसे दुहराते हैं, उनके लिए प्रमुखतः धार्मिक महत्व रखता है। अथवा इसका जन्म किसी सामाजिक संस्था, रीतिरिवाज अथवा परिस्थितियों की किसी विशेषता की व्याख्या करने के निमित्त होता है। यों उसकी अन्य प्रत्यभिज्ञापक रेखाओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। डॉ. दिनेश्वर प्रसाद का यह विचार ठीक लगता है कि 'मिथ' में जो कथा-भाग पाया जाना है, जरूरी नहीं है कि वह धर्म-वृत्ति से सम्बद्ध हो। कारण, मानव संस्कृति के विकास में 'धर्म' से पहले जादू-टोना (मैजिक) का भाव विद्यमान

था और उस स्तर पर भी 'मिथ' या 'पुरावृत्तों' की रचना हुई। इसीलिए डॉ. सत्येन्द्र द्वारा प्रस्तावित 'धर्मगाथा' शब्द पर भी उनकी आपत्ति विचारणीय कोटि में आती है। डॉ. रामअवध द्विवेदी ने भी 'मिथ' के रूपान्तरों में यह कठिनाई अनुभव की है। रेनेवेलक महोदय ने 'मिथ' की निम्नलिखित परिभाषा दी है--

> "But in wider sence, myth comes to mean any anonymously composed story telling of origins and destinies, the explanations a society offers its young of why the world is and why we do as we do, its padagogic images of the nature and destiny of man."

'योरुपीय भाषाओं में 'मिथ' सत्य का, विपरीतार्थक माना जाता है पर जिन जातियों में इसका प्रचलन है, वहाँ सत्य माना जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि इन्हें सत्य वही मानता है जो इन पर विश्वास करता है। मिथ में अतिप्राकृत पात्रों और घटनाओं या अतिप्राकृत शक्तियों द्वारा अनुशासित प्राकृतपात्रों और घटनाओं का वर्णन मिलता है। ये पात्र और घटनाएँ विश्व की सृष्टि और इसकी विभिन्न विचित्रताओं तथा रहस्यों की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार मिथ का प्रयोजन प्राक्सृष्टि और सृष्टि के आदिम युग की उस वास्तविकता की व्याख्या प्रस्तुत करना है जो वर्तमान सन्दर्भ में भी अपनी सार्थकता रखती है।' 'मिथ' को 'मिथ' बनाये रखनेवाली विशेषता है, इसका काल के दो स्तरों पर एक साथ संचरण। यह अतीत में घटित होकर भी कालातीत है। यह हर क्षण अनुभूत होनेवाला वह वर्तमान है, जो भविष्य में भी जीवित रहेगा। 'मिथ' कहानी होकर भी कहानी से भिन्न है, कारण, कहानी को सभी कहानी अर्थात् कल्पित मानते हैं, जबकि 'मिथ' को विश्वासी समाज सत्य मानता है। मिथ आख्यान भी नहीं है, क्योंकि आख्यान ऐतिहासिक घटना का विवरण देता है --और वह किसी समय का हो सकता है। मिथ प्रागैतिहासिक जातीय अनुभवों का कथा के माध्यम से लाक्षणिक वर्णन करते हैं। मिथ लोककथा नहीं है, क्योंकि वह लोककथा अनिवार्यतः प्रागैतिहासिक काल से सम्बद्ध नहीं है। साथ ही 'मिथ' में गम्भीर तथ्य निहित रहते हैं, लोककथा का लक्ष्य मनोरंजन है। मिथ में प्राकृतिक व्यापारों का मानवीकरण भी होता है। 'चन्द्रोदय पर सन्ध्या क्षीण हो जाती है।' इसी प्राकृतिक व्यापार का मानवीकरण 'अहल्याये जारः' में हुआ है। 'मिथ' के मूल में विश्वास काम करता है। टायलर के अनुसार सम्भाव्यता के सामाजिक प्रतिमान के बदल जाने पर एक युग का मिथ दूसरे युग की लोक कहानी हो जाता है। और ठीक इसी तरह प्रथाओं और विश्वासों के समर्थन में प्रयुक्त होने पर लोक कहानी 'मिथ' बन जाती है। 'मिथ' सर्वत्र, समाज के अप्रबुद्ध और प्रबुद्ध दोनों ही वर्गों में मिलते हैं। मिथ आदिम स्थिति से परवर्ती स्थितियों में भी प्रवाहित होते हैं। असल में फ्रेजर ने मानव-संस्कृति के विकास को तीन युगों में विभाजित किया है---जादू का युग, धर्म का युग और विज्ञान का युग। प्रथम युग में मानव

प्रकृति की सजीवता में विश्वास करता था। इस विश्वास ने मिथों को जन्म दिया। रोजमर्रे के अनुभूत तथ्यों को मिथों में रूपान्तरित करनेवाला प्रमुख कारण प्रकृति में सचेतनता का विश्वास है। मानवीकरण इसी का विकसित रूप है। टायलर ने इस स्थिति को मिथसर्जक युग कहा है। लेवीब्रूल ने मिथ निर्माण का सम्बन्ध 'आदिम मनोवृत्ति' से जोड़ा है। आदिम मनोवृत्ति से उसका अभिप्राय 'प्राक्तार्किक' से है। अर्थात् वह मानता है कि आदिम मनुष्य की मनोवृत्ति रहस्य भावना से आक्रान्त रहती है, बौद्धिक विकास न होने से वे अपने परिवेश के प्रति तार्किक दृष्टिकोण अपनाने में असमर्थ रहते हैं। इस आदिम मनोवृत्ति को यह विश्वास है कि यह विश्व किसी अदृश्यशक्ति से परिचालित रहता है। अभिव्यक्ति में यही प्राक्तार्किक मनोवृत्ति 'मिथ' का सर्जन करती है। प्राक्तार्किक या प्राक्वैज्ञानिक युग के साथ मिथों की सृष्टि समाप्त हो जाती है। जर्मन विद्वान बुराड्ट ने भी मानवजाति के विकास के तीन युग माने हैं—टोटम युग, वीर युग और विज्ञान युग। प्रथम युग में पराप्राकृत शक्तियों के मिथ विकसित हुए। दूसरे युग में आधिभौतिक शक्तियों और जादू की सहायता से अद्‌भुत कृत्य करनेवाले सांस्कृतिक नायकों के मिथ। ऐसे भी विचारक हैं जो 'मिथ' का सम्बन्ध किसी युग विशेष से नहीं मानते। इसमें एक तो वे हैं जो विकासवाद में आस्था ही नहीं रखते। दूसरे कार्यवादी मानव-वैज्ञानिक तथा सामाजिक मनोविज्ञानवेत्ता दोनों ही विज्ञान और मिथ को विरोधी नहीं मानते, इसीलिए मिथक युग-जैसी स्थापना का भी खण्डन करते हैं। फलतः वैज्ञानिक युग का मानव मिथ मुक्त है, ऐसा मानना गलत है। मिथ यही नहीं है कि क्षीरसागर में विष्णु अनन्तशैया पर सो रहे हैं, बल्कि मिथ यह भी है कि जर्मन रक्त सर्वश्रेष्ठ है, विश्व में साम्यवाद अवश्यम्भावी है। मैक्समूलर आख्यानों और लोक-कथाओं को भी मिथ का ही विकृत या परिवर्तित रूप मानता है।

वस्तुतः ज्ञान की शाखाओं के भेद से जीवन को देखने के दृष्टिकोण भी एकाधिक हो गये हैं और प्रत्येक दृष्टिकोण अपनी ही दृष्टि से व्याख्या करता है, फलतः अन्य सम्भावनाएँ अव्याख्यात रह जाती हैं। इसीलिए मिथ के उद्‌भव, स्वरूप और व्याख्याएँ सभी असहमत विचारों का विषय बन गयी हैं। 1. यास्क ने मिथकों की नैरुक्त तथा ऐतिहासिक व्याख्याएँ दी हैं। निरुक्त मतानुयायी इन कथाओं को प्राकृतिक घटनाओं और आध्यात्मिक अभिप्रायों का रूपक मानते थे। 2. एपिकारमस तथा थियोगोनस से रूपकात्मक सम्प्रदाय का विकास हुआ, जो यह मानता था कि ग्रीक देवता प्राकृतिक पदार्थों के मानवीकरण हैं। 3. भारतीय नैरुक्त तथा यूनानी रूपकात्मक सम्प्रदाय का नवीन रूप प्रकृतिवादी सम्प्रदाय है, इसका केन्द्र जर्मनी है। यह मानता है कि मिथ के आधार मानवीकरण और प्रतीक हैं और इन कथाओं के विषय प्रकृति के व्यापार हैं। इसकी तीन शाखाएँ हुईं—चान्द्र, सौर तथा ऋतुपरक। कोई समस्त ऋतुओं को चन्द्रपरक, कोई सूर्यपरक तथा कोई ऋतुपरक ही मानता है। मैक्समूलर जन्म-भर यही सिद्ध करता रहा कि कवित्व पूर्ण मिथों का प्रेरक सूर्य ही है। उसकी धारणा थी कि समस्त मिथों में प्रकाश और

अन्धकार का संघर्ष और विजय ही इंगित है। और सौरवादियों का संघर्ष ऋतुवादियों और 4. सांस्कृतिक विकासवादियों का था। सौरवादियों से इनका निरन्तर संघर्ष चलता रहा। सौरवादी व्युत्पत्ति का सहारा लेते थे और यथेच्छ अर्थदोहन करते थे, फलतः भाषिक सिद्धान्त का विरोध करते हुए इन सांस्कृतिक विकासवादियों ने बताया (टायलर, एण्ड्रलैंग प्रभृति) कि मिथ की व्याख्या में आग्रह ठीक नहीं है। ये मिथ पूर्ववर्ती धारणाओं और विश्वासों के अवशेष हैं। इनका सार्वभौम साम्य मानव मनःस्थिति की एकरूपता का प्रमाण है। 5. प्रकृतिवाद की समीक्षा रूसी समीक्षकों ने भी की। मैलिनोव्स्की ऐसा ही कार्यवादी रूसी समीक्षक है। इसकी आस्था मानव मनोविज्ञान के विकासवादी सम्प्रदाय में नहीं है। वह प्रकृतिवादी व्याख्या के मूल में निहित या कल्पित अभिरुचियों के ही विरुद्ध है। उसकी दृष्टि से मिथ एक ठोस तथा महत्वपूर्ण सामाजिक वास्तविकता है, न कि निराधार कल्पना और विश्वास। इसके अनुसार मिथ सामाजिक व्यवस्था के संरक्षण और दृढ़ीकरण के माध्यम हैं। प्रकृतिवादी व्याख्या का विरोध बालमनोविज्ञान के विशेषज्ञ पियाने ने भी किया है और माना है कि चूँकि बालक में भेदवृत्ति का विकास नहीं होता, अतः मध्यस्थ प्रतीक के उद्भावन की सम्भावना नहीं है। 6. ऐतिहासिक सम्प्रदाय मिथ को अतीत की वास्तविक घटना मानता है। यास्कर्चचित ऐतिहासिकों की भाँति ग्रीक यूहेमेरिस्ट भी मानता है कि मिथ ऐतिहासिक तथ्यों के अतिरंजित रूप हैं और यूनानी देवता प्राचीन राजाओं के रूपान्तर। ऐतिहासिक सम्प्रदाय का एक आधुनिक रूप भी है जिसका विकास जर्मन और अमरीका में हुआ है। 7. एक भाषिक सम्प्रदाय भी है जो मानता है कि मिथ की उत्पत्ति भाषा से होती है। भाषा में धात्वर्थ का विस्मरण भी मिथों को जन्म देता है। 'ऋक्ष' सप्त, मूलतः इसका अर्थ दीप्तिमान् रहा होगा। पर धात्वर्थ विस्मृतिवश एक तरफ 'भालू' के अर्थ में (सेवितवीर्य) प्रसिद्ध हुआ और दूसरी ओर सप्तर्षि।

मनोविश्लेषणशास्त्र अथवा मनोविज्ञान के आलोक में गहरे आधारों में जब जाँच-पड़ताल आरम्भ हुई, तब और भी व्याख्या सम्प्रदाय सामने आये। 8. मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मिथों का सम्बन्ध अचेतन से जोड़ा गया और माना गया कि मिथ एक प्रकार के दिवास्वप्न हैं। फ्राजवो आज मानता है कि मिथ संवेदनाजन्य अनुभवों का कल्पना-निर्मित अतिरंजित रूप है। फ्रायड अवचेतन में दमित भावनाओं का प्रतीकात्मक रूप मानता है और मानता है कि ये भावनाएँ यौन होती हैं। मिथों की रचना का प्रेरणा स्रोत यही दमित इच्छा है। फ्रायड का अचेतन व्यक्तिगत अनुभवों तथा ग्रन्थियों से निर्मित है। युंग ने इसका विरोध किया और 9. बताया कि फ्रायड का अवचेतन वस्तुतः अवचेतन की ऊपरी परत है, उसके नीचे एक दूसरा मानस भी है, यह 'सामूहिक मानस' कहा जाता है। यह आद्य प्ररूपों या आद्यप्ररूपी बिम्बों से निर्मित है। व्यक्ति द्वारा अर्जित नहीं, बल्कि यह सामूहिक मानस अनुवंशतः वैसे ही उपलब्ध होता है जैसे और जैविक विशेषताएँ। चित्रगत स्वाभाविक बन्ध के टूटते ही ये आद्यप्ररूप बिम्ब या प्रतीक के रूप में उभरने लगते

हैं। इस प्रकार मिथ आत्मा की प्रकृति को व्यक्त करनेवाली मानसिक घटनाओं में प्रथम और प्रमुख है। फ्रायड का दृष्टिकोण वैयक्तिक है, पर युंग का अ-वैयक्तिक। युंग मानता है कि मिथ पूरी जाति का स्वप्न है। कोई भी मिथ किसी जाति के सामूहिक अवचेतन को व्यक्त करता है। 10. यद्यपि कैसिरर भी मानव मनोविज्ञान में प्रतीकात्मकता का महत्व स्वीकार करता है तथापि उसकी धारणा फ्रायड और युंग से भिन्न है। वह प्रतीक-गर्भ मिथ निर्माण का स्रोत न तो वैयक्तिक अचेतन मानता है न ही सामूहिक अचेतन, प्रत्युत वह मानता है कि यह मन की स्वाभाविक क्रिया है कि मन प्रतीकों में व्यक्त होता है। प्रतीकीकरण उसकी स्वाभाविक क्रिया है। कैसिरर की इस चिन्तन-पद्धति को प्रतीकवादी दर्शन-शास्त्र कहते हैं। मानव चेतना की मिथ, कला, कविता आदि अभिव्यक्तियाँ अज्ञानात्मक हैं, यह लोगों ने मान लिया है। क्रोचे की भाँति कैसिरर भी कहना चाहता है कि चेतना की ही क्रिया दर्शन है और कला कविता भी। क्रोचे ने कलात्मक ज्ञान को सर्वोच्च सहज प्रकाश्य ज्ञान माना है। इसी प्रकार प्रतीकवादी दर्शन-शास्त्र मानस की बौद्धिक क्रिया को ही आधारभूत या सर्वश्रेष्ठ नहीं मानता। वह मानता है कि हमारा मानस दो भिन्न प्रक्रियाओं, मिथिक तथा दार्शनिक, से काम करता है। पहली संश्लेषणात्मक है और दूसरी विश्लेषणात्मक। यह मानता है कि चेतना वस्तु का यथावत् ग्रहण नहीं करती, बल्कि अपनी प्रकृति के अनुरूप गढ़े हुए प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण करती है। मानस और वस्तु सत्ता के बीच मध्यस्थ का काम ये प्रतीक करते हैं। ये प्रतीक गणितात्मक भी हैं और मिथिकल भी। पहले को बौद्धिक और दूसरे को गैर-बौद्धिक कहते हैं। चेतना की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है जो विज्ञान में भी व्यक्त होती है, और कला में भी। इसलिए मनुष्य की परिभाषा महज इतनी कि वह बौद्धिक प्राणी है, अधूरी है। विपरीत इसके, यह कहना सही है कि वह प्रतीकीकरण करने-वाला प्राणी है। मनुष्य की चेतना के ये दोनों पक्ष हैं। मिथ और विज्ञान प्रतीकी-करण की प्रक्रिया के ही दो रूप हैं। मिथ गैर-बौद्धिक और आवेगात्मक है। यह अनुभूति है जो इनमें अन्विति लाती है। इसीलिए दिनकर ने कविता को एक 'छलाँग' कहा है। जब हम उसे, अन्वितिकारी अनुभूति को नहीं पकड़ पाते तब हमें मिथ, असंगतियों और अव्यवस्थाओं का पुनः प्रतीत होने लगता है। और फिर तरह-तरह की आध्यात्मिक-अनाध्यात्मिक व्याख्याओं से उसमें संगति ढूँढने लगते हैं, फलतः अनेक व्याख्या सम्प्रदायों का जन्म होता है। कैसिरर की तरह लैंगर भी प्रतीकीकरण की प्रक्रिया के दो भेद मानता है—**भाषिक** तथा **अ-भाषिक** (अनुष्ठानात्मक)। 11. एक आनुष्ठानिक सम्प्रदाय भी है।

इस प्रकार संक्षेप में, इन सारे व्याख्या-सम्प्रदायों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, समाज वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक। पहला मिथ का उद्भव, सामाजिक आवश्यकताओं से स्वीकार करता है और दूसरा मन की आन्तरिक आवश्यकताओं से। पिछले कतिपय दशकों में एक और विकल्प उभरा है, सामाजिक मनोवैज्ञानिक विचारधारा। यह धारा मिथ की मानस और परिवेश की क्रिया-

प्रतिक्रिया की परिणति मानती है। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त इस सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास है—लेवीस्त्रास का। इनका प्रयास संगठनात्मक नृतत्त्व-विज्ञान के सन्दर्भ में 'मिथ विज्ञान' की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। इन्होंने मिथों का गठनात्मक विश्लेषण किया है, जिसमें इसके अध्ययन की प्रमुख भूमिका मिली है।

इस प्रकार मिथ के उद्‌भव, स्वरूप एवं व्याख्या के विषय में अनेक सम्प्रदाय हैं और प्रत्येक के पीछे एक दर्शन है, विचारधारा है। विचार करने पर यही लगता है कि प्रत्येक पक्ष अपने अतिवाद में 'मिथ' की व्याख्यागम्य कुछ-न-कुछ सम्भावनाएँ छोड़ देता है। बदले या बदलते हुए सांस्कृतिक सन्दर्भों में 'मिथ' के मूल रूप तक पहुँचना एक चुनौती है पर प्रयास जारी है।

विविध सम्प्रदाय

प्राचीन मानव-जाति ने अपनी कल्पना, अपने अनुराग, अपने भय आदि को साकार प्रतीकों और रूपकों द्वारा पुरावृत्त कथाओं में निबद्ध किया। जो कुछ कथा में कहा गया, उसी के क्रियात्मक रूप को यज्ञ (रिचुअल) कहते हैं। इन्हीं से मिलता-जुलता इन्द्रजाल था (मैजिक टोटम), जिसका प्राचीन मानव-समाज में प्रचलन था। इसमें वनस्पति, आदि बाहरी सजीव-निर्जीव पदार्थ को भी अनुप्राणित एवं प्रभावित करने की चेष्टा थी। इस प्रकार वह कष्ट निवारण तथा वरदान-प्राप्ति की भी आशा करता था। इतिहास के आरम्भ से पूर्व मानव की कल्पना और रागात्मक प्रवृत्ति जाग्रत होकर कथा के रूप में प्रकट होने लगी। फलतः सर्वत्र पुरावृत्त की अपनी परम्परा मिलती है।

वेदों में विभिन्न प्राकृतिक उपादानों और शक्तियों को सजीव और सक्रिय रूप में निरूपित किया गया है तथा उनमें अनेक कथाएँ भी मिलती हैं। ये हैं वैदिक पुरावृत्त। परिमाण और महत्त्व में पौराणिक पुरावृत्त कहीं अधिक वैशिष्ट्ययुक्त है। पुराणों में इतिहास का अंश कितना है, यह कहना कठिन है पर पुरावृत्तात्मक रूप कम-ज्यादा सर्वत्र विद्यमान है। समुद्र मन्थन, इन्द्र तथा देवों का दानवों के साथ संघर्ष, मन से सम्बद्ध कथाएँ, उर्वशी, मेनका आदि की कथाएँ पुरावृत्त आदिम मानवसमाज का दिवास्वप्न था, उसमें सामूहिक आकांक्षाएँ और प्रतिक्रियाएँ मुखरित हुई थीं। पुरावृत्त केवल जनसाधारण के विश्वास और जनश्रुति रहने और संचरित होनेवाली वस्तु है। हर्बर्ट रीड का कहना है कि स्वतःचलित लेखन में पुरावृत्त, स्वप्न तथा कविता का अन्तर मिट जाता है।

पुरावृत्त में प्रतीकों का बहुत महत्त्व होता है। इसमें कथा, पात्र, पदार्थ सभी प्रतीक का कार्य करते हैं। भारत में सरस्वती, लक्ष्मी आदि का प्रतीकात्मक ही महत्त्व है। महाभारत के पात्र प्रतीक-रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं। कौरव और पाण्डव का न्याय-अन्याय तथा राम-रावण का पाप-पुण्य का द्वन्द्व है। फ्रायड के अनुसार पुरावृत्त तथा स्वप्न, उभयत्र कामवासना तथा मृत्यु सम्बन्धी प्रतीकों का

प्राचुर्य रहता है। कामवासना का सम्बन्ध प्रजनन तथा जीवन रक्षा में है। भारतीय साहित्य में शेषनाग के फन पर विष्णु का शयन करना, कृष्ण द्वारा नाग का दमन किया जाना तथा अन्य कथाओं में नाग की पराजय (परीक्षित) सभी मृत्यु पर जीवन की विजय का संकेत करते हैं। प्रतीक की दृष्टि से पुरावृत्त स्वप्न तथा कविता एक सूत्र में ग्रन्थित है। इनको एक सूत्र में ग्रन्थित करने का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य युंग ने किया है। स्वप्नावस्था में हमारा अचेतन मन सक्रिय रहता है और हमारे स्वप्न सप्रयोजन और सार्थक होते हैं। स्वप्नों में व्यवस्था और अर्थ का संकेत होता है, अतः कविता और स्वप्न में कोई तात्त्विक भेद नहीं होता। पुरावृत्त में गम्भीर अर्थ छिपा रहता है---इसकी पुष्टि रिचर्ड्स तथा युंग ने की है। युंग ने कविता और पुरावृत्त को सामूहिक सचेतन मन से सम्बद्ध किया है। पुरावृत्त और कविता में मिलनेवाले अनेक पात्र होते हैं अर्थात् उनका पूर्वरूप अथवा आदर्शरूप सामूहिक अचेतन मन में विद्यमान रहता है। कवि उनका आवाहन करता है और वे रूप स्वतः चेतना में उभरकर आ जाते हैं। स्वप्न, काव्य तथा पुरावृत्त में समानरूप से एक ऐसी परमसुन्दरी का चित्र सामने आता है जिससे हम पूर्वपरिचित हैं—शकुन्तला, मेनका, उर्वशी।

पुरावृत्त, स्वप्न और कविता में बिम्ब के कारण भी समानता है। प्रतीक में सूक्ष्म अर्थ और प्रभाव की नियोजना रहती है तथा उसके सम्पूर्ण अभिप्राय की व्याख्या अन्य शब्दों द्वारा नहीं की जा सकती। प्रतीक में अस्पष्टता रहती है। बिम्ब का सीधा सम्बन्ध अभिव्यक्ति और मानस पटल पर उभरनेवाले चित्रों से होता है। बिम्ब की दृष्टि से कविता दो प्रकार की मानी जाती है—Metaphorical तथा Mythical। आदिम मानव में तीव्र अनुभूति की क्षमता थी, अतः कल्पना तथा भावना द्वारा प्रसूत मानसिक चित्र अत्यन्त स्पष्ट होकर आविर्भूत होते थे—सूर्य के घोड़े के रथों का चित्र, उषा का चित्र। पुरावृत्त में स्पष्ट चित्रों की पीठिका कौतूहल, विस्मय, भय तथा आह्लाद द्वारा तैयार होती है। स्वप्न में उभरे हुए स्पष्ट बिम्बों के साथ कभी-कभी अस्पष्ट और विघटनशील बिम्बों का मेल मिलता है। यही व्यवस्था मिथिकल अर्थात् पुरावृत्तात्मक काव्य में मिलती है।

मिथ और लिजेण्ड में भेद करना कठिन है। मिथ में कल्पना का अंश अपेक्षाकृत अधिक होता है और लिजेण्ड की यथार्थता में परम्परागत विश्वास काम करता है।

साहित्य पुरावृत्त का बहुत ऋणी है। भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से पुरावृत्त का समावेश होता आया है। रामायण और महाभारत में इतिहास के साथ पुरावृत्तों का समावेश हुआ है। न केवल अनेक कथाएँ और उपकथाएँ पुरावृत्त से ग्रहीत हुई हैं, वरन् अभिप्राय, प्रयोजन और वातावरण सभी पुरावृत्त का अनुसरण करते हैं। कालिदास के कुमारसम्भव, विक्रमोर्वशीयम्—पुरावृत्त पर ही आधारित हैं। बौद्धसाहित्य का अपना पुरावृत्त है जो बुद्ध की जीवनी और जातकों में उपलब्ध है। कथा और काव्यों में भी यह निबद्ध है। यहाँ पात्र प्रतीक बनकर आये हैं,

स्थान की कोई भौगोलिक सत्ता नहीं है। सर्वत्र कल्पना तथा भावना का साम्राज्य है। गूढ़ार्थ भी पुरावृत्त के अनुरूप है। सभी प्रेमाख्यानों में ये तत्त्व मिलेंगे।

विचारकों का एक दल पुरावृत्त और कविता में प्रतीकों की प्रधानता पर विशेष बल देता है जबकि दूसरा दोनों को Archetype अर्थात् आदर्शरूप से सम्बद्ध मानता है। अतः आलोचक का मुख्य कर्तव्य आदर्श का निर्धारण और उससे कथा एवं काव्य का सम्बन्ध निरूपण है। आलोचना के अनेक कार्य हैं किन्तु अन्ततः आलोचक मानवशास्त्र के विज्ञपण्डित के रूप में अपना कार्य करता है, अतः आलोचक को लिटरेरी एन्थ्रापॉलाजिस्ट कहते हैं। आलोचक पुरावृत्त, लोक कथा तथा रिचुअल, अर्थात् यज्ञ और पूजाविधियों का अध्ययन करता हुआ कविता तक पहुँचता है और इन सभी में जो समान तत्व है, उसकी खोज करता है। पर यह भी अतिवाद है। इसमें काव्य-मूल्यों का कोई जिक्र नहीं है, केवल उसके विषय और उसकी उत्पत्ति (कविता के) के प्रश्न में ही आलोचक उलझकर रह जाता है। रिचर्डचेज़ मानता है कि समस्त मिथिकल कविता उत्कृष्ट होती है और कविता तथा मिथ दोनों रेचन द्वारा भावों को संयत और परिष्कृत करते हैं। आदिम मानव ने वैयक्तिक और सामूहिक मन में दबे हिंस्रजीवों की भाँति उग्र और भयावह तत्त्वों को बाहर निकालकर पुरावृत्तों में बन्द कर दिया है। धर्म ने भी पुरावृत्त की स्थानापन्नता की। उसमें भी हमारे कुरूप विचार और भाव-रूप बदलकर रूपान्तरित हो गये। धर्म के विघटन से जब वे पुनः बाहर निकले, तब कला और सौन्दर्य के पिंजड़े में बन्द किये गये।

(फ्राई) नार्थ्राय की भाँति लेस्ली फीड्लर भी मानते हैं कि साहित्य का एक ही प्रतिष्ठित विषय है, आर्किटाइप। कवि उसी को अपने ढंग से निरूपित करता है। कवि के मन में चिरन्तन आदर्श और वैयक्तिक विचार, भाव एकीकृत होकर पुरावृत्त अथवा कविता के रूप में प्रकट होते हैं।

विचारकों के ये मत कृति के साहित्यिक मूल्यांकन से विरत होते हैं। मिथ-क्रिटिक साहित्यिक मूल्यांकन छोड़ देते हैं। मॉड बाडकिन का कहना सन्तुलित है कि कतिपय Archetypal Pattern अर्थात् मौलिक चित्र, पुरावृत्त और कविता में निरन्तर विद्यमान रहे हैं, हमारे सामूहिक अवचेतन मन में वे सदैव विद्यमान रहे हैं। अतः मिथ सम्बन्धी अध्ययन और चिन्तन ने समीक्षा की नवीन सम्भावनाओं का द्वार अवश्य खोल दिया है पर परम्पराप्रतिष्ठ आलोचन का यह स्थानापन्न हो जायेगा—यह मानना कठिन है। समीक्षा का लक्ष्य है—रचना का वास्तविक मूल्यांकन। मिथ क्रिटिक्स का लक्ष्य मुख्य रूप से मानवशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से है। मूल्यांकन उसके लिए गौण महत्त्व की वस्तु है। कैसिरर और लैंगर ने प्रतीकात्मक रूप की खोज की है, फ्राई सामूहिक अचेतन में निहित मूल-वासना तक पहुँचना लक्ष्य मानता है, 'चेज़' ने कतिपय सौन्दर्यपरक तत्त्वों की चर्चा अवश्य की है, किन्तु उनकी प्रमुख व्याख्या वासनाओं के रेचन से सम्बद्ध है। युंग, फीड्लर, कु॰ बाड्किन आदि का आग्रह 'आर्किटाइप' अर्थात् मूल चित्रों पर

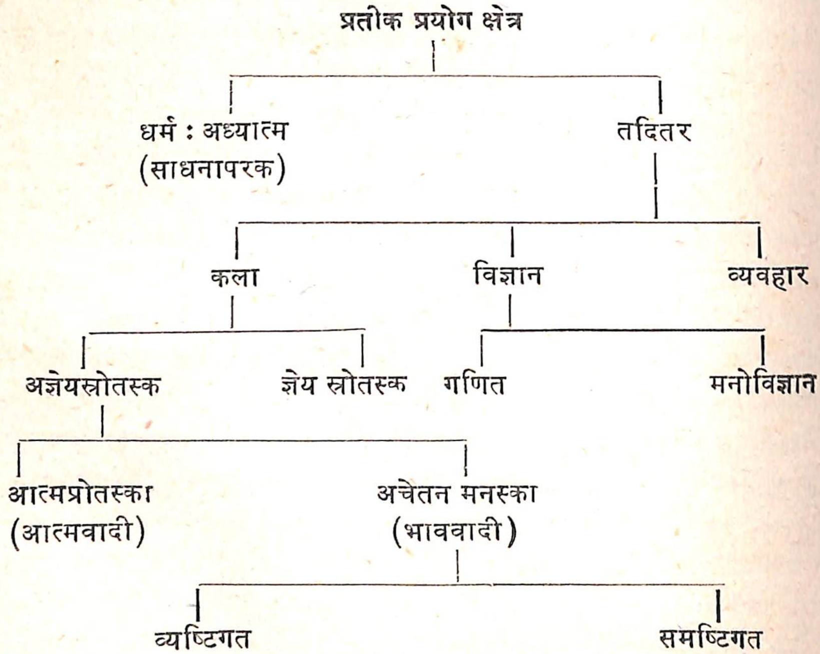
है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पुरावृत्त मूलक नवीन समीक्षा में मूल्यों की उपेक्षा है। यह पद्धति नवीन समीक्षा-साधनों और बाह्य उपकरणों पर ही विचार करके सन्तुष्ट हो जाती है। यदि साहित्य के सन्दर्भ में उसको समझने के माध्यम रूप में हम इसका अध्ययन करते हैं तो इसका पर्यालोचन साहित्य की समझ में पर्यवसित होना चाहिए।

इस प्रकार 'बिम्ब', 'प्रतीक', और 'मिथक' तीनों ही आधुनिक रचना-संसार के महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द हैं। 'मिथक' तमाम विवादास्पद स्थितियों के 'बिम्ब' और 'प्रतीक' गर्भ हो सकते हैं, और हैं। अतः मिथक को समझने के लिए 'बिम्ब' और 'प्रतीक' का भी समझना आवश्यक है। प्रस्तुत प्रयास इसी दिशा का प्रयास है।

प्रतीकत्व और उसका तत्व दर्शन

प्रतीकत्व

यों 'प्रतीक' शब्द के प्रयोग का देश और काल पर्याप्त विस्तृत है। ऋग्वेद की ऋचाओं से लेकर अद्यावधि इस शब्द की अर्थयात्रा चल रही है। इस शब्द का प्रयोग व्यवहार और चिन्तन शास्त्र तथा विज्ञान के क्षेत्र में तो होता ही है, कला और अध्यात्म के क्षेत्र में भी अत्यन्त गम्भीरता के साथ किया जाता है। व्यवहार में प्रयुक्त भाषा (ध्वन्यात्मक) प्रतीक ही मानी जाती है और विज्ञान के क्षेत्र में गणित तथा मनोविज्ञान में भी प्रतीक का प्रयोग देखा जाता है। ऋग्वेद में आयी 'पृथु प्रतीक मध्वैधे अग्निः' ऋचा में भी प्रतीक शब्द अवयव के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। कोशकार भी इसकी पुष्टि करते हैं। कलात्मक अभिव्यक्ति और रहस्यवाद के क्षेत्र में मर्मी सर्जकों ने प्रतीक का ही सहारा लिया है। इसी प्रकार उपासना के क्षेत्र में औपनिषदिक ऋषियों ने प्रतीकोपासना की बात की है, जिसका पल्लवन परवर्ती काल में विभिन्न मार्ग के साधकों द्वारा प्रतीकोपासना में लक्षित होता है। निष्कर्ष यह कि 'प्रतीक' शब्द विभिन्न क्षेत्रों, सन्दर्भों तथा रूपों में प्रयुक्त मिलता है, विशेषकर इसकी महिमा कला तथा धर्म के क्षेत्र में गायी गयी है। प्रयोग-क्षेत्र की दृष्टि से चित्र इस प्रकार निष्पन्न होता है—



अभिप्राय स्पष्ट है कि 'प्रतीक' धर्माध्यात्म के उपासकों के लिए, साधनकाल में साधना के लिए [प्रतीकोपासना] और सिद्ध होने के बाद अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित होता है। जो धर्माध्यात्म के साधक रहस्यवादी भूमि के नहीं हैं, उनके अन्तर्गत विशुद्ध कलाकार, वैज्ञानिक तथा लोक जन आते हैं। विशुद्ध कलाकार ऐसे भी हैं, जो कवित्व का स्रोत अज्ञेय दिव्य शक्ति को मानते हैं और कुछ रहस्यमय मनोजगत को। यह रहस्यमय अचेतन मनोजगत् व्यष्टिगत भी हो सकता है और समष्टिगत भी। पदार्थवादी कलाकार स्वीकार करते हैं कि प्रयत्न से ऐसा कुछ भी नहीं है, जो नहीं जाना जा सकता। वे शक्ति के ज्ञेय होने में विश्वास करते हैं। विज्ञान और व्यवहार-क्षेत्र में प्रतीक अपेक्षाकृत रूढ़ होते हैं या हो जाते हैं। व्यवहारोपयोगी भाषा के घटक वाचक शब्द भी भाषाविदों की दृष्टि में (Vocal Symbol) यादृच्छिक तथा व्यवस्थित ध्वन्यात्मक 'प्रतीक' ही हैं, पर ये प्रयोग में रूढ़ हो गये हैं। विज्ञान में मनोविज्ञान या मनोविश्लेषणशास्त्र का जहाँ तक सम्बन्ध है, स्पष्ट ही अचेतन की भावनाएँ स्वप्न में यथावत् व्यक्त न होकर प्रतीकात्मक ढंग से व्यक्त होती हैं। ये प्रतीक स्वप्न-विश्लेषकों के द्वारा एक विशेष अर्थ में निश्चित कर दिये गये हैं, फलतः वे भी रूढ़ हो गये हैं। इसीलिए उन निश्चितार्थक प्रतीकों के माध्यम से वे मनस् का विश्लेषण भी कर पाते हैं। युंग ने इस क्षेत्र के प्रतीक को भी अर्थ की दृष्टि से गत्यात्मक ही माना है। प्रतीक गत्यात्मक होते हैं, उस क्षेत्र के जो अपरिमेय अनुभूति अथवा रमणीय अनुभूति से जुड़कर अभिव्यक्ति का माध्यम बनते हैं, उनकी अर्थगत सम्भावनाएँ, व्यंजनाएँ पूर्वनिश्चित नहीं होतीं। प्रतीकोपासना के सन्दर्भ के प्रतिमा या प्रतीक निश्चितार्थक ही होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर जो 'प्रतीक' गत्यात्मक होते हैं—वे कलात्मक अभिव्यक्ति से ही जुड़े हुए हैं, शेष अपेक्षाकृत स्थिर प्रकृति के ही होते हैं।

प्रयोजन की दृष्टि से विचार करने पर निश्चित ही 'प्रतीक' अभिव्यक्ति के लिए हैं। वे अभिव्यक्ति के माध्यम हैं, ऐसे माध्यम जो इतर माध्यमों से अपना वैशिष्ट्य रखते हैं। अभिव्यक्ति ज्ञात की तो होती ही है, कभी-कभी अज्ञात की अभिव्यक्ति के भी वे माध्यम बन जाते हैं। 'सत्य' के कलाकार अनुसन्धायक 'प्रतीक' को 'सत्य' के अन्वेषण का भी माध्यम बनाकर प्रयुक्त करते हैं। निष्कर्ष यह कि 'प्रतीक' ज्ञात-सत्य या अनुभूत-सत्य की अभिव्यक्ति के ही माध्यम नहीं हैं, अज्ञात और अननुभूत सत्य के अन्वेषण के भी सुन्दर माध्यम हैं। सिद्ध मर्मी तो अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का पल्ला पकड़ता ही है, साधक भी प्रतीकोपासना में जिस प्रतीक को पकड़ता है, वह भी 'स्वरूप' की 'अभिव्यक्ति' में ही माध्यम होता है।

इस प्रकार स्थिर और गत्यात्मक स्वभाव के तो प्रतीक होते ही हैं, अभिव्यक्ति की दृष्टि से ज्ञातविषयक तथा अज्ञातविषयक भी होते हैं।

अर्थगत सम्भावना की दृष्टि से—

'प्रतीक'

स्थिर — गत्यात्मक

अभिव्यक्ति की दृष्टि से—

'प्रतीक'

ज्ञात विषयक (प्रकाशन—माध्यम) — अज्ञात विषयक (अन्वेषण—माध्यम)

प्रस्तुत निबन्ध में केवल **गत्यात्मक प्रतीक** पर ही अपने को केन्द्रित करना चाहता हूँ और चाहता हूँ कि मनोविज्ञान, काव्यशास्त्र तथा अध्यात्मशास्त्र के आलोक में, प्रतीक के स्वरूप और तात्त्विक दर्शन पर कुछ प्रकाश डाल सकूँ।

जहाँ तक 'प्रतीक' के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ का सम्बन्ध है—वह प्रयोग साक्षिक विकासशील 'प्रतीक' के स्वरूप को स्पष्ट करने में उतना उपादेय नहीं है, फलतः सांगोपांगता की ही दृष्टि से सही, उसके उल्लेख का लोभ सम्वृत नहीं कर पा रहा हूँ। संस्कृत के 'वाचस्पत्यम्'[1], 'शब्दकलपद्रुम'[2] तथा 'अमरकोष'[3] की टीकाओं में कुल दो प्रकार की व्युत्पत्तियाँ मिलती हैं—(1) प्रति (उपसर्ग) अदादिवर्गीय गत्यर्थक इण धातु—कक् (प्रत्यय)। (2) दूसरी व्युत्पत्ति शब्दकलपद्रुमकार ने 'कक्' की जगह 'ईकक्' प्रत्यय के प्रयोग द्वारा दी है—प्रति इ+ईकक्! प्रत्यय का साधन प्रतीक हैं। निःसन्देह प्रतीक प्रत्येय नहीं हैं, प्रत्यायक ही हैं, पर प्रत्यायक इतर प्रत्यायकों से भिन्न व्यावृत्त।

प्रयोग-साक्षिक विचार करते समय प्रतीक दो परम्पराओं के अर्थों में संयुक्त होने के कारण अवधान-गर्भ विवेचन-सापेक्ष है। 'प्रतीक' पारम्परिक भारतीय चिन्तन के दौरान प्रयुक्त रूप में तो मिलता ही है, पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क से Symbol के रूपान्तरण रूप में भी प्रयुक्त होता है और उसके आशय को भी आत्मसात् करता है। इस प्रकार यह मौलिक भी है और रूपान्तरित भी। दोनों ही स्थितियों में 'प्रतीक' प्रत्यायक है--प्रत्यय का माध्यम है, अभिव्यक्ति है। चिह्न या निशान भी प्रत्यायक होते हैं, पर यदि वे रूढ़ और अर्थविशेष तक सीमित हो गये तो निशान या चिह्न मात्र (sign) ही हैं—'प्रतीक' नहीं, या यह कहें कि 'स्वस्तिक' भी प्रतीक ही है, पर वह रूढ़ार्थ बनकर रह गया है—अपना प्रतीकत्व खोकर रूढ़ प्रत्यायक चिह्न मात्र रह गया है। व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या में 'गत्यर्थकता' का संकेत है और गति ज्ञानार्थक तो है ही--फलतः **'प्रतीक' में प्रत्यायकता के साथ-साथ गत्यात्मकता भी अनिवार्य है।** रूढ़ होना उसके प्रतीकत्व के विरुद्ध है। मूलतः 'प्रतीकत्व' के लिए जहाँ प्रत्यायकत्व अपेक्षित है, वहाँ अर्थ की दृष्टि से गत्यात्मकत्व भी। दोनों के मेल से 'प्रतीकत्व' की निष्पत्ति, व्युत्पत्ति द्वारा समर्थित है। यद्यपि

शास्त्रकार कहते हैं—'अन्यद्धि व्युत्पत्ति निमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम् ।'—अर्थात् कभी-कभी शब्दार्थ व्युत्पत्ति की दृष्टि से भिन्न और प्रयोग प्रवृत्ति की दृष्टि से भिन्न हो जाते हैं पर योगरूढ़ शब्दों में ऐसी स्थिति नहीं आती। योगरूढ़ शब्दों में अवयव शक्ति और समुदाय-शक्ति—दोनों ही काम करती हैं। 'प्रतीक' शब्द के साथ भी यही बात है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से अवयव शक्ति जिस अर्थ का (प्रत्यायक गतिमान) संकेत करती है, प्रयोग की समुदाय-शक्ति भी उसके अनुरूप पड़ती है।

तत्त्व दर्शन

इस निष्कर्ष के आलोक में प्रतीकत्व पर विचार ज्ञान-विज्ञान की उन शाखाओं के सन्दर्भ में करना उचित है जो उसके प्रतीकत्व को तात्विक दर्शन की भूमि प्रदान करती है। प्रतीकत्व के दर्शन को तात्विक भूमि प्रदान करनेवाली शाखाएँ हैं—मनोविज्ञान, काव्यशास्त्र तथा अध्यात्म दर्शन।

मनोविज्ञान के आलोक में प्रतीकत्व और उसका तत्त्व दर्शन

मनोविज्ञान[4] की दृष्टि से 'प्रतीक' पर विचार करते समय विशेषतः मनोविश्लेषण विधायक फ्रायड तथा विश्लेषणात्मक मनोविज्ञानी युंग दृष्टिपथ पर उतरते हैं। फ्रायड यहूदी था और युंग ट्यूटन, फलतः आनुवंशिक और जातीय संस्कारों के कारण, इनकी चिन्तन-दिशा भिन्न है। पहला पराजित और निराश्रित होने से हीनता ग्रन्थि का शिकार है, जबकि दूसरा विजयी और स्वाधीन होने से स्वस्थ मनोवृत्ति के आत्मगौरव का अनुभव करता है और आत्मविकास का पक्षधर है। पहला निराशावादी और अपने को भाग्य का शिकार माननेवाला है, जबकि दूसरा आशावादी और अपने को भाग्यविधाता समझनेवाला है। इस मूलभेद के कारण मनःशास्त्र के क्षेत्र में दोनों की स्थापनाएँ भिन्न हो जाती हैं। फ्रायड जहाँ मानव-व्यक्तित्व का परिचालक 'लिबिडो' को मानता है, जो काम शक्तिमय है, पाशविक, अनैतिक और अराजक कामनाओं का भण्डार है, वहाँ युंग 'लिबिडो' में कामवृत्ति के अतिरिक्त जीवन की और-और शक्तियों का भी अस्तित्व स्वीकार करता है और उसके लिए एक अतिरिक्त संज्ञा का आविष्कार करता है, इच्छा-शक्ति (Will for power)। फ्रायड मनस् के तीन स्तर मानता है—चेतन, पूर्वचेतन तथा अचेतन। यह अचेतन स्तर है, जहाँ लिबिडो का समुद्र लहरा रहा है। चेतना के तीनों स्तरों पर इड, ईगो तथा सुपर ईगो का अस्तित्व है। यह अवश्य है कि इनकी सक्रियता चेतन स्तर पर ज्ञातभाव से तथा इतर अन्य स्तरों पर अज्ञात भाव से होती है। इड केवल अचेतन स्तर पर काम करता है और ईगो तथा सुपर ईगो शेष दो स्तरों पर काम करता है। युंग की कल्पना भिन्न है। वह मनस् के दो ही स्तर मानता है—चेतन तथा अचेतन। अचेतन स्तर को अवश्य व्यष्टिगत और सामूहिक रूप में विभक्त करता है। व्यष्टिगत अचेतन (प्रीकांशस) अर्जित है जबकि समष्टिगत विरासत में जन्मजात प्राप्त। सामूहिक अज्ञात मन की छः पर्तें मानता है—पारिवारिक,

जातीय (Caste), राष्ट्रीय, बृहज्जातीय (Race), मानवजातीय (Human race) तथा पाशविक। एक स्तर ऐसा भी है जो स्तरातीत एकता का है। फ्रायड मानता है कि 'लिबिडो' अपनी तृप्ति के लिए चेतन स्तर पर आना चाहता है पर सीमा पर प्रतिबन्धक उसे पुनः अज्ञात मन में दमित करके भेज देता है। फलतः वह दमित कामेच्छाओं का भी आगार है। यही दमित कामेच्छाएँ प्रतिबन्धक को धोखा देने के लिए (रूपान्तरित होकर) प्रतीकात्मक बनकर छद्मवेश में स्वप्न में आती हैं। फ्रायड एक वैज्ञानिक की तरह मानता है कि इस रूपान्तरण में 'अतिरिक्त' कुछ नहीं होता, चाहे वह कला का क्षेत्र हो या अन्य। वहाँ न कुछ नष्ट होता है, और न ही नया आता है, बस जो है उसी का रूपान्तरण, उदात्तीकरण, परिष्कार, परिमार्जन तथा संशोधन होता है। यही परिमार्जित, संशोधित, परिष्कृत दमित इच्छाएँ कलात्मक रूप ग्रहण करती हैं, रचनात्मक होती हैं। सांस्कृतिक विकास के लिए यह परिमार्जन आवश्यक है। युंग के यहाँ प्रतिबन्धक है ही नहीं। वह इस भाषा में नहीं सोचता। उसके यहाँ अवदमन नहीं है—निषेध और चुनाव (Rejection and selection) है।[5] युंग जहाँ अज्ञात मन की सात परतें मानता है वहीं ज्ञात मन में केवल नैतिक अहं (Ego) तथा **परसोना** (नकाब) की स्थितियाँ मानता है। 'परसोना' तथा 'ईगो'—दोनों की विकृत छाया अज्ञात मन में रहती है। परसोना की विकृत छाया ही यहाँ 'एनिमा' या 'एनिमस' के नाम से जानी जाती है। प्रत्येक व्यक्ति में इसकी स्थिति अर्द्धनारीश्वर जैसी है, स्त्रैण तथा पौरुष तत्त्व परसोना के घटक हैं। युंग के अज्ञात मन में जन्मजात अनेक मूल वृत्तियाँ हैं। कामवृत्ति उनमें से एक है। सामूहिक अज्ञात मन में भाव-प्रतिमाएँ (Archetype) हैं—आदिम जातीय भावबिम्ब रहते हैं। वहाँ प्रतिक्रिया की आदिम सरणियाँ भी हैं और उन अनुभवों की आदिम व्याख्या करने की जन्मजात क्षमता भी।[6] वैयक्तिक अचेतन में निषिद्ध, विस्मृत और उपेक्षित प्रवृत्तियाँ पड़ी रहती हैं। युंग के यहाँ 'इड' उपेक्षितप्राय है। युंग, फ्रायड की भाँति कामवृत्ति को व्यक्तित्व का एकमात्र परिचालक और नियामक नहीं मानता—वह जीवन की प्रभावी और परिचालक वृत्ति आत्मप्रसार या विकास को मानता है—फलतः अज्ञात स्तर से उठनेवाली प्रवृत्तियों में 'निषेध' और 'चुनाव' की प्रक्रिया अपनाता है। फ्रायड किसी अतिप्राकृत शक्ति या Intuition को नहीं मानता, न ही अतिरिक्त सृष्टि के अर्थ में सर्जना को। युंग यह सब मानता है। फ्रायड विज्ञान की सीमा में ही रहता है—युंग उसे लाँघकर दर्शन की सीमा में चला जाता है और अन्ततः पूर्णता या एकता के अनुभव में व्यक्तित्व की चरितार्थता मानता है।

फ्रायड के लिए स्वप्न और कला दोनों ही अज्ञात मन में दमित इच्छाओं के प्रकाशन के माध्यम हैं। उभयत्र तनाव से उन्मुक्ति होती है। उभयत्र इच्छा का परिमार्जन होता है। कलात्मक परिमार्जन में रचनाकार का चेतन मन और यथार्थ अनुभव सक्रिय रहता है, जो कला को सन्दर्भगत सार्थकता प्रदान करता है। स्वप्न में होनेवाला परिमार्जन इच्छाओं के मूल रूप को तो परिवर्तित करता है, किन्तु

कल्पना की स्वतन्त्रता उसे माध्यमहीन बना देती है। कला दिवास्वप्नमय होती है और प्रतीक ऐसे सन्धिस्थल हैं जहाँ सर्जनात्मक कल्पना और स्वप्नद्रष्टा की कल्पना का धरातल समान होता है। पर कलाकार को रोगी अचेतन से जोड़ना और कलात्मक अभिव्यक्ति को दमित कामभावना से मुक्ति तक ही सीमित करना उसकी बृहत्तर मूल्यदशा का निषेध है। युंग कला के लिए Intuition जैसी अति-प्राकृतिक शक्ति स्वीकार करता है और उसके लिए नवता या सर्जना मात्र रूपान्तरण नहीं है। किस प्रकार स्पष्ट करता है, यह देख लें—

मनोविश्लेषणशास्त्र में प्रतीक अज्ञात मन की दमित इच्छाओं से सम्बन्धित होता है, जो स्वभाव से काम-सम्बन्धी होता है। इस प्रकार प्रतीक सदैव कामवस्तु और काम-सम्बन्ध का प्रतिनिधि हुआ। काम प्रतीकों में कामेच्छा अथवा काम प्रतिमा निष्काम रूप धारण कर लेती है। मनोविश्लेषणशास्त्री रैंक और सैक्स ने प्रतीक की परिभाषा इस प्रकार दी है—"प्रतीक दमित भावनाओं की अभिव्यक्ति का पूर्ण साधन है जो अज्ञात मन की भावनाओं को छद्मवेश और ज्ञात मन के नवीन विषयवस्तु के साथ सामञ्जस्य करने की विशेष योग्यता के कारण सामान्य रूप से प्रयुक्त होता है। यह विशेष प्रकार की परोक्ष अभिव्यक्ति है जो उपमा, रूपक, अन्योक्ति, संकेत और चित्रात्मक व्यञ्जना के अन्य रूपों से अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण पृथक् है। प्रतीक इन सभी व्यञ्जनाशैलियों का उदात्त समीकरण है। यह स्थानापन्न और बोधात्मक स्थानान्तरीकरण है। यह कुछ उन निगूढ़ विषयवस्तुओं की ओर संकेत करता है जो समान धर्म रखनेवाले होते हैं या जो कुछ आन्तरिक सहसम्बन्धों द्वारा इससे सम्बद्ध होता है।"[7] स्पष्ट ही इस उद्धरण में दो बातों पर बल दिया गया है—एक तो यह कि दर्शन और अवरुद्ध इच्छाएँ प्रतीक द्वारा चित्रात्मक शैली में अभिव्यक्त होती हैं और दूसरे यह कि अज्ञात मन की भावनाओं के छद्मवेशी प्रदर्शन का यह सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

अर्नेस्ट जोन्स[8] ने प्रतीक की विशेषताओं का परिगणन किया है। उसका अभिमत है—1. प्रतीक अज्ञात मन की छिपी और दमित भावइच्छा का प्रतिनिधि है। 2. प्रतीकीकरण की प्रक्रिया स्वतःपरिचालित होती है। 3. इस पर वैयक्तिक तथ्यों का प्रभाव नहीं पड़ता। 4. इसका एक निश्चित अर्थ होता है। यह मनोविज्ञान का कोई नया अन्वेषण नहीं है। इसका प्रतिपादन भाव व प्रगति के इतिहास और जातिविकास के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाता है।

वास्तव में मनोविश्लेषण का लक्ष्य है प्रत्यक्ष के अन्तर में छिपी हुई गूढ़ भाव-इच्छा का पता लगाना—बहिरंग से अन्तरंग में प्रवेश करना। मानव-व्यक्तित्व के आन्तरिक स्तर के अव्यक्त तथ्यों, अंशों के बारे में अध्ययन करने से फ्रायड के सम्मुख प्रतीकवाद की समस्या उपस्थित हुई। फ्रायड ने यह अनुभव किया कि प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति में दमन की प्रक्रिया का प्रमुख स्थान है। इन आधारों पर कि अज्ञात मन दमित इच्छाओं का संग्रहालय है जो काम-प्रकृति विषयक है और 'लिबिडो' काम शक्ति मात्र है। फ्रायड का प्रतीक-चिन्तन कामवासना तक ही

सीमित रहा। फ्रायडियन सम्प्रदाय में यह भी माना जाता है कि प्रतीकीकरण में विचार-पद्धति का प्रारम्भिक अवस्था की ओर **प्रत्यावर्तन** भी हो जाता है। रैंक और सैक्स ने इसका समर्थन करते हुए कहा कि प्रतीक-निर्माण एक प्रत्यावर्तन प्रणाली है, इसलिए चाहे स्वप्न या रोग हो या कला और धर्म—सभी मन को, आदिम या शैशवावस्था की ओर प्रत्यावर्तन कराती है। भेद है तो केवल रूप का। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सिलवस्ट मानता है कि प्रतीक का उद्गम अप्रौढ़ मन है जो आजीवन पृष्ठभूमि में सक्रिय रहता है। उसके अनुसार प्रतीक का उद्गम आन्तरिक संघर्ष नहीं, 'भेदक बुद्धि अयोग्यता' है। प्रतीक उस मन का कार्य है जो अद्यतन और पुरातन में पार्थक्य नहीं पकड़ पाता और समानताएँ देखकर तादात्म्य कर लेता है। यह प्रारम्भिक तादात्म्य ही प्रतीक-निर्माण का आधार है। मन अधिकतर अपनी अयोग्यतावश दो वस्तुओं में तादात्मय ही करता है। प्रतीक और प्रतीयमान में साम्य नहीं है, फिर भी मन समानता ढूँढ़ लेता है। यह कार्य प्रौढ़ ज्ञात मन का नहीं है, अपितु प्राचीन प्रकृत मन का है। जोंस ने सिलवस्ट की इस स्थापना का खण्डन किया है और कहा है कि प्रतीक के निर्माण में जटिल यन्त्र क्रियमाण रहते हैं। यह सही है कि आदिम मन उतना विवेकशील नहीं रहता पर उसमें क्षमता भी नहीं रहती, ऐसा नहीं। भेदकतत्त्वों को ग्रहण न कर पाना उसकी अयोग्यता नहीं है, अपितु उसकी निष्क्रियता है, फलतः भेदक का अग्रहण उसकी अयोग्यता से नहीं, अन्य कारणों से घटित होता है।

विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के प्रवर्तक युंग ने फ्रायड की तमाम स्थापनाओं का खण्डन किया है। जहाँ फ्रायड ने यह कहा कि प्रतीक निश्चितार्थक होते हैं, युंग ने उसका विरोध किया और कहा कि 'निश्चितार्थक' के लिए 'प्रतीक' नहीं, 'चिह्न' शब्द का प्रयोग होना चाहिए। युंग गत्यात्मकता की शर्त आवश्यक मानता है और वही ठीक है। उसने 'प्रतीक' को 'चिह्न' और अन्योक्ति से पृथक् करते हुए यह कहा है—"जिसमें प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का अर्थ किसी पूर्ण परिचित समता-मूलक और संक्षिप्त व्यंजना के रूप में होता है—यह चिह्नात्मक है। अपेक्षित रूप से किसी अज्ञात विषयवस्तु की यथासम्भव अभिव्यक्ति जो किसी अन्य साधन द्वारा—अधिक स्पष्ट और समीचीन रूप में नहीं व्यक्त हो सकती, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। किसी ज्ञात वस्तु का ऐच्छिक रूपान्तर अथवा वर्णन अन्योक्ति है।"[9] निष्कर्ष यह कि युंग के अनुसार प्रत्येक प्रतीक मनोवैज्ञानिक नियमों एवं सिद्धान्तों का द्योतक है, जिसमें मानव जीवन का पथ-प्रदर्शन होता है। युंग ने प्रतीक को केवल स्थानापन्न न मानकर उसे अर्थपूर्ण और महत्त्वाव्यंजक माना है। उसका कहना है—"वे सभी मानसिक क्रिया-प्रणालियाँ प्रतीक हैं जिनके सम्बन्ध में यह मान्य है कि वे वर्तमान ज्ञान से परे, उससे कुछ भिन्न किन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण अर्थ की व्यंजना करते हैं।"[10] यदि 'क्रास' दैवीसत्ता का संकेत मात्र करके रह जाता है तब तो वह चिह्न है, पर जब किसी अज्ञात रहस्यमयी सत्ता का व्यंजक माना जाए तब प्रतीक है। युंग यह भी नहीं मानता कि प्रतीक सदैव काममूलक ही होता है।

क्रिस्टन मिलर ने ठीक कहा है कि वास्तविक प्रतीक वही है जो आन्तरिक संवेदन की अभिव्यक्ति करे और जिसकी किसी दूसरे रूप में अभिव्यक्ति न हो सके। फ्रायड यह भी मानता है कि प्रतीक अज्ञात मन की दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक ही होती है। अज्ञात मन की विषयवस्तुओं की अभिव्यक्ति अन्य कार्य पद्धतियों–संक्षेपण, विस्थापन, नाटकीपन, प्रक्षेपण इत्यादि द्वारा भी होती रहती है। पर अन्ततः ये पद्धतियाँ सहायक ही हैं—स्वतन्त्र रूप से अभिव्यंजक नहीं। प्रतीकीकरण की प्रक्रिया में प्रतीक जैसा निश्चित साधन है, वैसा अन्य कार्य-प्रणालियों में नहीं है। इसलिए प्रतीकीकरण मानव मन की एक प्रणाली की अपेक्षा अज्ञात मन के नाटक की मुख्य आधार-भूमि है। यह एक तात्त्विक प्रक्रिया है, अन्य प्रणालियाँ सहायक हैं। युंग यह मानता है कि प्रतीक अज्ञात मन की दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति तो है पर सारी इच्छाएँ काममूलक ही हों—फ्रायड की इस स्थापना से वह सहमत नहीं है। उसका अभिमत है कि प्रतीक को कामवासना तक ही सीमित रखना ठीक नहीं है। कारण, मानवप्रकृति में वैविध्य है और अन्य इच्छाएँ भी समान रूप से महत्त्व की हैं। आत्म प्रतिपादन वृत्ति का महत्त्व क्या कामवृत्ति से कम है? प्रतीक अनेक प्रकार के होते हैं—धार्मिक, नैतिक, काममूलक आदि, साथ ही प्रत्येक व्यक्ति के अपने प्रतीक होते हैं, जिनके द्वारा वह दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति करता है। प्रतीक का अर्थ गत्यात्मक है और वह व्यक्ति-सम्बन्धों से मुक्त नहीं हो सकता। युंग यह भी नहीं मानता कि केवल दमित इच्छाओं की ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होती है। उसका मत है कि अज्ञात मन में आदिम भावप्रतिमाएँ (Archetype) रहती हैं, जो मानव के विभिन्न क्रियाव्यापारों में प्रायः व्यक्त हुआ करती हैं। भावप्रतिमाएँ तात्त्विक सत्ताएँ हैं। इनका मूल स्थान संवेगात्मक अनुभूतियाँ हैं—मानसिक जीवन है। संवेगात्मक अनुभूतियों के भिन्न होने से भावप्रतिमाएँ भी भिन्न होती हैं। युंग ने अज्ञात मन को व्यष्टिगत ही नहीं, समष्टिगत या सामूहिक भी माना है। उसने यह स्थापना की कि सामूहिक अज्ञात मन के विषय ही भावप्रतिमाएँ हैं। हर एक व्यक्ति में जातीय विशेषताओं के रूप में कुछ सामान्य तथ्यों की स्वीकृति युंग की अद्वितीय सूझ है। भेद के बावजूद जैसे शरीर के बाह्य गठन में साम्य रहता है, वैसे ही मानसिक गठन में भी। यह साम्य जातीय सम्पत्ति है। विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान की इस स्थापना से 'प्रतीक' के सम्बन्ध में कई नयी बातें स्थापित हुईं। पहली तो यही कि प्रतीक केवल दमन-सिद्धान्तों तक ही सीमित नहीं है, और भी उसका समुन्नत विस्तार है। फ्रायड के यहाँ दमित इच्छाओं को आत्मतृप्ति के लिए ज्ञात स्तर पर आना पड़ता है, पर प्रतिबन्धक के भय से उसे धोखा देने के लिए छद्मवेश में प्रतीकात्मक बनकर—युंग के यहाँ किसी को धोखा देने के लिए नहीं, स्वभाव से ही प्रतीकात्मक रूप में अज्ञात मन की उपेक्षित, निषिद्ध वृत्तियाँ तथा भावप्रतिमाएँ स्वप्न में आती हैं। फ्रायड इन प्रतीकों को अतीत से, एडलर वर्तमान से तथा युंग भविष्य से जोड़ता है। युंग की धारणा है कि 'प्रतीक'

अभिनव चिन्तन के नहीं अपितु विकास की एकचिति प्रक्रिया के परिणाम हैं। वे मानते हैं कि कविता शब्दों के आवरण में दूरस्थ आदिम शब्दों की प्रतिध्वनि है। "Poetry means the distant echo of the primitive words."[12] इनकी दृष्टि में बिम्बसृजन एक सांस्कृतिक प्रयास है क्योंकि जातीय विशेषताओं से सम्पृक्त आद्य बिम्ब एक ओर तो अतीत से अनुप्राणित होता है और दूसरी ओर अपनी आन्तरिक सर्जनात्मकता के कारण भविष्य के सांस्कृतिक पुनरुत्थान से भी जुड़ा हुआ है। अस्थायी तौर पर ये बिम्ब निर्जीव और गतिहीन प्रतीत होते हैं, किन्तु आवश्यक सन्दर्भों से जुड़ते ही वे पुनर्जीवित हो जाते हैं और नये अर्थों की अभिव्यक्ति करने लगते हैं। आद्य बिम्ब का नया अर्थ-सन्दर्भ राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना से परिपूर्ण होता है। इस प्रकार युग-परिवर्तन के साथ-साथ ये आद्य बिम्ब नयी अर्थ-सम्भावना से युक्त प्रतीकों के रूप में प्रकट होते रहते हैं। युंग ने कला के साथ इन आद्य बिम्बों को जोड़कर उसकी सार्वभौमिकता का संकेत दिया है।

मनोविज्ञान ने कला के क्षेत्र में भी 'प्रतीक' पर समान रूप से विचार किया है। मनोविश्लेषण मानता है कि कला कामवृत्ति का परिमार्जित निर्देशन है, जिसमें अनैतिक वृत्ति का नैतिकीकरण होता है। यह परिमार्जन भी अज्ञात भाव से होता है। इससे स्थानापन्न तुष्टि तो मिलती है, ज्ञात और अज्ञात मन में सामंजस्य भी होता है। परिमार्जन की प्रक्रिया के सक्रिय रहने से अज्ञात मन की मूल भावना कला में प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त होती है। इस अभिव्यक्ति में अज्ञात मन का लक्ष्य कामवृत्ति की तुष्टि और ज्ञात मन का लक्ष्य समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त करने का होता है। कला स्रष्टा को भाव-ग्रन्थियों से मुक्त करती है। इस प्रकार मनोविश्लेषण में कला को अज्ञात मन का प्रतीकात्मक प्रदर्शन माना गया है। विश्लेषणात्मक मनोविज्ञानी युंग के अनुसार मानव-मन के एक और भाग की भी अभिव्यक्ति कला द्वारा होती है। वह है सामूहिक अज्ञात मन। उसके अनुसार—"अज्ञात मन केवल अवांछनीय अतीत की इच्छाओं का संग्रहालय मात्र नहीं है—बल्कि यह एक जीवित विपरीत भावों का रणस्थल है, जिसकी अभिव्यक्ति प्राचीन प्रतीक प्रतिमाओं द्वारा होती है और इन प्रतिमाओं से आत्मा के पुनरुत्थान की ओर संकेत होता है।"[13] युंग के अनुसार सच्ची कला वह है जिसमें युग-युगान्तर के मानव जाति के गूढ़तम भावों-विचारों की अभिव्यक्ति मिलती है। यह प्रतीकात्मक भावव्यंजना का सच्चा स्वरूप है। सच्चा प्रतीक अन्तर्दृष्टि की अभिव्यक्ति है, जिसके बारे में न तो कुछ ज्ञात है और न तो जिसकी अभिव्यक्ति किसी और रूप में हुई है। प्रतीक के बारे में कुमारस्वामी की भी यही धारणा है। दोनों ही प्रतीक को चिह्न नहीं मानते। परिवर्तन या विकास केवल रूप में होता है, अन्तस्तत्व नया नहीं होता —जान पड़ता है। यह अन्तस्तत्व सार्वभौम है। इस प्रकार विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान जातीय विशेषताओं से सम्पन्न अज्ञात (सामूहिक) मन को ही कला का मूल उद्गम मानता है और प्रतीक के माध्यम से व्यक्त होता है। युंग और प्लेटो की धारणा कला के सम्बन्ध तक में एक ही प्रकार की होती है, जब दोनों मानते हैं कि

कला का ध्येय प्राकृत सत्य को समझना है, उस ज्ञात मन की प्राचीन प्रतिमाओं को जीवित बनाये रखना है और ये प्रतिमाएँ हैं—स्त्रैणतासूचक 'एनिमा', पौरुषसूचक 'एनिमस', मातृसूचक 'मदरइमेजो', पितृसूचक 'फादरइमेजो' अथवा 'सोल-इमेज' इत्यादि। इन भावप्रतिमाओं का तादात्म्य न तो बाह्य वस्तुओं से किया जा सकता है और न ही अज्ञात व्यक्ति-मन की विषयवस्तुओं से। इस प्रकार युंग ने कला की व्याख्या के प्रसंग में अवदमन की प्रक्रिया को कोई स्थान नहीं दिया है। वास्तव में सन्तुलित मत तो यह है कि कला में व्यक्तिगत और सामूहिक—दोनों ही तथ्यों का समावेश होता है, ऊँचाई अवश्य दूसरे प्रकार के तथ्य में है। कभी-कभी व्यक्तिगत तथ्य भी जातीय तथ्य का रूप धारण कर लेते हैं और इससे कला मूल्यवान हो जाती है। काम-शक्ति सुरक्षणीय शक्ति है, जिसका उपयोग उसके सुनियन्त्रण से जीवन की किसी भी दिशा में हो सकता है, रचनात्मक ढंग से हो सकता है। फिर भी फ्रायड की कायिक कामवृत्ति और युंग की रचनात्मक वृत्ति में अन्तर है—दोनों के प्रबल होने पर कलात्मक हरकत आरम्भ हो सकती है। विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के अनुसार यह एक मुक्त भावग्रन्थि है।

काव्य और कलाचिन्तक तथा प्रतीक

मनोविज्ञान अपने ढंग से प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में 'प्रतीक' का अपने ढंग से विचार करता है, पर काव्यशास्त्री और कलाचिन्तकों का अपना भी विचार है और इसीलिए वह अलग से उपस्थाप्य है। भारतीय प्राचीन काव्यशास्त्र में एक कलात्मक उपकरण के रूप में 'प्रतीक' की कहीं कोई चर्चा नहीं मिलती। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में अवश्य एक कलात्मक उपकरण के रूप में इसकी चर्चा है। सामान्यतः माना जाता है कि कलाकृति या रचना की सार्थकता मूलभूत सर्जनात्मक अनुभूति के सम्यक् सम्प्रेषण में है और सम्प्रेषण का माध्यम काव्य में वह भाषा है जिसे यादृच्छिक तथा व्यवस्थित ध्वन्यात्मक[14] प्रतीक कहा जाता है। पर भाषा की इस सामान्य 'प्रतीकात्मकता' से प्रस्तुत सन्दर्भ का **प्रतीक** विशिष्ट है। सामान्य रूप से तो समस्त भाषा ही प्रतीक है पर विशेष रूप में भाषा का रूढ़ार्थक रूप नहीं, प्रत्युत अपनी व्यंजनात्मक क्षमता में गत्यात्मक शब्द-गर्भ भाषा प्रतीक मानी गयी है। भाषा की अपनी अर्थव्यंजक क्षमता की सर्वोच्च ऊँचाई प्रतीक में ही मिलती है। भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से देखा जाये तो सदृश-असदृश उभयविध वर्ण्य का बोध करानेवाला 'अप्रस्तुत' तब प्रतीक माना जायेगा, जब प्रस्तुत वर्ण्य और तद्गत अपरिमेय अर्थच्छायाएँ साहचर्यवश अनुरणन क्रम से झनझनाती रहें। ग्राहक अपनी प्रातिभ क्षमता के अनुसार उन्हें ग्रहण कर सकता है। इस 'अप्रस्तुत' में साध्यवसाना, शुद्धा तथा गौणी—उभयविध लक्षणाएँ प्रयोजनांश के रूप में अपरिमेय व्यंग्यार्थ का अनुरणन कराती हुई सक्रिय रहती हैं। यह वर्ण्य लौकिक तथा अलौकिक भूमियों से जुड़कर जितना ही सूक्ष्म और अथाह होता जायगा—व्यंजना का स्वरूप भी उतना ही अधिक विस्तृत होता जायेगा। अन्ततः भारतीय काव्यशास्त्रियों ने तो यहाँ तक

कह दिया—'व्यक्तित्वं भग्नावरणाचित्[15] व्यक्ति या व्यंजना भग्नावरणाचित् शक्ति का ही नामान्तर है। अध्यात्म के क्षेत्र की रहस्यानुभूति का आस्वाद स्वयं वही शक्ति करा सकती है, अपना आस्वाद अपने से ही सम्भव है। भारतीय साहित्य-चिन्तक-शिरोमणि अभिनवगुप्तपादाचार्य न तो फ्रायड के अर्थ में 'कामवृत्ति' को कलात्मक अभिव्यक्ति का मूल मानते हैं और न ही युंग की 'रचनात्मक-वृत्ति' मात्र को ही फिर भी 'काम' को सृष्टि का मूल मानते हैं जो सर्जक होने से रचनात्मक भी है, पर उनकी 'कामवृत्ति' तत्वतः आत्मशक्ति प्रतिभा ही है—कहा है—

यदुल्मीलनशक्त्यैवविश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रांतां वंदे तां प्रतिभां शिवाम् ॥[16]

जिस उन्मीलनी शक्ति के कारण विश्व क्षण-भर में उन्मीलित हो जाता है—उस स्वात्मायतनविश्रांत शिवा प्रतिभा को नमन है। शक्तिमान् की यही सिसृक्षा कला की जननी है। इसका केवल 'प्रतीक' द्वारा ही संकेत सम्भव है।

पश्चिमी काव्यशास्त्रियों ने कलाचिन्तन, दर्शन तथा मनोविज्ञान—सभी के आलोक में 'प्रतीक' का प्रतीकत्व और उसके तत्व दर्शन को स्पष्ट किया है। विद्वानों का विचार है कि 'सिम्बल' शब्द का जिस ग्रीकधातु से व्युत्पादन किया जाता है, उसका अर्थ है एक साथ जोड़ना या तुलना करना। इसीलिए 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में प्रतीक को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—"Symbol, the term given to a visible object representing to the mind the semblec of something which is not shown, but realized by association with it"[17] अर्थात 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग उस दृश्य वस्तु के लिए किया जाता है, जो किसी अदृश्य (अगोचर अप्रस्तुत) विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है अथवा अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करनेवाली वस्तु का प्रतीक है। इस परिभाषा में जब साहचर्य को प्रतीयमान अर्थों की उपलब्धि में सहायक माना गया है, तब उसे केवल 'सदृश' तक ही क्यों सीमित किया जाता है? रामचन्द्र शुक्ल ने भी कहा है कि प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य (मात्र) नहीं, बल्कि भावना जाग्रत करने की निहित शक्ति है।[18] हाँ, 'प्रतीक' अपनी क्षमता से 'प्रतीयमान' से जुड़ता है, यह सही है। कॉडवेल[19] जब कविता को 'अप्रतीकात्मक' कहता है, तब वह रूढ़ार्थक शब्द प्रतीक का ही निषेध करता है। प्रतीकवादी चिन्तकों का एक वर्ग वह भी है जो मानता है कि प्रतीक दैवीतत्व के अंश (A part of the devine essence) और साहित्य के आध्यात्मीकरण के साधन हैं। मनोवैज्ञानिकों ने उसे अज्ञात मन की एकमात्र भाषा कहा ही है। तमाम साहित्य चिन्तकों की परिभाषा का अम्बार लगाना यहाँ सम्भव नहीं है, पर सभी इस निष्कर्ष के इर्द-गिर्द ही हैं।

जो चिन्तक कला को रहस्य और सौन्दर्य को चरम स्तर से जोड़ते और सोचते हैं, वे लोग प्रतीक को बृहत्तर परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं। रहस्यभावना प्रागैतिहासिक नहीं, अद्यतन वैज्ञानिकों के द्वारा भी समर्थित होती जा रही है। साहित्य और धर्म-

ध्यात्म हमारी संस्कृति के माध्यम हैं। अतः उभयत्र रहस्यमय अनुभूति के सन्दर्भ में 'प्रतीक' का विचार हुआ है। इस अनिर्वचनीय और अमूर्त अनुभूति, जिसका भार विचार तक नहीं सह सकता, की अभिव्यक्ति केवल प्रतीक कर सकते हैं और इस रूप में प्रतीक निरूपण का वह माध्यम है जिसके द्वारा जीवन के आरम्भिक मूल्यों का उद्घाटन और ईश्वर से मनुष्यों के सम्बन्धों का स्पष्टीकरण होता है। एक अकेला प्रतीक जीवन के सभी पक्षों तथा जन्म, मृत्यु, प्यार, घृणा, अमरता आदि मूलभूत प्रश्नों को प्रकाशित करता है। रहस्यवादी कालरिज के लिए प्रतीक एक पारदर्शी माध्यम है जो कि उसे 'ससीम' और 'असीम', सामान्य और विशेष, नश्वर और अनश्वर का साक्षात्कार कराता है। प्रतीक की यह विशेषता है कि वह व्यष्टि में विशेष या विशेष में सामान्य अथवा सामान्य में किसी वैश्विक का आभास देता है और सबसे ऊपर वह नश्वर में अनश्वर की झलक पैदा करता है। दरअसल रहस्यवादी के लिए 'प्रतीक' शब्द या वस्तु से बहुत आगे सत्य और सौन्दर्य का घनीभूत रूप है।

कला की मनोवैज्ञानिक भूमि पर पहले पर्याप्त व्याख्या की जा चुकी है—सम्प्रति, साहित्य क्षेत्र में घटित प्रतीकवादी आन्दोलन के क्षेत्र में भी उसकी स्पष्टता आवश्यक है। इस वाद के आन्दोलन का शुभारम्भ जेराल्ड डी. नर्वल की कृतियों में हुआ। उसका रोजेटी और सिल्वी ने अंग्रेजी में अनुवाद किया। फ्रांस में बोदलेयर वर्लें और मलार्मे था। मलार्मे ने स्वस्थापित दार्शनिक तथ्यों के आधार पर की है और एतदर्थ उन्होंने वैज्ञानिक यथातथ्यवाद का विरोध भी किया। वस्तुतः वे स्वभाव से रहस्यवादी थे। उनकी आदर्श विश्वकल्पना वास्तविक विश्व से अधिक महत्त्व की थी, अधिक सत्य थी। उन्हें दृश्य जगत् में प्रतीकों के बाहुल्य का अनुभव हुआ, जो मानवहृदय में आह्लाद और वेदना भर देता है और इसका सम्प्रेषण रंग और ध्वनि द्वारा होता है। फ्रांस के प्रतीकवादियों की अपेक्षा इंग्लैण्ड में इसके प्रवर्तक रोजेटी की कविताएँ आदर्श सौन्दर्य की कल्पना से परिप्लावित हैं। युंग भी मनोविज्ञान से अधिक कला प्रतीक को सौन्दर्यशास्त्र से जोड़ता है। ट्क्ट्स के अनुसार सौन्दर्य-प्रतीक सौन्दर्यशास्त्र की वस्तु है, जो अपने तात्कालिक महत्त्व के अतिरिक्त आदर्श विषयवस्तु की ओर विशेष संकेत करता है क्योंकि वही उसमें पूर्णतः निहित है। यह सही है कि अब इस रूढ़िवादी सिद्धान्त की अपेक्षा संवेग-सिद्धान्त पर बल दिया जाने लगा है। क्रोचे के अनुसार प्रतीक कला की आत्मा है, जिसे सौन्दर्यात्मक अनुभूति से अलग नहीं किया जा सकता और इस अर्थ में सभी कलाएँ प्रतीकात्मक हैं। क्रोचे की दृष्टि में प्रतीक अन्तर्दृष्टि ही है। विज्ञान के प्रतीक से सौन्दर्यात्मक प्रतीक का अन्तर है। सौन्दर्यात्मक प्रतीक भाषिक भी हैं और अभाषिक भी, पर इस प्रसंग में भाषिक प्रतीकों का विवरण मुख्य है। प्रतीक मात्र कहीं-न-कहीं तक भाव और विचारों को अनुस्वनित करते रहते हैं। यह काम रूपक भी करता है—पर वहाँ अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुत भी रहता है। रूपकातिशयोक्ति में केवल अप्रस्तुत रहता है पर वह मुख्यतः सीमित प्रस्तुत की उपस्थापना से जुड़ा रहता है। वह अन्योक्ति की

तरह लक्षणानिरपेक्ष नहीं होता। वह पात्र, घटना और कथात्मक भी हो सकता है। मनोविज्ञान इन प्रतीकों को अज्ञात मन की भावात्मक प्रतिमाओं अथवा असन्तुष्ट इच्छाओं से जोड़कर सौन्दर्यात्मक प्रतीक को एक निश्चित अर्थ देता है। प्रतीकवादियों के लिए प्रतीक ही काव्य की आत्मा है। इनमें अन्तर्दृष्टि विशेषतः होती है। इसी अन्तर्दृष्टि द्वारा प्रतीकप्रिय स्वच्छन्दतावादी कवि प्रकृति में आभ्यन्तरिक जीवन की छाया देखता है। वस्तुतः प्रतीकवादी साहित्य का रहस्यवादी सिद्धान्त से निकटवर्ती सम्बन्ध होता है। अण्डरहिल के अनुसार रहस्यवादी प्रतीक त्रिविध हैं—मात्राप्रतीक, दैवप्रतीक और प्रेमप्रतीक। प्रतीक बिम्ब नहीं हैं। बिम्ब में प्रभावी चित्रांकन अपेक्षित है और प्रतीक में वैयंजनिक संकेत। मिथ भी प्रतीक का पर्याय नहीं है, पर मिथ प्रतीकात्मक घटकों से गर्भित होता है। साहित्यशास्त्रियों ने काव्य-भाषा का विश्लेषण करते हुए कहा है कि यदि उसके उत्तरोत्तर तीन विकसित सोपान माने जायें तो प्रथम पर फैंसी, द्वितीय पर कल्पना और तृतीय तथा सर्वोच्च स्तर पर प्रतीक होगा।

साहित्यशास्त्र 'प्रतीक' के प्रेरक तत्त्व पर जब विचार करता है, तो मानो दिव्य प्रेरणा की बात करता है या मनोविज्ञानसम्मत कायिक कामवृत्ति या अतिरिक्त रचनात्मक वृत्ति का सहारा लेता है पर भारतीय दर्शन और मनोविज्ञान के आचार्य अभिनवगुप्त[20] ने काव्य सौन्दर्य के ग्राहक 'सहृदयता' को एक तरफ 'शुक्रसंक्षोभ' कहा है और दूसरी ओर बौद्ध-साधकों[21] तथा **शास्त्र तान्त्रिकों** ने उसी 'शुक्र' के परिशुद्ध रूप को 'बोधिचित्त' या आत्मशक्ति बताया है। इस प्रकार भारतीय चिन्तन सभी को आत्मसात करता हुआ एक सामंजस व्याख्या देता है।

धर्माध्यात्म और प्रतीक

दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पौरस्त्य और पाश्चात्य दृष्टि से जब हम धर्माध्यात्म के क्षेत्र में 'प्रतीक' पर विचार करते हैं तो सर्वप्रथम मनोविश्लेषणशास्त्री फ्रायड को लेना ही पड़ता है। अन्य क्षेत्रों के प्रतीक से धर्मक्षेत्रीय प्रतीक की विशेषता यह होती है कि उसका प्रतीयमान विषय अवाङ्मनोगोचर होता है। वैज्ञानिक या सौन्दर्यप्रतीक में यह बात नहीं होती। धार्मिक प्रतीक के पीछे मनोविश्लेषणशास्त्रियों का **प्रकृतिवादी** सिद्धान्त काम करता है, जबकि विश्लेषणात्मक मनोवैज्ञानिकों का **आदर्शवादी**। पहला सिद्धान्त धर्म को भ्रम मानता है और दूसरा उसकी भूख स्वभाव में। धर्म जिस ईश्वर की सत्ता मानता है—**मनोविश्लेषण** में ईश्वर आश्रयदाता पिता का ही रूपान्तरण है। **वैयक्तिक मनोविज्ञान** में ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने का कारण भय है—जो हीनता ग्रन्थि के कारण है। **विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान** में मनुष्य के अज्ञात मन में आध्यात्मिक अनुभूति होती रहती है, फलतः आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास होता है, यह भावना मनुष्य के स्वभाव में है। सत्ता की पूजा धर्म का ध्येय है। जिस व्यक्ति का बौद्धिक स्तर दुर्बल होता है वह सूक्ष्म तथ्यों पर एकाग्र नहीं हो पाता—प्रतीकोपासना या मूर्तिपूजा उन्हीं के लिए है।

मूर्ति प्रतीक ही तो है। सम्पूर्ण एशिया में रहस्यवादियों की प्रतीक-पूजा प्राचीनकाल से प्रचलित है। इसके समुन्नत रूप के ही आदिम सोपान टोटम और टेबू हैं। फ्रायड धर्म को कामवृत्ति की विकृति मानता है और यह भी स्वीकार करता है कि धर्म से प्रारम्भिक अभिव्यक्ति की पद्धति की ओर स्पष्ट रूप से प्रत्यावर्तन है। युंग इसे प्रत्यावर्तन नहीं, अपितु मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का विस्तार मानता है और धर्म-भावना का मूल जातीय अज्ञात मन को माना है।[22]

धार्मिक प्रतीकों का वर्गीकरण सामान्यतः दैवी वस्तुओं और दैवी क्रियाओं में माना गया है। प्रतिमा या मूर्ति एक वर्ग का प्रतीकवाद ही है। मनोविश्लेषण इन दैवी प्रतिमाओं को पिता का स्थानापन्न मानता है, जबकि मनोविश्लेषणात्मक मनोविज्ञानी युंग के मत से ये अतृप्त मन की दैव भाव प्रतिमा (Archetypal image of the deity) के ही अनुरूप है। यह अत्यधिक शक्तिशाली दैव प्रतिमा है और इसकी अनुभूति में देवत्व सम्बन्धी गुण होता है। रहा दैवी क्रियाओं का प्रतीक, जैसे अग्नि उत्पन्न करना, खेत जोतना—इनसे धर्म की दृष्टि से प्रच्छन्न या आध्यात्मिक क्षेत्र सम्बन्धी तथ्यों की अभिव्यक्ति होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इनके द्वारा अज्ञात मन की जननाकांक्षा का प्रकाशन होता है। युंग की 'लिबिडो' और 'अज्ञात मन' की धारणा अपरिमेय है, फलतः उसने धर्माध्यात्म की भावना का जमकर प्रतिपादन किया है। उसकी दृष्टि में ईश्वर अज्ञात मन की प्रतिमा का प्रक्षेपण है। प्रक्षेपण का अर्थ यह नहीं है कि वह कुछ नहीं है, अपितु यह एक वास्तविक कार्य-पद्धति है। फ्रायड इस प्रक्षेपण की निश्चित व्याख्या करता है, युंग उसे रहस्यमय रखता है। यही रहस्यात्मकता पूजन में प्रक्षेपित है। उसकी दृष्टि में यह नकारात्मक रूप में दमित इच्छाओं से निर्मित प्रतिमा नहीं है, अपितु सकारात्मक रूप से महत्त्वशाली जातिगत विशेषता है, जो सार्वभौम है।

मनोविश्लेषण में 'मातृपितृकामग्रन्थि' और 'द्विभाव' (प्रेम और घृणा) के सिद्धान्त धर्म के प्रसंग में विशेष महत्त्व के हैं। उसके अनुसार नीति, धर्म और सामाजिक भाव—सबकी उत्पत्ति, इन्हीं दोनों आधारों पर है और यह सब 'इड' तथा 'अहं' की नहीं, नैतिक मन की विशेषता है—इसे ही इस प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। प्रिमिटिव जातियों में जहाँ-जहाँ आत्मा का विश्वास होता था, वहाँ-वहाँ पूज्य भाव पैदा होता था। आत्मवाद के पश्चात दैवी-देवता की पूजा, बहुदेववाद, एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद का क्रम चलता रहा। फ्रायड के मत से धर्म कल्पना की उपज है और कल्पना सदैव 'सुखसिद्धान्त' की वासना से परिचालित रहती है। युंग मानता है कि व्यक्ति में कामवृत्ति के अतिरिक्त अन्य प्रेरणाएँ भी होती हैं और इनमें प्रमुख अज्ञात आध्यात्मिक प्रेरणा है जिससे मानसिक अवस्था में समन्वय रहता है। वह **असीम की संवेदना** को धर्म का स्थायी भाव मानता है, जबकि फ्रायड को यह अमान्य है।

यह तो धर्म और अध्यात्म के विषय में मनोवैज्ञानिकों का पक्ष हुआ। दार्शनिकों में पाश्चात्य पद्धति और पौरस्त्य पद्धति अलग है। सामान्यतः, सन्देह को

उद्रिक्त करनेवाला धर्माश्रित मन फिलासफी और विश्वास को आश्रय करके श्रद्धा को उद्रिक्त करनेवाला मन धर्मविज्ञान। पश्चिम में फिलासफी और थियॉलाजी अलग-अलग रही, पर भारतवर्ष में इनका पार्थक्य नहीं हुआ। भारतीय दर्शन धर्माश्रित है, धर्माध्यात्म पर ही दर्शन समाधृत है। यहाँ 'दर्शन' अर्थात् चिन्तन 'दर्शन' अर्थात 'साक्षात्कार' के लिए है। साक्षात्कार 'स्व-भाव' का होना चाहिए। यह 'स्वभाव' आनन्दमय, अविनश्वर तथा निरतिशय है। यह **अवांमनोगोचर** है। इसके उपासक समुन्नत मनस्क और मन्दबुद्धि—दोनों प्रकार के हैं। मन्दबुद्धियों के लिए सगुण-साकार का माध्यम उद्भावित किया गया है। अध्यात्म के क्षेत्र में ऐसा कोई सम्प्रदाय नहीं होगा विश्व का जो मानसिक एकाग्रता को अपेक्षित न मानता हो और एतदर्थ अनुन्नतमनस्क व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियों और चंचल मन को स्थिर करने के निमित्त किसी दृश्य सीमित वस्तु की अपेक्षा होती है। उपनिषदों में प्रकृति की दृश्य शक्तियों को ही 'प्रतीक' मानकर उसमें 'ईश्वर' बुद्धि की जाती थी—ब्रह्मबुद्धि की जाती थी। उस पर चित्त को एकाग्र किया जाता था, जिससे चित्त-शुद्धि होती थी, फलतः एकाग्रतालाभ होता था। तभी सच्ची मुमुक्षा जाग्रत होती थी फिर श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा स्व-भाव-साक्षात्कार होता था। औपनिषद[23] वाङ्मय में इस प्रतीकोपासना की पर्याप्त चर्चा है। ब्रह्मसूत्र[24] में, शांकर भाष्य तथा उसकी टीका-प्रटीका में भी इस प्रतीकोपासना की पर्याप्त विवेचना है। कठोपनिषद में कहा है—

> पराञ्चि खानि व्यत्पगत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति मान्तरात्मन्।
> काञ्चिद् धीरः प्रत्यग्मस्मानमैक्षदावत्तच क्षुरभ्रतत्त्वमिच्छन्॥

प्रकृति ने इन्द्रियों का स्वभाव ही बनाया है कि वे बाह्यविषयों की ओर जायें, न कि 'स्व-भाव' की ओर। परन्तु फिर से जिसकी आँखें पलट चुकी हैं, ऐसा ही कोई धीर पुरुष मृत्यु का अतिक्रमण कर 'स्वभाव' का अनुभव कर सकता है। अभिप्राय यह कि जिन यन्त्रों से परमसत्ता का साक्षात्कार होना है, उन्हें स्वच्छ और अन्तर्मुख करना है, इसीलिए सांसारिक रूप पर उपास्य का आरोप करके, उसी बुद्धि से उससे जुड़ना है। इस भावना से यन्त्रशुद्धि होती है और चित्त स्थिर होकर अन्तर्मुख होने लगता है।

उपासक उपासना के लिए किसी दृश्य वस्तु को उपास्य का प्रतीक मानकर चलता है और सिद्ध होकर जो कुछ अन्तर्यात्रा और गन्तव्य में अनुभव करता है उसकी भाषा प्रतीकात्मक ही हो सकती है। कबीर ने उसी रहस्यानुभूति को प्रतीकात्मक ढंग से कहा है—

> गगन घटा घहरानी साधो गगन घटा घहरानी,
> पूरब दिसि से उठी है बदरिया रिमझिम बरसत पानी।
> आपन आपन मेड़ सम्हारो बह्यो जात यह पानी।[25]

विश्व-भर के धर्मों में प्रतीक भरे हुए हैं, जिनसे उनकी नाना प्रकार की अवधारणाएँ

झंकृत होती हैं। वैदिक, पौराणिक पुरावृत्त प्रतीकात्मक भाषा में हैं। प्रतिमाओं का स्वरूप भी प्रतीकात्मक है और उनकी नानाविध व्याख्याएँ की जाती हैं। इन देवी-देवताओं के स्वरूपगत नाना विशेषताएँ प्रतीकमय हैं, जिनकी व्याख्या से वाङ्मय भरा हुआ है।[26] यह अवश्य है कि देशभेद, कालभेद, परम्परा और विश्वास भेद, विचारधारा और आस्थाभेद से नाना देशों के साम्प्रदायिक वाङ्मय में, कलाओं में, धार्मिक मूर्तियों में प्राप्त प्रतीकों की व्याख्या होती रहती है। प्रतीकों का यह संसार अपरिमेय है, उनके पीछे छिपी अवधारणाएँ ही उन्हें जीवन्त रखती हैं, अन्यथा वे रूढ़ चिह्न मात्र रह जाते हैं और अपनी धार्मिक सार्थकता भी खो बैठते हैं।

निष्कर्ष यह कि 'प्रतीक' का प्रतीकत्व उसकी गत्यात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम में निहित है और उसके पीछे विज्ञान तथा दर्शन उसके तात्विक पक्ष का विवेचन करते हैं। मनोविश्लेषण 'असीम संवेदना' में अनास्था रखता है, अतः उसकी दृष्टि में प्रतीक निश्चितार्थक हो जाते हैं, पर विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान और धर्माध्यात्म मानव के स्वभाव में ही आध्यात्मिकता का अस्तित्व मानते हैं और अपरिमेय रहस्य सत्ता की अनुभूति अपने प्रकाशन में एकमात्र प्रतीकात्मक भाषा का सहारा लेती है।

सन्दर्भ

1. वाचस्पत्यम्, 4457 श्री तारानाथ तर्क वाचस्पति द्वारा संकलित, कलकत्ता, 1883
2. अमरसिंह : शब्दकल्पद्रुम पृ. 268 राधाकान्त देव विरचित, कलकत्ता, शकाब्द 1808
3. अमरकोश : पृ. 226 निर्णय सागर, बम्बई 1929
4. देखिए— Psycho-Analysis and its Derivations 1950, IV chapter-point of contrast between psycho-analysis and analytical psychology 180-198, एच. क्रिस्टन मिलर
5 वही—मिलर—पृष्ठ 143 (अनूदित आशय)

   मनस् : Psyche : ज्ञात स्तर पर व्यक्ति के 'परसोना' को बाह्यजगत् के समक्ष रखता है और अज्ञात मन के सामने उसके 'एनिमा' को रखता है। 'ईगो' और 'परसोना' की सामूहिक अज्ञात मन में जो छाया है—स्वप्न में उसका बड़ा योगदान है।

   जहाँ फ्रायड के यहाँ सामाजिकीकृत ज्ञात मनस् और असामाजिकीकृत 'लिबिडो' वाले अज्ञात मनस् का निरन्तर संघर्ष चलता रहता है, वहाँ युंग के यहाँ यह संघर्ष केवल व्यक्तिगत स्तर पर चलता है और उसका बाहरी दबाव से कोई सम्बन्ध नहीं। अज्ञात मन (जो सत्+असत्मय है) सामाजिकीकरण का भूखा है—इसी में वह आत्मविकास देखता है।
6. वही, मिलर—The new born babe has in his unconcious nothing personal, but a mass of philogenetic material which may be classed under three bleads :—

(i) Instinctive reactions.

(ii) Ancestral modes of behaviour (which may be equivalent to conditioned reflexes.)

(iii) Ancesestral interpretation of experiences. This last category covers all the primitive explanations of the forces of nature-gods, demons, spirits etc–and the mythology into which they were woven, which crops up in strongely consistent forms all over the world, these unconcious ideas Jung Calls Arehetypes.

—Psyco-analysis and its Derivations By H. Crichton Miller, Page 143, 1950.

7. Papers on phycho-analysis—E. Zones, Page 163.
8. वही
9. जुंग : Psychological, types पृ. 601
10. वही—पृष्ठ 603
11. मिलर : Psycho-analysis and its Derivations.
12. Contribution to an Analytical psychology—Jung—पृ. 245
13. डॉ. पद्मा अग्रवाल : 'प्रतीकवाद' से उद्धृत, पृ. 87
14. बाबूराम सक्सेना : सामान्य भाषाविज्ञान, पृ. 14
15. पण्डितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर, प्रथम आनन, निर्णयसागर, पृ. 26
16. अभिनवगुप्त : ध्वन्यालोक लोचन, चौखम्भा, काशी, पृ. 164
17. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, पृ. 700, Volume 21, London 1951
18. चिन्तामणि भाग-2, पृ. 129
19. Poetry is nonsymbolic, Illusion and Reality, काडवेल, पृ. 130, 1956
20. अभिनवगुप्तपाद : परात्रिंशिका, पृ. 49, श्रीनगर, सन् 1918
21. Yuganaddha—by Dr. Gunthor, पृ. 1-7
22. डॉ. पद्मा अग्रवाल : प्रतीकवाद, 'धर्म और प्रतीकवाद' शीर्षक अध्याय, पृ. 164/205
23. छान्दोग्य उपनिषद् 3/19/1, पृ. 191, पूना 1913
24. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, 4/1/3/4, पृ. 388/389, वाराणसी, 1964
25. कठोपनिषद्, पृ. 60, 4/1
26. देखिए—ये पुस्तकें :

    (1) साँवलिया : बिहारीलाल शर्मा, भारत में प्रतीक पूजा का आरम्भ और विकास, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना।

    (2) डॉ. जनार्दन मिश्र : भारतीय प्रतीक विद्या, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्

    (3) स्वामी चिन्मयानन्द : Arts of god symbolism.

साहित्य की आधुनिकता और भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की परम्परा

जिसके पास 'दृष्टि' नहीं है, मैं नहीं मानता कि उसमें 'आधुनिक' होने या कहे जाने की सम्भावना है। इसीलिए मैं मानता हूँ कि 'आधुनिक' होने या कहे जाने के लिए किसी 'दृष्टि' का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। 'दृष्टि' से मेरा तात्पर्य 'पदार्थवादी' या 'अध्यात्मवादी' सोद्देश्य जीवनदर्शन से है। मैं यह नहीं मानता कि आधुनिक होने का लक्षण केवल आस्थाहीन तार्किकता है, ऐसी तार्किकता जो अपने को कहीं भी बाँधना पसन्द नहीं करती। भारतीय चिन्तन में ऐसे लोगों को 'वैतण्डिक' कहा गया है, जिनका अपना कोई पक्ष ही नहीं होता। कुछ लोग 'आधुनिकता' की पहचान इस विशेषता में कराते हैं कि प्रत्येक पूर्ववर्ती स्थापना अपनी समग्रता में त्याज्य है, चिन्तन को कहीं भी बाँधना नहीं चाहिए। पर सच कहूँ तो वे भी बँधे हैं। कम-से-कम इस धारणा से कि 'आधुनिक' को कहीं बँधना नहीं चाहिए। ऐसी तार्किकता महज चिन्तन के क्षेत्र में व्यक्तिगत रूप से चल जाय, तो चल जाय, व्यवहार, जीवन और समाज में तो नहीं चल सकती। अतः मैं ऐसे विवेक और तार्किकता को 'आधुनिकता' का घटक मानता हूँ जो सोद्देश्य मानव-जीवन और समाज में अपनी रचनात्मक चरितार्थता रखती हो। निष्कर्ष यह कि रचनात्मक चरितार्थता से युक्त विवेकी दृष्टि या दृष्टिकोण का नामान्तर 'आधुनिकता' कही जाय, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।

परम्परा में जीवन और समाज को गति देनेवाले जीवन्त तत्त्व और जीवन्त सम्भावनाएँ भी होती हैं और निर्जीव चीजें भी। परम्परागत जीवन्त तत्त्व और जीवन्त सम्भावनाओं के प्रति आस्था भी 'आधुनिकता' की घटक है। कारण, रचनात्मकता आस्था के बिना आ नहीं सकती। इस प्रकार 'परम्परा' के प्रति सजगता भी परिभाषेय का एक संघटक ही है।

'आधुनिक' के लिए नये-से-नये को जानना तो आवश्यक है, पर जो भी नये से नया हो, वह सब 'आधुनिकता' का घटक नहीं है। प्रायः आज की नव-नव-मानसिकता से 'आधुनिकता' को सम्बद्ध किया जाता है और कहा जाता है 'आधुनिकता' को समझने के लिए आज की 'मानसिकता' को समझना आवश्यक है, क्योंकि वह भी किसी-न-किसी प्रकार, उसका उत्स है। इसी सन्दर्भ में आधुनिकता को

'अध्यात्म' से काटकर 'विज्ञान' से जोड़ा जाता है। लगता है 'विज्ञान' से पूर्व 'आधुनिकता' थी ही नहीं। अस्तु। पहले इस **नयी मानसिकता** को समझ लिया जाय। बात यह है कि नया प्रस्थान चेतना को भी भौतिक ही मानता है — भौतिक तो भौतिक है ही, यानी कुल मिलाकर भौतिकता ही सत्य है, चरम सत्य है। विश्व-चेतना की तह में चाहे जो हो, जो कुछ चल रहा हो, अभी परीक्षणीय है, पर जो कुछ जाग्रत चेतना पर हावी है, वह यह कि भौतिकता ही 'व्यष्टि' और 'समष्टि' दोनों क्षेत्रों में सर्वोपरि प्राप्य है। व्यष्टि के धरातल पर 'देह' और **दैहिक आवश्यकताएँ** तथा समष्टि के धरातल पर **राष्ट्रों का भौतिक वृत्त और भौतिक वैभव** ही आज की जाग्रत चेतना का सर्वोपरि उभरा हुआ रूप है। इस प्रवाह के कारण विश्व की भौतिक शक्तियाँ इसी उद्देश्य को प्राप्त करने में प्रतिस्पर्द्धी बनी हुई हैं। यह प्रतिस्पर्द्धी इस प्रवाह के सर्वोपरिमूल्य 'अर्थ' और 'अवकाश' (जल, थल, नभ) पर केन्द्रित है, संघर्षशील है। इस प्रकार आज का जाग्रत व्यष्टि और समष्टि चेतना-प्रवाह व्यावसायिक हो गया है। व्यष्टि और समष्टि के लिए चाहिए 'अर्थ' और 'अर्थ' के लिए इस दौड़धूप में शार्टकट है, **व्यवसाय**। फलतः जो जीवन और समाज का नव प्रवाह है उसकी मानसिकता **व्यावसायिकता** का पर्याय है। यह व्यावसायिकता मानवीयता की अत्यन्त विरोधी है। इस मानसिकता ने दानवीय वृत्तियों, क्षयिष्णु भावनाओं और वैसे ही परिवेश की सृष्टि की है, फलतः साहित्य में इसी नवीनता को आधुनिकता समझकर उरेहा जा रहा है। अतः जो जितना ही इस नयी मानसिकता को उरेहता है, हम उसे उतना ही आधुनिकतासम्पन्न समझते हैं। इस झोंक में ऐसी मानसिकता के दर्शन (अस्तित्ववाद) भी 'आधुनिकता' की परिधि में घिसटते चले आते हैं। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास सर्वत्र इस मानसिकता का प्रतिबिम्ब मिलता है और उसे आधुनिकता के सन्दर्भ में उद्धृत किया जाता है। एक लेखिका 'आधुनिकता' का विवेचन करती हुई कहती है-- इसीलिए आधुनिकतावादी साहित्य में विकृति का तत्त्व अत्यधिक प्रबल है। दूसरे शब्दों में इसे कहा जा सकता है कि आश्चर्य, उत्तेजना, सन्त्रास, आत्मनिर्वासन, आत्महत्या या आत्महनन, विभीषिका, अपमान, नैराश्य, कुण्ठा इत्यादि ही आधुनिकतावादी साहित्य के प्रेरक तत्त्व हैं।"[1] इसीलिए आधुनिकतावादी काव्य के जाने-माने लक्षण--बुद्धिवाद, व्यंग्योक्ति, विसंगति, वैचारिक संश्लिष्टता, सांकेतिकता, दुर्बोधता, रूखापन, अनास्था, कटुतानुभूति, अजनबीपन आदि हैं।

इस प्रकार साहित्य में जो आधुनिकता की पहचान करानेवाले तत्त्व हैं, वे इसी मानसिकता से उपजनेवाले हैं। कुछ उदाहरण हैं—

श्रीकान्त वर्मा की पंक्तियाँ हैं—

बाध्य हैं हम दोनों
एक दूसरे से घृणा
करते हुए
करने को प्यार

अन्धायुग से 'आधुनिकतावादी' दृष्टिकोण का एक उदाहरण लें—

> इसलिए सूने गलियारे में
> निरुद्देश्य
> चलते हम रहें सदा
> दायें से बायें
> और बायें से दायें ?

पहले उद्धरण में समाज का सन्देश, यौन नैतिकता के संस्कार तथा व्यक्तिगत अराजक यौन भावनाओं के अदम्य समुच्छलन से उत्पन्न अविश्वास और विसम्वाद की स्थिति का चित्रण है। नये सामाजिक ढाँचे की नयी मनोवृत्ति अवश्य है, पर क्या इसे 'आधुनिकता' का नामान्तर कहेंगे ? हाँ, यदि इस 'चक्रव्यूह' से हम सजग रूप में अवगत हैं और उससे उबरने और उबारने की दिशा में कोई रचनात्मक प्रेरणादायी प्रातिक प्रयोग करते हैं, तो वे और अधिक सशक्त तथा स्वस्थ आधुनिक हैं।

दूसरे उद्धरण में अवश्य हमारे सामने एक प्रश्न रखा गया है। मुक्तिबोध के 'अँधरे में' संकट का भी संकेत है और आत्मान्वेषण की स्थिति की भी झलक है। और इसका कारण है, उनकी आस्था है किसी 'दृष्टि' पर, दृष्टिहीनों की रचना में रचना और प्रेरणा के तत्त्व नहीं मिलेंगे। मैं ऐसे लोगों के साहित्य में उरेही हुई वृत्तियों को नवीन या नवीनतम तो कह सकता हूँ, पर सर्वथा 'आधुनिक' नहीं।

इन उपर्युक्त उद्धरणों और विवेचनाओं से 'आधुनिकता' के सन्दर्भ में कई निष्कर्ष निकालना चाहता हूँ। एक तो यह कि 'आधुनिकता' का जिस मानसिकता से जोड़कर विवेचन किया जा रहा है—वह 'विज्ञान' के ही दायरे में सोचने का परिणाम है। 'आधुनिकता' शब्द जरूर इस प्रवाह में उभरकर आया, परन्तु यह दृष्टिकोण इस दायरे से बाहर नहीं था, यह सोचना गलत होगा, इसीलिए इसे किसी खास दायरे की 'नवीनता' के प्रवाह-रूप में विवेचित करना गलत होगा। ये ही लोग जब तुलसी की अपेक्षा कबीर को आधुनिक कहते हैं, तब क्या समझकर कहते हैं? कबीर में जो कुछ भी 'आधुनिकता' के नाम पर दृष्टिगोचर होता है, क्या उसके मूल में अध्यात्मपरक दृष्टि नहीं है? इसलिए अध्यात्म और विज्ञान की रेखा खींचकर 'अधुनिकता' पर विचार करना भी मेरी दृष्टि में ठीक नहीं है। 'विज्ञान' का घेरा खींचकर नवीनता के पर्याय रूप में 'आधुनिकता' के विवेचन का ही परिणाम है कि इसे शहरी जीवन से ही जोड़कर देखा जाता है और फलितार्थ के रूप में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला जाता है—

"मनुष्य को आध्यात्मिक मानवतावाद से विमुक्त करके प्राचीन सामाजिक प्रतिमानों, सम्बन्धों, संस्कृति, परम्पराओं आदि के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष का ही नाम आधुनिकता है।"

एक वैदिक ऋचा है—"वयम राष्ट्रे जाग्रयाम पुरोहिताः", कौन कहेगा कि यहाँ आधुनिकता नहीं है! 'पर उपकार सार श्रुति को' का उद्घोष करनेवाला आधुनिक है? दृष्टिहीनों और फैशनपरस्तों की विकृत आधुनिकता को रेखांकित करते हुए मार्क्सवादी चिन्तक अमृतराय ने रचनात्मक विवेक को आधुनिकता के रूप में परिभाषित करते हुए, इस भ्रम से पाठकों को सचेत किया है कि वे कहीं समाजवाद को आधुनिकता का पर्याय न समझ लें। मतलब, अन्य दृष्टिवालों में भी आधुनिकता मिल सकती है।

ऊपर जिस रचनात्मक और जागरूक विवेक को आधुनिकता का घटक कहा गया है—प्रमुख प्रत्यभिज्ञापक तत्त्व स्वीकार किया गया है, उसके सन्दर्भ में संस्कृत सौन्दर्यशास्त्र की परम्परा देखनी है, ताकि उसकी सम्भावनाएँ और सीमाएँ उभर कर सामने आ सकें।

संस्कृत सौन्दर्यशास्त्र की परम्परा

काव्यशास्त्र से सौन्दर्य की परिधि व्यापक है। सौन्दर्यशास्त्र काव्य-सौन्दर्य को आत्मसात् करता हुआ, कलागत सौन्दर्य का भी विवेचन करता है। भारतीय वाङ्मय में काव्य की गणना विद्या में तथा काव्येतर ललित कलाओं संगीत, चित्र, मूर्ति तथा स्थापत्य की गणना उपविद्या में की गयी है और फिर कहा गया है—'गृहीत विद्योपविधः काव्याक्रियाये प्रयतेत'। विद्या और उपविद्या का सैद्धान्तिक परिचय प्राप्त कर काव्य सर्जना में प्रवृत्त होना चाहिए। भामह ने भी 'जायते यन्न काव्याङ्गम्' द्वारा कलाओं को काव्य का अंग स्वीकार किया है। केवल महाकवि बाण ने 'कादम्बरी' में एक स्थल पर 'सर्वासुकलासु पारं जगाम्' द्वारा कलाओं के अन्तर्गत काव्य की भी गणना कर ली है अन्यथा प्रमुख स्वर काव्य के अंग रूप में ही कलाओं के समावेश का है। वास्तव में काव्यगत सौन्दर्य का सांगोपांग सैद्धान्तिक विवेचन तभी होगा, जब अंगभूत कलागत सौन्दर्य के विवेचन को भी आत्मसात् करके चले। पता नहीं, बात क्या हुई कि जब कलाओं को काव्य का अंग मान लिया गया, तब सैद्धान्तिक विवेचन में काव्य के अंगीभूत सौन्दर्य का निरूपण करते हुए कलागत सौन्दर्य तथा तद्घटक तत्त्वों का पारस्परिक अन्तःसम्बन्ध क्यों नहीं निरूपित हुआ, काव्यशास्त्र ने अपनी परिधि विस्तृत क्यों नहीं की? अथवा काव्य और कला उभयगत सौन्दर्य को केन्द्र में रखकर सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण पृथक् से क्यों नहीं हुआ? एक बात और। ये सौन्दर्यशास्त्री यह भी मानते हैं कि 'सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत वही सौन्दर्य' विवेच्य है जो काव्योचित शब्दार्थ के माध्यम से व्यक्त हुआ है अथवा चतुर्विध कलाओं में गृहीत माध्यमों से। सौन्दर्य मात्र का विवेचन सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत नहीं आ सकता। कभी-कभी यह भी कहा गया है कि सौन्दर्यशास्त्र में 'सौन्दर्य' का सम्बन्ध सर्जना या अभिव्यक्ति पक्ष से है या ग्रहण या प्रभाव की दृष्टि से। अस्तु।

सबसे पहला विचारणीय प्रश्न यह है कि काव्यशास्त्र से सौन्दर्यशास्त्र की

परिधि पृथक क्यों ? काव्य तथा कलागत सौन्दर्य को केन्द्र में रखकर सौन्दर्यशास्त्र जैसी शाखा का उद्‌गम क्यों नहीं हुआ ? यह कहना कि यहाँ काव्य विद्या के अन्तर्गत है और कलाएँ उपविद्या के अन्तर्गत, इसलिए इनका समेकित रूप में विवेचन सम्भव नहीं हो सका, ठीक नहीं है। पश्चिम में तो ऐसा नहीं था, वहाँ क्यों नहीं बाम गार्टन से पहले सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण हो गया ? दूसरा तर्क यह भी है कि न हुआ कला के अन्तर्गत काव्य का उल्लेख, काव्य के अंगरूप में तो कला का उल्लेख हुआ न ? फिर क्यों नहीं काव्य सौन्दर्य की सांगोपांगता के लिए काव्य तथा कला उभयगत सौन्दर्य का विवेचन सौन्दर्यशास्त्र के रूप में आरम्भ हुआ ? तीसरा तर्क यह भी है कि बाद में दोनों की पृथक् विवेचना का एकीकरण क्यों हो गया ? अतः मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह विज्ञान के कारण सम्भव हुआ। विज्ञान ने तुलनात्मक विवेचन की प्रेरणा दी। व्याकरण के तुलनात्मक अध्ययन ने ही भाषा-विज्ञान को जन्म दिया। दर्शन शास्त्र के अन्तर्गत जिस सौन्दर्य का विवेचन हो रहा था, वह कलात्मक और अकलात्मक, उभयविध था।

भारतीय वाङ्‌मय में प्रभाव की दृष्टि से 'रस' का विचार नाट्यशास्त्र में और निर्माण की दृष्टि से 'चारुता' का विचार श्रव्य काव्यशास्त्रों में पृथक्-पृथक् हो रहा था, जो ध्वनिवाद के उदय होने पर समन्वित हो गया—इसीलिए ध्वनिवादी ने निर्माण की दृष्टि से 'चारुता' को केन्द्रीय तत्व के रूप में रेखांकित करते हुए, उसके लिए 'ध्वन्यात्मक शब्द' का प्रयोग युक्तिसंगत ठहराया।

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यंजकता बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥

और ग्रहण की दृष्टि से अन्ततः 'काव्यस्वात्मा स एवार्थः' की स्थापना की। ध्वनिवाद ने दोनों पक्षों के विवेचन को काव्यशास्त्र का अंग बनाया। पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र में क्रोचे और लैंगर का-सा एकांगीपक्ष यहाँ नहीं रहा। क्रोचे सर्जना की दृष्टि से अभिव्यक्ति पक्ष को सौन्दर्यशास्त्र में महत्त्व दे रहा था और लैंगर प्रभावपक्ष को। वैसे कुछ विवेचकों ने भारतीय चिन्तन में भी इन अतिवादी पक्षों का उल्लेख किया है। डॉ. कुमार विमल का कहना है कि बौद्ध विद्वान बुद्धघोष ने बहुत पूर्व यह उद्‌भावना की थी कि चित्त का सहजज्ञान ही सौन्दर्यविधान या कला में अभिव्यक्त होता है, विभा, प्रतीक, रंग इत्यादि जैसी चीजें उस सहज ज्ञान के व्यक्तीकरण में केवल माध्यम का काम करती हैं। इस प्रकार की समग्र अभिव्यक्ति चित्त की स्वयंभू क्रिया का वस्तुनिष्ठ प्रक्षेपण है। दूसरी ओर 'नाट्यं भावानुकीर्तनम्' की व्याख्या में नाट्य को अनुव्यवसायात्मक या रसात्मक कहकर प्रभावपक्ष पर दिया गया ऐकान्तिक बल भी मिलता है। फिर भी 'नाट्यमेव रसः' का पक्षधर प्रभावात्मक अभिव्यक्ति का विरोधी नहीं है और न ही वसुबन्धु वस्तुनिष्ठ प्रक्षेपण का विरोध करता है। वैसे विज्ञानवादी बौद्ध 'विज्ञान' से अतिरिक्त कुछ मानते ही नहीं। फिर भी बाह्य को आन्तर से पृथक् न माननेवाला भी बाह्य को मानता तो है न ? भले उसे आन्तर की ही प्रतिच्छाया कहें। अस्तु। भारत में बाह्य अभिव्यक्ति को कला-

वृत्ति कहा गया, भले वह आन्तर का ही साम्वृतिक रूप हो। साम्वृतिक सत्ता स्वीकार की गयी।

डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने पौरस्त्य और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का एक अन्तर यह भी बताया है कि जहाँ पश्चिम में कला के अन्तर्गत मूर्तिकला और चित्रकला का स्वतन्त्र महत्त्व है, वहाँ पौरस्त्य संस्कृत वाङ्मय में नहीं। यहाँ स्थापत्य कला के अंग रूप में चित्रकला और मूर्तिकला का विचार होता रहा, फलतः भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में पाँच नहीं, तीन ही कलाओं—काव्य, संगीत तथा वास्तु को महत्त्व दिया गया है। चित्र और मूर्तिकला का विवेचन वास्तुकला का अंग बनकर आया।

तीसरा प्रश्न यह है कि सौन्दर्यशास्त्र का विषय कलाकृति और प्रकृति, उभयनिष्ठ सौन्दर्य है अथवा कलाजगत् का ही सौन्दर्य। आत्मवादी परमार्थतः दोनों को पृथक् नहीं मानते और उभयत्र चित्स्फूर्ति को ही प्लाटिनस की भाँति सौन्दर्य का बीज बताते हैं। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के मर्मज्ञ निराला ने भी कहा है—'जड़ में आकर्षण कहाँ ?'। प्रतिनिधि भारतीय मेधा आनन्द या सौन्दर्य को जब लोकोत्तर रूप में सिद्ध करती है, तब वह उसे प्रकृतिगत व्यवहार जगत् के सौन्दर्य से भिन्न ही सिद्ध करती है। पण्डितराज ने यही कहा है—'नामं लौकिक सुखान्तर साधारणः' —काव्य का सुख-सौन्दर्य, व्यवहार जगत् के सुख-सौन्दर्य से भिन्न है। लेकिन 'रामस्यकरुणो रसः' तथा 'क्रौंचद्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः' के प्रयोग यह बताते हैं कि व्यवहार जगत् में उदात्तात्माओं का सुख-सौन्दर्य भी कला जगत् के सुख सौन्दर्य का सजातीय होता है। प्रतिष्ठित आलोचक रामचन्द्र शुक्ल ने तो यहाँ तक कह दिया कि कलाजगत् या काव्यजगत् की रसात्मक अनुभूति और व्यवहार जगत् की मानवीय सात्विक तथा उदात्त अनुभूति, एक ही कोटि की हैं, क्योंकि दोनों ही व्यक्तिगत राग-द्वेष की संकीर्ण भावना से मुक्त मन की दशाएँ हैं।

राम का करुणरस तो सर्जनात्मक परिणति नहीं ले सका, पर वाल्मीकि का करुण रस सर्जनात्मक क्रिया में अनायास पर्यवसित हुआ। विधाता ने उनके चिन्तित होने पर उनके क्रोध को, जिसका सहायक होकर करुण निकला, लोक मंगलविधायक भी कहा। अर्थात् निर्माण के धरातल पर रस चर्वणा स्वात्म विश्रान्त न होकर लोकमंगल विश्रान्त हुई। शुक्लजी का भी पक्ष है कि रसात्मक मनोदशा स्वयं में साध्य या विश्रान्त नहीं है, लोकमंगल पर्यवसायिनी है। निश्चय ही निर्माण के धरातल पर रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति सर्जनात्मक अनुभूति के रूप में सर्जनात्मक परिणति ग्रहण करती है, पर प्रतिनिधि भारतीय काव्यशास्त्री ग्रहण के धरातल की सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति को स्वयं में विश्रान्त और पर्यवसित मानते हैं, लोकमंगल विधायक कर्तव्य पर्यवसायी नहीं मानते। शुक्लजी का मत संस्कृत सौन्दर्यशास्त्र के मत से पृथक् है।

हाँ, यह सवाल अवश्य है कि काव्य अथवा कला जगत् का सौन्दर्य या रस व्यावहारिक जगत् में अनुभूत इम्पर्सनल या निर्वैयक्तिक मनोभूमिका के अनुभव का ही सजातीय है अथवा सर्वथा विजातीय लोकोत्तर ? भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की

परम्परा सर्वथा विजातीय और लोकोत्तर मानती है और व्यावहारिक जगत की निर्वैयक्तिक अनुभूति की अपेक्षा काव्य और कलाजगत् की अनुभूति को स्वात्म-विश्रान्त मानती है, कर्तव्यविश्रान्त नहीं। विजातीय और लोकोत्तर मानने के ही कारण विभावादि जैसी व्यवहार जगत् में अप्रचलित पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करती है।

स्पष्ट है कि व्यवहार जगत् की उदात्त निर्वैयक्तिक मनोभूमि लोकमंगल का अंग बनकर उदित होती है, अतः वह साधन है, पर संस्कृत सौन्दर्यशास्त्र की परम्परा उसे साध्य मानती है। पहला पक्ष काव्यसौन्दर्य को सर्वोत्तम जीवनमूल्य के रूप में स्वीकार करता है, जो मानवीय मंगल विधान में ही चरितार्थ होता है, दूसरा उसे स्वतन्त्र काव्य मूल्य--सौन्दर्य-आनन्द--के रूप में स्वीकार करता है जो काव्या-स्वाद के सन्दर्भ में स्वयम् साध्य है।

इसीलिए संस्कृत सौन्दर्यशास्त्र की परम्परा में काव्य का सर्वस्व 'कुछ और' ही कहा गया है, लावण्योपम प्रतीयमान अर्थ माना गया है। इसे व्यंग्य रूप में सिद्ध किया गया है। अलंकारवादी भामह ने तो स्पष्ट ही सहज या प्रकृतिगत कमनीयता को काव्योचित कमनीयता मानने से इनकार कर दिया था—

'न कान्तमपि निर्मूष विभाति वनिताननम्'

उसके अनुसार प्रकृति प्रदत्त कमनीयता से युक्त वनिता के आनन की भाँति सहज कमनीयता से युक्त पदार्थ तब तक काव्योचित नहीं होते, जब तक उनमें कल्पना सम्पाद्य वक्रता पर आधारित अलंकार की योजना न हो। स्पष्ट ही यहाँ प्रकृति प्रदत्त सौन्दर्य को अकाव्यात्मक कह दिया गया है। रीतिवादी वामन ने अवश्य सहजात सौन्दर्य को, जो प्रकृति प्रदत्त तारुण्य स्थानीय गुण के कारण फूट पड़ता है, काव्योचित माना है। लेकिन इन दोनों ने 'सौन्दर्य' को बहिरंग बताया—यह पदार्थ की विशेषता सिद्ध की। वामन ने सहजकमनीयता, अनारोपित कमनीयता को अवश्य सौन्दर्य कहा, परन्तु साध्य माना काव्यगुणों का ही, प्रकृति प्रदत्त गुणों का नहीं। इन काव्यगुणों का विश्लेषण करके परवर्ती आचार्यों ने उन्हें विभिन्न रूपात्मक ठहराया है। अतः दोनों का खण्डन करते हुए ध्वनिवादियों ने काव्योचित सौन्दर्य को पुनः अन्यदेव—कुछ और ही—प्रतिपादित किया है।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीसु महाकवीनाम्
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।

कभी-कभी उसे 'अलोक सामान्य' भी कहा गया है। इसका साक्षात्कार रसावेश में ग्राहक, कविगत स्फुरित प्रतिभाविशेष के रूप में करता है—

सरस्वती स्वादु तथेर्द वस्तु निःष्यंदमाना महतांकवीनाम्
अलोकसामान्यभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।

जो 'कुछ और' ही प्रतीत होता है, अलोक सामान्य लगता है। यह स्रष्टा की प्रतिभा की उपज है अथवा वर्ण्य स्वभाव में ही विद्यमान है? संस्कृत सौन्दर्यशास्त्र की परम्परा क्या कहती है? इस पर ध्वनिवादी और वक्रोक्तिवादी दोनों ने ही विचार

किया। ध्वनिवादी इस 'कुछ और' को 'नवता' भी कहता है और कहता है कि यह 'नवता-चारुता'—'कुछ और' ही—'काव्ये रस परिग्रहात्' आयी है। यह रसानुभूति लोकोत्तर अनुभूति है और उसी मनःप्रवाह से रूपान्तरित सामग्री अननुभूत आभा से मण्डित होकर 'कुछ और' ही जान पड़ती है। सर्जना की दृष्टि से लोकोत्तर अनुभूति के आवेश में सक्रिय प्रतिभा में अनुरूप माध्यमों में ही रूप उभरने लगते हैं, जो प्रकृतिगत सजातीय रूप से 'कुछ और' होते हैं। स्पष्ट है कि यह 'कुछ और' या 'सौन्दर्य' लोकोत्तर अनुभूति के कारण है। क्रोचे के यहाँ प्रतिभा में रूप ढलते हैं, यहाँ प्रतिभा में 'काव्यानुकूल शब्दार्थोपस्थिति होती है' अर्थात् यहाँ माध्यम भी 'रूप' के साथ ही उभर आते हैं, किंवा माध्यम में ही रूप उभरते हैं, अतः यहाँ वाह्य अभिव्यक्ति के लिए अलग से कोई प्रयास नहीं है।

वक्रोक्तिजीवितकार भी 'लोकोत्तराह्लादकारि वैचित्र्यसिद्धये' वक्रोक्ति अलंकृति की उद्भावना करता है। यह वैचित्र्य कुछ और, प्रसिद्धातिरिक्त वक्रता से सम्भव है और यह वक्रता कवि व्यापार है। यह कवि व्यापार ही है जिससे वर्ण्य वस्तु के स्वभाव का काव्योचित सुन्दरीकरण होता है।

वक्रोक्तिजीवितकार के निम्नलिखित उद्धरण से लगता है कि कवि या कलाकार वस्तु के स्वभाव और व्यक्ति के भाव को, जो निसर्ग सुन्दर है, अपने प्रातिभव्यापार का लक्ष्य बनाता है। सौन्दर्य है प्रकृतिगत ही किन्तु उसका उभार कवि प्रतिभा ही कर सकती है—

> लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्वं गिरा कृष्यते
> निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा कविः।
> वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ वन्देतरां तं पुनः
> यो विज्ञानपरिश्रमोऽयमनयोः भारावतारक्षनः ।।

एक कवि वह होता है जो वर्ण्य **वस्तुगतलीन** सौन्दर्य को अपनी वाणी की महिमा से उभारकर ऊपर ला देता है और दूसरा वह होता है जो वस्तु को अपनी वाणी से मनोहरता प्रदान करता है। धन्य वे दोनों ही नहीं हैं। धन्य वे भी हैं जो समझकर इनका भार हलका कर देते हैं। स्पष्ट ही यहाँ स्वीकार किया गया है कि सौन्दर्य वस्तु के स्वभाव में लीन रहता है। अर्थात् कश्मीरी शैवदृष्टि से कुन्तक मानते हैं कि परिस्पन्द ही वस्तु या व्यक्ति का स्वभाव है, वही सौन्दर्य का अधिष्ठान है, आवश्यकता है उसके व्यक्त करने की।

संस्कृत सौन्दर्यशास्त्र की परम्परा में जिस शैवदर्शन का उत्तरोत्तर प्रभाव बढ़ता गया, उसके आलोक में यह माना गया कि सारी सृष्टि ही उसका आत्मप्रकाश है—शक्ति ही उसकी प्रतिभा, परिस्पन्द उसका स्वभाव है। इसी शक्ति-परिस्पन्द का सहारा लेकर उसने इस जगत्-चित्र का निर्माण किया है—

> जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्म विधायिनम् ।
> शिवं शक्ति परिस्पन्दमात्रोपकरणं नुमः ।।

इस चिन्तन के प्रकाश में द्रष्टा और दृश्य, उभय या सौन्दर्य है। यदि प्रकृतिगत

सौन्दर्य प्रतीति में वस्तु का कोई योगदान न होता तो भिन्न-भिन्न वस्तुओं के सौन्दर्यप्रत्यय में भेद क्यों होता ? अतः निष्कर्ष यह कि वृत्तिवेध सौन्दर्य, खण्ड-सौन्दर्य है और स्वयंसंवेद्य पूर्ण किन्तु अस्पष्ट। यथार्थ रसस्फूर्ति के समय ऐसा भेद नहीं होता। तब सौन्दर्य द्रष्टा में नहीं रहता, गुलाब में भी नहीं रहता। द्रष्टा और दृश्य तब एक रस साम्यावस्थापन्न हो जाते हैं। केवल सौन्दर्य ही, स्वप्रकाशमान सौन्दर्य ही, तब रहता है। यही पूर्ण सौन्दर्य है, जिसमें भोक्ता और भोग्य दोनों ही नित्य सम्भोग रूप से विराजमान रहते हैं।

यह दर्शन मानता है—"एक सौन्दर्य ही जब नाना-सौन्दर्य है, एवं वह मौलिक नाना-सौन्दर्य ही जब जगत् में भिन्न-भिन्न सौन्दर्यों के रूप में प्रकाशमान है, तब जगत् सौन्दर्यस्तर है—यह जाना जा सकता है। सभी वस्तुएँ सुन्दर हैं, सब रस-मय हैं, किन्तु चित्त में मल और चांचल्य रहने से देखने के समय, वह अनुभूत नहीं होता। रस तब सुख और दुःख के रूप में और सौन्दर्य तब सुन्दर और कुत्सित के रूप में विभक्त हो पड़ता है, राग और द्वेष की सम्भावनाएँ फूट उठती हैं।"

"जिस ओर ताकें, उसी ओर यदि हम सौन्दर्य न देख पायें, जिसको देखें, उसी को यदि प्यार न कर सकें तो रससाधना और सौन्दर्यसाधना की सिद्धि नहीं हुई। पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण रस के साथ स्वाभाविक मिलन होने पर जगत् की सम्पूर्ण वस्तुओं के साथ ही स्वाभाविक मिलन फूट उठता है।"

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि "पूर्णसौन्दर्य ही खण्ड सौन्दर्य है, किन्तु खण्ड सौन्दर्य जब वृत्तिनेद्य होता है, तब वह रसाभास मात्र है, रस विशेष नहीं। यह रसाभास विक्षिप्त वृत्ति के निरोध से यथार्थरस में परिणत होता है जिसे रस अथवा पूर्ण सौन्दर्य कहा जा सकता है।"

इस प्रकार संस्कृत सौन्दर्यशास्त्र की परम्परा आत्मवाद पर आधृत है। चाहे संगीत हो या वास्तु, चित्र हो या मूर्ति, पहला नादब्रह्म, दूसरा वास्तु-ब्रह्म और शेष दोनों अरूपब्रह्म की रूपात्मक अभिव्यक्ति हैं। काव्यानन्द भी ब्रह्मानन्द सहोदर ही है। इस प्रकार काव्य तथा इतर समस्त कलाएँ आत्मपर्यवसायी हैं। शैव-दर्शन संकुचित कर्तृत्व को ही तो कला कहता है।

समन्वय

संस्कृत सौन्दर्यशास्त्र की इस मुख्य धारा के आलोक में जब हम 'साहित्य' की 'आधुनिकता' पर दृष्टिपात करते हैं तो जो सौन्दर्यशास्त्र अपनी सिद्धि सर्वत्र—जगद्-व्याप्त—सौन्दर्य देखने में मानता है, कुरूप-सुरूप का भेद मिटा देने में मानता है, मनोगत असौन्दर्यदर्शी दोष को मिटाने की साधना पर बल देता है, जीवन की परिधि को विस्तार देता है, उसकी ग्राह्यता पर क्या सन्देह करें ? वह चिन्तन किस काम का, जो जीवन और जगत् से घृणा करना सिखावे ?

एक बात अवश्य है कि सौन्दर्यबोध या रसबोध कर्तव्य विश्रान्त या स्वात्म-विश्रान्त ? भौतिक और नैतिक लोक-मंगल के अनुरूप भावजगत् का निर्माण तो

काव्य तथा कलाएँ इसलिए करती ही हैं कि वह ग्राहक और निर्माता दोनों को लोक सामान्य भाव भूमिका पर उठा ले जाती हैं। सवाल यह है कि उक्त भूमिका पर होनेवाला, सौन्दर्य-वोध या रसबोध का साक्षात् लोकमंगल में उपयोग आवश्यक है या असाक्षात्। स्पष्ट कह दूँ कि संस्कृत सौन्दर्यशास्त्र की परम्परा उसको लोकमंगल में अप्रत्यक्ष योग मानती है, प्रत्यक्षतः सौन्दर्यबोध या रसबोध ही साध्य है। आत्मवादी भूमिका पर, परमार्थतः पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होने पर तो कहना ही क्या? वहाँ तो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष का, वस्तुगत-आत्मगत का सवाल ही समाप्त हो जाता है।

यह कहना कि आत्मवाद श्रद्धा और विश्वास का सहारा लेकर चलता है, अतः सत्य की निर्भीक खोज से वंचित कर देता है, फलतः जिस आधुनिकता को हम रचनात्मक जागरूक चेतना कहते हैं, उसका मुक्त उन्मेष इस परम्परा से बेमेल हो जाता है, आत्मवादी भारतीय सौन्दर्यशास्त्रियों की ही उक्ति है—

'लीक छोड़ तीनिहुँ चलै सायर सिंह सपूत'

निर्जीव परम्परा को छोड़कर ही सर्जनकार चलता है लेकिन वह परिवर्तमान के भीतर एक अपरिवर्तमान की सत्ता पर भी आस्था करके चलता है और उसे पूर्ण मानता है। विश्व उसी का अपूर्ण रूपान्तर है, जिसमें परिवर्तन या गत्यात्मकता ही सार है। पदार्थवादी इसी गत्यात्मकता को अन्तिम सत्य मानता है, जबकि आत्मवादी इसमें निहित और इसके अधिष्ठान मूलतत्व 'स्थिति' को सत्य मानता है और 'गति' को उसकी सर्जना-शक्ति समझता है।

सन्दर्भ

1. डॉ. उर्मिला मिश्र : आधुनिकता और मोहन राकेश, पृ. 29

संस्कृत काव्यशास्त्र और आधुनिक साहित्य-समीक्षा

'साहित्य समीक्षा' का विशेषण 'आधुनिक' उसमें जिन विशेषताओं का आधान करता है वे दो तरह की हैं—एक तो वे जो विश्व के मंच पर विचार के क्षेत्र में वैज्ञानिक उपलब्धि के रूप में प्राप्त हुई हैं और दूसरी वे जो पश्चिमी साहित्य-शास्त्रीय चिन्तन के सम्पर्क से आलोचनक्षेत्र में कतिपय नये पक्ष के रूप में उद्घाटित हुई हैं। प्रथम कोटि की विशेषता को साहित्येतर क्षेत्र का चिन्तन या मूल्य कहा जाता है और जिनका उपयोग काव्यगत सर्जनात्मक अनुभूति और उसके व्यंजक उपकरणों के ताने-बाने के यौगिक विश्लेषण में किया जाता है। द्वितीय कोटि की विशेषता को साहित्यक्षेत्र के सौन्दर्यकेन्द्रक अन्तरंग और बहिरंग उपकरणों से सम्बद्ध कर विश्लेषण में नियोजित किया जाता है। स्पष्ट है कि दूसरी कोटि की विशेषताएँ साहित्य अथवा काव्य के क्षेत्र की हैं।

रचना और समीक्षा की धाराएँ समानान्तर चलती हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र अथवा आलोचन सैद्धान्तिक अधिक है और प्रायोगिक कम। प्रायोगिक आलोचन के रूप में सूक्तियाँ तथा टीकाएँ जो यत्र-तत्र सौन्दर्य स्रोतों के संकेत से संवलित हैं, उपलब्ध होती हैं। लक्ष्य को ध्यान में रखकर लक्षणों का विचार-आविष्कार तो है, पर लक्षणों को ध्यान में रखकर लक्ष्य ग्रन्थों का बृहदाकार विश्लेषण नहीं है।

सैद्धान्तिक विवेचन का सम्बन्ध काव्य के तीन पक्षों से होता है—निर्माण, अभिव्यंजन तथा ग्रहण। विचार तो तीनों पक्षों से हुआ है, परन्तु जितना पल्लवित अभिव्यंजन और ग्रहण पक्षों से हुआ, उतना निर्माण पक्ष से नहीं। इसीलिए आधुनिक काव्यचिन्तन में निर्माण प्रक्रिया पर जितना मन्थन उपलब्ध होता है उतना संस्कृत काव्यशास्त्र में नहीं। अभिनवगुप्त जैसा ध्वनिवादी आचार्य यह स्वीकार करता है कि काव्यात्मक वृक्ष की परिणति रसात्मक फल में होती है, उसका बीज कवि में होता है। यह बीज आधुनिक शब्दावली में सर्जनात्मक अनुभूति (Creative experience) के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। यह रसात्मक भी हो सकता है और सौन्दर्य संवलित अथवा अन्यथा रूप भी। इस सन्दर्भ में आज एक प्रश्न उठाया जाता है कि 'रसानुभूति' विश्रान्ति है और काव्य, कवि-कर्म, सक्रियता। रसात्मक काव्य की निर्मिति में कवि-गत विश्रान्तिमयी रसानुभूति सर्जनात्मक रूप में होनी चाहिए।

फिर 'विश्रान्ति' और 'सक्रियता' का एककालिक एकाधिकरणक सहावस्थान किस प्रकार सम्भव होगा इस प्रश्न का विश्वसनीय उत्तर मनःशास्त्र ही दे सकता है। आधुनिक चिन्तन में इस कविगत व्यापार का भी, प्रातिभ व्यापार का भी, 'कल्पना' शक्ति के रूप में बृहदाकार और सारगर्भ विवेचन हो रहा है। संस्कृत काव्यशास्त्र में इन प्रश्नों के उत्तर के सांकेतिक और सूत्रात्मक उल्लेख उपलब्ध हैं। आवश्यकता है नये ज्ञान-विज्ञान की शब्दावली और शैली में उसे पल्लवित करने की। केवल 'नवनवोन्मेषशालिनी' और 'अपूर्व-वस्तु-निर्माणक्षमत्व' के सूत्रात्मक वाक्यों से आधुनिक जिज्ञासु को हम तुष्ट नहीं कर सकते, न ही 'काव्यानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः' कहकर। 'कवित्वबीजभूतसंस्कारविशेष' के रूप में वह कवि-शक्ति का उल्लेख भी पल्लवित करना चाहता है। म. म. पं. गोपीनाथ कविराज ने दर्शन, लक्ष्यग्रन्थ तथा लक्षणों का साहाय्य लेकर 'प्रतिभा' का अत्यन्त गम्भीर और विस्तीर्ण विवेचन किया है। इस विवेचन के बीच ऐसी कई समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं जो आधुनिक चिन्तन में उपलब्ध होती हैं। प्रतिभा का सैद्धान्तिक गहन विवेचन तो विभिन्न दर्शनों के आलोक में हो जाता है, परन्तु काव्यनिर्माण की प्रक्रिया में स्रष्टा किन-किन क्रमिक प्रक्रियाओं से गुजरता है, इस पर इसलिए प्रकाश नहीं पड़ सका कि उसका प्रायोगिक पक्ष उपेक्षित रह गया। अरविन्द दर्शन तथा आगमिक दर्शनों में सृष्टि-प्रक्रिया के विभिन्न सोपानों के संकेत उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार कवि प्रजापति भी करिष्यमाण काव्यात्मक सृष्टि का आकलन कर प्रक्षेप कर सकता है और करता है। इन प्रक्रियाओं के पल्लवन की अपेक्षा है। तभी संस्कृत काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता हो सकती है। प्रतिभा को संस्कृत साहित्य में आर्ष और अनार्ष के रूप में विभक्त किया गया है। अनार्ष प्रतिभासम्पन्न कवियों को ही लक्ष्य में रखकर धनिक-धनंजय ने कहा-- "नहि कवयः योगिन इव' कवि योगी की भाँति प्रत्यक्षदर्शी नहीं होता। अतः अपनी अनुभूति, तज्जन्य संस्कार और उनके जोड़-तोड़ के आधार पर उठ खड़ी उत्प्रेक्षा-कल्पना अथवा प्रतिभा शक्ति से कविगण पात्र-व्यापार-योजना करते हैं। आधुनिक काव्यशास्त्रीय चिन्तन में पश्चिम का काव्यशास्त्रीय डण्टन इसी परम्परा में एक भिन्न बात करता है। वह कहता है कि उक्त भारतीय पद्धति के अनुसार सर्जक भिन्न-भिन्न पात्रों की उक्तियों या कृतियों की कल्पना अपने को ही उन-उन परिस्थितियों में डालकर किया करते हैं। अभिप्राय यह है कि ऐसी कल्पना को सक्रिय करने में सर्जक की अपनी अनुभूति ही कार्य करती है, प्रेरणा देती है, आधार बनती है। वस्तुतः ऐसे चित्रणों में सर्जक यह अनुमान करता है कि यदि वह उस स्थिति में होता तो क्या करता और कैसा बोलता। दूसरे शब्दों में, चित्रण के मूल में निहित यह दृष्टि सापेक्ष होती है। यह चित्रण सर्जक अपनी प्रकृति के अनुरूप करता है। निश्चय ही ऐसे चित्रण वर्गीय पात्र होते हैं जिनके सम्पर्क में आकर पाठक या तो प्रसन्न होगा या विषण्ण। जीमूतवाहन या सम्राट् मिहिरकुल ऐसे ही पात्र हैं। कुछ पात्र ऐसे होते हैं जिनकी प्रकृति अद्वितीय होती है, जो किसी वर्गविशेष के अन्तर्गत नहीं होते। ऐसी प्रकृति के चित्रण को डण्टन ने कवि की नाटकीय अथवा निरपेक्ष

दृष्टि का सूचक (Absolute or Dramatic vision) और काव्यकला का चरम उत्कर्ष माना है। निष्कर्ष यह है कि वर्गीय पात्र के चित्रण में सर्जक की अनुभूति-सापेक्ष प्रातिभ शक्ति और एक वैशिष्ट्यसंवलित पात्र के चित्रण में अनुभूति-निरपेक्ष प्रातिभ शक्ति अथवा कल्पना सक्रिय होती है। उनकी दृष्टि से काव्यकला का चरम उत्कर्ष यही है।

प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन को आत्मसात् कर और उसकी सर्वातिशायी दृष्टि को समझकर कहा जा सकता है कि वस्तुतः यहाँ दोनों का दृष्टिकोण ही भिन्न है। डण्टन जैसा समीक्षक जहाँ देश-काल-व्यक्ति के घेरे में सतह पर उभरनेवाले व्यक्ति-वैचित्र्य को ही काव्य का सर्वस्व समझता है, वहाँ भारतीय आचार्य इन भेद निरूपक चौखटों की तह में विद्यमान रहनेवाली 'समानता' को महत्त्व देता है, जिसका आस्वाद देश-काल-व्यक्ति की सीमा लाँघकर किया जा सकता है। पहला विशेष की ओर झुका है और दूसरा सामान्य की ओर। वस्तुतः यह भी सकारण है। भारतीय अथवा समानधर्मा चिन्तक काव्य में 'अनुभूति' को महत्त्व देता है जबकि डण्टन अथवा उसके समानधर्मा 'कल्पना' को। पहला काव्य का भाव पक्ष है और दूसरा बोधपक्ष। भावात्मक धरातल पर मानव ही नहीं प्राणिमात्र का साम्य मिलता है जबकि 'बोध' के धरातल पर विभेद अथवा वैषम्य रहता है। 'बोध' भेदक है। दो की बुद्धि भिन्न हो सकती है पर 'भाव' अथवा 'भावना' मिलाती है—सबकी एक हो सकती है। पहली अनेकता की ओर ले जाती है और दूसरी एकता की ओर। अतः रसमयता को साध्य माननेवाली भारतीय कल्पना 'बोध' के धरातल पर निष्पन्न होनेवाले 'वैचित्र्य' का समर्थन नहीं कर सकती। भारतीय चिन्तन 'भाव' पक्ष को ही मूर्धन्य मानता है, प्रतिपाद्य मानता है। 'बोध' उसकी अभिव्यक्ति की व्यवस्था में व्यक्त होता है और प्रतिपाद्य में रहता भी है तो निहित, ध्वनित, सुगन्ध की तरह व्याप्त। भावमय जीवन को उरेहनेवाला सर्जक जिस दृष्टि से जीवन जीता है वह जीवन के कलात्मक उद्रेखण के साथ-साथ संलग्न होने के कारण स्वयं आ जाती है; तदर्थ उसके दार्शनिक निरूपण की आवश्यकता नहीं है। सर्जनात्मक अनुभूति में उसके कण अविभाज्य रूप से निमग्न रहते हैं।

आधुनिक चिन्तन मानता है कि आधुनिक जीवन भावनामय है ही नहीं, हमारी कृति और उक्ति का भाव से साक्षात् सम्बन्ध टूटता जा रहा है। हम जटिल-से-जटिल 'बोध' का उपयोग भाव प्रकाशन में कर रहे हैं। इस प्रकार जीवन अधिक जटिल होता जा रहा है। जटिलता के बढ़ने का कारण यह है कि हमारा लक्ष्य भौतिक समृद्धि है। जो परिमित है उसी के साध्य होने से हमारी शक्ति का समर्थ और अधिक अंश उधर ही लग रहा है। ऐन्द्रिक और शारीरिक इच्छाएँ ही जीवन-सर्वस्व बन गयी हैं। तदर्थ एक मात्र साधन बन गया है अर्थ। इसलिए प्रतिस्पर्द्धा बढ़ गयी है। विश्व के स्तर पर महायुद्ध की सम्भावनाएँ और सामाजिक स्तर पर सामाजिक नियमों का प्रतिरोध बढ़ता जा रहा है। इस जीवन को उरेहनेवाले विद्रोह और विसंगतियों से भरे हुए रचनात्मक साहित्य के सन्दर्भ में भारतीय

साहित्यशास्त्र की कोई उपयोगिता है अथवा नहीं ? परस्पर विरोधी दिशाओं की रचना और समीक्षा में संगति कैसे ढूंढ़ी जाय ? उसे कैसे प्रासंगिक बनाया जाय ? अथवा जिसमें विध्वंसात्मकता है, रचनात्मकता है ही नहीं, उसे रचना माना भी जाय अथवा नहीं ? जिस साहित्य में मानवीय वृत्तियों और सामाजिक शर्तों के प्रति विद्रोह है—हम जिस डाल पर खड़े हैं उसी के काटने की आवाज आ रही है – उसे साहित्य कहें भी अथवा नहीं ? स्वस्थचेता सर्जक ऐसे विसंगतिमय जीवन के प्रति व्यंग्य लिखने में ही अपनी सार्थकता समझ रहे हैं। ऐसी रचना के सन्दर्भ में भारतीय काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता क्या है ? क्या उसमें ऐसे कोई प्रतिमान हैं ? निश्चय ही 'सहृदयसम्वाद' और 'ध्वन्यात्मक' काव्य सिद्धान्त इनके विश्लेषण में भी समर्थ है। हाँ, जिस 'सामान्य' या रसात्मकता की बात चल रही थी वह यहाँ सम्भव न हो, तो भी भारतीय संस्कृति और तात्त्विक जीवन तथा उसको उरेहने-वाले साहित्य के सन्दर्भ में तो वह संगत है ही और रहेगा। विसंगति भी काव्य-रचना प्रक्रिया से गुजरकर 'कुछ और' हो जाती है।

यहाँ तक काव्य-निर्माण के पक्ष से अनार्ष प्रतिभा अथवा कल्पना के विषय में यह देखा गया कि उसकी उत्कृष्टता पश्चिमी धारा के चिन्तक डण्टन की तुलना में अनुभूतिसापेक्ष होने में है--अनुभूति निरपेक्ष होने में नहीं। यद्यपि रसाविष्ट दशा में भारतीय प्रतिभा के यत्न से भी 'नूतनसृष्टि' में नवता आती है, तथापि वैसी नहीं जैसी डण्टन की कौतूहलमात्रपर्यवसायिनी होती है। यहाँ ज्ञात और अनुभूत वस्तु भी काव्य का सहारा पाकर नयी-सी लगती है। आनन्दवर्द्धन ने कहा है—

दृष्टपूर्वाऽपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ।।[1]

पूर्वज्ञात अर्थ भी रसाविष्ट मानस में स्नात होकर शब्द द्वारा ग्राहक की भावयित्री प्रतिभा के विषय बनते हैं, तब वे नये-से लगते हैं, नये ही नहीं होते। डण्टन ने 'नवता' की सृष्टि को वास्तविक कहा है, जबकि भारतीय काव्यशास्त्र उसे अर्थवाद के रूप में ग्रहण करता है। नवता अभिव्यक्ति पद्धति के भेद से भी आ जाती है।

निर्माण पक्ष से विचार करते हुए एक प्रश्न आजकल और उठाया जा रहा है कि कवि की सर्जनात्मक अनुभूति और आलोचक की अनुभूति, आलोचनोपयोगी अनुभूति, में कोई अन्तर है अथवा नहीं ? भारतीय काव्यशास्त्र इस पर कोई प्रकाश डालता है अथवा नहीं ? वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र कविकर्म पक्ष से अथवा ग्रहण पक्ष से जितना विचार करता है, आलोचन पक्ष से उतना नहीं। काव्यमीमांसा में निर्मत्सर मानस की क्वाचित्कता पर खेद व्यक्त किया गया है। आलोचन को कदाचित् ही कहीं परिभाषित किया गया हो। आलोचन आलोच्य कृति के मूल में निहित सर्जनात्मक अनुभूति का सर्जनात्मक पुनराख्यान है। पुनराख्यान इसलिए कि जिस अनुभूति की व्यंजना कवि करता है, आलोचक के लिए आवश्यक है कि वह उसका साक्षात्कार करे और अनुभूति तथा व्यंजक उपकरणों में प्रभावानुरूप सम्बन्ध का परीक्षण, विश्लेषण करे। कवि की मूल अनुभूति में आलोचक तटस्थ

रहकर अपनी ओर से कुछ न जोड़े, यदि जोड़ता है तो वह आलोच्य का स्वरूप विकृत कर देगा। यदि उसे अपनी 'दृष्टि' का उपयोग करना हो तो आलोचन नहीं, मूल्यांकन के सन्दर्भ में करे। आलोचन के सन्दर्भ में तो कवि और काव्य की एक ही दृष्टि है, सीमा है, और वह है सौन्दर्य। इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि कवि और भावक का सर्जन तथा आलोचन के सन्दर्भ में प्रस्थान-पाथेय खण्ड एक ही होता है, उसमें अन्तर नहीं होना चाहिए। आचार्य आनन्दवर्द्धन की निम्नलिखित कारिका में इसका उत्तर ढूँढ़ना चाहिए—

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥[2]

इस कारिका में स्पष्ट कहा गया है कि सचेतस् या सहृदय की दृष्टि 'नवनवोन्मेष-शालिनी' नहीं 'तत्वार्थदर्शिनी' होती है—जो है, उसी को देखती है, उसमें कुछ जोड़कर उसे विकृत नहीं करती।

इसी प्रसंग में आधुनिक चिन्तक, भारतीय चिन्तक की एक और कमी की ओर संकेत करते हैं। वे कहते हैं कि इस सिद्धान्त में सौन्दर्यबोध का सारा उत्तरदायित्व विभावादि सामग्री पर ही रहता है—सर्जक के अन्तस् साक्षात्कार का, उसके कर्तृत्व के बोध का, उसकी प्रातिभ क्षमता के दर्शनका कोई प्रसंग नहीं आता। आनन्दवर्द्धन उन लोगों को भी निराश नहीं करते। वे कहते हैं—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामन्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥[3]

श्रोता या सहृदय ग्राहक को महाकवियों की वाग्रूपा सरस्वती द्रवित कामधेनु की भाँति रसास्वाद कराती है। इस रसावेश के क्रम में ग्राहक कवि की अपूर्ववस्तु निर्माण प्रतिभा का भी साक्षात्कार कर लेता है, उसकी प्रतिभागत विशिष्टता का भी साक्षात्कार उसे हो जाता है। ग्राहक को पहले रसावेश, तदनन्तर उसी आवेश के वेग से कवि के प्रातिभ सौन्दर्य का, प्रतिभा का, भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। ग्राहक और कवि की संवेदना एक ही होती है—इसकी पुष्टि में भट्टतोत की निम्नलिखित कारिका भी प्रमाण है—

नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः

भारतीय काव्यशास्त्र केवल 'रस' और 'सौन्दर्य' को जानता है और उसके स्रोतों का उल्लेख करता है—अलंकार, छन्द या सांगीतिकता, वक्रता, व्यंजकता तथा रीतिमयता और इन सबके साथ अभिव्यंजक उपकरणगत तथा सामग्रीगत औचित्य का विचार करता है। उपकरणगत औचित्य का सम्बन्ध विशेषतः काव्यमूल्य से तथा सामग्रीगत औचित्य का सम्बन्ध काव्येतर परन्तु काव्योपयोगी सामाजिक मूल्य से है। कहा जाता है कि भारतीय काव्यशास्त्र में 'सौन्दर्य' का वह क्रमिक और व्यवस्थित रूप उपलब्ध नहीं होता जो पश्चिमी साहित्य-शास्त्र में है। काव्यशास्त्र को प्रासंगिक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि 'सौन्दर्य' सम्बन्धी संकेतों को एकत्र कर उनका उपबृंहण और पल्लवन किया जाये। आनन्दवर्द्धन ने अभाववाद का

खण्डन करते हुए 'चारुत्व' को ही केन्द्र में रखा है, उसे ही काव्य की आत्मा कहा है और उसे द्विधा विभक्त किया है, स्वरूपगत तथा संघटनागत। तृतीय उद्योत में बड़े श्रम के साथ व्यंजक और चारुत्व को समानाधिकरण सिद्ध किया गया है। इन विवेचनों के साक्ष्य पर सौन्दर्य सम्बन्धी अनेक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। अलंकार और रीतिवादियों ने 'सौन्दर्य' और 'सौन्दर्यसाधन' के ही अर्थ में 'अलंकार' का प्रयोग किया था। 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्' करते हुए अलंकारवादियों ने, 'उत्पादित सौन्दर्य' को और 'गुण' को महत्व देते हुए रीतिवादियों ने 'सहज सौन्दर्य' को ही महत्त्व दिया था। इन्हीं विवेचनाओं में सौन्दर्य को देह (शब्दार्थ) और आत्मा (ध्वनि-रस) से भी जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। सर्वजन संवेद्य सिद्ध करते हुए काव्यसौन्दर्य को वस्तुगत होने का भी संकेत है। पण्डितराज आदि ने जो रस को प्रातीतिक अथवा साक्षिभास्य कहा है वह इसलिए नहीं कि रसानुभूति प्रातिस्विक है, अपितु इसलिए कि विभावादि की प्रतीति समकालिक है। जब तक विभावादि की प्रतीति है तब तक रसप्रतीति है इसलिए वह प्रातीतिक है। स्वप्नप्रतीति के साथ उसकी तुलना साक्षिभास्यता के कारण है, व्यक्तिमात्रवेद्यता के कारण नहीं। इसका कारण स्पष्ट है कि रसप्रतीति में सहृदय-हृदयमात्र का संवाद है। अतः वह भ्रमात्मक प्रतीति जैसी प्रातीतिक नहीं है। इस प्रकार सौन्दर्य और निरूपित सौन्दर्यस्रोतों का वर्तमान साहित्यशास्त्रीय चिन्तन के समानान्तर पल्लवन किया जाना चाहिए और उनकी सम्भावनाओं को वर्तमान रचनाओं के समानान्तर प्रतिष्ठित कर उसकी प्रासंगिकता स्थापित की जानी चाहिए। निर्माणपक्ष के साथ-साथ अभिव्यंजन पक्ष से विचार करते हुए इन सौन्दर्यस्रोतों का पल्लवन साम्प्रतिक है।

इधर विज्ञान, विशेषकर मनोविज्ञान, की उपलब्धियों के आलोक में रचना और आलोचना के क्षेत्र में कुछ अद्भुत स्थापनाएँ हुई हैं। इस विचार के आलोक में मानसिक सत्ता को सर्वातिशायी तत्त्व या यथार्थ माना गया और कहा गया कि साहित्य समाज के अर्जित 'यथार्थ' की जगह व्यक्ति के स्वाभाविक 'यथार्थ' का प्रकाशन करे। तदर्थ समाज द्वारा अर्जित विवेक की शृंखला शिथिल कर दे। कविता को स्वप्न के समानान्तर रखकर जहाँ एक ओर रचना के धरातल पर नयी-नयी स्थापनाएँ आयी हैं वहीं आलोचना के क्षेत्र में सर्जन, अभिव्यंजन और ग्रहण की प्रक्रिया पर भी मनोवैज्ञानिक मान्यताओं का प्रकाश पड़ा है। रिचार्ड्स तथा एम्पसन ने इस दिशा में प्रयत्न किये हैं। भारतीय काव्यशास्त्रियों को भी इन नवीन उपलब्धियों से परिचित होकर उन स्थापनाओं की ग्राह्यता अग्राह्यता पर विचार करना चाहिए।

इस प्रकार रचना और आलोचना के धरातल पर जो व्यक्तिवादी और विघटक (जैसे अस्तित्ववादी, वामपक्षीय नव-चिन्तन आदि) चिन्तन आ रहे हैं, आवश्यक है कि हमारे समर्थ भारतीय साहित्यशास्त्री उनकी सारासारता पर विचार करें और अपनी पीढ़ी को उनसे भ्रमित होने से बचा लें।

ग्रहणपक्ष से विचार करते समय 'रस' और 'ध्वनि' सिद्धान्त की बात आती है। जहाँ तक ध्वनि सिद्धान्त की बात है उसमें विस्मयावह सामर्थ्य है। आजकल काव्य की विभिन्न स्थितियों को देखकर भारतीय काव्य-प्रतिमानों की व्याप्ति पर सन्देह किया जा रहा है और नये प्रतिमानों की बात की जा रही है। ध्वनिसिद्धान्त मानता है कि काव्य वहीं है जहाँ शब्दार्थ कवि की सर्जनात्मक अनुभूति को अपनी अपरिवर्तनीयता में सही-सही अथवा सटीक रूप में व्यक्त कर सके। वक्रोक्तिकार ने भी यही बताया है कि काव्य में अभीष्ट प्रभाव की व्यंजना के निमित्त शब्दार्थ का परस्पर प्रतिस्पर्द्धी सहभाव होना चाहिए।

रस के विषय में आजकल खूब विचार हो रहा है और हर पक्ष से हो रहा है। उसके 'स्वरूप', 'उपकरण', 'उपरूप', 'संख्या', 'निष्पत्ति-प्रक्रिया', 'संचारी भाव', 'स्थायी भाव' आदि पर क्रमागत शास्त्रीय दृष्टि तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि, मार्क्सवादी दृष्टि तथा स्वतन्त्र रूप से भी अनेकविध विचार हो रहे हैं। प्राचीन भारतीय रस-चिन्तन प्रायः पद्यबद्ध काव्यरूपों और अधिक-से-अधिक रसनिष्पत्ति की दृष्टि से लिखे गये नाट्यकाव्यों की दृष्टि से ही हुआ है। आज काव्य की अनेक विधाएँ आ गयी हैं। उनसे रस की क्या संगति बिठायी जाय ? कैसे बिठायी जाय ? यह कैसे तय किया जाय कि रसपर्यवसायी स्थायी की व्याप्ति, विकास की सीमा क्या है और संचारी की अधिक-से-अधिक विकसित सीमा क्या है ? क्यों वीभत्स में रसपर्यवसायी व्याप्ति मानी जाय, जबकि वह न तो किसी नाट्यकृति में अंगीरूप से स्वीकृत है, न ही उस पर प्रबन्ध काव्य लिखने की सम्भावना है ? दूसरी ओर देशभक्ति में जीवन-व्यापिनी स्थायिता दृष्टिगोचर हुई है और उस पर प्रबन्ध काव्य लिखे गये हैं। देश विषयक रति सजातीय-विजातीय भावों से विछिन्न नहीं हुई है, प्रखर हुई है। आप्रबन्ध उसकी व्याप्ति और निर्वाह भी देखा गया है। फिर उसकी गणना 'रस' में क्यों न की जाय ? वाल्मीकि रामायण में प्रकृति के लम्बे-लम्बे तन्मयकारी वर्णनों को कैसे और किस प्रकार उद्दीपन विभाव समझा जाय ? एक प्रकार से पण्डितराज जैसी प्रतिभा मुनिवचन का प्रामाण्य मानकर रससंख्या के बढ़ाने का निषेध करती है और दूसरी ओर विश्वनाथ महापात्र तथा अन्य लोग वत्सल, माया तथा अन्य रसों की वृद्धि करते हैं। क्या वैष्णव भक्तिशास्त्रों में निरूपित अष्टसखा, अष्टसखी और अष्टभाव से इन आठ स्थायियों का कोई सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है ? निश्चय ही इनका गन्तव्य एक रहा है, प्रस्थान मात्र का ही भेद मान्य होता रहा है। आजकल इसकी ऊँची-नीची कोटियाँ भी निर्धारित की जा रही हैं। साधारणीकरण नाम की रस-निष्पत्ति प्रक्रिया पर पर्याप्त चिन्तन हुआ है, क्रमागत धारा पर प्रश्न-वाचक चिह्न लगा है। कुछ लोग साधारणीकरण केवल आलम्बनत्वधर्म को मानते हैं और बताते हैं कि आलम्बन तो 'व्यक्ति' अथवा 'विशेष' ही रहता है। वे तर्क देते हैं कि यदि काव्य का लक्ष्य प्रभावित करना है, भावोद्दीपन और सौन्दर्यबोध कराना है, तो काव्य से 'विशेष' का ही बोध होना चाहिए, 'सामान्य' का नहीं। यह 'विशेष' क्या है, कितना है—इस पर विचार-विमर्श का पर्याप्त अवकाश है।

'प्रकाश' कार के 'एवकार' घटित साधारणीकरण-प्रक्रिया पर 'प्रदीप' तथा 'प्रभा' कार ने पर्याप्त विचार किया है और कहा है कि वैयक्तिक तत्त्व या व्यक्ति का सर्वांशतः विगलन आवश्यक नहीं है और हो भी नहीं सकता। यदि 'विशेष' अथवा 'व्यक्ति' का सर्वांशतः विगलन हो जाय तो एक ही 'रस' की दो कृतियों में प्रतीतिगत नवीनता नहीं हो सकती और नवीनता या 'नवता' अनुभवसिद्ध है। यह तभी उत्पन्न हो सकता है जब 'व्यक्ति' या 'विशेष' का रसानुभूति में उपयोग माना जाय। यहीं महापात्र विश्वनाथ के आश्रय-ग्राहक में 'तादात्म्य' का तथा दशरूपककार द्वारा 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' में अनुकृति के 'तादात्म्य' व्याख्यान का भी विचार होना चाहिए। यदि रसानुभव-काल में ग्राहक ने आश्रय से तादात्म्य कर लिया तो शेष सामग्री के सामान्यीकरण की आवश्यकता ही क्या है? जब ग्राहक ने अपने को राम मान लिया, तब सीता सीता ही रहे इसमें हानि क्या है? इसमें भी वही समस्या है—साधारणीकरण में रसानुभूति की प्रक्रिया में 'विशेष' के प्रत्यय की।

आनन्दवर्द्धन ने चतुर्थ उद्योत में काव्यगत नवता का प्रतिपादन करते हुए कहा है—'वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं, तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते' अर्थात् काव्यार्थ —वाच्य में भी नवता होती है और यह 'नवता' देश, काल, व्यक्तिकृत होती है। यह 'नवता' काव्यास्वादोपयोगिनी है। निश्चय ही आनन्दवर्द्धन के ये विचार क्रोचे, रामचन्द्र शुक्ल की इस विचार परम्परा में आते हैं कि काव्य के 'वस्तु' अथवा 'व्यक्ति' तो 'विशेष' ही होते हैं—अभिधा से बोधित होकर भी उनमें देश, काल तथा व्यक्तिकृत 'विशेष' प्रतीति होती है अन्यथा उसमें 'नवता' आयेगी कैसे? अभिनवगुप्त ने इस 'विशेष' का व्याख्यान व्याख्यार्थगत 'विशेष' से लिया है, जो अभिहितान्वयवादी तथा अन्विताभिधानवादी को सम्मत है। परन्तु आनन्दवर्द्धन यहाँ साफ वाच्यार्थगत 'नवता' का प्रतिपादन करते हैं, जो पद का अर्थ होता है, वाच्य का नहीं। यदि इस प्रकार की 'नवता' अथवा 'विशेष' को वाच्यार्थगत मान लिया जाय, तब प्रत्यक्षग्राह्य 'व्यक्ति' और शब्दग्राह्य 'व्यक्ति' में प्रत्ययगत अन्तर क्या होगा? साधारणीकरण की प्रक्रिया का क्या होगा? क्या शास्त्रगत वाच्य 'सामान्य' प्रत्यक्षग्राह्य अर्थ 'प्रत्यक्ष' तथा काव्यगत वाच्य 'प्रत्यक्षायमाण' ऐसा कुछ तो नहीं? परन्तु ऐसा हो भी तो क्या 'प्रत्यक्षायमाण' 'विशेष' शब्द और ग्राहक दोनों की क्षमता की अपेक्षा नहीं होगी? फिर वह अर्थ वाच्य कैसे? काव्यशास्त्र के ये वक्तव्य नये वैचारिक आलोक में पुनः समीक्ष्य हैं।

रस की सुखरूपता अथवा सुखदुःखोभयरूपता का मनोविज्ञान के प्रकाश में भी परीक्षण आवश्यक है। मानसप्रत्यय के विश्लेषण के लिए जब मनःशास्त्र इतनी सामग्री दे चुका है तब भी तटस्थ रहना क्या काव्यशास्त्र को प्रासंगिक बनाने की ओर से तटस्थ रहना नहीं है?

इसी क्रम में एक बात और। दार्शनिकों ने परमेश्वर की सृष्टि प्रक्रिया में अनेक स्तर ढूँढ़ निकाले हैं, विशेषकर शैवागमों ने। स्रष्टा किस प्रकार लक्ष्य का ईक्षण करता हुआ, किन-किन सोपानों को पार करता हुआ अपनी सृष्टि करता है, यह

काव्यसृष्टि के सन्दर्भ में भी सोचा जा सकता है। नये चिन्तकों ने काव्य की रचना-प्रक्रिया पर स्वानुभवसम्मत तथा मनोविज्ञानसम्मत विचार किये हैं। काव्यशास्त्र को प्रासंगिक बनाने के लिए इस पक्ष पर भी विचार करना आवश्यक है।

निष्कर्ष यह है कि ऐसे न जाने कितने पक्ष हैं जिन पर भारतीय काव्यशास्त्रियों को नवीन सन्दर्भ में विचार करना आवश्यक है, तभी उसकी प्रासंगिकता उभर सकती है। इतना तो निश्चित है कि संस्कृत काव्यचिन्तन में सम्भावनाएँ बहुत हैं, जिन्हें समानान्तर आलोचन की प्रक्रिया में पुराने व्याख्याकारों और भावकों ने उतारा नहीं है। इसीलिए आज जो कठिनाइयाँ उभर रही हैं, तब नहीं उभरी थीं।

सन्दर्भ

1. ध्वन्यालोक : 4.4
2. वही, पृ. 1.12
3. वही, पृ. 1.6

भारतीय काव्यदृष्टि के प्रगतिशील तत्त्व

'भारतीय' विशेषण 'काव्यदृष्टि' में कौन-सा व्यावर्तक तत्त्व संक्रान्त करता है, इसी निर्णय के अनुरूप ही प्रगतिशील तत्त्वों का निर्धारण सम्भव है। काव्य की गंगोत्री जीवन है और जीवन वही है जो 'दृष्टि' पूर्वक जिया जाय। भारत की अपनी जीवन दृष्टि अनुभवाधृत तथा अध्यात्मसम्मत अद्वयी है। सामान्यतः लोगों की धारणा है कि 'दृष्टि' निर्धारित होने पर अपनी प्रगतिशीलता खो देती है, पर उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'दृष्टि' भी प्रगतिशील हो सकती है। 'दृष्टि' को 'अद्वयी' कह देने से वह वृत्तबद्ध हो गयी—यह समझ ठीक नहीं। इस अद्वय में द्वय भी समाया हुआ है, इसीलिए उसे 'द्वयात्मक अद्वयी' माना गया है। यह अद्वय त्यागमार्गी नहीं है, ग्रहण मार्गी है। सबको आत्मरूप करके चलनेवाला है, 'स्वाङ्गवत्' बनाकर गतिशील है। इस अद्वय की द्वयात्मकता शक्तिमान् और शक्ति में निहित है। पहला ऋणात्मक है और दूसरा धनात्मक। धनात्मक तत्त्व ही शक्ति है और वह गत्यात्मक है। गत्यात्मकता ही उनका स्वरूप है, अतः ऐसी 'शक्ति'-संचालित अद्वयी दृष्टि से प्रगतिशीलता का कोई विरोध है ही नहीं, इसके विपरीत, प्रगतिशीलता उसका स्वभाव है। इसलिए इस अद्वयी दृष्टि से परिचालित 'जीवन' और उससे निःसृत काव्य प्रगतिशील होंगे ही। यह अवश्य है कि जब-जब इस 'दृष्टि' से 'जीवन' का सम्बन्ध विच्छेद होगा, तब-तब अप्रगतिशीलता का समुन्मेष सम्भव है। औपनिषद् ऋषि 'तदैजति तन्नैजति' द्वारा उसी स्पन्दात्मक गत्यात्मक और स्थित्यात्मक अद्वय तत्त्व की ओर संकेत करते हैं। समस्त मध्यकाल का उपजीव्य 'आगम' तो 'शक्ति' दर्शन की प्रयोग-स्थली ही है। प्रसादजी ने छायावादी समुल्लास में इसी प्रतिबद्ध शक्ति धारा का सहज विकास अनुभव किया था। निराला का काव्य इसी 'शक्ति' का काव्य है। निश्चय ही जड़शक्तिवादी जीवन दृष्टि से परिचालित प्रगतिवादी चेतना भारतीय काव्यदृटि से बेमेल थी, इसीलिए उसकी जड़ें जमने की जगह बहुत शीघ्र उखड़ गयीं। भारतीय काव्यदृष्टि जिस जीवन-दृष्टि से जिये गये जीवन की प्रयोगशाला से निःसृत है वह यही चिन्मयी शक्तिगर्भ अद्वयी दृष्टि है। भारतीय जीवनदृष्टि का यही व्यावर्तक तत्त्व है—शेष सब इसी के अंकुरण है। इस प्रकार जिस दृष्टि से जिये गये जीवन का उरेह काव्य में

होगा—उस दृष्टि की गन्ध तो अनायास उसमें निहित होगी ही। फलतः आप चाहें तो द्वयात्मक अद्वयी दृष्टि को मूलभूमि के रूप में भारतीय काव्य दृष्टि का सर्वप्रमुख व्यावर्तक तत्त्व मान सकते हैं।

इसी जीवन दृष्टि से जीनेवाले भरतनाट्यशास्त्र के प्रणेता ने नाट्यशास्त्र में एक बहुत ही मार्मिक आख्यान दिया है, जिससे ललित साहित्य विषयक भारतीय काव्य दृष्टि पर बड़ा ही शुभ्र प्रकाश पड़ता है। त्रेता युग की बात है। एक बार इन्द्र आदि देवता मिलकर ब्रह्मा के पास गये और उनसे प्रार्थना की—

'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्'

जो देखने में सुन्दर और सुनने में मधुर हो ऐसी वस्तु क्रीडनीयक के रूप में हम चाहते हैं। ब्रह्मा ने चारों वेदों से यथावश्यक अंश निकालकर नाट्यवेद नाम के एक पंचमवेद का निर्माण किया और इन्द्र को बुलाकर कहा—तुम लोगों में जो कुशल, प्रगल्भ, विदग्ध और जितश्रम हों, उन्हें यह नाट्यवेद दो। इन्द्र ने कहा कि इस नाट्यवेद के ग्रहण, धारण, ज्ञान तथा प्रयोग की पात्रता देवताओं में नहीं है। कारण, उनमें वे गुण नहीं हैं जिनका होना नाट्यज्ञान और प्रयोग के लिए आवश्यक है और जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। तब ब्रह्मा ने भरतमुनि को बुलाया और नाट्यवेद उन्हें दे दिया। भरत ने अपने पुत्रों को दीक्षित किया और इसका प्रयोग सम्पन्न हुआ। कुछ समय बाद 'इन्द्रध्वज' नाम का एक उत्सव हुआ जिस अवसर पर भरत ने एक नाट्य प्रयोग किया। इस नाट्य में दानवों पर देवताओं की विजय दिखायी गयी थी। फलतः इसके प्रयोग काल में दानवों ने विघ्न खड़ा कर दिया। ब्रह्माजी के पूछने पर उन लोगों ने कहा, खासकर विरूपाक्ष ने, कि देव और दानव दोनों ही ब्रह्मा के लिए समान हैं, उन्होंने दोनों की सृष्टि की है। फिर देवों द्वारा दानवों का तिरस्कार दिखलाना क्या नाट्यवेद प्रणेता के लिए उचित है? इस पर से ब्रह्मा द्वारा दिया गया उत्तर बड़ा ही मार्मिक है। उन्होंने कहा कि नाट्यवेद में देवों या दानवों का व्यक्तिगत भावन नहीं है। वस्तुतः यहाँ समस्त विश्व में जिसका जिस प्रकार का स्वभाव देखा जाता है, अवस्थाएँ देखी जाती हैं—वैसा ही नाट्य में प्रस्तुत किया जाता है। निष्कर्ष है—

योग्य स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वित।
सोऽङ्गापेभिनयोदतः नाट्यमित्यभिधीयते॥

इस संसार में लोक का स्वभाव सुख-दुःखमय है और वह जब अंग आदि अभिनयों से युक्त होता है, तब उसे नाट्य कहा जाता है।

इस आख्यायिका से नाट्य अथवा काव्य को हमें किस दृष्टि से देखना चाहिए—स्पष्ट होता है। सबसे पहली बात यह है कि नाट्य या काव्य के ग्रहण, धारण तथा ज्ञान और प्रयोग के लिए विशेष योग्यता अपेक्षित है, जो देवताओं में नहीं है। साहित्यकार इस विशेष योग्यता के कारण देवोपरि है। उसमें विवेचन क्षमता, वैदग्ध्य, प्रगल्भता तथा निरलसता होनी चाहिए। अभारतीय काव्य-दृष्टि वाले इससे असहमत हो सकते हैं।

दूसरी विशेषता है—नाट्यकाव्य को सौन्दर्य केन्द्रक करने की। जब भरत ने अपने पुत्रों को नाट्यप्रयोग में सिद्ध करके ब्रह्मा के समक्ष प्रदर्शन किया, तब ब्रह्मा ने कहा कि इसमें कैशिकी वृत्ति को और जोड़ना चाहिए। भरत ने कहा कि इस वृत्ति का प्रयोग स्त्रीजनों द्वारा ही किया जा सकता है। इसका प्रयोग पुरुषों के वश का नहीं है। इस पर से नाट्यालंकार में चतुर अप्सराएँ ब्रह्माजी ने भरत को दीं। वस्तुतः कैशिकी ललित वृत्ति है। नाट्य अथवा काव्य में चाहे जो कुछ भी हो, पर जब तक लालित्य न हो, वह नाट्य या काव्य हो नहीं सकता, एतदर्थ कैशिकी वृत्ति का प्रयोग अनिवार्य है। कैशिकी का अर्थ ही है—सौन्दर्यमय व्यापार। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है "सौन्दर्योपयोगीवृत्ति कैशिकी एवं यत्किंचित् लालित्यं तत्सर्वम् कैशिकी विजृम्भितम्"। सौन्दर्योपयोगी व्यापार का ही नाम कैशिकी वृत्ति है। निष्कर्ष यह कि काव्य या नाट्य में जो कुछ भी लालित्य है वह सब कैशिकी के कारण है। भरत मुनि ने भी इस वृत्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है--

"नृत्यांगहारसम्पन्ना रसभावक्रियात्मिका"

इसका अभिनय प्रस्तुत करनेवाली अप्सराओं को 'नाट्यालंकार चतुर' कहा है। इस प्रकार भारतीय काव्यदृष्टि में नाट्य या काव्य के लिए 'लालित्य' या 'सौन्दर्य' का सन्निवेश आवश्यक है। यह भी एक गतिशील तत्त्व है। सामाजिक से सम्बन्ध रखनेवाली रचना में लालित्य का तत्त्व निरन्तर अपेक्षित होगा।

उक्त आख्यायिका से काव्य के ग्रहण पक्ष से भी एक विशेष गतिशील दृष्टि का परिचय मिलता है। आख्यायिका में ग्रहण की दृष्टि से विचार करते हुए कहा गया है कि काव्य या नाट्य में सामग्री का ग्रहण व्यक्ति (देव-दानव-मानव विशेष) निरपेक्ष दृष्टि से होना चाहिए। नाट्य या काव्य में केवल लोकवर्तिनी अवस्थाओं का किसी कल्पित आश्रय में वर्णन होता है, अतः वहाँ मुख्य है—लोकवृत्त; अवस्थाएँ, आश्रय या पात्र नहीं। दानवों की ही यह गलती थी कि उन्होंने लोकवृत्त को, व्यक्ति-निरपेक्ष रूप में उपस्थापित अवस्थाओं को राग-द्वेष संयुक्त व्यक्तिगत दृष्टि से ग्रहण किया। इस आख्यान से यह पता चलता है कि साहित्य के अध्येता को व्यक्ति-निरपेक्ष दृष्टि से साहित्य का ग्रहण करना चाहिए। साहित्यिक की साहित्य के प्रति यह दृष्टि सदा-सदा के लिए स्वस्थ कही जा सकती है।

इसी प्रकार निर्माणपरक भारतीय काव्य दृष्टि का भी पता उक्त आख्यान से लगता है। कवि या नट को भी रसिक की ही भाँति चाहिए कि वह अवस्थाओं का काव्य में उपनिबन्ध या मंच पर प्रयोग व्यक्ति निरपेक्ष रूप में ही करे। व्यक्ति विशेष निरपेक्ष अवस्थाओं का व्यक्ति सामान्य में वर्णन करना कवि या साहित्यकार का कर्तव्य है। हुआ यह कि जब भरत पुत्रों को नाट्यवेद का बोध हो गया और उसके प्रयोग में भी उसको ख्याति मिलने लगी तब वे थोड़ा उन्मत्त हो गये और अपने ज्ञान का उपयोग दूसरों के उपहास में करने लगे। ऋषि-मुनियों के समक्ष एक खेल में व्यक्ति विशेष में अभिनिविष्ट होकर उन लोगों ने हास्यास्पद प्रयोग किया। ऋषियों को यह अपमानजनक लगा और उन्होंने शाप दिया—

यस्मात् ज्ञानमरोन्मत्ताः न विद्याविनयान्विताः।
तस्मादैतद्धि भवतांकुज्ञानं नाशमेष्यति।

निष्कर्ष यह कि लब्धप्रतिष्ठ कलाकार भी यदि कला की मर्यादा तोड़ता है तो उसकी प्रतिष्ठा सदा-सदा के लिए विदा हो जाती है। स्पष्ट है कि ग्रहण की तरह निर्माण में भी काव्यदृष्टि व्यक्तिनिरपेक्ष होनी चाहिए। इसीलिए इसी दृष्टि का स्पष्टीकरण करते हुए दशरूपककार ने कहा—अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्—नाट्य में व्यक्तिगत अवस्था का नहीं, लोकगत अवस्था का अनुकरण होना चाहिए।

यहाँ रुककर प्रगतिशीलता से भी मैं अपना आशय व्यक्त कर दूँ। जिन तत्त्वों में भावी रचनाओं के लिए भी सम्भावनाएँ हों, वे प्रगतिशील और जिनकी सम्भावना शीघ्र ही नामशेष हो जायें वे निगतिशील। ऊपर **व्यक्ति निरपेक्षता** की बात कही गयी है। व्यक्ति में अभिनिवेश राग-द्वेष की सृष्टि करता है। राग-द्वेष मानवता का विरोधी तत्त्व है। अतः मानवकृत प्रयत्न मात्र गतिशील तभी तक रह सकता है जब तक उसकी प्रत्येक क्रिया की प्रेरिका मानवता हो, उसकी प्रत्येक क्रिया राग-द्वेष निरपेक्ष प्रेरणा से प्रसूत हो। निगतिगामी वह सबकुछ है जो राग-द्वेष प्रसूत है और गतिशीलता की सम्भावना से वह सबकुछ संकलित है, जो मानवता प्रेरित है। निष्कर्ष यह कि उक्त आख्यायिका से ध्वनित होनेवाली काव्य दृष्टि भावी मानवीय कृति के रूप में रचना जगत् के लिए सम्भावना संवलित है। मानवता और कुछ नहीं, चेतना की एक विकसित स्थिति का नामान्तर है, ऐसी विकसित स्थिति का नामान्तर है, जिसमें सामाजिकता का उदय होता है। सामाजिक औचित्य के विवेक का मंजुल प्रदीप प्रज्वलित होता है। गतिशील समाज के लिए उपयोगी मानवता अथवा सामाजिक चेतना का गतिमय प्रदीप गतिशीलता की सम्भावनाओं का प्रकाश धारासार उगलता रहता है।

गतिशीलता का आकर्षण से और निगति का विकर्षण से सम्बन्ध रहता है। साहित्य-काव्य या नाट्य में लोकस्वभाव या लोकवृत्त का अनुकरण होता है। लोक स्वभाव जब तक सौन्दर्य-व्यापार द्वारा उपस्थापित न हो, तब तक वह अनाकर्षक रहेगा। वर्णन यथार्थ का ही होगा, भित्ति वही है, सौन्दर्य-व्यापार तो वह लेप है, जो उसमें आकर्षकता पैदा करता है। यह सौन्दर्य-व्यापार भी और कुछ नहीं है—प्रभाव की दृष्टि से यथार्थ का संयोजन है। भारतीय आचार्यों में भरत ने इस लोक स्वभाव के आकर्षक प्रकटन के सन्दर्भ में लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी दो प्रकारों की चर्चा की है। अभिनवगुप्त ने काव्य में लोकधर्मी की जगह स्वभावोक्ति तथा नाट्य-धर्मी की जगह वक्रोक्ति का प्रयोग माना है, यह वक्रोक्ति और कुछ नहीं, केवल प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से स्वभाव का संयोजन व्यापार ही है। इसी दृष्टि का समुद्रेक भट्टनायक के निम्नलिखित कथन हैं—'द्वयोर्गुणत्वे व्यापार प्राधान्ये काव्य-गीर्भवेत्' काव्य में शब्द और अर्थ दोनों ही गौण होते हैं, उनको महत्त्वास्पद बनाता है कवि का संयोजन व्यापार। संयोजन व्यापार पर बल आनन्दवर्द्धन भी देते हैं—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत् मुख्यं कर्म महाकवेः ।।

वाच्यार्थ लोकस्वभाव है, वाचक समाज स्वीकृत शब्द है—महत्ता केवल उनके प्रभावोत्पादन की दृष्टि से योजन में है। 'रस' से अभिप्राय उनका उस प्रभावित मनोदशा से है, जो काव्य पढ़ने पर उद्रिक्त होता है। उत्तेजित बुद्धि और प्रभावित मन, दोनों में आनुपातिक अन्तर अवश्य है।

भारतीय काव्यपरक दर्शन (दृष्टि) से प्रसूत रसतत्त्व की भी यहीं परीक्षा कर लेनी चाहिए कि सामाजिकता या मानवताप्रेरित रचनामात्र की दृष्टि से रसतत्त्व कितना गतिशील है ? उसमें तथाविध रचना मात्र में संचरित होने की सम्भावनाएँ क्या हैं ? सम्भावनाओं के क्षितिज का काव्य व्यापी विस्तार ही प्रगतिशीलता का आधार है।

भारतीय दृष्टि या काव्यदृष्टि कलाकार की मनोभूमि और व्यवहारव्यासक्त व्यक्ति की मनोभूमि में अन्तर मानती है। व्यवहारव्यासक्त व्यक्ति की मनोभूमि असन्तुलित, अशान्त, रागद्वेषरंजित तथा व्यक्तिसापेक्ष है। ऊपर निर्माण और ग्रहण की दृष्टि से साहित्यकार के लिए कहा गया है कि उसे दोनों स्थितियों में व्यक्तिनिरपेक्ष होना चाहिए। नये साहित्यकार आवेश में चाहे जो कहें—पर स्वस्थ होते ही वे भी स्वीकार करते हैं कि कलाकार और व्यवहारव्यासक्त व्यक्ति की मनोभूमियों में अन्तर होता है। कमलेश्वर जैसा 'नयी कहानी' कार भी एक कलाकार की कथा के माध्यम से इसी भिन्न भूमिका में निष्ठा व्यक्त करता है। अतः वह लोग यह कहते हैं कि वर्तमान जीवन व्यक्तिगामी होने से विघटनोन्मुख है—अतः क्षयी और ध्वंसक प्रवृत्तियों का आगार होता जा रहा है। अद्यतन विश्व का ढाँचा कुछ इस तरह का है कि विश्वमानव उद्विग्न है। अतः यदि साहित्य जीवन और समाज का प्रतिफलन है, तो उसमें अविद्यमान सन्तुलित विश्वमानस या व्यक्तिमानस का प्रतिफलन होगा ही नहीं। अतः संयत, सन्तुलित तथा मानवीय वृत्तियों में दिखायी पड़नेवाली रसात्मकता साहित्य के अद्यतन रूप में सम्भव ही नहीं है। फलतः भारतीय काव्य दृष्टि के मन्थन से प्रसूत रसात्मक तत्त्व आज की रचनाओं के सन्दर्भ में अपनी सम्भावनाओं को खोता हुआ निगतिशील हो जाता है। वह प्रगतिशील तत्त्व नहीं है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो काव्य उसी को माना है, जो मुक्त हृदय का समुच्छलन हो—शेष चामत्कारिक उक्तियों को उन्होंने 'सूक्ति' ही कहा, 'काव्य' नहीं। किन्तु भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन की परम्परा पर दृष्टि निक्षेप करने से लगता है कि श्रव्य और दृश्य की दो पृथक् परम्पराएँ थीं। सूक्ति की पृथक् तथा नाट्य की पृथक्। रचनाकार की व्यक्तिनिरपेक्ष मनोदशा जैसी नाट्य में सम्भव है, वैसी सूक्ति में नहीं। इसीलिए काव्य में सूक्ति रूप श्रव्य से नाट्य को श्रेष्ठ कहा गया था। अभिनवगुप्त ने तो 'नाट्यमेव काव्यम्' कह दिया था। आनन्दवर्द्धन के प्रयास को देखते हुए लगता है कि अभिनवगुप्त के समर्थनपरक तर्कों को देखकर

लगता है कि 'सूक्ति' और 'रसमय नाट्य' की दो पृथक् परम्पराएँ भी थीं। आनन्दवर्द्धन और अभिनव ने बाद में उभयत्र रसात्मकता की प्रतिष्ठा कर दी। भारतीय काव्याचार्यों में महिमभट्ट तथा भट्टनायक दो ऐसे आचार्य अवश्य हैं जिन्होंने काव्य को रसात्मक ही माना है और उसी की चर्चा की है। इसीलिए रसात्मकता को महापात्र विश्वनाथ की तरह काव्य की अनिवार्य शर्त मानते हुए भी व्यक्तिविवेककार काव्य के उनकी तरह दो नहीं, एक ही भेद मानते हैं। पर सर्वाधिक प्रतिष्ठित ध्वनिसिद्धान्त काव्य के लिए रसामत्कता को अनिवार्य शर्त नहीं मानता, हाँ, इसके विपरीत सर्वोत्कृष्टता या उत्तम काव्य की अनिवार्य शर्त मानता है। यद्यपि ध्वनिकार जगह-जगह कहते हैं—

रसादिविषयेणैतत् मुख्य कर्म महाकवेः।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्वादवधानवान्।

तथापि यह स्पष्ट है कि रसपर्यवसायी सामग्री को वे कवि का मुख्य कर्म कहते हैं—अन्यत्र से ध्यान हटाकर उसी में दत्तावधान होने को कहते हैं। अर्थात् कुछ अमुख्य काम भी वे श्रव्य काव्यकार करते हैं। कहीं अन्यत्र भी ध्यान रखते हैं। यह अन्यत्र सूक्तिमयता ही है। इस बात को मानते हुए भी कि रस ही काव्य की आत्मा है, ध्वनिकार का ध्यान क्रमागत अन्यविध मनोवृत्ति के चामत्कारिक अभिव्यंजन पर चला जाता है और काव्य की परिधि में वे उसे भी समाधृत करना चाहते हैं, तब उन्हें काव्य की कई कोटियाँ बनानी पड़ती हैं और इसका आधार रस की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ हो जाता है। व्यंग्य कहीं स्फुट और प्रधान होगा, कहीं अस्फुट तथा स्फुट समप्रधान या अप्रधान होगा और कहीं अस्फुटतर होगा। फलतः काव्य के तीन भेद हो जायेंगे। पर इनमें सर्वोत्कृष्ट स्फुट प्रधान व्यंग्य वाला काव्य होगा और उसमें भी व्यंग्य जहाँ रसात्मक होगा। रसरूप आत्मा रहता सर्वत्र है—पर अनुरूप शरीर पाकर व्यक्त कहीं क्वचित् ही होता है। व्यवहार में जब सूक्ति भी काव्य मान ली गयी है—तब किया क्या जाय? आनन्दवर्द्धन की अन्तरात्मा तो यही मानती है कि काव्योचित मनोभूमि तो व्यक्तिनिरपेक्ष रागद्वेषशून्य, रसात्मक ही है। वाल्मीकि का लक्ष्य भी दिया, पर परम्परायात अन्यविधमनोवृत्ति प्रसूत सूक्त काव्य का क्या होगा, उन व्यवहार प्रसिद्ध सूक्ति-काव्यों का क्या होगा, जो रसात्मक मनोदशा की उपज नहीं हैं? समन्वय का रास्ता यही है कि काव्य के विभिन्न स्तर उत्तम, मध्यम, अधम मान लिये जायें।

इस स्थिति में व्यवहार ने काव्य की परिधि तो बढ़ा दी, पर कलाकार की मनोभूमि को विवादास्पद बना दिया। वस्तुतः यही व्यक्तिनिरपेक्ष मनोभूमि ही 'लोकस्वभाव' का संयोजन काव्योचित रूप में कराती है। अन्य भूमियों का कवि तो यथार्थ से दूर जाकर कल्पना की सहायता लेता है और उसी से थोड़ा बहुत चमत्कार पैदा करता है। इस प्रकार जीवन से जुड़े रहने की स्थिति व्यक्तिनिरपेक्ष मनोभूमि जितनी पैदा करती है, उतनी अन्य नहीं। जो कल्पना हमें जीवन और लोकस्वभाव से दूर हटा ले जाय उसे काव्योपयोगी भारतीय काव्यदृष्टि में

समुचित नहीं माना गया है।

इस विवाद से हटकर भारतीय काव्यचिन्तन का औसत तो यही कहता है, वस्तुतः काव्य वही है जो कलाकार की समुचित मनोभूमि से प्रसूत हो, शेष मनोभूमि का प्रसव, गौण या औपचारिक रूप से ही काव्य है। आचार्य भरत से रामचन्द्र शुक्ल तक के काव्यशास्त्रीय चिन्तन को देखते हुए निष्कर्ष यही लगता है। अब सवाल यह है कि जैसा ऊपर कहा गया है, सम्प्रति जो और जैसा विश्वमानस है, उसका वाङ्मय प्रसव रसात्मक तत्त्व के संचार की सम्भावना रखता है या नहीं, और नहीं रखता है तो वह काव्य नहीं है या रसात्मक तत्त्व सम्भावना शून्य तथा निगतिशील है ?

इतने वादविवाद के बाद यह स्पष्ट है कि भारतीय काव्यदृष्टि में साहित्यकार की मनोभूमि व्यक्तिनिरपेक्षता की भूमि है—औसतन अद्यतन मानस इतना परिग्रही हो गया है कि वह क्षत-विक्षत हो उठा है। इसीलिए अद्यतन साहित्य निरपेक्ष की नहीं, प्रतिपक्षी की प्रतिक्रिया बनता जा रहा है। अतः वह गौण काव्य चाहे हो, पर भारतीय काव्यदृष्टि से यदि वह उक्त शर्त पूरीं नहीं करता, तो वास्तविक साहित्यकार की रचना नहीं है। फिर इस पर रसात्मकता संचरित न हो, तो रचना का ही दोष है, तत्त्व का नहीं। उसमें निगतिशीलता की भावना ठीक नहीं है। यदि अद्यतन रचनाकार में तटस्थता है तो वही तो रसात्मकता का स्रोत है। रसात्मकता के विषय में स्वस्थ भारतीय धारणा को समझने के लिए उसके परिपाटीबद्ध रूप साहित्य को ठीक-ठीक हृदयंगम भी करना आवश्यक है। शुक्लजी ने उसे आध्यात्मिक दार्शनिक जाल से मुक्त कर सामान्य लोक भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया और भरत तथा आनन्दवर्द्धन की रस सम्बन्धी धारणा को पुनः युगीन सम्भावनाओं के साथ साफ किया। छायावादी आलोचकों ने भी उसकी सम्भावनाओं को उजागर किया और छायावादी काव्य पर भी उसका संचार किया। ग्रहण लगा आगे चलकर।

निबन्ध के कलेवर की सीमा को देखते हुए इस पर पर्याप्त विचार हो चुका, सम्प्रति अन्य तत्त्वों की ओर भी मुड़ना चाहिए। भारतीय काव्यदृष्टि के निर्माण में न केवल व्यक्तिनिरपेक्ष वाली मनोभूमि की उत्सभूता द्वयात्मक अद्वयी जीवन दृष्टि ही कारण है, प्रत्युत पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त भी कुछ ऐसी बातें लाता है, जिसके कारण भारतीय काव्य दृष्टि अपना व्यक्तिगत महत्व रखती है। पुनर्जन्मवाद के कारण ही भारतीय चिन्तकों ने रसास्वाद के निमित्त इदानीन्तन (इस जन्म की) और तदानीन्तन (विगत जन्मों की) वासना या संस्कार को भी कारण माना है। साथ ही काव्य हेतु के सन्दर्भ में काव्य शक्ति प्रतिभा के विषय में भी कुछ विशिष्ट बातें हैं। शक्ति तत्त्व की उपादेयता पर तो कोई दो मत नहीं हैं, हाँ उसके **जन्मजन्मान्तरार्जित कवित्व बीजभूत संस्कार विशेष** वाले रूप को वैज्ञानिक मान्यताओं के आलोक में कुछ लोग विवादास्पद कर सकते हैं।

सम्प्रति, काव्यपरक चिन्तन के सन्दर्भ में प्रसूत अन्य काव्यतत्त्वों की प्रगति-

शीलता पर विचार अपेक्षित है। भारतीय काव्यपरक दृष्टि ने काव्यात्मतत्त्व के चिन्तन के सन्दर्भ में कुछ और भी तत्त्व आविष्कृत कर रखे हैं—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य प्रभृति। इन तत्त्वों के विषय में इनकी 'मूल भावना' महत्त्व की है, काव्यशास्त्रों में परिगणित रूप नहीं। अलंकार को ही लें, कहने का आकर्षक ढंग ही तो अलंकार है। कहने का आकर्षक ढंग किसे नापसन्द होगा? भारतीय आचार्यों ने अलंकारों को 'वाग्विकल्प' रूप ठहराते हुए उसकी अनन्तता घोषित की है। आनन्दवर्द्धन ने तो कहा है कि अलंकार वह है जो अनायास अभिव्यक्ति का अंग बन जाय—अनजाने जुट जाय। रागद्वेष निर्मुक्त अन्तस में उल्लसित रस विशेष की अभिव्यंजना में जो स्वतः भंगिमाएँ फूट पड़ें वे ही अलंकार हैं। यही स्थिति 'रीति' या पदयोजना की भी है। कौन सर्जक इसका विरोध करेगा कि वक्ता के स्वभाव अथवा वर्ण्यवस्तु, व्यक्ति या भाव के अनुरूप पदरचना न हो। वक्तव्य को आकर्षक सम्प्रेषणीयता प्रदान करने में कवि का वचन सामान्य शास्त्र, विज्ञान तथा व्यवहार-कथन से 'वक्र' या बाँकपन लिए हो ही जायेगा। अतः इस वक्रता की अन्तरात्मा समझी जाय, तो काव्य मात्र में इसके संचारशील होने की सम्भावना को कौन मार सकता है? ध्वनितत्त्व काव्य के मूल उपादान शब्द और अर्थ के उथलेपन का विरोध करता है और गहरी अर्थ झंकृतियों के माध्यम से वक्तव्य को सम्प्रेषणीय बनाता है। मुक्तिबोध भी जो कुछ कहना चाहते हैं उसके लिए विभिन्न धरातलों पर संघर्ष करते हैं। शब्द और अर्थ का धरातल उनमें से एक है। ध्वनिकार की मूल मनोभावना यह है कि सच्चा कवि वही है, जिसके द्वारा प्रयुक्त शब्द अर्थ अपनी जगह इतने सटीक और गम्भीर हों कि उनका स्थान दूसरा न ले सके। काव्य का माध्यम जब तक शब्द और अर्थ है, तब तक ध्वनिवादियों की इस मान्यता को कौन निगतिशील कहेगा। रहा औचित्य। यदि कविता को सामाजिक ही न माना जाय तब तो बात ही भिन्न है, पर यदि उसे सामाजिक माना जाता है, तो सामाजिकता का निर्वाह नितान्त आवश्यक है और यही सामाजिकता का औचित्य है। इसे कौन निगतिशील कहेगा?

वस्तुतः द्वयात्मक अद्वयी दृष्टि भारतीय चेतना में अनुस्यूत है, अतः कवि और काव्य पर भी उसका प्रभाव है। भारतीय काव्य चिन्तन के सर्वोच्च शिखर आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त इसी दृष्टि के चिन्तक हैं। अतः काव्य और काव्य की आत्मा (रस) की परिकल्पना पर भी उस दृष्टि का रंग चढ़ा हुआ है। शब्द और अर्थ का दो होकर भी एक काव्य बन जाना, द्वयात्मक अद्वयीभाव ही तो है। कभी-कभी लोग कहते हैं कि दृष्टि विशेष को स्वीकार कर लेने से कवि या चिन्तक बँध जाता है, उसकी गतिशीलता समाप्त हो जाती है। पर उक्त दृष्टि इतनी व्यापक और सम्भावनाओं का अनन्त आगार है, जिसमें वैदिक ऋषि से लेकर महर्षि अरविन्द तक आस्थावान् हैं और अन्यान्य तमाम परस्पर विरोधी दर्शनों को आत्मसात कर लेती है। इसीलिए भारतीय काव्य दृष्टि किसी भी 'तत्व' को इतनी 'व्यापकता' में रखती है, कि वर्तमान या अतीत के भेदोपभेदों पर तो लागू होती ही है, भविष्य के

भेदोपभेदों पर भी संचरित होने की सम्भावना रखती है। उपर्युक्त तत्व इस निष्कर्ष के साक्षी हैं।

इस प्रकार इस निबन्ध में मेरा अभिप्राय 'भारतीय काव्य दृष्टि' से—भारतीय काव्य-परक दृष्टि या चिन्तन से—रहा है। भारतीयों ने काव्य के निर्माण या ग्रहण पक्ष से चिन्तन करके जिन तत्वों या उपकरणों का उल्लेख किया है—उनका परीक्षण करने से, उनके मूल में निहित व्यापक धारणा का आकलन करने से उनकी प्रगतिशीलता अर्थात् भावी काव्य पर भी संचारित किये जाने की पात्रता सिद्ध होती है।

काव्य और प्रतिमान

वाङ्मय में दो जातियाँ प्रचलित हैं, काव्य और काव्येतर। काव्य या कविता को, जब हम काव्येतर से भिन्न रूप में पहचानते हैं और पहचान कर 'कविता' संज्ञा देते हैं, तब निश्चय ही उसको पहचानने के लिए संस्कार रूप में हमारे अंतस में कुछ प्रत्यभिज्ञापक तत्त्व विद्यमान रहते हैं। कविता संज्ञा का प्रयोग हम आदि-काव्य रामायण से लेकर नये-से-नये कवि तक की रचना के लिए करते आ रहे हैं। इस व्यवहार को यदि प्रमाण मान लिया जाये और प्रमाण मानकर विचार किया जाये, तो कहा जा सकता है कि है कोई ऐसा प्रत्यभिज्ञापक तत्त्व जो तमाम रूपात्मक परिवर्तनों के बावजूद, सर्वत्र एक रस और एक रूप से विद्यमान है। बहुत पहले रस या सौन्दर्य के अभिव्यंजन के निमित्त परस्पर प्रतिस्पर्धा शब्दार्थ का सहभाव ही प्रत्यभिज्ञापक तत्त्व कहा जाता था। इस तरह के सहभाव की दृष्टि से 'सिद्ध' या 'प्रयत्नशील' प्रत्येक रचना कविता समझी जाती थी।

नयी कविता के सन्दर्भ में इस प्रत्यभिज्ञापक तत्त्व या प्रतिमान की अव्याप्ति या अपर्याप्तता लक्षित की गयी और डॉ. जगदीश गुप्त ने कविता का प्रत्यभिज्ञापक तत्त्व बदल दिया। उन्होंने कहा—'कविता सहज आन्तरिक अनुशासन से युक्त अनुभूतिजन्य वह सघन लयात्मक शब्दार्थ है, जिसमें सह-अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट क्षमता निहित रहती है।' प्रतिस्पर्द्धी शब्दार्थ-सहभाव यहाँ भी है, परन्तु प्रतिस्पर्द्धिता का केन्द्र बदल गया है। रस या सौन्दर्य की जगह, 'सह-अनुभूति' हो गया। अनुभूति तो नयी-पुरानी उभय साधारण है, पर रसानुभूति और सह-अनुभूति, अनुभूति के दो सर्वथा भिन्न रूप हैं। दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है, 'इसमें रसानुभूति की तरह व्यक्तित्व और विवेक का परिहार होना आवश्यक नहीं है। कवि और भावक, दोनों व्यक्तियों के सह-अस्तित्व में अनुभूति की प्रेषणीयता सम्भव होने के कारण सह-अनुभूति न निराधार है और न अनुपयुक्त है।' इस प्रकार छायावाद तक की कविता में प्राप्त अनुभूति रसात्मक थी, जहाँ ग्राहक के व्यक्तित्व का विलयन तथा तर्क बुद्धि का स्थगन आवश्यक था। छायावादोत्तर नयी कविता में जो अनुभूति है, वह रसात्मक नहीं है। डॉ. नामवरसिंह मानते हैं कि इस परिभाषा में कोई नयी बात नहीं है और गजनिमीलिका करते हुए आगे बढ़ जाते हैं।

डॉ. गुप्त का कहना है कि नयी चेतना 'विज्ञान' के प्रभाव में 'सत्य' की उपलब्धि के निमित्त कविता करती है, अतः निर्माता और ग्राहक दोनों की दृष्टि से उचित है कि 'सत्य' को वस्तुमुखी ढंग से ग्रहण करने के निमित्त अपने व्यक्तित्व और विवेक को जागरूक रखें, उसका विलयन न करें।

डॉ. गुप्त की परिभाषा के विषय में कुछ जिज्ञासाएँ तथा आपत्तियाँ आवश्यक हैं। पहली आपत्ति यह है कि उनका विवेचन केन्द्रित है पुरानी कविता से नयी कविता के भेदक तत्त्व सह-अनुभूति पर, और वे परिभाषित करते हैं कविता मात्र को। अर्थात वे नयी कविता के भेदक आन्तर तत्त्व को कविता मात्र का आन्तर तत्त्व बताते हैं। सारांश यह कि नयी कविता पर सोचते हुए उसके भेदक तत्त्व को उजागर करते हुए उसे (पुरानी-नयी) कविता मात्र पर वे लागू करते हैं। दूसरी बात यह है कि 'सह-अनुभूति' का जैसा अर्थ वे समझते हैं वैसा सम्भव भी है क्या? अर्थात जिस 'सत्य' को वे 'सह-अनुभूति' मानते हैं वह 'सत्य' अनुभूत सत्य है अथवा 'विज्ञान' या 'दर्शन' से लब्ध या आन्वेष्यमाण अनुभूत सत्य? यदि प्रथम 'सत्य' ही ग्राहक द्वारा प्राप्य है, तब तो निर्माता के व्यक्तित्व से ग्राहक के व्यक्तित्व को एकाकार ही होना पड़ेगा, तादात्म्यापन्न ही होना पड़ेगा, सर्जक में अपने को लीन करना ही पड़ेगा अन्यथा उसके अनुभूत सत्य का ठीक-ठीक ग्रहण नहीं होगा। सर्जक की आँख से देखे हुए सत्य की यथातथ्य गृहीति तभी सम्भव है, जब उसे सर्जक की ही आँख से देखा जाय। सर्जना में सर्जक का अपना 'सत्य' व्यक्त होता है, ऐसा 'सत्य' जो उसका अनभूत है। यदि सर्जक विज्ञान या दर्शनगम्य अज्ञात या अननुभूत 'सत्य' का साक्षात्कार कराना चाहता है तब तो कविता से अधिक शक्त, सफल तथा विश्वसनीय दर्शन और विज्ञान ही है। हाँ, अनुभूत सत्य है तो उसमें नवता नहीं है और नवता नहीं—रचनात्मकता नहीं—तो 'नवता' का अर्थ क्या होगा? वस्तुतः 'नवता' का अर्थ सर्वथा नूतन नहीं प्रत्युत 'नूतन-सा' है।

वास्तव में इस काव्य द्वारा प्राप्य 'सत्य' के विषय में स्पष्ट होने की आवश्यकता है। क्या यह 'सत्य' अनुभूत सत्य होने पर भी भावात्मक सत्य है या बोधगोचर सत्य? भावात्मक सत्य अनुभावगम्य है और बोधगोचर सत्य 'जाना' जाता है। मिठास का अनुभव एक बात है और उसका अर्थबोध या उसके विषय में जानकारी दूसरी बात। यदि यह काव्य का अनुभूत सत्य भावात्मक धरातल का सत्य है तब तो निर्विवाद व्यक्तित्व विगलन की बात आ जायेगी और यदि कविता उस 'सत्य' के बारे में 'बोध' पैदा कराने का माध्यम है तब तो जागरूकता की बात समझ में आती है। पर तब एक दूसरा प्रश्न खड़ा होता है और वह यह कि यदि काव्य का भी लक्ष्य तथ्य या सत्य की जानकारी मात्र ही देना है तो वह इतिहास अथवा काव्येतर वाङ्मय से भिन्न क्यों? उत्तर है या हो सकता है निवेदन की पद्धति भिन्न होने से। एक की पद्धति तथ्यनिरूपिणी होती है और दूसरे की प्रभावोत्पादी—प्रभावित करते चलने की। पहले में ग्राहक जागरूक रह सकता है, पर दूसरे में प्रभावित होने के कारण तटस्थता, जागरूकता, विवेकमयता मद्धिम पड़ सकती है।

पद्धति के प्रभावी होने पर भी ग्राहक अप्रभावित रह जाये, तो उसका अर्थ यह है कि सर्जक अपने लक्ष्य में च्युत है। यदि सर्जक सफल है, तो श्रोता को प्रभावित करके ही सफल होगा और श्रोता प्रभावित होते ही तटस्थता तथा जागरूकता खो देता है। एक दूसरा अन्तर भी बताया जाता है और वह यह कि जहाँ काव्येतर का लक्ष्य जानकारी देना है, अज्ञात को ज्ञात कराना है, वहाँ काव्य का लक्ष्य ज्ञात का ज्ञान कराना है, पहचनवाना है। कविता का कार्य ही है— जाने हुए को पहचनवाना, तथ्य को अर्थ से आलोकित करना। इसीलिए काव्य वही उत्तम और सार्थक माना जाता है जो 'संवाद' पैदा करता हो, दूसरों के ज्ञात से मेल खाता हो।

काव्य का इतना व्यक्तिगत हो जाना कि सर्जक की सर्जना का किसी से संवाद ही न हो, स्वयम् कर्ता या स्रष्टा से ही 'सम्वाद' हो सके तो ऐसे काव्य को अभिव्यक्त करने की आवश्यकता ही क्या है? अस्तु, 'पहचनवाने' की प्रक्रिया काव्य की अपनी ऐसी प्रक्रिया है जो अपने आपमें अद्वितीय है। इसी पहचनवाने के लिए 'अर्थवान्' शब्द की खोज की जाती है। सही शब्द की तलाश की जाती है—शब्द का संस्कार किया जाता है। इस खोज में शब्द की ऐतिहासिक और अर्थ की सामाजिक परख निहित है। रहा इस अर्थवान शब्द का सम्वेदन (सम्प्रेषण), वह युग-सम्पृक्ति के बिना सम्भव नहीं। इस प्रकार काव्य अपने लक्ष्य तथा पद्धति दोनों में स्वायत्त या सापेक्ष स्वतन्त्र है। इतिहास और काव्य भिन्न हैं। निष्कर्ष यह कि सम्प्रेष्य भाव हो या भावभिन्न, पूर्वज्ञात या **अनुभूत होना** ही चाहिए। कहा जा सकता है कि सर्जक जितना जो कुछ रचता है, क्या सम्भव है कि वह सब अनुभूत हो? बहुत कुछ उसमें कल्पित भी रहता है। मेरा पक्ष यहाँ भी यह है कि 'कल्पना' भी अनुभूत की ही होती है। कल्पना 'अनुभूत' में ही जोड़-घटाव करती है। निष्कर्ष यह कि 'अनुभूत सत्य' का ही काव्य द्वारा सम्प्रेषण होता है और तब वह अपने सम्प्रेष्य तथा सम्प्रेषण शैली, उभयत्र प्रभावी होता है।

प्रभावी काव्य की चरितार्थता ग्राहक को प्रभावित करने में ही है, उसके व्यक्तित्व पर हावी हो जाने में ही है, उसके व्यक्तित्व के विगलन में ही है। और यदि ऐसा है तो डॉ. गुप्त का यह कहना कि 'नयी कविता' में ग्राहक अपना व्यक्तित्व सम्हाले रहता है, चिन्त्य हो जाता है। यह बात दूसरी है कि 'ग्रहण' करते समय तो प्रभावित रहता है। सर्जक के 'अनुभूत सत्य' को पकड़ने के लिए उससे एक रूप हो जाता है, पर बाद में तटस्थ होकर ग्रहीत 'सत्य' का मूल्यांकन करता है। जो भी हो, काव्य का सत्य सर्जक का अनुभूत सत्य है और 'अनुभूत सत्य' का ग्रहण सर्जक से एकरूप होने पर ही सम्भव है। अतः यह कहना कि 'नयी कविता' में अभिव्यक्त 'अनुभूत सत्य' व्यक्तित्व का बिना विलयन किये ग्राहक करता है और पुरानी कविता में व्यक्तित्व विलयन पूर्ण रूप से ग्रहण होता है—समझ में नहीं आता। यह अन्तर अवश्य है कि पुरानी चेतना के व्यापार भावजगत से उतना जटिल और घुमावदार सम्बन्ध नहीं रखते थे, जितना नयी चेतना में हो गया है। कभी-कभी यह व्यवधान इतना व्यापक हो जाता है कि वर्णित व्यापार का भाव जगत से कोई सम्बन्ध है भी या नहीं। विशुद्ध बुद्धि प्रेरित

ही है वह। इसीलिए बुद्धि रस की बात कभी-कभी नयी चेतना की अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में कह दी जाती है। सम्भव है इस गैर रोमैण्टिक बौद्धिक ब्यौरे को ही देखकर जागरूकता आदि की बात की जाती है।

आज के मर्मज्ञ आलोचकों के मुख से यह भी सुना जाता है कि कविता स्वानुभूत सत्य के सम्प्रेषण का ही माध्यम नहीं है, जानने का भी माध्यम है। जानने के माध्यम के रूप में कविता को मानने में मेरी कोई विसहमति नहीं है, प्रश्न केवल इतना है कि जिसको जाना जाता है, वह किसी भी रूप में पूर्वतः ज्ञात नहीं है या सामान्यतः ज्ञात है, विशेष रूप में ज्ञात नहीं है? यदि पहला पक्ष लिया जाय तो इसका मतलब यह होगा कि कविता में जो कुछ नहीं है, वह कविता से जाना जा रहा है। (पर क्या यह स्वीकार्य है?) असम्बद्ध होने पर भी यदि किसी से कुछ जान लिया जाय, तब तो सबसे, सब कुछ जाना जा सकता है। अतः कविता को यदि सम्प्रेषण के अतिरिक्त जानने का भी माध्यम माना जाये, तो यही कहा जा सकता है कि पूर्वतः सामान्य रूप से ज्ञात का विशेष रूप में जानना ही यहाँ जानना है और यही पहचानना है। दार्शनिक तो मानते ही हैं कि हम अपनी सारी क्रिया-प्रक्रिया में वस्तुतः अपने को ही विशेष रूप में जानना या खोजना चाहते हैं---पाना चाहते हैं। विश्व का प्रत्येक स्पन्दन अपने मूल रूप को पाने के लिए ही हो रहा है। ऊपर-ऊपर जागति-जागति क्रियाएँ चाहे जैसी भी लगें, वस्तुतः वे सब आत्मोपलब्धि के ही लिये हैं—आत्म प्रत्यभिज्ञा के ही लिये हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहें तो कह सकते हैं कि unconcious में स्थित—सामान्यतः ज्ञात--को concious के स्तर पर लाना चाहते हैं, विशेष रूप में जानना चाहते हैं। जानने या विशेषतः जानने या पहचानने का यह रूप ग्राहक के लिए तो है ही, कभी-कभी स्रष्टा के लिए भी हो जाता है। निष्कर्ष यह कि यह भी 'सत्य' के सम्प्रेषण की ही परिधि का विस्तार है। स्रष्टा स्वयम् को भी कविता की प्रक्रिया समाप्त हो जाने पर अपने को ग्राहक के घेरे में खड़ा करके कविता को जानने का **माध्यम** बन सकता है। पर यह 'जानना' भी 'पहचानना' ही है।

इस प्रकार अव्वल तो यह है कि डॉ. गुप्त की परिभाषा नयी पुरानी किसी भी कविता पर लागू नहीं होती। कारण, कविता प्रभावित करती है और प्रभावित व्यक्ति की अपनी विवेक शक्ति दब जाती है। यथाकथंचित् मान भी लिया जाय कि इनकी परिभाषा नयी कविता पर लागू हो जाती है—तब भी कविता के उस रूप पर कैसे लागू होगी जो रसात्मक मनःस्थिति का समुच्छलन है? निष्कर्ष यह कि इस परिभाषा में न केवल असम्भव दोष ही है, अपितु यथाकथंचित् असम्भव के निवारित होने पर भी अव्याप्ति दोष तो है ही। यह कहना कि रसात्मक या व्यवस्थित अथवा सन्तुलित मनःस्थिति को व्यक्त करनेवाली रचना कविता ही नहीं है तब तो बात ही अलग है। लेकिन तब यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह कविता मात्र की परिभाषा नहीं है। मात्र नयी कविता की है—यह कैसे माना जाये? हाँ, एक खास वृत्त की कविता पर चाहे लागू कर लें। कहा जा सकता है

कि सन्दर्भ चूँकि नयी कविता का है, अतः इसे 'नयी कविता' तक ही सीमित रखा जा सकता है। चूँकि इनके अनुसार नये कवि में रसात्मक मनःस्थिति नहीं है, अतः अतिरिक्त मनःस्थिति की उपजवाली नयी कविता पर यह प्रतिमान पूर्णतः व्याप्त है। यद्यपि अन्ततः उपर्युक्त विवेचन के आलोक में यह प्रतिमान सर्वत्र अव्याप्त किंवा असम्भव है।

डॉ. गुप्त के परवर्ती (प्रो. साही, डॉ. नामवर सिंह तथा नागेश्वर) चिन्तकों के कथनानुसार समूची नयी कविता को ठीक-ठीक देखने के लिए नयी कविता के 'प्रतिमान' की जरूरत नहीं है, बल्कि कविता के 'नये प्रतिमान' की जरूरत है। अर्थात् कविता के अद्यावधिक विकास को ध्यान में रखकर प्रतिमान की व्याप्ति बढ़ानी चाहिए और पूर्वतः क्रमागत प्रतिमान यदि अव्याप्त हो रहा हो, तो उसे त्याग देना चाहिए। नयी परिभाषा पूर्व परिभाषा को अव्याप्त देखकर ही बनायी जाती है। पर नयी परिभाषा का मतलब यह नहीं कि उसकी व्याप्ति सन्दर्भ-सीमित कविता तक ही रहे। उसमें इतनी व्याप्ति होनी चाहिए कि वह तब तक की समूची कविता पर लागू की जा सके।

नयी कविता के मूल में निहित 'सर्जनात्मक अनुभूति'—जो अकाव्य से काव्य का व्यावर्तक तत्त्व है—की प्रकृति, प्रक्रिया तथा परिणति बदल गयी है, ऐसा नयी कविता के सजग प्रहरियों का विश्वास है। 'छायावाद' की अनुभूति से नयी कविता की अनुभूति का अन्तर करते डॉ. नामवर सिंह ने चार बातें कही हैं, एक तो यह कि तब 'राग' पर बल दिया जाता था और अब रागात्मक सम्बन्धों पर, दूसरे यह कि तब भाव का रूप पर प्रक्षेप होता था, अब रूप का भावात्मक रूपान्तरण होता है अथवा पहले भाव से रूप की ओर बढ़ा जाता था, अब रूप से भाव की ओर, बाहर से भीतर की ओर बढ़ा जाता है। तीसरे यह कि इस यात्रा में यह भाव अन्ततः निर्वैयक्तिक हो जाता है और कुल मिलाकर चौथे यह कि छायावाद और उत्तर छायावाद की अनुभूतियों को जहाँ विस्फोट और लहर की उपमा से समझाया जाता था, वहाँ नयी कविता में निहित अनुभूति को क्रिस्टल या स्फटिक की संरचना से उपमित कर उसकी बनावट और बुनावट के ताने-बाने को पृथक् बताया जाता है। इसीलिए इस सन्दर्भ में यह भी कहा गया कि जहाँ पहले की रचनाओं में अनुभूति की, स्वेत्तर माध्यमों द्वारा 'अभिव्यक्ति' की बात कही जाती थी तो नयी कविता के लिए ऐसे द्वैत के अभाववश 'निर्मित' शब्द का प्रयोग करना उचित हुआ। जिस प्रकार स्फटिक का स्फटिक तत्त्व—संरचना ही संरचना में अखण्ड और अविभाज्य है, अतिरिक्त इतर द्वैत नहीं—उसी प्रकार नयी कविता की अनुभूति संरचना ही संरचना है—इतर किसी प्रकार का द्वैत नहीं। इस पीठिका पर मुक्तिबोध की रचनाओं को वयस्क मानकर साही और अज्ञेय की विवेचनाओं से प्रोत्साहन और सामग्री लेकर यह बताया कि कविता का प्रतिमान 'सृजनात्मक अनुभूति के निर्वाह में तत्पर अर्थवान शब्द है अथवा आवयविक अखण्डता का निर्वाह है अर्थवान् शब्दों के माध्यम से।'

इस प्रतिमान या प्रत्यभिज्ञापक के विरुद्ध भी यह आक्षेप किया जा सकता है कि इसमें भी क्या नया है ? इसके विपरीत आनन्दवर्द्धन ने जो कुछ बहुत पहले कहा था—'यत्नतः प्रत्यभिज्ञयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः'—उसी की नयी कविता में पुनः पहचान है। कविता की वयस्कता इसी तत्व के निर्वाह में है। इस बात से सावधान रहने की आवश्यकता है कि इसका उपयोग समझदारी के साथ हो। यही प्रतिमान मूल प्रतिमान है। महाकवि की वयस्क कविता में प्रयुक्त शब्दार्थ यत्नपूर्वक प्रत्यभिज्ञेय होते हैं। कारण, वे शब्दार्थ जिस सर्जनात्मक अनुभूति की घनता से प्रकट होते हैं—वह गहरी है। इसी को और भी स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यंजकतां विभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥

अनुभूति सर्जनात्मक होने से चारु या सुन्दर होती है—उसमें नवता या ताजगी रहती है। चारुता को प्रकाशित करने के लिए जो शब्द आया हो, वही अपनी सम्पूर्ण क्षमता के साथ उसका प्रकाशन कर पाता है—उससे भिन्न दूसरा शब्द अपने किसी व्यापार से कभी भी नहीं कर सकता। ऐसा तभी हो सकता है जब ये शब्द उसी चारु सर्जनात्मक अनुभूति में से ही फूटकर निकले हों। ध्वन्यालोककार ने ऐसे ही शब्द को ध्वनि कहा है। कवित्व की पहचान कराने वाला यही 'शब्द' है—डॉ.नामवर सिंह का प्रतिमान इसी का रूपान्तर है। काव्य के इसी मूल प्रतिमान से अन्य मूल्य Off Shoots की भाँति निकलते हैं। इस दृष्टि से 'कविता के नए प्रतिमान की' जगह कविता का प्रतिमान (प्रत्यभिज्ञापकतत्व) इतना ही कहना उपयुक्त समझता हूँ, न तो 'का' की जगह 'के' और न 'नया' की जगह 'नये'।

नयी कविता के सन्दर्भ में जिस क्रमागत प्रतिमान को ऊपर पहचाना गया है, उसके विषय में स्वयम् डॉ. नामवर सिंह की स्वीकृति है कि इस पुस्तक (कविता के नये प्रतिमान) में किसी प्रतिमान के 'निर्माण' का दम्भ नहीं है, अपितु जो विद्यमान है, उसी का पुनः प्रत्यय है। वह ऊपर से थोपा नहीं गया है, अपितु वयस्क रचना में ही पहचानकर निकाला गया है; न केवल निकाला गया है, अपितु बहुत पहले ही निकालागया है। जब-जब वयस्क कविता के अन्तस में द्रष्टा आचार्य ने झाँका है, तब-तब इस प्रतिमान की प्रत्यभिज्ञा हुई है। कुन्तक का 'वक्र' शब्द भी यही है।

आलोच्य कृति में नयी कविता को पुरानी कविता से पृथक् करते हुए एक बात और भी कही गयी है और वह यह कि 'नयी कविता' 'अभिव्यक्ति' नहीं, 'निर्मिति' है। अभिव्यक्ति सिद्धान्त में साध्य-साधन के द्वैत की सम्भावना हो सकती है, पर 'निर्मिति' सिद्धान्त में ऐसा नहीं है। वहाँ वस्तुतत्त्व और आत्मतत्त्व में से कोई माध्यम नहीं है। वहाँ तो स्फटिक की संरचना की भाँति ध्वनि, लय, छन्द आदि के साथ ही हमारे सामाजिक सन्दर्भ, युग-सम्पृक्ति और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व की भी पर्त घनीभूत है। यह सारी बात सूक्ष्म संवेदनावादी हृदयों के साक्ष्य पर ही कही और समझी जाती है। आलोच्य कृति में दो खण्ड हैं जिनमें से

प्रथम खण्ड के अन्तर्गत छायावादोत्तर कृतियों की उपलब्धियों के परीक्षण के निमित्त आधारभूत मूल्यों की पड़ताल है और उत्तरार्द्ध में कविता के नये प्रतिमान के नाम पर 'नयी कविता' में उपलब्ध मानों की सार्थकता का विचार है। इसी सन्दर्भ में यह भी देखा गया है कि अब रस की कोई प्रासंगिकता शेष है या नहीं।

कृति का शीर्षक है —'कविता के नये प्रतिमान' और भूमिका में संकल्प है—नये काव्य सर्जन में निहित मूल्यों की पहचान। इन सबके केन्द्र में हैं – मुक्तिबोध। जिन मूल्यों की चर्चा यहाँ की गयी है, वे हैं –अनुभूति की प्रामाणिकता, ईमानदारी, जटिलता, द्वन्द्व, तनाव, विसंगति, विडम्बना, सर्जनात्मक भाषा, बिम्बात्मकता, सपाटबयानी, फैंटेसी तथा नाटकीयता आदि।

इस सन्दर्भ को मैं और आगे तो नहीं बढ़ाना चाहता, पर एक समस्या और उलझन सामने अवश्य रखना चाहता हूँ। समस्या यह है कि मूल्यांकन और आलोचन एक है या भिन्न? कृति को पढ़ते-पढ़ते कभी दोनों को एक मानने का भ्रम होने लगता है। कृति में यह तो बार-बार स्वीकार किया गया है कि कविता का मूल्य जीवन और समाज के सन्दर्भ में है। नयी कविता की पहचान अथवा मूल्यांकन के सन्दर्भ में इन बटखरों की चर्चा हुई है। ये बटखरे कविता की रचनात्मक प्रकृति के अनिवार्य तथा अविच्छेद्य अंग रूप विषेधात्मक तथा विधेयात्मक मूल्य कहे गये हैं। सभी नयी रचना के सन्दर्भ में—अत: प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष ध्वंस और तत्पूर्वक निर्माण की भाँति सभी उपयोगी हैं। जब पुनर्मूल्यांकन के लिए अपेक्षित परिवर्तित औसत गुणात्मक दृष्टि को युग से जोड़ा जाता है, तो सहज ही मूल्यांकन के लिए अपेक्षित मूल्य या प्रतिमान को भी युग और युगीन उपादेयता से ही सम्बद्ध किया जा सकता है। अभिप्राय यह कि मूल्य, युग और जीवन के सन्दर्भ में निर्धारित उपयोगी तत्त्व का ही नामान्तर हैं और इन मूल्यों या प्रतिमानों से मूल्यांकन हो सकता है, पर क्या आलोचन के लिए भी इन्हीं मूल्यों की अपेक्षा है ? और साथ-ही-साथ एक प्रश्न और भी है कि बात 'कविता' के प्रत्यभिज्ञापक तत्त्व से आरम्भ की गयी है? अत: कविता मात्र या मात्र कविता की प्रत्यभिज्ञा कराने में ये बटखरे उपयोगी हैं, निश्चय ही ये मान नयी कविता के विवेचन के सन्दर्भ में लक्षित किये गये हैं, अत: कविता मात्र के ऊपर तो इन्हें लागू नहीं कर सकते। लोगों ने इनकी चर्चा की है—अत: लेखक भी प्रत्यभिज्ञापक प्रतिमान के सन्दर्भ में इन पर भी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहा है।

रहा आलोचन और मूल्यांकन। आलोचन या समीक्षण शब्दों की आर्थिक सीमा एक क्रिया-प्रक्रिया तक ही सीमित है। ये क्रिया या क्रियार्थक संज्ञा भर हैं, इसीलिए आलोचन विश्लेषणात्मक या व्याख्यानात्मक दर्शन या ईक्षण ही है, कोई निष्कर्ष या निर्णय नहीं। मूल्यांकन निर्णय है। आलोचक आलोच्य कृतिगत मूल संवेदन के सन्दर्भ में अभिव्यंजक उपकरणों के अनुरूप्य का विश्लेषण करता है, उभरती हुई नव-नव दृष्टियों के सन्दर्भ में मूल कथ्य की प्रकृति का विश्लेषण करता है। अभिव्यंजक और अभिव्यंग्य जैसा कृत्रिम विभाजन करके आलोचक कृति की 'इण्टेग्रिटी' का विवेचन विश्लेषण करता है। इस तरह वह कृति की संरचना को

स्वयं समझता है और समझाता भी है। वह देखता है कि कृति में निहित आवयविक अखण्डता का निर्वाह अर्थवान शब्द कर रहे हैं या नहीं? सर्जनात्मक अनुभूति के सम्मूर्तन में सहभावापन्न शब्द और अर्थ कहाँ तक प्रतिस्पर्धी हैं। यह अवश्य है कि शब्द की अर्थवत्ता का विश्लेषण करने के लिए जीवन, समाज और युग तक अपनी दृष्टि का विस्तार करना पड़ता है। विश्लेषण तटस्थ होता है, पर मूल्यांकन की ओर झुकने में लगाव का होना अनिवार्य है। इस प्रकार आलोचन और मूल्यांकन की सीमा-रेखा इतनी सँकरी है कि सिद्धान्ततः दोनों में फर्क होते हुए भी व्यवहार में प्रायः संकीर्णता या सांकर्य आ जाता है। इस प्रकार यहाँ तीन बातें विचारणीय हैं :—

(1) कविता का प्रत्यभिज्ञापक प्रतिमान

(2) कविता का मूल्यांकन करने में उपयोगी मूल्यात्मक प्रतिमान

(3) आलोचन के निमित्त अपेक्षित प्रतिमान

कविता का प्रत्यभिज्ञापक प्रतिमान तो आवयविक अखण्डता का निर्वाहक अर्थवान शब्द ही है। समय-समय पर उभरनेवाले बटखरे कविता मात्र के प्रतिमान रूप में विवेच्य तो नहीं माने जा सकते। आलोचन के निमित्त प्रतिमान आलोच्य कृति से ही निकाला जाता है। पूर्व निर्धारित युग जीवनसापेक्ष मूल्यों को ध्यान में रखकर मूल्यांकन हो सकता है। आलोचन के लिए पूर्वनिर्धारित प्रतिमान धोखा दे सकता है। गिनाये गये बटखरों में से बहुत सर्जनोपयोगी ध्वंसात्मक मूल्य हैं। कतिपय विधेयात्मक मूल्य भी हैं। भाषा की सर्जनात्मकता काव्य का अपना स्वायत्त मूल्य भी है।

एक बात और। रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी कुछ बातें ऐसी कही गयी हैं जो पुर्नविचार की अपेक्षा रखती हैं। एक तो यह कि 'रस सिद्धान्त' न ही 'पद्धति' है और न ही लक्ष्य या माध्यम है। इस समस्या पर यदि वस्तुमुखी दृष्टि से विचार किया जाये तो यही कहा जा सकता है कि 'रस' न स्वयं 'सिद्धान्त' है न 'पद्धति', यह तो 'दृष्टि' पर निर्भर करता है। आत्मवादी दृष्टि का भारतीय काव्य चिन्तन, आत्मोपलब्धि को सर्वातिशायी मूल्य मानता है, अतः जिस प्रकार जीवन में पुरुषार्थ की दृष्टि से आत्मोपलब्धि प्रमुख गन्तव्य और प्राप्य है, सिद्ध अन्त (निर्णय) है, उसी प्रकार काव्य में भी आत्मोपलब्धि ही गन्तव्य है। कारण, उससे बड़ा और कोई उद्देश्य है ही नहीं। आत्मा को आनन्दमय माना गया है। इसलिए भारतीय चिन्तकों ने आत्मवादी दर्शन के आलोक में काव्यानन्द को 'आत्मानन्द' का ही एक रूप बताया है।

जो लोग मनुष्य की चरितार्थता मानवीय क्रिया में मानते हैं सिद्धि में नहीं, उनकी दृष्टि में काव्यास्वाद, जो मन की एक सात्विक दशा है, एक प्रकार की प्रवर्त्तक मनोदशा मात्र है। यह सात्विक मनोदशा या मनोवेग अपने-आपमें साध्य नहीं है, अपितु मानवीय क्रिया में प्रवृत्त कराने में साधन या पद्धति है। वस्तुवादी दृष्टि के चिन्तक आत्मा जैसी चीज मानते ही नहीं। अतः उनकी दृष्टि में इस पिण्ड

की सार्थकता मानवीय हित सम्पादन में ही है। अतः वे लोग इस पर भाव की 'पद्धति' ही मानने को बाध्य हैं। निष्कर्ष यह कि 'रस' गन्तव्य है या पद्धति—यह जीवन के सम्बन्ध में अपनाये गये दृष्टिभेद के कारण है। हाँ, यदि विचारक और दृष्टियों की अवहेलना कर अपनी ही दृष्टि को सबकुछ कहना चाहता है—उसे ही एकमात्र जीवन-दृष्टि समझता है, तब तो कोई बात ही नहीं।

इसी प्रकार पण्डितराज द्वारा किये गये (अर्थ की दृष्टि से) काव्यभेद को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने जो रस की कोटियाँ बतानी चाही हैं वह भी ठीक नहीं है। वस्तुमुखी दृष्टि से ही रस का विचार किया गया है। और उसमें कोई कोटि नहीं मानी गयी है। इन आचार्यों ने रस को अखण्ड माना है। ग्राहक की क्षमता के अनुसार 'रस' का न्यूनाधिक आस्वाद हो सकता है, पर स्वयं रस में कोई कोटि नहीं होती। वस्तुतः पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के जिन चार प्रभेदों की चर्चा की है, उसका आधार हैं—व्यंग्य अर्थ की तारतमिक स्थिति, व्यंग्यार्थ के तारतम्य से चमत्कार का तारतम्य और इस चमत्कार के तारतम्य से काव्य का तारतम्य—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम। यह अवश्य है कि व्यंग्य रस कभी अंग और कभी अंगी हो सकता है ऐसा ध्वनिवादी भी मानते हैं, अतः कहीं प्रधान और कहीं अप्रधान तो हो सकता है, पर स्वयम् उसमें कोई तारतम्य नहीं होता। इसीलिए महिमभट्ट ने तो अपने व्यक्ति विवेक में इन प्रधान तथा अप्रधान स्थितियों का भी विरोध किया है और माना है कि चमत्कार ही प्राण है रस का। अतः यदि रस है तो सर्वातिशायी चमत्कार के साथ ही है और नहीं है, तो नहीं है। रस जब भी होगा, तब सर्वातिशायी चमत्कार के साथ ही होगा—फलतः सर्वदा और सर्वथा प्रधान ही होगा, गुणीभूत या अप्रधान हो ही नहीं सकता। लेकिन महिमभट्ट का यह अतिवाद है। रस अन्य अर्थ की अपेक्षा तो प्रधान और अप्रधान हो सकता है किन्तु स्वयम् में तारतम्य शून्य है। दार्शनिक धरातल पर वस्तुमुखी दृष्टि से पण्डितराज प्रभृति भारतीय आचार्यों का यही मत है। पर ग्रन्थकार द्वारा जो यह लोकानुभव प्रस्तुत किया गया है—"यह रचना उतनी सरस नहीं है"—वह भी विचारणीय है। यहाँ एक बात तो स्पष्ट है और वह यह कि ऐसा अनुभव आत्म-धर्मी-ग्राहकधर्मी है। ग्राहक की ओर से तो तारतम्य होता ही है। कहा जा सकता है कि व्यंजक सामग्रीं की निर्दोषता और सदोषता से रस की अभिव्यक्ति में अवश्य तारतम्य हो सकता है। मतलब किसी बाह्य कारण से रस-प्रतीति में या रसाभिव्यक्ति में तारतम्य हो सकता है—स्वतः अपने से नहीं। रस में नहीं रसाभि-व्यक्ति में—सामग्रीगत दोष या वैशिष्ट्य के कारण तारतम्य सम्भव है। अतः नैमित्रिक या आगन्तुक धर्म (तारतम्य) को स्वाभाविक और वस्तुगत तो नहीं माना जा सकता।

आलंकारिक आचार्यों की दृष्टि में कालिदास के व्याज से महाकवि का स्वरूप और प्रतिभा-विषयक भारतीय धारणा

'कवि' का स्वरूप क्या है, वे कितने प्रकार के हैं, इस पर आलंकारिकों—वामन, राजशेखर आदि—ने बड़े विस्तार से विचार किये हैं, परन्तु जिस स्वरूप और प्रभेद को थोड़ा गहरायी से लिया गया और ऊहापोहपूर्वक क्षोदक्षम विचार किया गया, वह है आर्ष और अनार्ष के रूप में। भट्टतौत[1] ने कहा, 'वह कवि नहीं, जो ऋषि नहीं और वह ऋषि नहीं, जिसने 'दर्शन' (तात्विक अपरोक्षानुभूति) नहीं किया और वह 'दर्शन' नहीं, जहाँ तात्त्विक अपरोक्षानुभूति नहीं।' कवि के लिए, आर्ष कवि के लिए, केवल इतना ही आवश्यक नहीं कि उसे नित्य, निरावृत तत्त्वदर्शन, स्वच्छ-निर्मल रूप में होता रहे, अपितु यह भी कि वह 'वर्णना' में परिणत हो जाय। 'कवि' कहे जाने के लिए 'दर्शना' और 'वर्णना'—दोनों ही आवश्यक हैं। आदिकवि की जब आर्षचक्षु अप्रतिहत-भाव से अनावृत रही, तब उनसे 'वर्णना' का अनुरोध किया गया था।[2] अविद्या बीज के विध्वंस से जब आर्षचक्षु उद्घाटित हो जाता है तब द्रष्टा कवि के लिए कुछ भी 'भूत' और 'भविष्य' नहीं रहता, केवल **वर्तमान** ही रहता है। यह है कवि का **आर्षरूप**।

एक वह चिन्ताधारा भी उपलब्ध होती है जो कवि के **अनार्षरूप** का उल्लेख करती है। आनन्दवर्द्धन[3] कहते हैं कि कवि योगी नहीं है जो अतीत, अनागत और वर्तमान में विद्यमान विश्व की व्यष्टियों को उसकी प्रातिस्विक विशेषताओं के साथ अपरोक्ष करता हो। दशरूपककार[4] भी कहता है कि कवि योगी नहीं है कि ध्यान-चक्षु से वर्ण्य पात्रों की प्रातिस्विक विशेषताओं का साक्षात्कार कर इतिहासकार की भाँति उनका वर्णन करे, प्रत्युत वह अपनी उत्प्रेक्षाशक्ति से लोकहृदय से एक-रस होता हुआ धीरोदात्तादि पात्रों की अवस्था का आकलन करता है और फिर किसी भी 'पात्र' में उन्हें उँड़ेल देता है।

आर्ष और अनार्ष की द्विरूप कवि परम्परा में 'सुधासागरकार'[5] ने दिव्यादिव्य प्रकृति वाले महर्षि व्यास और मुनि वाल्मीकि से अदिव्य प्रकृति के कालिदास को पृथक् कोटि में रखा है अर्थात् वे अनार्षकवि हैं। आगे चलकर अभिनवगुप्तपाद ने 'प्रतिभावान एव न तु सामान्यकवेः'[6] कहकर मानो अनार्ष कवि को भी द्विधा विभाजित कर दिया, प्रतिभावान् और सामान्य। कालिदास को आलंकारिकों ने

एकमत से प्रतिभावान् माना है। कभी-कभी तो आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त इतने अभिभूत से हो गये हैं कालिदास की प्रतिभा से कि व्यास और वाल्मीकि के साथ एक पंक्ति में कालिदास और भट्टेन्दुराज[7] की गणना कर जाते हैं। इसी आवेश में ये लोग उन्हें 'महाकवि'[8], 'भगवदनुग्रह[9]-पवित्रितवाक्', 'कविकुल चक्रवर्ती'[10] आदि निरवध विशेषणों से मण्डित कर जाते हैं। यह मण्डन निराधार नहीं है। उन्होंने साधार घोषणा की और कहा कि उनकी रचनाओं से अभिव्यक्त 'प्रतिभा-विशेष' के कारण ही अतिविचित्र कवि परम्परावादी संसार में मुक्तकण्ठ से जो दो-तीन लोग 'महाकवि' पद से विभूषित हैं, उनमें सबसे पहला स्थान कालिदास का है—'तत् वस्तुतत्त्वं निःष्यंदमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभा-विशेषं परिस्फुरन्तंभाभिव्यनक्ति। येनास्मिन्नति-विचित्र कविपरम्परा वाहिनि संसारे कालिदास प्रभृतयो द्वित्राः पंचवा वा महाकवय इति गण्यन्ते"।[11] मैं साधार कह सकता हूँ कि आनन्दवर्द्धन में वह गहन नीलिमा है जिसके वेधने में अभिनवगुप्त भी अशक्त रह जाते हैं—उस आनन्दवर्द्धन की यह धारणा है। अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्द्धन के लिए कहा है—'स्वयम् अव्युच्छिन्न परमेश्वर नमस्कार-सम्पत्ति-चरितार्थोऽपि'[12] परमेश्वर या परमशक्ति का साम्मुख्य जिसे सदैव प्राप्त है—जो परमशक्ति से निरन्तर एकतान रहता है, जो अपने को उस महाशक्ति का एक माध्यम मात्र मानता है, वह है आनन्दवर्द्धन और उसकी है कालिदास के सम्बन्ध में यह घोषणा।

इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य यह है कि आलंकारिकों की 'महाकवि' के विषय में क्या धारणा है—उसकी व्यावर्तक अथवा उल्लेख्य विशेषताएँ क्या हैं? महाकवित्व की स्थिति के लिए अपेक्षित 'प्रतिभाविशेष' क्या है? आलंकारिकों ने इन विशेषताओं का संचार किस प्रकार किया है? महाकवि के विषय में सैद्धान्तिक और प्रायोगिक, दोनों ही रूपों में आलंकारिकों की धारणा विवेच्य है।

आनन्दवर्द्धन ने बताया है कि महाकवि का महाकवित्व यही है कि वह स्वयम् अभिमत नवार्थ घटना में निरुद्योग रहता है—साथ ही परकीय अर्थ के परिग्रह में निःस्पृह भी रहता है, परस्व के आदान की ओर से उसकी इच्छा निवृत्त रहती है, सरस्वती ही अभिमत अर्थ का आविर्भाव कर देती है। जो सुकवि प्राक्तन पुण्या-भ्यासपरिपाक वश काव्य क्रिया में प्रवृत्त होता है, वह तदर्थ स्वयम् उद्योग नहीं करता, वह तो सरस्वती के प्रति समर्पित हो जाता है, निरुद्योग हो जाता है। अनुकूल अर्थ की घटना वही करने लगती है। धनञ्जय[13] का भी विश्वास है कि यह सरस्वती ही है जो किसी-किसी को ही और वह भी कभी-कभी दया करके ऐसा कुछ सुझा देती है, घटित कर देती है कि उससे निरुद्योग हुआ मन्त्रभूत कवि विदग्धता प्राप्त कर लेता है—विदग्ध होने का श्रेय स्वयम् प्राप्त कर लेता है। ध्वन्यालोक में कहा गया है—"सैवभगवती सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमातिर्भावयति—एतदेव हि महाकवित्वं महाकवीनाम्"।[14] वे इसलिए भी महाकवि कहे जाते हैं कि सरस्वती की कृपा से ऐसे निरायास स्फुरित वस्तुतत्त्व को प्रवाहित करने वाली

कवि की वाग्रूपा सरस्वती उसकी अलोकसामान्य प्रतिभा को प्रतिपत्ताओं के समक्ष व्यक्त कर देती है।[15] तीसरा[16] कारण यह भी है कि उनके शब्द प्रयोग एक ओर सटीक तथा अपरिवर्तनीय होते हैं, तो दूसरी ओर ग्राहक द्वारा यत्नतः प्रत्यभिज्ञेय[17]। इसीलिए चौथा[18] कारण यह भी बताया गया है कि इनका काव्य जहाँ एक ओर 'प्रसन्न' होता है वहीं दूसरी ओर 'गम्भीर' भी। यह सब उसमें इसीलिए सम्भव है कि प्राक्तन पुण्यवश काव्यक्रिया में प्रवृत्त होकर भी स्वतः निरुद्योग हो जाता है, समाधिस्थ और एकज्ञान हो जाता है। अपनी सीमित शक्ति को उस महाशक्ति में समर्पित कर देता है, जहाँ यह लीन हुई कि महाशक्ति सक्रिय हुई। मानव के पारमित्य का प्रतिबन्ध हटते ही अपरिमेय सम्भावनाओं का स्रोत फूट पड़ता है—लघुचेतना के महाचेतना में विलीन होते ही सब कुछ वर्तमान सा हो जाता है, अतीत और अनागत उस क्षण में, लगता है, 'वर्तमान' बन गये हों। इसीलिए राजशेखर ने कहा—'सुप्तस्यापि-महकवेः शब्दार्थौ सरस्वती दर्शयति'[19] सो जाने का अर्थ ही है अन्तरिन्द्रिय और बहिरिन्द्रियों की सीमित क्षमता का निरोध, किन्तु यहाँ सो जाना समाधिस्थ होना ही है, इस स्थिति में काव्योचित शब्दार्थ का स्फुरण सरस्वती ही कराती है।

इस सैद्धान्तिक वक्तव्य का समर्थन करते हुए राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल, रघुवंश तथा कुमारसम्भव से ऐसे देशान्तरों एवम् द्वीपान्तरों के वर्णन और व्यवहारों का यथावत् वर्णन प्रस्तुत किया है, जो उनकी सीमित शक्ति से सर्वथा असम्भव था।[20]

कहा गया कि महाकवि वह जो प्रतिभाविशेष से समन्वित हो और अलोकसामान्य प्रतिभाविशेष वह जिसके कारण काव्यार्थ कभी चुके नहीं, वर्ण्य का आनन्त्य[21] बना रहे। आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वन्यालोक' के चतुर्थ उद्योत में कालिदास को इस निकष पर भी खरा उतारा है। उन्होंने दिखाया है कि किस प्रकार उनकी प्रतिभा ने न केवल गुणीभूतव्यंग्य[22] के सहित ध्वनि के आनन्त्यवाही अध्वा का ही सहारा लिया है प्रत्युत सहृदयश्लाघ्य देश-काल-व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध से (बिम्बात्मक-) आनन्त्य-सम्पन्न प्रत्यक्षायमाण 'वाच्य' अर्थ का भी अवलम्ब ग्रहण किया है। काव्यार्थ प्रतीयमानात्मक या प्रतीयमानसम्वलित होकर तो सहृदयश्लाघ्य होता ही है, वाच्य होकर भी 'ग्राह्यविशेषाभेदेन' प्रतीत होकर भी सुन्दर होता है। कालिदास में दोनों प्रकार के अर्थों की योजना से अलोकसामान्य प्रतिभा विशेष की झलक मिलती है, जो उनके महाकवित्व का ही पोषक है। तीसरा प्रतिमान है प्रयुक्त शब्दों के 'सटीक' और 'यत्नतः प्रत्यभिज्ञेय' होने का, साथ ही 'प्रसन्न' और 'गम्भीर' होने का, उसके लिए 'रघुवंश' को ही ले लें। एक तरफ तो उसकी 'प्रसन्नता' को लेकर यह कहा जाता है—'रघुरपि काव्यम्—तत्रापि टीका?' और दूसरी ओर उसमें निहित गम्भीरता, सटीकता तथा यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयता व्यञ्जना से निम्नलिखित श्लोक द्वारा यह इंगित भी किया जाता है—

"गुर्वर्थमर्थी श्रुतवारदृश्वा रघोः सकाशतदनवाच्य कामम्।
गतो वदान्यन्तिरमित्ययम् माभूत् परीवादनवावतारः॥"[23]

यहाँ एक अर्थ तो साफ-स्वच्छ सामान्य लोगों को भी ग्राह्य है, पर दूसरा संकेत यह भी है कि श्रुतपारदर्शी विद्वान भी यदि गुरु गम्भीर अर्थ की आकांक्षा से 'रघुवंश' के पास आये, तो उसकी कामना अवश्य पूर्ण होगी, अन्यथा कालिदास इसे अपने लिए अपमान का एक अभूतपूर्व अवसर समझेंगे। शताब्दियों से पूर्व और पश्चिम के विद्वान्, वह भी विभिन्न क्षेत्रों के, कालिदास साहित्य का मन्थन करते आये हैं और कुछ-न-कुछ सर्वत्र नया मिलना जा रहा है। जितना ही नया पक्ष उद्घाटित हो रहा है, उतनी ही नवता की सम्भावनाएँ बढ़ती जा रही हैं। इनका यशोदायी प्रचार, जो महाकवित्व के लिए एक अतिरिक्त प्रमाण ही है कि हर आलंकारिक इनकी ओर आकृष्ट होता है और काव्यांग निरूपण के अवसर पर कहीं न कहीं इन्हें अवश्य उद्धृत करता है।

महाकवित्व के प्रतिमान और उन पर कालिदास को कस लेने के बाद एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि यदि सब कुछ सरस्वती ही महाकवि का कार्य सम्पन्न कर देती है और वह स्वयम् निरुद्योग रहता है तो कवि की शक्ति या लोचनकार के शब्दों में 'शक्तिः प्रतिभानम्'[24] क्या करती है? उसकी सार्थकता और चरितार्थता क्या है? क्या शक्तिहीन या अशक्त को प्रतिभान हो सकता है?

वास्तव में 'प्रतिभा'[25] शब्द के अर्थ के विषय में अनेक तरह के मत हैं आलंकारिकों के बीच। कोई शक्ति और प्रतिभा को पर्याय मानता है और कोई भिन्नार्थक। जो भी हो, पर इतना निर्भ्रान्त रूप से सिद्ध है कि सभी आलंकारिक इन्हें सम्बद्ध मानते हैं। जो एक मानते हैं—उनकी दृष्टि से शक्ति ही 'प्रतिभान' है—स्फुरणा है। जो लोग इन्हें भिन्न मानते हैं उनकी दृष्टि से 'शक्ति' कवित्वबीजभूत संस्कार[26] विशेष है और 'प्रतिभा' उसकी काव्यानुकूल शब्दार्थोपस्थिति रूप में स्फुरणात्मक परिणति। वैसे तो यह प्रसंग दर्शनभेद से विस्तार की अपेक्षा रखता है, परन्तु इस प्रासंगिक ग्रन्थि का सुलझाव अभिनवगुप्त का निम्नलिखित वक्तव्य कर देगा। उनकी एक कारिका है—

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलतिक्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां वंदे तां प्रतिभां शिवाम्॥[27]

इस कारिका की अर्थयोजना जगत् सृष्टि और काव्यसृष्टि, उभयपरक की जाती है। ब्रह्मायतन में विश्रान्त जो स्थान **शिवा** या शक्ति का है, कवि-हृदय में विश्रान्त वही स्थिति **प्रतिभा** की भी है। दोनों ही स्पन्दात्मा हैं और दोनों ही अन्यनिरपेक्ष तथा अपनी-अपनी सृष्टि में स्वतन्त्र हैं और तत्त्वतः दोनों 'शक्ति' होने के कारण एक ही हैं। अभिनवगुप्त ने इसे और स्पष्ट करते हुए एक जगह कहा है—"कवेरपि स्वहृदयायतनसततोदित-प्रतिभाभिधान परवाग्देवतानुग्रहोत्थितविचित्रापूर्वर्थ-निर्माण शक्तिशालिनः प्रजापतेरिव कामजनितजगतः"[28]···अर्थात् कवि अपनी सृष्टि का प्रजापति है और यथेच्छ सर्जन करता है। उसका हृदय वह आयतन है जहाँ प्रतिभा नामक

वाग्देवता निवास करती है अर्थात् प्रतिभा ही सरस्वती है, जिसके अनुग्रह से स्फुरित विचित्र और अपूर्व अर्थ-निर्माण[29] होने लगता है। वस्तुतः 'प्रतिभा' के दो पक्ष हैं—दृष्टि पक्ष और सृष्टि पक्ष। उसका पहला कार्य है, परोक्ष का भी अपरोक्ष की तरह साक्षात्कार करना और दूसरा यह कि साक्षात्कृत में लोकोत्तरत्व का उन्मीलन करना[30]। निष्कर्ष यह है कि इस दार्शनिक मान्यता के आलोक में 'प्रतिभा' और 'महाशक्ति रूपा सरस्वती'[31] दोनों भिन्न हैं ही नहीं, वही कवि की शक्ति है, अतः पूर्वोत्थायित ग्रन्थि सुलझ जाती है।

आलंकारिक आचार्यों ने कालिदास की तमाम रचनाओं को काव्यांग निरूपण के सन्दर्भ में उद्धृत करके जहाँ एक ओर उनकी अपरिमेय प्रशस्ति की है वहीं उनकी रचनाओं में उपलब्ध समाधिशैथिल्य का अव्युत्पत्ति वश घटित दोषों का भी सायास उद्‌घाटन किया है। ये दोष अनेक प्रकार के हैं। कहीं भामह को 'मेघदूत' में 'अयुक्तिमत्' दोष दिखायी पड़ता है, तो कहीं तमाम आलंकारिकों को 'कुमार-सम्भव' के रति-विलाप की पौनःपुन्येन[32] दीप्ति और देवी सम्भोग वर्णन का प्रकृति-गत अनौचित्य दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नहीं, महिमभट्ट, मम्मट आदि दोष-दर्शी पण्डितों ने और भी शब्दार्थ विषयक दोषों का उद्‌घाटन किया है। विश्वनाथ महापात्र[33], नरेन्द्र प्रभसूरि,[34] आनन्दवर्द्धन,[35] अभिनवगुप्त,[36] हेमचन्द्र,[37] तथा भोजराज[38] आदि अनेक आचार्यों ने इसकी पुष्टि भी की है। पण्डितराज जगन्नाथ तो साक्षात् रूप से जयदेव पर और असाक्षात् रूप से कालिदास पर बहुत नाराज हैं—प्रकृतिगत सम्भोग वर्णन का औचित्य भंग कर पण्डितराज[39] के शब्दों में इन लोगों ने मत्त मतंगज की भाँति 'समय' रूप 'आलान' का भंजन किया है। पण्डितराज ने ऐसे स्थलों पर **साधारणीकरण** अथवा **व्यावहारिक विवेकशक्ति का स्थगन** जैसे तर्कों का उपयोग भी निरर्थक बताया है और कहा है कि इनकी भी सहृदय हृदयसाक्षिक[40] सीमा है। ये दोनों साधन निःसीमा और निर्मर्याद नहीं हैं। जहाँ कवि और उस समाज के सहृदय का 'सम्वाद' न हो—वह भूमि असाहित्यिक या व्यक्तिगत भूमि है। काव्य की आस्वादभूमि गोष्ठीरस है—व्यक्तिगतरस या आस्वाद नहीं। वह आस्वाद व्यक्तिचेतना से नहीं, सामाजिक चेतना से ग्राह्य है—इसीलिए समाजानुमोदित सामाजिकता के घटक औचित्यावह उपकरणों की उपेक्षा नहीं हो सकती।

किन्तु इन दोषों के विषय में भी आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त तथा अन्ततः महिमभट्ट ने वारण का मार्ग निकाल लिया है और कवि कालिदास की कीर्ति पर ग्रहण नहीं लगने दिया है। आनन्दवर्द्धन ने **देवीसम्भोग** वर्णन के अनौचित्य का स्पष्ट उल्लेख करते हुए भी कहा है कि कालिदास की 'शक्ति' ने इस अव्युत्पत्तिकृत दोष को उभरने नहीं दिया है। रसास्वाद के प्रवाह में सहृदय इसे पौर्वापर्य-विमर्शपूर्वक उसे लक्षित नहीं कर पाता है अतः वह दोष होकर भी आस्वाद में विघातक न होने से दोष नहीं है। 'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तया संव्रियते कविः[41] यह वही महाशक्ति है जो इसको ढक देती है। अभिनवगुप्त ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा कि

जिस प्रकार निर्व्याज पराक्रम पुरुष अनुचित आलम्बन से भी लड़ता हुआ पौर्वापर्य-विमर्शनिरपेक्ष द्रष्टाजन के साधुवाद का ही विषय बनता है, उसी प्रकार प्रतिभावान् कालिदास के अनुचित वर्णन को पढ़ता हुआ सामाजिक भोक्ता, 'शक्ति' के ऐन्द्रजालिक या लोकोत्तर प्रभाव में डूबा हुआ पाठक, उसे साधुवाद ही देता है। परन्तु इस अपवाद निवारण के बावजूद आचार्य आनन्दवर्द्धन ने परवर्ती कवियों को सचेत करते हुए कहा है—'तस्मादुत्साहरतावपि प्रकृत्यौचित्यमनुसर्त्तव्यमेव'—उत्साह और रति के वर्णन में प्रकृतिगत भरत निर्दिष्ट औचित्यनिर्वाह का ध्यान रखना ही चाहिए। रहा यह कि ऐसे प्रसंगों में यदि महाकवि की भी असमीक्ष्य-कारिता लक्षित होती है तो वह दोष ही है, शक्तिवश लसित नहीं होती, यह दूसरी बात है। पर इसका यह आशय नहीं कि इस माने में भी ये अनुकरणीय हैं। विपरीत इसके कवियों को चाहिए कि महाकवियों के प्रबन्धों की आलोचना करते हुए, अपनी प्रतिभा का अनुसरण करते हुए, तथा समाधिशैथिल्य से बचते हुए अनौचित्य से मुक्त रहने का चरमप्रयत्न[42] करें। इसीलिए आनन्द ने कहा—

पूर्वे विशृंखलगिरः कवयो प्राप्तकीर्तयः।
तान् समाश्रित्येन त्याज्या रीतिरेषा मनीषिणा॥
बाल्मीकि-व्यास-मुख्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वराः।
तदाभिप्रायवाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः॥[43]

गलती किसी की भी हो, गलती ही है। गलती बड़ों की है—केवल इसीलिए वह अनुकरणीय नहीं। हाँ, हम खुलकर बड़ों की गलती को भी गलती नहीं कह सकते, कारण, महान लोगों के चरित अचिन्त्य होते हैं—

"लोकोत्तराणां चेतांसि को हि जानातुमर्हति"

अतः कालिदास प्रभृति महाकवियों के दोषों में रस न लेकर 'सामान्य कवियों' को उनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए। समाधिशैथिल्य और प्रतिभा का अननु-सरण कवियों में स्खलन पैदा करता है। लेकिन इस विवेचन से कालिदास को आनन्दवर्द्धन ने 'उपरिचरित'[44] फलतः अनालोच्य ही माना है। दोष कह तो दिया, पर कह नहीं सके। महिमभट्ट ने तमाम दोषों का उल्लेख करते हुए भी यह स्वीकार किया कि कालिदास के दोष प्रवाह में लक्षित नहीं होते, वे दुर्लक्ष[45] हैं। कुन्तक[46] ने सर्वोत्तम सुकुमारमार्ग का निरूपण करते हुए कालिदास के ही काव्यमार्ग को आदर्श बताया।

सन्दर्भ

1. डॉ. राघवन् : Sri Aurobindo Aesthetic.
2. भवभूति : उत्तररामचरित, पृ. 53
3. अभिनवगुप्त : सटीकलोचनोपेतध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत, पृ. 541

4. धनिक/धनंजय : दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, पृ. 97
5. मम्मट : काव्यप्रकाश-वामनी टीका में उद्धृत, प्रथम उल्लास, पृ. 7
6. भरतमुनि/अभिनवगुप्त : नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती, पृ. 286
7. अभिनवगुप्त : स. ध्वन्यालोक, पृ. 93
8. अभिनवगुप्त : नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती, पृ. 307
9. वही, पृ. 286
10. वही, पृ. 310
11. आनन्दवर्द्धन : स. ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, पृ. 93
12. अभिनवगुप्त : लोचन, पृ. 3
13. धनंजय : कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुषः, दशरूपक, पृ. 1
14. आनन्दवर्द्धन : स. ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत, पृ. 551
15. वही, अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्त-प्रतिभाविशेषम, पृ. 91
16. वही, उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं-प्रकाशयन्/शब्दो व्यंजकतां' बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयी-भवेत, पृ. 146
17. वही, कारिका संख्या-8, यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौतौ शब्दार्थौ महाकवेः
18. आनन्दवर्द्धन : प्रसन्नगम्भीरपदः काव्यबन्धाः सुखावहाः—स. ध्वन्यालोक, पृ. 463
19. राजशेखर : 'काव्य मीमांसा', पृ. 153
20. वही, चतुर्थ अध्याय, पृ. 27-29
21. आनन्दवर्द्धन : स. ध्वन्यालोक (लोचन), चतुर्थ उद्योत, 6 कारिका, पृ. 537
22. वही, 6 कारिका, पृ. 537
23. कालिदास : रघुवंश, पंचम सर्ग, श्लोक संख्या 24, पृ. 98
24. अभिनवगुप्त : ध्वन्यालोक (लोचन), पृ. 317
25. राममूर्ति त्रिपाठी : भारतीय साहित्य दर्शन, पृ. 37 से 52 तक
26. मम्मट : काव्यप्रकाश, पृ. 11 (वामनी)
27. अभिनवगुप्त : स. लोचनोपेत ध्वन्यालोक, पृ. 164
28. अभिनवगुप्त : अभिनवभारती, पृ. 29
29. अभिनवगुप्त : स. ध्वन्यालोक (लोचन), पृ. 317
30. मम्मट : काव्यप्रकाश, पृ. 443
31. अभिनवगुप्त : लोचन, पृ. 317
32. मम्मट : काव्यप्रकाश, पृ. 440
33. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, पृ. 499
34. नरेन्द्र प्रभसूरि : अलंकारमहोदधि, पृ. 81
35. आनन्दवर्द्धन : सटीक लोचनोपेत ध्वन्यालोक, पृ. 316
36. वही, पृ. 317
37. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, पृ. 177
38. अभिनवगुप्त : लोचन, पृ. 317
39. जगन्नाथ : रसगंगाधर, पृ. 65
40. वही, पृ. 65

41. आनन्दवर्धन : स. ध्वन्यालोक (लोचन), पृ. 317
42. वही, पृ. 332
43. वही, पृ. 365
44. वही, पृ. 365 (लोचन), अचिन्त्यहेतुकत्वादुपरिचरिता नाम।
45. महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक, पृ. 392, 'ता एता दोषजातय-महाकवीनामपि दुर्लक्षा इत्यवसीयन्ते'।
46. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित, येनमार्गेण सतकवयाः कालिदास प्रभृतयो गताः, पृ. 43

हिन्दी का नया काव्य और भारतीय प्रतिमान

नये काव्य का सम्बन्ध नयी मानसिकता से है। ऐसी 'नयी मानसिकता' से, ऐसे 'नयेपन' से, जो अज्ञात भाव से धीरे-धीरे विकसित नहीं हुआ है, बल्कि छलांग मारता हुआ आया है। इसीलिए इस नयेपन को रेखांकित किया जाता है, वर्ना घनानन्द की कविता भी लीक-बद्ध लोक प्रचलित कविता से इतनी भिन्न थी कि 'ह्याँ प्रवीननि की मति जाति जकी'—बड़े-बड़े सहृदयमान्य आलोचकों की प्रज्ञा स्तब्ध रह जाती थी, फिर भी उसे कोई विशिष्ट संज्ञा नहीं दी जा सकी। एक 'नयापन' तो ऐसा है जो रचना मात्र के लिए अनिवार्य है। 'नयापन' के बिना कोई निर्मिति अथवा अभिव्यक्ति रचना हो ही नहीं सकती, फिर भी यह 'नयापन' अनुभूति-सापेक्ष कल्पना से ही आने के कारण ज्ञात का ही नयापन होता है, अज्ञात का नहीं। भारतीय परम्परा 'डण्टन' के उस (Dramatic or Absolute Vision) अनुभूति निरपेक्ष कल्पना की कुतूहलमात्र सर्वथा नूतन वैचित्र्य का समर्थन नहीं करती। कविता अनुभूत की ही अनुभूति कराती है, ज्ञात का ही ज्ञान कराती है। सहृदय, ग्राहक को उसमें 'नयापन' प्रतीत होना चाहिए। उसे लगना चाहिए कि वह कर तो रहा है अनुभूत की ही अनुभूति, पर लग रहा है कि उससे (अनुभूत की अनुभूति से) 'कुछ और' ही है, तभी वह प्रभावित होगा। रचना वही है जो 'प्रभाव' डाले। यह एक ऐसा निष्कर्ष है जिसमें कदाचित् ही किसी को विवाद हो।

> बाध्य हैं हम दोनों
> एक दूसरे से घृणा
> करते हुए
> करने को प्यार

श्रीकान्त वर्मा की ये पंक्तियाँ हैं। इसमें समाज की जकड़न, यौन नैतिकता के संस्कार तथा व्यक्तिगत अराजक यौन भावनाओं के अदम्य समुच्छलन से उत्पन्न अविश्वास और विसम्वाद की स्थिति का उद्रेक भरा है। और इसका कारण विद्रोह की भावना है। आप इसे नयी मानसिकता की छनकन कहेंगे। क्या यह अनुभूत की अनुभूति नहीं है? व्यष्टिमानस के लिए अपरिचित हो, पर क्या सामूहिक अवचेतन या समाज मानस के लिए भी अपरिचित है? भाषा का सहारा लेते ही कविता

सामाजिक हो जाना चाहती है, सामाजिकों के लिए। अभिप्राय यह कि यह अननुभूत नहीं, अनुभूत की अनुभूति है। पर 'कुछ और' इसमें न होता, 'नयापन' न होता तो इसे कोई कविता न कहता। यह 'कुछ और' ही कविता की जाति है। इसके पूर्व कि छलाँग मारता हुआ आनेवाला नयापन क्या है—इस पर विचार करें, पहले कविता मात्र के लिए अपेक्षित और अनिवार्य इस सामान्य 'नयेपन' को भारतीय काव्यचिन्तन के आलोक में देख लें :

सिंहासन ऊँचा है सभाध्यक्ष छोटा है
अगणित पिताओं के
एक परिवार के
मुँह बाये बैठे हैं लड़के सरकाट के
लूले काने बहरे विविध प्रकार के
हलकी-सी दुर्गन्ध से भर गया है सभाकक्ष।

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा, 'इस उद्धरण में किसी सामान्य सभाध्यक्ष का वर्णन भी है और किसी विशिष्ट सभाध्यक्ष का बिम्बन भी। उन्हीं पंक्तियों में वर्णन और बिम्ब के स्तरों की टकराहट अर्थ को असाधारण विस्तार देती है।' यह असाधारणता क्या है? श्री अज्ञेय के साथ उनके सभी अनुयायी यह मानते हैं, बल्कि अननुयायी भी, नयी कविता का भाव और शिल्प दोनों ही पहले से कहीं अधिक जनतान्त्रिक हो गये हैं। अब उदात्त के साथ अनुदात्त और विशिष्ट के साथ सामान्य भी काव्य का विषय बन गया है। कवि का कार्य है, साधारण में भी 'असाधारणता' उभार देना, 'कुछ और' उभार देना। शायद अज्ञेय ने ही कहा है कि काव्य में आम प्रविष्ट होते ही खास हो जाता है।

भारतीय काव्य चिन्तनधारा में साधारण में निहित असाधारण को उभारने की बात पर बड़ा बल दिया गया है, कुछ और को कविता की जान भी बताया गया है। एक ओर वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक कहता है कि वर्ण्यवस्तु के स्वभाव में जो सूक्ष्मसुभगतत्व निहित है, कवि की वाणी उसी को प्रतिभाशक्ति से खींचकर ऊपर ला देती है। यही सूक्ष्म सुभगतत्व, वर्ण्यवस्तु की स्वभावगत असाधारणता है, बाँकपन है, कुछ और है। उन्होंने इसीबाँकपन या असाधारणता का मर्म भ्रान्त लोगों को समझाते हुए कहा है—

'स्वभावस्याञ्जसेन रूपेण वर्णनं वक्रतायाः परंरहस्यम्', स्वभावगत असाधारणता को उभारकर रख देना ही वक्रोक्तिवाद का परम रहस्य है। उन्होंने कहा—

'लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगतत्वं गिराकृष्यते, निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा कविः। वंदे द्वावपि तावहं कविवरौ वंदेतरांतं पुनः, यो विज्ञात परिश्रमोऽयमनयोः भारावतारक्षमेः'।

मैं उन दोनों प्रकार के कवियों को तो वन्दनीय मानता ही हूँ जिनमें से एक तो वर्ण्यवस्तु में लीन सूक्ष्मसुभगतत्व की असाधारणता को अपनी वाणी से ऊपर ला देता है, सर्वसंवेद्य बना देता है और दूसरा भी अपने वाग्विकल्प से मनोहरता

प्रदान करता है अर्थात् जिसमें कोई स्वभाव-सौन्दर्य नहीं है फिर भी अपनी क्षमता से उसमें कुछ और ही छटा डाल देता है। उन आलोचकों और सहृदय पाठकों को भी वन्दनीय मानता हूँ जो ऐसी रचनाओं का आस्वाद लेकर स्रष्टा के सर्जन-श्रम को हल्का कर देते हैं—उन्हें समझकर उन्हें राहत देते हैं।

दूसरी ओर आनन्दवर्द्धन हैं—उन्होंने इस कुछ और की व्याख्या करते हुए कहा है—"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्तत्वस्ति वाणीसु महाकवीनाम्। यत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यामिवाङ्नासु"।

महाकवियों की वाणी में झलकनेवाली कुछ और ही बात होती है, ठीक वैसे ही जैसे अंगनाओं के अंग-अंग से झलकनेवाला लावण्य। इस असाधारणता को उभारनेवाले शब्द, सही शब्द की तलाश कवि करता है। वह अभिव्यक्ति, तब तक अभिव्यक्ति नहीं है, जब तक यह सही शब्द नहीं मिलता। ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने कहा है—

> उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयत्।
> शब्दो व्यंजकतां विभ्रद ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत्॥

कविता की जान कुछ और ही उक्ति है। जो उक्ति या शब्द ठीक-ठीक अपनी अपरिवर्तनीयता के साथ उभार दे, वही ध्वनि-प्रतिमान है। कविता-अकविता सभी के सूत्रधार इस प्रतिमान की सम्भावना से सहमत होंगे। लोग कहते हैं कि भारतीय चिन्तन माध्यम को ही महत्त्व देता है—सर्जक के व्यक्तित्व की यहाँ उपेक्षा है, उसके अन्तःसौन्दर्य का अग्रहण है। पर ऐसी बात भी नहीं है—

> सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःस्यंदमाना महतां कवीनाम्।
> अलोक सामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।

अर्थात् कवि की वाणी ग्राहक को प्रभावित करती हुई प्रभाव के ही आवेश में अपनी मूलवर्तिनी प्रतिभा का भी साक्षात्कार करा देती है।

नया चिन्तन कहता है कि कविता अनुभूत सत्य के प्रकाशन का ही माध्यम नहीं है, अननुभूत सत्य के जानने का भी माध्यम है। नामवर सिंह के इस वक्तव्य के साथ जगदीश गुप्त का भी स्मरण करना चाहिए। उन्होंने कहा है कि कवि ऋषि की तरह सत्य का अन्वेषी और द्रष्टा होता है और काव्य इसी द्रष्ट या साक्षात्कृत सत्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है। अभिव्यक्त सत्य को यथावत् ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि ग्राहक तटस्थ रहे, अपने व्यक्तित्व को स्रष्टा के व्यक्तित्व में विलीन न करे, तभी नये काव्य की सम्प्रेक्ष्य सह-अनुभूति, जो रसानुभूति की विरोधी है, का ग्रहण हो सकता है। मैं यहाँ केवल इतना ही जानना चाहता हूँ कि ग्राहक कवि के अनुभूत सत्य का ग्रहण करता है या मात्र सत्य का? पहला विकल्प तभी सम्भव है, जो ग्राहक स्रष्टा की आँख से उसके अनुभूत सत्य को देखे—अर्थात व्यक्तित्व का विलयन करे। दूसरा पक्ष काव्य और कवि के सन्दर्भ का है ही नहीं।

अब यह कि काव्य सत्य की अभिव्यक्ति का ही माध्यम नहीं है, सत्य के जानने का भी माध्यम है, इसका आशय क्या है? यह कि वह सत्य अननुभूत है या अनुभूत?

यहाँ भी यदि वह सत्य अननुभूत है तो कविता का सत्य नहीं है। हाँ, अचेतन-गत अनुभूत को चेतन में लाने का माध्यम भी कविता है, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। फिलहाल यह तय हुआ है, कविता द्वारा अनुभूत की ही अनुभूति होती है, पर नयेपन के साथ, कुछ और के साथ। और इस सन्दर्भ में ध्वनि-सिद्धान्त की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता।

अब रहा रससिद्धान्त, जिसको खूब फींचा जा रहा है। फींचा जा रहा है, पर रंग निकलता ही जा रहा है। लोग इसे तब तक फींचेंगे, जब तक रंग पूर्णरूप से न निकल जाय, लेकिन यदि वह रंग-ही-रंग हो, और कुछ हो ही नहीं। अस्तु, आलंकारिक ढंग छोड़कर सीधे अपनी बात पर आना चाहिए। रस के विषय में सबसे पहली बात यह कि न केवल रसात्मक प्रतिमानवाला कोई भी प्रतिमान रचना और रचना के मूल में रहनेवाली सर्जनात्मक अनुभूति से गुजर चुकने के बाद, उसकी धातु पहचान लेने के बाद ही लागू किया जाना उचित है—भारतीय आचार्यों का यही परिनिष्ठित मत है। तभी वस्तु व्यंजनागर्भ रचनाओं पर रसात्मक प्रतिमान का संचार करनेवाले समीक्षकों को अभिनवगुप्त ने रसान्ध कहा था। इसीलिए प्रतिपाद्य का विचार करनेवाले आचार्यों ने रसात्मक प्रतिमान की दृष्टि से काव्य को कई भेद-प्रभेदों में बाँट दिया था। वे भी उसी रचना पर रसात्मक प्रतिमान लादते थे, जिनमें अनुभूत रसात्मकता की प्रमुखता होती थी। अतः विवाद इस बात का नहीं है कि रसात्मक प्रतिमान का सर्वत्र संचार किया जा सकता है या नहीं, विवाद इस बात का है कि तदनुरूप नयी मानसिकता है या नहीं। यहाँ फिर ठहरकर पहले क्रमागत नयापन उभारने में उसका योयदान है या नहीं—यह देख लें। आनन्दवर्द्धन ने कहा है—

'सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः'

पतझर के ही पेड़-पौधे मधुमास में डूबकर जैसे नयेपन से मण्डित हो जाते हैं वैसे ही सर्जनात्मक अनुभूति के मधुमास में निकलती अर्थराशि नयी-सी लगने लगती है।

कलेण्डर दिसम्बर तक फटा है, ग्लास चटके हुए हैं, किताबों के
पन्ने सटकर एक दूसरे में मिल गये हैं
कान टूटने से प्यालियाँ कटोरियाँ बनी हुई हैं
दीवालों पर लाल काली मकड़ी जालियाँ लिखी हैं
टेबल लैम्प में न बल्ब है न छतरी, मौसमी
फुलवाड़ी में सिर्फ डण्ठल और डाल हैं
शिप्र हाथी की सूँड़ जैसे चंचल हाथोंवाली मेरी
लक्ष्मी—यहाँ एक महीने रहकर गयी। —तीसरा सप्तक, पृ. 155

मदन वात्स्यायन की 'स्वस्ति मेरी बेटी' शीर्षक यह रचना है। रस की दृष्टि से इसे वात्सल्यविप्रलम्भ की रचना कह सकते हैं। ऐसी वन्ध्या अनुभूतियाँ अपने उद्गारों के साथ अनेक बार आती-जाती सुनी गयी होंगी, किन्तु प्रस्तुत रचना में वही अनुभूति सर्जनात्मक होकर अपनी अभिव्यक्ति में आकर्षक हो गयी है, नयी-सी लगने लगी है,

प्रभावित करती है। इसमें यथार्थ जीवन की सच्ची तस्वीर है, व्यंजक अर्थ-सामग्री के माध्यम से युगीन बोध है, मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन का जाना-पहचाना चित्त है। निष्कर्ष यह कि नयी कविता के शलाका पुरुष जब मानते हैं कि उनका हृदय उथला नहीं हो गया है तब रसात्मक उद्‌गारों के अभाव की शपथ ठीक नहीं होगी। हाँ, यह अवश्य है कि आज के भौतिकतामय व्यावसायिक मानसवाले औसत प्रवाह में कूटनीतिक फलतः जटिल व्यापारों का ऐसा माहौल बन गया है कि अत्यन्त निर्मम रक्तलोभी प्रतिकूल मौसम में हृदय दुबका हुआ है, पर यह कैसा जनतन्त्र जहाँ दुबके-सिमटे को कविता और स्वप्न में भी बाहर निकलते भय महसूस हो रहा हो? अज्ञेयजी तो निर्भीक होकर कह रहे हैं—कलाकार और रसिक दोनों की दृष्टि से एक कलाकृति की मूल कसौटी यही है कि वह चमत्कारयुक्त हो, रसयुक्त या रसात्मक हो। रसिक कला से रस माँगता है तो कलाकार को अपनी कला से नहीं देना चाहिए और ऐसे रूप में देना चाहिए कि उसमें रस की अवहेलना न हो। वे सामान्य उक्ति से काव्यात्मक शक्ति को उसकी वक्रता में विशिष्ट पाते हैं और पाते हैं कि उक्ति वक्रता स्थायी और संचारी के चामत्कारिक योग से ही संयुक्त होकर रस की सृष्टि कर सकती है। (त्रिशंकु, दूसरा सप्तक) भारतीजी का भी कहना है—"बहुत-सी कविताएँ अच्छी लगती हैं, प्रभावित करती हैं और उसका प्रभाव स्थिरता लिये हुए होता है। इसकी (प्रभाव की) परिधि में भाव और ज्ञान दोनों ही आ जाते हैं" (दूसरा सप्तक)। ये वक्तव्य सम्भाव्य स्थलों में रसमयता, ध्वनिमत्ता तथा वक्रता का नये काव्य में होना समर्थित करते हैं।

अब, रेखांकित की गयी नयी मानसिकता और उसके कारण आनेवाले नयेपन के सन्दर्भ में भी भारतीय काव्यतत्त्वों तथा प्रतिमानों की स्थिति देख लेनी चाहिए। यह नयी मानसिकता विज्ञान के प्रभाव में भौतिकता को ही समष्टि और व्यष्टि के धरातल पर चरम प्राप्य मानकर सर्वथा व्यावसायिक हो जाने के सन्दर्भ में आयी है। इसीलिए इसके प्रभाव में अ-व्यावसायिक मानवीय मूल्य विघटित हुए हैं। विघटक वृत्तियों ने जीवन पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली है। बुद्धिवाद कूटनीतिवाद हो गया है। राजनीति स्वार्थनीति हो गयी है। सर्वत्र विसंगति, विखण्डन और असामंजस्य उभर आया है। इस सांस्कृतिक संकट से समाज का मेरुदण्ड चरमरा उठा है। भौतिक दूरी घटती जा रही है—मानसिक बढ़ती जा रही है। हर आदमी भी हृदय थामे-थामे थक गया है। उसे कोई जगह नही मिलती जहाँ वह उसे उतार क्षण-भर के लिए रख दे और राहत की साँस ले। सारा विश्व हाँफ रहा है। निश्चय ही इन प्रत्यभिज्ञापक रेखाओं के कारण नयी मानसिकता पुरानी मानसिकता के तारतम्य में रेखांकनीय हो उठी है। वहाँ धर्म, अध्यात्म, दैव, प्रारब्ध के साये में सहिष्णुता थी, समझौता था, बागीपन और विद्रोह का मुँह बन्द था। सम्प्रति वह साया भी हट गया है और वह भूमि भी कट गयी है, फलतः नयी मानसिकता साफ दिखने लग गयी है। तभी अज्ञेयजी कहते हैं :

1. रस का आधार है—समाहिति, अद्वन्द्व—किन्तु नयी कविता द्वन्द्व और

असामंजस्य की कविता है।

2. नयी कविता वर्तमान पर केन्द्रित है, जबकि रस की दृष्टि अतीतोन्मुख रहती है—नयी कविता का विषय है क्षण की अनुभूति, जबकि रस का आधार है—वासना और स्थायी भाव।

3. रस सिद्धान्त में कवि के व्यक्तित्व की पूर्ण उपेक्षा है—अतः रसानुभूति में केवल अ-व्यक्तिगत भावना का ही आस्वादन सम्भव है, किन्तु आज की कविता का सम्बन्ध अत्यन्त व्यक्तिपरक अनुभूति है, जिसे रसानुभूति के समक्ष सह-अनुभूति की संज्ञा दी जा सकती है।

4. नयी कविता का मूलस्वर बौद्धिक है, रागात्मक नहीं, आदि आदि।

इन प्रश्नों का उत्तर देने से पहले मैं अपने उस वक्तव्य को पुनः दोहराना चाहता हूँ कि भारतीय आचार्य न तो रसात्मक प्रतिमान का अन्धा होकर सर्वत्र संचार ही करते हैं, न करने की वकालत ही करते हैं। यह प्रतिमान वहीं लागू होगा, जहाँ रचना की मूल उत्सर्जनात्मक अनुभूति रसात्मक होगी। जब यह कहा जाता है कि नयी मानसिकता से समुद्भूत नयी कविता में रागात्मक मनःस्थिति कभी आ ही नहीं सकती तब यह पथ भी एक अस्वीकार लगता है। ऊपर के उदाहरण ही दूसरे जवाब हैं। यह कहना कि उक्त उदाहरण में नयी कविता के अनुरूप नयी मानसिकता ही नहीं है शायद असहृदयता होगी। फिर नयी कविता में भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के जो लोग हैं, वे—जीवन में सौन्दर्य होगा—इस आस्था के साथ सामाजिक भूमि पर संघर्षरत हैं। उनकी रचनात्मक मनोभूमि इस परिवेश में सामाजिक और रचनात्मक है। सारी कविता में मनोविश्लेषणात्मक चिन्तन और अभिव्यंजना की बँधी-बंधाई पद्धति पर व्यथित मन की अँधेरी गुहाओं के भूत-प्रेत ही नहीं ताण्डव करते लक्षित होते। इस भूमिका पर रचना के धरातल पर रससिद्धान्त के विरोध में जब जीवन में या व्यक्तिगत भूमिका की बात की जाती है तब मैं जानना चाहता हूँ कि व्यावहारिक और कलात्मक मनोभूमिकाओं में कोई अन्तर है या नहीं? क्या व्यावहारिक और कलात्मक मनोभूमिकाओं में कोई अन्तर है या नहीं? क्या कलात्मक मनोभूमिका पर भी जो कुछ होता है, उसके कलात्मक होने की वैसी ही चिन्ता होती है जैसी व्यावहारिक मनोभूमियों की व्यावहारिक परिणतियों को लेकर होती है? यदि एक ही तरह की निर्माण से लेकर परिव्याप्ति तक की स्थितियाँ हैं तो दो मनोभूमिकाएँ मानने की आवश्यकता क्या है? क्या कथ्य की प्रकृति में अन्तर हुए बिना अभिव्यक्ति की प्रकृति में अन्तर आना नयी कविता की अवधारणा में घातक न होगा? क्या नितान्त व्यक्तिगत वृत्तियाँ अपनी असाधारणता में सर्व संवेद्यता प्राप्त कर सकेंगी? यदि अनुभूति में सर्व संवेद्य होने की (अपनी नितान्त वैयक्तिकता के कारण) सम्भावना ही न होगी तो महज भाषा का इन्द्रजाल साधारणीकरण की समस्या कहाँ तक सुलझा सकेगा? मैं ऐसे असम्भव स्थलों में रस-प्रतिमान की बात ही नहीं करता, न भारतीय आचार्य करते हैं। नयी कविता में सारी रचनाएँ व्यक्ति-मन की अँधेरी गुहा का असंवेद्य

प्रश्वास ही हैं, क्या यह सच है ? निश्चय ही रसात्मक प्रतिमान रसमय मनोभूमिका की रचना और ग्रहण उभयत्र माँग करता है—और नयी कविता में इस मनोभूमि का अभाव नहीं है, सद्भाव है। मैं नयी कविता मात्र पर इस प्रतिमान के लागू करने का न तो पक्षधर ही हूँ और न तो सर्वत्र लागू ही होगा—इसका समर्थक। जहाँ इस तरह की स्थिति होगी, वहाँ यह प्रतिमान लागू होगा।

रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि अ-व्यक्तिगत भूमिका उभारनेवाला भाव अक्षोभकारी होने के कारण रस होता है—अतः असमाहिति या असामंजस्य के नये मानसिक प्रवाह में उभरनेवाले तनाव, सन्त्रास जैसे सभी भाव भी कलामय सर्जनात्मक मनोभूमि पर उभरे तो ग्रहण की दृष्टि से भी अक्षोभकारी होने के कारण रसात्मक ही हो सकते हैं। फलतः उन लोगों की शपथ जो इस नयी मानसिकता मे रसात्मकता की सम्भावना कहीं देखते ही नहीं, समझ में नहीं आती।

भारतीय आचार्यों ने वासना की क्षण-विरोधी स्थिरता के कारण संचारी औ स्थायी जैसा भावभेद स्थापित नहीं किया है बल्कि उनकी सहृदय संवेद्य भावस्थि तथा रस पर्यवसायी स्थितियों के आधार पर। अतः यह आधार भी कुछ समझ नहीं आता।

आनन्दवर्द्धन ने 'रस को चित्तवृत्ति की दशाविशेष' माना है—जो प्रभाव वर्णन के सन्दर्भ में उपजती है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि कवि ऐसी बात ही क्यों कहे जिससे पाठक प्रभावित न हो, उसकी चित्तवृत्ति प्रभावित न हो। अतः जब हृद उथला नहीं हो गया है, तो उसे बदलता हुआ भी सन्दर्भ प्रभावित करेगा ही। र शब्द पुराना है पर हृदय का प्रभावित होना भी पुराना हो गया। यदि कहीं अव्यक्ति गत भूमिका पर प्रभावी रचना होगी तो रसात्मक स्थिति उत्पन्न होगी ही।

फिर बिम्ब और प्रतीकों के प्रयोग क्या बताते हैं—बिम्ब का प्रयोग प्रभाव लिए ही होता है और प्रतीक में व्यंजनात्मक झंकृतियाँ विद्यमान रहती हैं। वा भंगिमाओं की कोई इयत्ता नहीं है, ये सब मिलकर हृदय के तार को कभी झनझनाये ही नहीं—रचनाओं के साक्ष्य पर मैं यह नहीं मानता। लक्ष्मीकान्त वर्मा की ए रचना देखें जहाँ इस सब काव्यतत्त्वों के साथ अमर्ष या क्रोध की व्यंजना की ग है उन स्वार्थांध मक्कार समाज के कर्णधारों पर जो समाज की गाय को निर्म मक्कारी के साथ दुह रहे हैं और दुहने में पटु हैं—

> भर दो
> इस त्वचा की मृतात्मा को, सूखी ठठरी में
> यह घासपात कूड़ा-कबाड़ सबकुछ भर दो
> लगा दो इनमें नकली कौड़ियों की आँखें
> कानों में सीपियाँ
> पैरों में खपचियाँ
> मेरी इस हृदयहीन धमनीहीन स्नायुहीन काया में
> सभी कुछ भर दो

थमके मैं इस स्निग्ध पयोमती माता के निकट
अपनी चेतनाहीन पूँछ को एक स्थिति में उठा
उसके वात्सल्य को, हृदय को, अकर्मण को, चेतना को
सबको उभार दूँ
और तुम इस मुर्दे के अपजाये स्नेह को निचोड़कर
जीवित रहो
जिन्दा रहो।[1]

जब डॉ. नगेन्द्र व्यञ्जना को कल्पनोत्तेजक शक्ति के रूप में मानते हैं, तब उनका ध्यान सम्भवतः कारफील्ड की परिभाषा की ओर होगा—

"जब शब्दों का चयन और नियोजन इस प्रकार से किया जाय कि वह सौन्दर्य-तत्त्वात्मक कल्पना को जाग्रत करने की चेष्टा करे तो इस चयन के परिणाम को काव्यात्मक शब्द समूह कहा जायेगा।"

सन्दर्भ

1. लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता, अंक 3, पृ. 91

कवित्व का उत्कर्ष करुण में या श्रृंगार में कालिदास के सन्दर्भ में

कभी-कभी यह प्रश्न खड़ा किया जाता है कि कालिदास के कवित्व का उत्कर्ष श्रृंगार में है, या करुण में। श्रृंगार के पक्ष में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही धरातलों पर कहा गया है कि 'रस' शब्द बिना किसी विशेषण की अपेक्षा रखे, सहज ही यदि कोई अर्थ देता है तो वह है श्रृंगार। इसीलिए श्रृंगारी के लिए ही व्यावहारिक जगत् में 'रसिक' शब्द का प्रयोग किया जाता है, करुणाशील के लिए नहीं। साहित्य-शास्त्र भी, सभी रसों में यदि किसी रस को मधुरतम मानता है तो वह है—विप्रलम्भ श्रृंगार, जो श्रृंगार का ही अंग है। माधुर्य का पता चलता है चित्तद्रव से, और चित्तद्रव होता है चित्त का विषय-सम्पर्क कम होने से। विषय का सर्वाधिक कम सम्पर्क यद्यपि करुण तथा विप्रलम्भ दोनों में होता है—कारण, दोनों ही जगह केवल एक ही आलम्बन पर सारी चित्तवृत्ति केन्द्रित रहती है। आश्र[illegible] सब तरफ से चित्त को हटाकर आलम्बन पर ही अपने को केन्द्रित कर देता है। तथापि करुण का स्थायी भाव शोक है और रति स्मर्यमाण होकर पोषक अंग, जबकि विप्रलम्भ श्रृंगार में रति स्थायी भाव है और शोक अंग। करुण में अनुभव-गोचर शोक विक्षोभकारी हो सकता है, पर विप्रलम्भ में अंगभूत होने से मात्रा स्वल्प होगी—अतएव बिना किसी भी प्रकार के विक्षेप के विप्रलम्भ श्रृंगार में पू[illegible] चित्त विश्रान्ति सम्भव है, जबकि करुण में विक्षेप की मात्रा सम्भावित होने से कम। मानवीय दृष्टि से सोचने पर भी यह स्थिर होता है कि समस्त भावचक्र के अन्तर्गत दो ही भाव ऐसे बीजभाव हैं जो मानव मात्र ही नहीं, प्राणिमात्र के जीवन-रक्षण और रञ्जन के लिए अनिवार्य हैं और वे दो भाव हैं प्रेम और करुणा। करुणा से जगत् का रक्षण होता है और राग रञ्जन 'रञ्जनात्' ही राग है, तथापि चिन्तकों ने यहाँ भी यह कहा है कि करुणा के लिए राग की पीठिका अपेक्षित है अन्यथा करुणा का अस्तित्व ही असम्भव है। इसीलिए सृष्टि की धारिका शक्ति को भी यदि किसी रंग से बताया जाता है तो वह 'राग' (या लाल) ही है। वस्तुतः राग ही निःसम्पन्न भाव है—द्वेष तो उसका अभावात्मक पक्ष है। करुण द्विष्ट कोटि का भाव है। यह राग ही है, जिसके कारण अणु-परमाणु परस्पर आकृष्ट होकर सृष्टि के मूल बनते हैं। दार्शनिक और धार्मिकों की पराशक्ति आनन्दमयी या रागमयी

ही मानी गयी है। कालिदास इसी राग या मूल भाव का कवि है। निष्कर्ष यह कि सर्जनात्मक शक्ति राग ही है। चाहे विश्वसृष्टि की दृष्टि से सोचें या काव्य-सृष्टि की दृष्टि से। रागात्मक भावना उसी मूल शक्ति का पार्थिव आधार में प्रतिफलन या प्रतिबिम्ब है। इसीलिए सारा भक्तिमार्ग इसी प्रतिबिम्ब से बिम्ब की ओर बढ़ता है। 'राग' जिसे कभी-कभी 'हृदय' नाम से भी बोधित किया जाता है, हृदय की महिमा बढ़ा देता है और अभौतिक भूमिका तक चला जाता है। सूफियों के 'कल्ब' को अभौतिक कहा ही गया है। भक्तों का महाभाव अभौतिकही तो है, भाव या भावना जिसका निचला रूप है। अभिनवगुप्त ने भी 'सहृदयता' की व्याख्या करते हुए कहा है—'शुक्र क्षोभात्मा हि सहृदयता' (परात्रिंशिका)। यह शुक्र क्षोभ रागात्मक भावना या काम अथवा कामना का ही स्थूलतम रूप है। बौद्धगण इसे ही सांवृतिक चित्त कहते हैं, जिसका समुन्नयन 'बोधिचित्त' के रूप में सम्भव है। निष्कर्ष यह कि व्यवहार, दर्शन तथा विज्ञान प्रत्येक धरातल पर 'राग' या शृंगार का महत्त्व निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित है। शृंगार शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी उक्त निष्कर्ष की पुष्टि करता है—'शृंगमियर्ति गच्छति' इति शृंगार। काष्ठापन्न तत्त्व ही शृंगार है। कालिदास इसी शृंगार के कवि हैं। उनकी नाट्यकृतियाँ शृंगार की ही प्रतिमूर्ति हैं, मेघदूत शृंगार का ही प्रतिफल है, कुमार सम्भव तो शंखनाद ही है। और रघुवंश में जिन पुरुषार्थों की प्रतिकृतियों का यशोगान है, उनमें एकमात्र 'काम' का ही सन्निवेश है। लोक की सामान्य धारणा भी कालिदास को शृंगारी रूप में ही जानने की ओर है। रघुवंश का पहला श्लोक जिस पार्वती-परमेश्वर की वन्दना करता है, जगत के माता-पिता के रूप में स्मरण करता है, वे युगनद्ध ही हैं और इस युगनद्धता का मूलाधार राग ही है। सृष्टि या मानस जगत् के समस्त इतर भाव 'रति' की अतृप्ति के ही परिणाम हैं। अतः रति या राग ही मूल भाव है और कालिदास उसी के गायक हैं।

दूसरा पक्ष इसके विरोध में है। उसके भी अपने तर्क हैं, अपना पक्ष है। समर्थन में उनका कहना है कि अन्यत्र चाहे जो भी हो, पर काव्य के सन्दर्भ में यह सार्वभौम सत्य है कि 'कविता' का सर्वाधिक माधुर्य जिस भावभूमि पर उद्रिक्त हुआ है, वह करुण ही है। भारतीय परम्परा में प्रसिद्ध आदिकाव्य का मूल उत्स 'करुण' ही कहा गया है और आचार्यों में काव्य की मूल भावभूमि का विश्लेषण करते हुए रस को काव्य की आत्मा सिद्ध करते हुए 'क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगीत्थ शोक' की ही श्लोकात्मक परिणति का पूर्व रूप बताया है। कालिदास ने भी 'श्लोकत्वमापधत यस्य शोकः' से उसी की पुष्टि की है। कालिदास के बारे में यह प्रसिद्धि है और प्रसिद्धि निर्मूल नहीं होती कि—

काव्येषुनाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकश्चतुष्टयम् ॥

ये चारों श्लोक, जिनमें कालिदास का उत्कर्ष घोषित किया गया है, करुणा मूलक ही है। यह कहना कि करुण का आलम्बन केवल मृत ही होता है, ठीक नहीं।

पण्डितराज का साक्ष्य देते हुए कहा जा सकता है 'पुत्रादिवियोगमरणादिजन्मा वैक्लव्याख्यश्चित वृत्तिविशेषः शोकः'—अर्थात् जहाँ तक पुत्र-पुत्री का सम्बन्ध है, न केवल उनके मरण से ही अपितु वियोग से भी उत्पन्न भाव शोक कहा जाता है, विकलता जिसका प्रधान लक्षण है। कण्व ने स्पष्ट ही कहा भी है—'वैक्लव्यं मम तावदीदृशभिदयम्' मेरे-जैसे बनवासी निस्पृह तपस्वी को ऐसी विकलता ? यह विकलता या वैक्लव्य, शोक का ही तो नामान्तर है, जिसका उल्लेख पण्डितराज ने किया है। सम्भव है करुण की इसी महिमा को देखकर भवभूति ने 'एको रसः करुण एव' कह दिया हो। पश्चिमी सर्जकों और चिन्तकों का भी इस सत्य में ऐकमत्य है कि विश्व की सर्वाधिक मधुर कविता वही है, जो सर्वाधिक करुण रही है।

इस प्रकार विवेचकों के बीच कालिदास के कर्तृत्व का शिखर कौन-सी भाव-भूमि है, श्रृंगार या करुण—यह प्रश्न बराबर उठा करता है। मेरा अपना पक्ष तो यह है कि श्रृंगार ही कालिदास के कर्तृत्व का उत्कर्ष स्थल है। करुण के माध्यम से जो आदिकाव्य के निर्माण की बात कही जाती है अथवा काव्य की आत्मा 'रस' का स्वरूप करुण के माध्यम से स्पष्ट किया जाता है अथवा कालिदास ने जो उसकी पुष्टि की है, उस सन्दर्भ में यही कहना पर्याप्त है कि करुण रस का उपलक्षण है और उससे वाल्मीकि के अन्तस की सात्विकता कहीं अधिक प्रतिपाद्य है, बनिस्पत इसके कि वही काव्य का मूल उत्स है। वस्तुतः देखा जाय तो काव्य करुण की अपेक्षा क्रोध से सीधे उत्पन्न हुआ था। क्रौञ्च या क्रौञ्ची में से जो भी मृत रहा हो, वैसे क्रौञ्ची के पक्ष में ही लोग अधिक हैं और रामायण के सन्दर्भ में सीता-निर्वासन की दृष्टि से क्रौञ्ची के विनाश का ही पक्ष कहीं अधिक सन्दर्भ संगत है। अस्तु, इसके ऊपर उद्रिक्त करुणा ने व्याध के प्रति क्रोध पैदा किया और इसी क्रोधावेश में उसने कहा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

यह क्रोध की परिणति है, करुण मूल में अवश्य है। कारण, करुण उर्वर और मानवीय भाव है। बीजभाव है। उसके वक्षस् पर विघटक भाव भी संघटक के हो जाते हैं।

रहा यह कि शाकुन्तलम् के चारों श्लोक में करुण की ही पराकाष्ठा है, यह विश्वास ही भ्रान्त है। वहाँ पण्डितराज के साक्ष्य पर शोक का प्राधान्य माना गया है, यह भी हृदयंगम नहीं होता। जो कण्व में शकुन्तला के प्रति वात्सल्य रति है, वह क्या निरालम्ब है? रागातिरेक के कारण ही, उसका असन्निधान या व्यवधान शोक पैदा करता है। रागातिरेक की पहचान है, सान्निध्य की अभिलाषा। इस अतृप्त अभिलाषा के कारण उत्पन्न शोक वात्सल्य का अंग ही है। अतः इसे वात्सल्य की दृष्टि से वि-प्रयोग या वियोग ही कहना अधिक संगत है। मैं यहाँ पण्डितराज की शोक सम्बन्धी धारणा से ही सहमत हूँ।

रहे भवभूति और उनकी दृष्टियों में एकोरसः करुणएव—वह उत्तररामचरित

पर ही कहाँ लागू होता है ? वहाँ भी तो अन्ततः सीता और राम का मिलन हो जाता है। अतः इसी प्रकाश में इनकी करुणा को भी समझना चाहिए। और अधिक कहें, तो कह सकते हैं कि भवभूति की प्रकृतिवश उनकी व्यक्तिगत बात हो सकती है, वह सर्वमान्य तथ्य तो नहीं है।

और दार्शनिक धरातल पर भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में गहरे उतरकर देखा जाय, कारण ? आध्यात्मिक मान्यताओं में आस्था रखनेवाले कालिदास के सन्दर्भ में तो इसकी उपेक्षा की ही नहीं जा सकती। कालिदास अद्वैत में आस्था रखते हैं और अद्वय या द्वयातीत आत्मा स्वगत-सुख का आत्म-प्रकाश करने के निमित्त ही दुःख की सृष्टि करती है। यही दुःख सामान्य दुःख है, जो व्यावहारिक जीवन में विभिन्न अभावबोधों के माध्यम से विभिन्न रूपों में प्रतीत होता है। इस दुःख की सृष्टि के लिए उसने अपने से ही अपना विरह एक से दो होकर कर लिया और 'मैं' तथा 'तुम' में विभक्त हो गया। 'मैं' समस्तविध सुखाकांक्षा के मूल में वस्तुतः 'तुम' को ही खोजता रहता है। मनुष्य ज्ञात भाव से चाहे किसी निमित्त से सक्रिय होता है, अज्ञात भाव से वह अपने को ही खोजता रहता है, अपने ही विरह का निरन्तर अनुभव विभिन्न दुखों के माध्यम से करता रहता है। अतः समस्तविध दुःख आत्मविरह का ही दुःख है। इसी विशाल विप्रयोग के वक्षस् पर सभी प्रकार के इतरविध दुःखमय वृत्तियों के बुलबुले उठते रहते हैं। इस प्रकार व्यापक दृष्टि से सृष्टि की मूल भाव-भूमि बिप्रयोग की है, जो 'मिलन' का अभावात्मक पक्ष है। इस प्रकार 'करुण' विप्रयोग की कुक्षि में और विप्रयोग महामिलन की कुक्षि में है। श्रृंगार ही, मिलन ही, अहं और त्वं की युगनद्धता ही, परमसत्व है।

सुखमय आत्मा ने आत्म-प्रकाश के लिए ही दुःख की सृष्टि की। यह दुःख भी उसी का निविड़तम रूप है। इसी के माध्यम से उस तक पहुँच हो सकती है। व्यक्तित्व का पूर्ण विकास इसी के द्वारा सम्भव है। अतः यह दुःख या वेदना साधक ही के लिए वरदान है। सुख-दुःख एक ही तत्त्व के दो रूप हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक अपने बोध के लिए दूसरे का सहारा लेता है और दूसरा अपनी चरम स्थिति में प्रथम से ही एक हो जाता है। किसी ने ठीक ही कहा है—

"जन्म ही जिसका हुआ वियोग।"

वियोग की इस विस्तृत और व्यापक भूमि पर करुण भी विप्रयोग का ही एक बुदबुदा है। अतः भोज का उद्‌घोष सही है कि 'रस' की अन्य भावों में प्रसिद्धि 'वटयक्षवत्' प्रसिद्धि मात्र ही है, वास्तविकता नहीं। अतः कालिदास को, श्रृंगार का ही कवि कहना चाहिए, विप्रयोग जिसकी अभिव्यक्ति में सहायक है। एक बात और, 'मिलन' की अपेक्षा विप्रयोग ही चूँकि सृष्टि का बीजभाव है अतः धरा-धाम के सार्वभौम साहित्य में इसी की अभिव्यक्ति उत्कृष्टतम हो सकती है। 'मिलन' की भूमि तो प्रलय और आत्मरमण की भूमि है। निष्कर्ष यह कि कालिदास भारतीय संस्कृति के आख्याता हैं और इसीलिए श्रृंगार के कवि हैं।

कारयित्री एवम् भावयित्री की सर्जनात्मकता और भारतीय काव्यशास्त्र

समीक्षा, सर्जना की अनुधावी है। कारण, सर्जना ही समीक्ष्य है। कतिपय चिन्तकों का विचार यह है कि समीक्षा इसलिए सर्जना है कि उसके मूल में सक्रिय भावयित्री प्रतिभा, कारयित्री की भाँति नवनवोन्मेषशालिनी है। नवनवोन्मेषशालिनी इसलिए कि आलोचक या समीक्षक रचना के माध्यम से रचनाकार की मूल संवेदना का साक्षात्कार कर लेता है। मूल संवेदना में सर्जक का बोधात्मक तथा भावात्मक दोनों ही पक्षों का रासायनिक मिश्रण रहता है। आलोचक इस मूल संवेदना के साथ आलोचना में प्रवृत्त होने से पूर्व अपनी दृष्टि जोड़ देता है। इस प्रकार आलोचक रचनाकार की मूल संवेदना से सर्वथा विशिष्ट सामग्री लेकर समीक्षा में प्रवृत्त होता है—अतः हर आलोचक अपनी प्रवर्तक सामग्री में वैशिष्ट्य अथवा नवता लिये रहता है, फलतः उसकी आलोचना भी गतिशील या सृजनात्मक हो जाती है। समीक्षा को इस दृष्टि से सर्जनात्मक बनानेवाले, प्रसिद्ध आलोचक रामचन्द्र शुक्ल को इस स्थापना का पोषक ज्वलन्त प्रमाण मानते हैं। आचार्य शुक्ल ने गोस्वामी तुलसीदास अथवा सूरदास की मूल संवेदना का साक्षात्कार किया और उसमें अपनी दृष्टि जोड़ दी, फिर अपनी आलोचना प्रस्तुत की।

मैं इस समूची स्थापना के विपक्ष में हूँ। भारतीय काव्यशास्त्र कारयित्री से भावयित्री का न केवल विषय-भेद मानता है, अपितु स्वरूप-भेद भी मानता है। विषय तो दोनों का स्पष्ट ही भिन्न है, पहली का निर्माण और दूसरी का भावन। स्वरूप भी भिन्न है—अभिनव और आनन्द दोनों की इसमें सहमति है। अभिनव ने पहली का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है—अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमाप्रज्ञाप्रतिभा। अन्यत्र भी वह नवनवोन्मेषशालिनी कही गयी है। दूसरी का स्वरूप-निर्देश करते हुए आनन्दवर्द्धन ने कहा है—

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्
बुद्धौ तत्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥

अर्थात् सहृदय या सचेता काव्य को जिस बुद्धि से शीघ्र पकड़ लेता है, वह है—तत्वार्थदर्शिनी न कि नवनवोन्मेषशालिनी। आलोचक प्रभाव रूप सर्वप्रथम उस बीज-भूत मूल संवेदना को पकड़ता है, जो सर्जक की सर्जना का उद्भव स्रोत है।

तदनन्तर समस्त विश्लेषणात्मक क्षमता को उसी के उद्‌घाटन में विनियुक्त कर देता है। इस प्रकार आलोचक की भावयित्री प्रतिभा का स्वरूप है, तत्वार्थदर्शिनी। अर्थात् उसकी प्रतिभा जो है, उसी का साक्षात्कार करना चाहती है, उसमें कुछ जोड़ना नहीं चाहती। इस प्रकार आलोचक का मुख्य कार्य जो है उसका साक्षात्कार करना और फिर उसके प्रकाशन में संलग्न कलात्मक उपकरणों की व्याख्या करना, उसकी क्षमता का उद्‌घाटन करना। वह एक ओर मूल संवेदना का वैशिष्ट्य प्रदर्शित करता है और दूसरी ओर कलात्मक उपकरणों की उपयुक्तता।

अनुसन्धायक अवश्य मूल संवेदना में कुछ जोड़ देता है, तभी अनुसन्धान के विभिन्न लक्ष्यों में एक है नयी व्याख्या। यदि नयी व्याख्या आलोचना का प्राप्य होता, तो अनुसन्धायक की प्रतिभा से उसे क्यों जोड़ा जाता ? दूसरे आलोचक का कार्य आलोच्य का निःसंग विश्लेषण है जो तभी सम्भव है, जब आलोचक यथा-सम्भव स्वकीय दृष्टि योजन के माध्यम से आत्मप्रक्षेप न करे। आत्मप्रक्षेप सर्जक का कार्य है, सृष्टि में इसीलिए स्रष्टा का व्यक्तित्व झलकता है।

कहा जा सकता है कि तब फिर आलोचना को सर्जनात्मक बनानेवाला स्रोत क्या है ? क्या साहित्यिक आलोचना में आलोचक का व्यक्तित्व प्रतिफलित नहीं होता ? क्या आलोचक यन्त्रवत् तटस्थ और अनासक्त हो सकता है ?

इन प्रश्नों के समाधान में मैं यह कहना चाहूँगा कि आलोचना पहले तो उस अर्थ में सर्जना नहीं है, जिस अर्थ में 'सर्जना' सर्जना है। कारण, पहला संश्लेष और दूसरा विश्लेष। सर्जना संश्लेष में होती है, विश्लेष में नहीं। अतः आलोचना में सर्जनात्मकता या गतिशीलता का अर्थ केवल विजड़ीभाव की विपरीत स्थिति ही है, नवता का उन्मेष नहीं। यदि विजड़ीभाव की विपरीत स्थिति ही आलोचना में सर्जनात्मकता है तो फिर उतना रूप तो तत्त्वार्थ प्रकाशक आलोचना की सर्जनानु-धाविता में ही सम्भव है। रही आलोचना में आलोचक के व्यक्तित्व प्रतिफलन की बात—सो वस्तुगत नहीं, भाषा-शैलीगत ही समझनी चाहिए, उतनी ही दूर तक जितनी विषयप्रधान निबन्ध में। विषय-प्रधान निबन्ध फिर भी सर्जना का एक प्रकार है अतः वहाँ भी सर्जक की निजी दृष्टि होगी, आलोचक की आलोचना में आलोचक का विवेक और सर्जक की मूल संवेदना मुख्य होगी। आलोचक का विवेक उसका अंग बनकर ही उसमें विश्लेषणार्थ सक्रिय रहेगा। निष्कर्ष यह कि भारतीय काव्यशास्त्र 'बुद्धौ' तत्वार्थ दर्शिन्याम् कहकर कारयित्री प्रतिभा से भाव-यित्री प्रतिभा का स्वरूप भिन्न बताता है—और उसे नवतागर्भ नहीं, बल्कि यथा-तथ्यग्राही बताना चाहता है। इस प्रकार समीक्षा की सर्जनात्मकता भारतीय काव्य-शास्त्र की दृष्टि में उसकी रचनानुधाविता में ही सम्भव है, उसके अतिरिक्त निरूपण में नहीं। शुक्लजी ने आलोच्य की मूल संवेदना से मूल सर्जक की दृष्टि हटाकर, अपनी दृष्टि जोड़ दी है।

साहित्य और दर्शन-परस्परावलम्बन

'दर्शन' जीवन के माध्यम से साहित्य के लिए अनिवार्य है

'साहित्य' जीवन का कलात्मक उद्रेखण है और 'जीवन' वही जीवन है, जो 'दृष्टि'-पूर्वक जिया जाय। मानवेतर चेतना की अपेक्षा मानव चेतना में सम्भावित अतिरिक्त लोक मांगलिक विशेषताओं की उपलब्धि ही (मानव) जीवन की चरितार्थता है, अन्यथा वह अचरितार्थ; फलतः निरर्थक है। सम्भावनाएँ उपलब्धियाँ कैसे बनें, इसके लिए 'दृष्टि' चाहिए। 'दृष्टि' हीन मानव के लिए उपलब्धि का पथ अन्धकाराच्छन्न है। इस प्रकार 'दृष्टि' जीवन के माध्यम से 'साहित्य' के लिए अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है और 'दृष्टि' ही 'दर्शन' है। इस प्रकार दर्शन और साहित्य का अनिवार्य सम्बन्ध है

दर्शन शब्द की भावव्युत्पत्ति

'दृष्टिदर्शनम्' भावव्युत्पत्ति का सहारा लिया जाय, तो दृष्टि दर्शनात्मक क्रिया का ही दूसरा नाम है। इस अर्थ में 'दर्शन' शब्द 'दश' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय का विधान होने पर बना है। प्रयोगों के साक्ष्य पर देखा जाय तो 'दर्शन' शब्द 'प्रत्यक्ष' तथा 'अनुभव' के अर्थ में भी मिलता है। कश्मीरी शैवाचार्य जब 'एषां हि न सांख्यीया, न वैदान्तिकी दृक्[1] कहते हैं तब वे निश्चय ही 'दर्शन' के ही अर्थ में 'दृक्' शब्द का प्रयोग करते हैं। 'कश्मीर शैविज़्म' के प्रणेता डॉ. जगदीश चटर्जी ने भी कहा है—

"The technical term दर्शन now meaning a system of philosophy no doubt originally meant a 'view' of things, a certain way of looking at things in general and in this sense was certainly interchangeable with the दृष्टि।[2]

'दर्शन,' अनुभव तथा मूलतत्त्व की समानार्थकता

कुछ दार्शनिकों ने अनुभव, प्रत्यक्ष तथा दर्शन तीनों को परस्पर पर्याय मानने में आपत्ति खड़ी की है, उदाहरणार्थ नैयायिकों को ही लीजिए। इन लोगों ने अनुभव की

परिधि में ही प्रत्यक्ष के साथ परोक्ष को भी लिया है। इस प्रकार इनकी दृष्टि में यद्यपि अनुभव एवम् प्रत्यक्ष को परस्पर एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, फिर भी यह मानना होगा कि इनके पक्ष में न तो लोक व्यवहार ही है और न ही उच्च तथा परिनिष्ठित दार्शनिक। लोकव्यवहार में यह प्रायः सुना जाता है—'हमारा अनुभव इसे नहीं स्वीकार करता', 'उस वेद्य का अनुभव अच्छा है।' इन प्रयोगों में अनुभव शब्द ग्रन्थज (परोक्ष) ज्ञान को नहीं बनाता। इसी प्रकार जब दार्शनिक कहते हैं—'परमात्मा अनुभव से वेद्य है—स्वानुभूत्यैकमानाय[3]··· इत्यादि, तब उसका भी अभिप्राय यही होता है कि वह प्रत्यक्ष वेद्य है, अनुमान, उपमान एवम् शब्द प्रमाण से उसका साक्षात् वेदन नहीं हो सकता। अद्वैत वेदान्त (शांकर) परमतत्त्व को अनुभवात्मक ही मानता है—श्रुति कहती है—'यत् साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म', ब्रह्मसाक्षात् (करण निरपेक्ष) प्रत्यक्ष ही है, अनुभव ही है। श्री हर्ष ने भी प्रत्यक्ष के ही अर्थ में 'अनुभव' शब्द का प्रयोग किया है :

"अनुभवं (प्रत्यक्षं) वचसा (परोक्षज्ञानेन) सखि ! लुम्पसि"

अथवा 'आहचेदनुभवः परमाप्तः'। इन प्रयोगों से 'अनुभव' शब्द सहज और स्वाभाविक रूप में जो अर्थ देता है, वह 'प्रत्यक्ष' ही है। निष्कर्ष यह कि नैयायिकों की दृष्टि से 'अनुभव' को प्रत्यक्ष-परोक्षात्मक उभयविध मानना संगत नहीं है। उसे 'प्रत्यक्ष' का ही पर्याय मानना चाहिए। प्रकृत प्रसंग में इसका निष्कर्ष यह हुआ कि 'दर्शन', अनुभव या 'प्रयत्क्ष ज्ञान', तीनों परस्पर पर्याय ही हुए।

अन्य व्युत्पत्तियाँ

भावव्युत्पत्ति के अतिरिक्त करण या अधिकरण व्युत्पत्ति भी 'दर्शन' शब्द की सम्भव है, जो क्रमशः दर्शन साधन (विचार) तथा दर्शनाधार (ग्रन्थ) की ओर हमें ले जायेंगे। इन दोनों व्युत्पत्तियों में गौरव दोष है, अतः प्रथम व्युत्पत्ति ही संगत और समुचित है।

'दर्शना' शब्द का व्यापक अर्थ 'प्रत्यक्षज्ञान' ही हुआ। अर्थनिर्णय करने में व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्ति निमित्त दोनों को देखना चाहिए। अर्थात् व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ से प्रयोग सम्मत अर्थ की संगति बिठायी जानी चाहिए। व्यवहार में 'दर्शन' शब्द का प्रयोग इतने व्यापक अर्थ में नहीं होता। सभी प्रकार के 'प्रत्यक्षज्ञान' 'दर्शन' से अभिहित नहीं होते, अपितु वह ज्ञान दर्शन शब्द का मुख्य अर्थ है जिसका विषय परम, अतिमुख्य, अनवगत एवम् अभ्रान्त हो। उपचारवश उसका अन्य अर्थों में भी प्रयोग होता है, उदाहरणार्थ तथोक्त ज्ञान ही नहीं, उसका साधन भी दर्शन' है। यह साधन विचार भी है और 'ग्रन्थ' भी। परम एवम् अति। मुख्य से तात्पर्य 'सृष्टि' के मूल तत्त्व से है। वह मूलतत्त्व तो 'दर्शन' शब्द का मुख्य अर्थ है ही, अमुख्य रूप से उसका ज्ञान और उस ज्ञान के साधन सभी 'दर्शन' शब्द से समझे जाते हैं। आचार्य शंकर ने इसी प्रकार 'उपनिषद्' शब्द का मुख्य अर्थ परतत्त्व को तथा अमुख्य अर्थ विचार और ग्रन्थ को कहा है।

शास्त्र और दर्शन पर्याय नहीं हैं

कुछ लोग किसी भी 'शासन' या 'शास्त्र' को 'दर्शन' समझते हैं — यह ठीक नहीं है। शास्त्र ज्योतिष भी है, विचार तो वहाँ भी है, पर व्यवहार में उसे 'दर्शन' नहीं कहा जाता। 'दर्शन' के लिए आवश्यक है, विचार या ग्रन्थ का सृष्टि के 'मूलतत्व' से जुड़ना, उसकी सृष्ट्यात्मक परिणति से जुड़ना। स्वर्गीय श्री दामोदरलालजी गोस्वामी ने भी एक स्थान पर यह कहा है कि सृष्टि चेतन तथा अचेतन इन दो तत्वों का मिश्रण है — चेतन पर विचार करनेवाला वाङ्मय 'विज्ञान' है। कहा जा सकता है कि 'काव्य में भी परमतत्व की चर्चा कहीं-न-कहीं मिल जाती है तो क्या उसे भी 'दर्शन' कहा जाय? नहीं, काव्य 'दर्शन' नहीं है, वहाँ किसी 'दर्शन' की बात हो सकती है — स्वयम् वह 'दर्शन' नहीं है। जो लोग काव्य का अन्तस्तत्व 'रस' को मानते हैं और रस को परतत्व से एकाकार कर देते हैं — उनकी दृष्टि से रस विषयक चिन्तन या विचार 'दर्शन' के भीतर आ सकता है — अतः 'साहित्य-दर्शन' शब्द का उपलब्ध प्रयोग सार्थक और संगत माना जाता है। निष्कर्ष यह कि 'दर्शन' शब्द के तीन अर्थ हुए—

मुख्य अर्थ—परतत्व विषयक अपरोक्षानुभव,
अमुख्य अर्थ—(साधनात्मक) विचार,
अन्य—तत्प्रतिपादक ग्रन्थ।

रचनात्मक साहित्य में विचार या दर्शन की गौण स्थिति

जीवन, जिसका कलात्मक उद्रेखण साहित्य है, के माध्यम से दर्शन का सम्बन्ध 'साहित्य' से अविच्छेद्य है यद्यपि यह बात ऊपर प्रतिज्ञा के रूप में कही जा चुकी है तथापि कतिपय विपक्षियों का पक्ष है कि 'दर्शन' भले जीवन के मूल में हो पर काव्य का लक्ष्य केवल जीवन का प्रभावी उद्रेखण है, 'प्रबोधी' नहीं। 'प्रभाव' में भावोत्तेजन पर या भावविशेष में रमण पर बल है, 'प्रबोधी' में बोधवृत्ति के उत्तेजन पर। दार्शनिक का उपस्थापन 'प्रबोध' पर्यवसायी होता है, पर साहित्यिक का 'भाव' या 'सौन्दर्य' पर्यवसायी। व्यवहार में यही सर्वसम्मत तथ्य है कि साहित्य को प्रभावी होना चाहिए। स्पष्ट ही इस लोकमत के विश्लेषण से साहित्य का सम्बन्ध मुख्यतः 'भाव' पक्ष से ही सिद्ध होता है। साहित्य के प्रयोजन या लक्ष्य को लेकर पौरस्त्य तथा पाश्चात्य मनीषियों के बीच पर्याप्त लम्बा विवाद रहा है और आज भी वह शान्त नहीं है। उभयदेशीय विचारधारा साहित्य के प्रयोजन के रूप में कभी व्युत्पत्ति या विवेक संवर्द्धन को प्रामुख्य देती है और कभी 'आनन्द' को। मनोविज्ञान के आलोक में रिचाड्र्स इन सबसे हटकर 'संवेगों के सन्तुलन' में काव्य की सार्थकता निरूपित करता है। रामचन्द्र शुक्ल पाठक की अन्तःसत्ता के शेष विश्वव्यापिनी सत्ता से सामंजस्य में काव्य की सोद्देश्यता समर्थित करते हैं। उनकी दृष्टि में यदि हमारी अन्तःसत्ता विश्वसत्ता के साथ रागात्मक सामंजस्य नहीं

स्थापित कर पाती, तो इसमें उसी का कहीं दोष है। हमारे मन में ही कहीं कोई खोट है कि जिससे अवशिष्ट विश्वसत्ता के साथ सर्वात्मना सामंजस्य नहीं हो पाता। साहित्य वह माध्यम है, जिससे पाठक शेष विश्व के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और समस्त भेद विगलित हो जाता है। उनकी दृष्टि में मानवता की यही सर्वोच्च भूमि है। यहीं पहुँचना काव्य का भी लक्ष्य है। विचार इस प्रक्रिया में सहायक हो सकते हैं, साध्य या प्रमुख नहीं। रीतिकाल के स्वच्छन्द कवि घनानन्द ने भी कहा है—"रीझि सुजान सची पटरानी बची बुधि बावरी है करि दासी" रीझ—मनोवृत्ति—काव्य में पट्टरानी है, जिसके सामने बिचारी बुद्धि दासी बनी रहती है। इस प्रकार एक लम्बी परम्परा काव्य में 'भाव' को ही प्रामुख्य देती है, विचार या 'दर्शन' को नहीं। जो भी हो, 'विचार' को प्रामुख्य न देना एक बात है, 'विचार' को काव्य-बहिर्भूत बनाना दूसरी। 'विचार' या 'दृष्टि' को काव्य से बहिर्भूत ये लोग भी नहीं करते, हाँ, उसे जीवन चित्रण के माध्यम से संकेतित होना चाहिए—न कि एक दार्शनिक की भाँति अभिहित अभिधा में उपस्थापित। काव्य का अन्तस्तत्व सर्जनात्मक अनुभूति है और उसके स्वरूप में कहीं-न-कहीं 'विचार' भी घटक है—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

दृष्टिसम्पन्न को ही साहित्यिक मान्यता मिलती है

एक बात और भी है। वह क्या है कि जिससे किसी कलाकार को, लेखक को, साहित्यिक मान्यता मिलती है और किसी को नहीं? क्या कारण था कि काफी समय तक साहित्य के समर्थ समीक्षकों ने चतुरसेन शास्त्री तक को साहित्यिक मान्यता नहीं दी? क्या कारण है कि गुलशन नन्दा और गुरुदत्त जैसे कई एक जीवन के कलात्मक उद्रेखकों को अद्यावधि न साहित्यिक मान्यता मिली है और न मिलने की सम्भावना है? क्यों देवकीनन्दन खत्री को वह स्थान नहीं मिला जो प्रेमचन्द को शीघ्र ही मिल गया? इसका उत्तर एक ही दिया जा सकता है कि 'दृष्टि' पूर्वक जो लेखक जीवन का प्रभावी चित्रण करता है, उसे साहित्यिक मान्यता मिलती है और जो ऐसा नहीं करता उसे साहित्यिक मान्यता नहीं मिलती। यह कहना कि 'दृष्टि' से बँध जाने पर कलात्मक सम्भावनाओं का उत्कर्ष या उभार मर जाता है, गलत है। यह बात असमर्थ लोगों के लिए ही कही जा सकती है। कला का कोई लक्ष्य नहीं है अर्थात् जिस जीवन का चित्रण किया जाता है, वह लक्ष्यहीन है—इससे सभी लोग सहमत नहीं हो सकते। जो लक्ष्यहीन है, उसका पैर कहीं पड़ेगा ही नहीं। मनुष्य निर्णीत भूमि पर पैर रखता है और अगले चिन्तन के लिए पैर उठाता है, ऐसी होती है उसकी जीवनयात्रा। हाँ, यह अवश्य है कि यह सोद्देश्यता, प्रचार के स्तर पर यदि उदग्र हो जायगी तो काव्य नारेबाजी का पर्याय बनकर अपना कलात्मक रूप खो देगा। जायसी अपवाद ही हो सकते हैं कि प्रचार भावना से प्रेरित होकर भी उनका साहित्य अपना कलात्मक रूप खो नहीं सका। काव्य के शाश्वत मूल उपादानों से उनका रोम-रोम इतना सिक्त है कि उनका

प्रकाशन अद्‌भुत प्रभावी हो गया है, पर जहाँ विशुद्ध सिद्धान्त निरूपण है, वहाँ कवित्व निःशेष हो गया है।

साहित्य में विचारतत्व की उदग्रता

कई सर्जक तो ऐसे भी मान्यता प्राप्त हैं, जो मानते हैं कि साहित्य चिन्तन की अभिव्यक्ति का एक कलात्मक माध्यम है। जैनेन्द्र ने अपने कथा-साहित्य के विषय में यही कहा है। जीवन मूल्यों के प्रति उपेक्षा करनेवाला जीवनयापनोपयोगी साधना में रत 'सभ्यता' का यह परिवेश 'भाव' के साथ सम्बद्ध रूप और व्यापारों को जटिल-जटिलतर बनाता जा रहा है और साहित्यिक अभिव्यक्ति में 'बुद्धि' जगह घेरती जा रही है —'भाव-रस' की जगह 'बुद्धि रस' लेता जा रहा है, ऐसी स्थिति में तो विचार या दर्शन काफी उभरकर साहित्य में अपनी जगह बना रहा है। आज का तो सारा साहित्य ही पक्ष-प्रतिपक्ष बनकर अभिव्यक्ति के रूप में सामने आ रहा है—मतलब, सबल हो या निर्बल, साहित्यिक शैली में सपक्ष-विपक्ष के विचार ही बाहर आ रहे हैं। यह साहित्य के स्वरूप के अनुरूप हो रहा है या प्रतिरूप, यह एक अलग बात है।

निष्कर्ष यह कि जहाँ तक साहित्य के रचनात्मक पक्ष की बात है, उसमें चाहे 'भाव' का प्रामुख्य हो या 'विचार' का, विचार या 'दृष्टि' किसी-न-किसी रूप में सर्वत्र स्थिर है। हाँ, जब वह जीवन से जुड़कर आता है, तब तो काव्योपयोगी होता है, पर जब विशुद्ध चिन्तन के ही स्तर पर रह जाता है, तब वह अकाव्यात्मक हो जाता है और पाठक को एक बौद्धिक खुरचन की भाँति प्रतीत होने लगता है।

सैद्धान्तिक आलोचना और दर्शन

साहित्य का एक और पक्ष है आलोचनात्मक, जो साहित्य का शास्त्र कहा जाता है। वहाँ अनुभूत की विभिन्न दृष्टियों से व्याख्या ही तो की जाती है। साहित्य के विभिन्न उपादानों—शब्द, अर्थ, प्रतिभा, कल्पना, सौन्दर्य, आनन्द, रचना-प्रक्रिया तथा परिणति को सैद्धान्तिक समीक्षकों ने जाने कितने दर्शनों के आलोक में स्पष्ट करना चाहा है। शब्द और शब्द-बोध दार्शनिकों का बौद्धिक अखाड़ा है। प्रतिभा और कल्पना की व्याख्या पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दर्शनों के आलोक में अनेकधा की गयी है। सौन्दर्य तो स्वयम् दर्शन की ही वस्तु थी, बाद में साहित्यिकों ने उसे केन्द्र बनाकर सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण किया। भारतीय आचार्यों ने 'रस' को समझने के लिए अनेक दर्शनों की सहायता ली और अन्ततः कश्मीरी दार्शनिकों ने उस पर अपना अधिकार कर लिया।

व्यावहारिक आलोचना और दर्शन

आलोचना का एक दूसरा पक्ष है, व्यावहारिक आलोचना। व्यावहारिक समीक्षा समीक्ष्य कृति के मूल में निहित सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कारपूर्वक किया गया

सर्जनात्मक पुनराख्यान है। उसकी दृष्टि 'तत्वार्थ दर्शिनी' होती है, समीक्षक तत्वार्थ का उद्घाटन कर अपनी 'दृष्टि' से उसका विश्लेषण करता है। इस प्रक्रिया में ज्ञान-विज्ञान का निरवधिबोध सहायक तो हो सकता है। यह ज्ञान-विज्ञान 'दर्शन' के मूल उत्स 'मूलतत्व' से जितना जुड़ा रहेगा—विश्लेषण उतना ही गहरा, उपादेय और स्पष्ट होगा।

निष्कर्ष यह कि साहित्य अपने रचनात्मक तथा सैद्धान्तिक और व्यावहारिक उभयविध आलोचनात्मक दोनों पक्षों में 'दर्शन' से घनिष्ठ रूप में जुड़ा हुआ है।

दर्शन को साहित्य की अपेक्षा

साहित्य को दर्शन की कहाँ तक और किस रूप में अपेक्षा है, यह देख लेने के बाद यह देखना फिर भी शेष रह गया कि 'दर्शन' को 'साहित्य' की क्या अपेक्षा है। 'दर्शन' अपने उद्भव और विकास में 'साहित्य' की कहाँ तक मुखापेक्षिता करता है? परस्परावलम्बन के परीक्षण का यह दूसरा पक्ष है। वैसे तो यह विराट विश्व ही एक विराट काव्य है—'यस्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति', दर्शन इसी को समझने की एक विराट् वैचारिक चेष्टा है। विश्व के अधिकांश दर्शन, पवित्र पुस्तकों पर आधारित हैं और ये पवित्र पुस्तकें सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति हैं—श्रीअरविन्द की तो धारणा ही है कि सर्वाधिक कवित्व का प्रस्फुटन जहाँ होता है वे मन्त्र, ऋचाएँ हैं। इनको आधार बनाकर भारत में नैयायिक दर्शनों का उद्भव हुआ। आगम भी ऐसी ही अभिव्यक्ति है, जिस पर आगमिक दर्शन खड़े हैं। बुद्ध और तीर्थंकरों के वचनों, काव्यात्मक अभिव्यक्तियों को मूल में रखकर गैर-वैदिक भारतीय दर्शन आविष्कृत हुए हैं। इस्लामी, सूफी, क्रिश्चियन सभी दर्शन ऐसे ही अनुभूतिजन्य काव्यात्मक उद्गारों पर आधारित हैं। यह भी सही है कि दर्शन इन घेरों को तोड़कर भी उभरा है और उसने साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया है और उसका कारण जीवन को प्रभावित करना है। फ्रायड, मार्क्स तथा डार्विन ने विश्व की क्रमागत चिन्ता-धाराओं पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर या तो हिला दिया अथवा उसके दृढ़ीकरण के निमित्त आगे सोचने को बाध्य किया। किसी भी देश की किसी भी दार्शनिक धारा को उसकी ऐतिहासिक पीठिका पर ही ठीक-ठीक पकड़ा जा सकता है, अतः नयी-से-नयी चिन्ता-धारा का सम्यक् आकलन क्रमागत धारा के सन्दर्भ में ही सम्भव है। इस क्रम में दर्शन, जीवन और साहित्य एक दूसरे को समझने के लिए परस्परावलम्बन की अपेक्षा रखते ही हैं।

अरविन्द दर्शन और हिन्दी साहित्य

अरविन्द दर्शन

विश्व के महत्तम दार्शनिक, रहस्यदर्शी, पैगम्बर और अवतारों ने विश्व में व्याप्त व्यथा और वेदना को निःशेष करने के अनेक उपाय निर्दिष्ट किये, पर ज्यों-ज्यों दवा होती गयी मर्ज बढ़ता ही गया। आज विश्व के चिन्तकों के सामने विश्व के विनाश की विभीषिका उत्तरोत्तर प्रखर-प्रखरतर होती जा रही है। मार्क्स ने दलितों-पीड़ितों के दुःख-दर्द को हटाने के लिए क्रमागत समाज के ढाँचे को ही आमूल-चूल बदलने की सोची। उसने सोचा कि दर्शन और चिन्तन के शाब्दिक ढाँचे से इस सवाल का कोई सम्बन्ध नहीं है। अरविन्द ने अपने समय तक के तमाम पश्चिमी और पूर्वी, पुरातन और अधुनातन विचारों और प्रयोगों को आत्मसात् किया और उनका निश्चय है कि विश्व के दुःख-दर्द का सवाल मनुष्य की चेतना से, उसकी आन्तरिक बनावट से जुड़ा है। हमें आगे बढ़ने के लिए मनुष्य के भीतर से ही परिवर्तन लाना होगा। चिन्तन को व्यवहार में बदलनेवाले मनुष्य यन्त्र को ही बदलना होगा—उसकी परीक्षा करनी होगी। अर्थात् हमारे लिए महत् दर्शनों की नहीं, सटीक और त्रुटिहीन मनोविज्ञान की आवश्यकता है। यह मनोविज्ञान आध्यात्मिकता से अनुप्राणित होगा। आध्यात्मिकता भारत से लुप्त कभी नहीं हुई। पर उसके प्राण और शरीर अवश्य जीर्ण हो गये हैं। इस राष्ट्र की आनन्द और रचनात्मकता को प्रतिभा बुझ गयी है, बौद्धिकता अवरुद्ध हो गयी है और वैज्ञानिक तथा समीक्षात्मक मानस मूच्छित हो चुका है। माना कि आध्यात्मिकता मृत नहीं हुई है, पर उसने जीवन को तेजोद्दीप्त करने का कार्य बन्द कर दिया है। आवश्यकता है उसे पुनरुज्जीवित करने की, उसे युगोचित प्राण और शरीर देने की, उसको एकान्वित करने की, चेतना के संचार से इन्हें स्पन्दित करने की। आध्यात्मिकता से इन्हें 'इण्टिग्रेटेड' करना है। विच्छेद का विच्छेद करना है। श्रीअरविन्द की दृष्टि से अध्यात्म का अर्थ न तो जिन्दगी से पलायन है और न ही जगत् का इनकार। उनकी दृष्टि में आध्यात्मिकता जीवन का ऐसा ढाँचा है जिसमें मनुष्य अपनी निजी अन्तरात्मा के अनुसार विकास कर सके। जहाँ दार्शनिक मतवादों की जगह दिव्यता

को जगह मिले, जहाँ मनुष्य बल्कि यों कहें कि पूरी मानव जाति प्रकाश, शक्ति, शान्ति, एकता, समन्वितता आदि दिव्य गुणों को उपलब्ध कर सके, जिस ओर पूरी मानव जाति विकसित होने के लिए लगातार प्रयत्नशील है। यही, न कम न वेसी—हमारी आध्यात्मिकता का अर्थ है।" (श्रीअरविन्द, रिनेसाँ इन इण्डिया, पृष्ठ—48-49)

हाँ, तो ऊपर यह कहा गया है कि संसार के दुख-दर्द का सम्बन्ध मनुष्य की चेतना और उसकी आन्तरिक बनावट से जुड़ा हुआ है। पर यह चेतना वैज्ञानिकों का स्नायविक धक्का नहीं है जो अन्ततः भौतिक ही ठहरती है। यह वह चेतना है, जो सुषुप्ति और मूर्च्छा सर्वत्र जाग्रत है। यह उस चेतना (स्नायविक धक्का) की चेतना है जो चरम सत्य है। ज्ञानज्ञेयात्मक समस्त चराचर जगत् गत्यात्मक है। गति की धारणा, बिना स्थिति या विश्रांति की धारणा के असम्भव है। सृष्टि की दृष्टि से जो गति है, प्रलय की दृष्टि से वही विश्रान्ति है और निरपेक्ष दृष्टि से न वह 'गति' है न 'विश्रान्ति', बस वह केवल 'है'—यानी 'सत्'। यह ऐसा 'सत्' है, जिसमें सारे 'असत्' भी हैं। यह ऐसा 'है' है, जिसमें सारे 'नहीं' भी हैं। अन्यथा वह अपूर्ण नहीं हो जायेगा। फिर जो उसमें है नहीं, वह आ कहाँ से जायेगा। वृक्ष की सारी सम्भावना बीज में निहित है। यह सत् ही चित् है—समस्त चेतनाओं की चेतना। यह जो 'असत्' है, वह 'सत्' का ही निर्वर्तित रूप है, जिसे अचित् या जड़ कहा जाता है, वह चित् का ही निवर्तन है। सत् और चित्, असत् और अचित् का ही विवर्तन है इसलिए जो एक है वह दूसरा है, दोनों ही सत्य हैं। फिर भी, द्वैत नहीं है। यहाँ चित् और अचित् दो हैं ही नहीं, अतः शांकरवादियों की भाँति अद्वैत की सिद्धि के लिए एक को मायाजन्य मानकर आरोपापवाद की आवश्यकता नहीं है। वह पूर्ण होने से आनन्द है। सत् ही चेतनाओं की चेतना होने से चित् है और चित् ही पूर्ण होने से आनन्द है। इस प्रकार यह परम चरम सत्य त्रैत प्रतीत होने पर भी अत्रैत है—सच्चिदानन्दघन है।

तत्त्वों में भी परम सत्य को अखण्ड और समरस कहा गया है और श्रीअरविन्द ने भी ऐसा ही माना है परन्तु फिर भी दोनों में अन्तर यह है कि जहाँ तात्विक चित् और चित् शक्ति—स्थिति और गति, निःस्पन्द और स्पन्द, ऋणात्मक और धनात्मक—में शक्ति पक्ष को ही महत्त्व देते हैं और चित् को शव या शून्य मानते हैं—निवर्तन-विवर्तन स्वभावात्मक शक्ति—इच्छा शक्ति, चिच्छक्ति-स्पन्दात्मा को ही सर्जन-विसर्जन में समर्थ मानते हैं। चित् की शक्यता को ही सबकुछ मानते हैं, वहाँ अरविन्द चित् के अधीन उसके स्वभाव को मानते हैं। अन्यथा उसे अनीश्वर कहना पड़ेगा। तान्त्रिकों की भाँति अरविन्द भी मानते हैं कि इच्छा शक्ति या चित् शक्ति जो अपने विवर्तन-निवर्तन और विस्तार में स्पन्दात्मा है—शब्दस्वरूपा है। पश्चिमी चिन्तकों की शब्दावली में Logos है। शब्द ही सृष्टि का मूल है। यदि चित् शक्ति शब्द है, तो चित् निःशब्द-निस्पन्द-शान्त समुद्र।

वह चित् अपनी शक्यता को, चिन्मयी स्पन्दात्मिका शक्ति को, अचित् रूप में

निर्वर्तित क्यों करता है ? लीला के लिए ! समस्त जगत् नटराज चित् का नृत्य है, समुल्लास है। अन्तः का बहिःसमुच्छलन है। सच्चिदानन्द तो घन है। वहाँ 'स्पन्दन' के लिए अवकाश कहाँ ? कहा जाता है कि सकार नकारात्मक ब्रह्म जब अपनी शक्यता का प्रसरण करना चाहता है तो प्रदेश विशेष में शून्य या अवकाश कर लेता है और वहीं प्रकृति अधिकार कर लेती है। विवर्तन निवर्तनात्मक स्पन्दन आरम्भ हो जाता है, सृष्टि रूपाकर होने लगती है।

'आत्मन्येवात्मनात्मानम्' की भाँति इस सृष्टि का कर्ता, करण एवम् उपादान सभी कुछ वही है तत्त्वतः, पर समझने-समझाने के लिए भेद करके चलना पड़ता है। सृष्टि के इस क्रम में विश्वातीत गतिविश्रान्तिमय ब्रह्म पहले ठीक वैसे ही **विश्वात्मक** होता है—विश्वात्मक रूप में रूपान्तरित होता है, जैसे कलाकार कलात्मक सृष्टि करने से पूर्व अपनी समस्त चेतना का संकेन्द्रण सृज्यमान पर कर लेता है, शेष सब तह में चली जाती हैं—अनन्त में से केवल सृज्यमान ही व्यवस्थित रूप में चेतना में उभर आता है और कलाकार तन्मय हो जाता है—उसी प्रकार विश्वातीत विश्वात्मा बन जाता है, **अतिमन** बन जाता है। ऋतचित्, दिव्य ज्योति, अविभाज्यमान, दिव्यमाया नाम से वह जाना जाता है। रूपान्तरण की प्रक्रिया में इसी का अवतरण होता है। सच्चिदानन्दघन रूपान्तरण की प्रक्रिया में निष्क्रिय है।

अस प्रभु अछत सदा अविकारी।
सकल जीव जन दीन दुखारी॥

यही विश्वात्मा अतिमानस स्रष्टा है। पर यह सीधे यदि विश्वात्मक परिणति लेता, तो मूल उपादान (दिव्यमाया) की भाँति सारा विश्व ज्योतिर्मय होता। अतः इस हिरण्मय सत्य पर **अधिमन** का पिधान डाल दिया गया है। यह 'अधिमन' विद्याविद्योभयात्मक है। अरविन्द की विश्वकल्पना में दो गोलार्ध हैं—परार्ध और अपरार्ध। परार्ध में तीन स्तर हैं और अपरार्ध में तीन। अधिमन दोनों के मध्य विभाजक रेखा है—

सत्यम्, **तपः**, **जनः** — विश्वातीत — { सत्, चित्, आनन्द } — अभेदराज्य आनन्द
महः — (विश्वात्मक) [अतिमन योजक] विज्ञान

विद्या — विद्याविद्यात्मक
———————————— अधिमन (उभयात्मक) (भेदाभेद राज्य)
अविद्या

स्वः — **मनोमय** — मन (इन्द्र)
भुवः — (प्राणमय) — जीवन प्राण (वरुण)
भूः — (अन्नमय) — जड़ पदार्थ (अग्नि)
} भेद राज्य (व्यष्टि राज्य)

इस अधिमन से मन के बीच चेतना के और भी प्रतिनिधि स्तर है जिन्हें आध्यात्मिक स्तर कहते हैं। इसकी निम्नतम भूमि को उच्चतर मन (Higher

mind) के रूप में जाना जाता है। इसमें 'मानसिक' स्तर की भाँति तर्क-प्रतितर्क के सोपान से किसी निष्कर्षात्मक 'विचार' की उपलब्धि नहीं होती, अपितु तर्क प्रतितर्क सोपान निरपेक्ष 'विचार' आते हैं। जीनियस इस स्तर पर 'विचार' पाते हैं। इससे ऊपर है **दीप्तमन**। यहाँ 'विचार' या Ideas, Thought नहीं, vision (प्रकाश) आते हैं, सत्य दिखायी पड़ता है। यह उच्चतर विचार का मन नहीं, वरन् आध्यात्मिक ज्योति का मन है। सम्बोधि वस्तुओं के सत्य को सीधे आन्तरिक सम्पर्क द्वारा देखती है, न कि सामान्य मानसिक बुद्धि की तरह जो कि इन्द्रियों आदि के द्वारा खोजती और आगे बढ़ती है। सम्बोधि तादात्म्यजनित आद्यज्ञान के अधिक समीप और अधिक अन्तरंग रहनेवाली चेतना शक्ति है। सम्बोधियाँ उच्चतर तथा आलोकित मन से भी आती हैं और मानसिक, प्राणिक, सूक्ष्म शारीरिक सम्बोधियाँ भी होती हैं। यहाँ तक कि शरीर की भी अपनी सम्बोधियाँ होती हैं।

अधिमानस

↓

सम्बोधि प्रकाश (spiritual light)

↓

दीप्तमन (vision)

↓

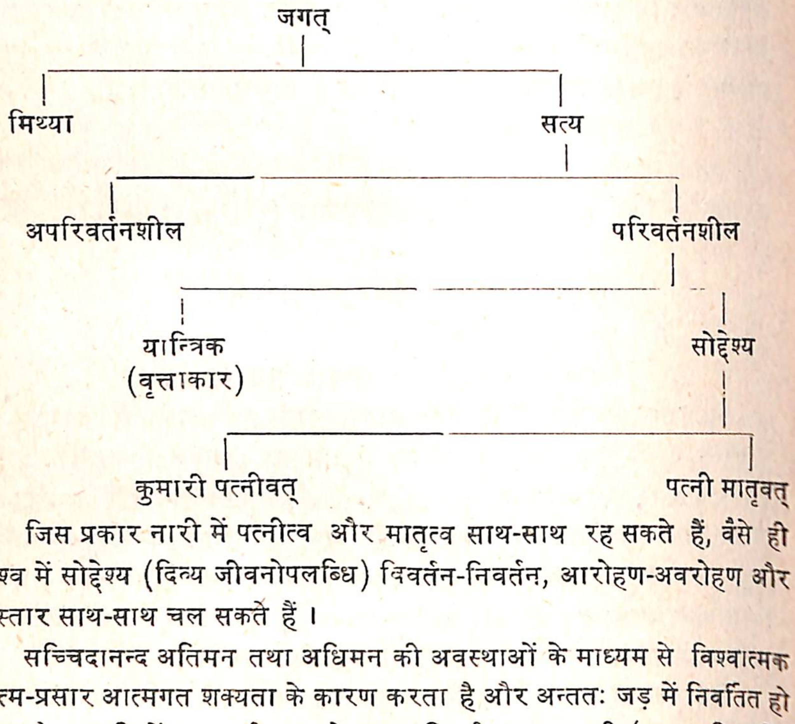
उच्चतर मन (Ideas)

इस प्रकार जड़ ऊर्जा में निर्वतित आत्मा अपनी सारी शक्तियों के साथ वहाँ विद्यमान रहती है। पुनः विकासक्रम में भौतिक (physiological), प्राणिक (Biological) तथा मानसिक (psychological) सोपान उभरते हैं। हमारा आज तक का विकास मनोमय स्तर तक का है। मन आविद्यिक यन्त्र है, जो सत्य को ढूंढ़ता अवश्य है, पर वह उसे पा नहीं सकता। हाँ, भेद की भूमिका पर समस्याएँ अवश्य खड़ी करता है। अरविन्द की दृढ़ धारणा है कि जब तक हम बुद्धि के स्तर पर हैं—हमें शाश्वत सुखशान्ति कभी भी नहीं मिल सकती।

जीव जगत् में अभिव्यक्त व्यष्टि अन्तरात्मा का नाम है। यह अजन्मा है, इसमें कोई विकास नहीं होता, हाँ वैयक्तिक जन्म तथा विकासक्रम की अध्यक्षता अवश्य करता है। जीवात्मा विभु है। किसी दृष्टि से वह चित्कण भी है, इसी साक्षी जीवात्मा विभु की वैयक्तिक प्रकृति में एक प्रतिनिधि शक्ति है जिसे पुरुष कहते हैं। यही वैयक्तिक प्रकृति को धारण करता है। मन, प्राण और देह के अनुभवों से इसमें विकास होता है और इसके फलस्वरूप वह प्रकृति एक जीवन से दूसरे जीवन में ले जाता है। क्रम विकास में यह चैत्य पुरुष चैत्य सत्ता के द्वारा गठित होता है। चिरागत वासना के नियन्त्रण से बहिरंग पुरुष अथवा कामनामन पुरुष रहा करता है और चैत्य पुरुष निष्क्रिय पड़ा रहता है।

विकास के इस क्रम को स्पष्ट करने के लिए यह भी कहा जाता है कि इस विश्व में दार्शनिकों की दो धारणाएँ हैं—एक वह है जो विश्वसृष्टि को मिथ्या

मानती है और दूसरी वह जो सत्य । सत्य माननेवालों के भी दो विकल्प हैं—विश्व अपरिवर्तनशील और विकासात्मक परिवर्तनशील । विकासात्मक परिवर्तनशील माननेवालों के भी दो वर्ग हैं—यान्त्रिक अर्थात् निरुद्देश्य परिवर्तनशील अथवा सोद्देश्य परिवर्तनशील । सोद्देश्य परिवर्तनशीलता भी दो प्रकार की है—कुमारी पत्नीवत्—जहाँ दो स्थितियाँ साथ-साथ नहीं रह सकतीं तथा दूसरी पत्नी मातृवत्–जहाँ विभिन्न स्थितियाँ साथ-साथ सम्भावित हों । विचारकों की इस परम्परा में अरविन्द पत्नी मातृवत् सोद्देश्य परिवर्तनशील माननेवाली विचारक परम्परा में आते हैं । चित्र यों होगा—



जिस प्रकार नारी में पत्नीत्व और मातृत्व साथ-साथ रह सकते हैं, वैसे ही विश्व में सोद्देश्य (दिव्य जीवनोपलब्धि) विवर्तन-निवर्तन, आरोहण-अवरोहण और विस्तार साथ-साथ चल सकते हैं ।

सच्चिदानन्द अतिमन तथा अधिमन की अवस्थाओं के माध्यम से विश्वात्मक आत्म-प्रसार आत्मगत शक्यता के कारण करता है और अन्ततः जड़ में निर्वतित हो जाता है । प्रकृति में प्रत्यावर्तन, आरोहण या विवर्तन का क्रम भी (स्वरूप विश्रान्ति के साथ-साथ) दिव्य जीवन को शरीर, प्राण और मन तक के स्तरों पर उतार लाने के लिए होता है । इस दिव्यीकरण की क्रिया में आरोहण-अवरोहण तथा विस्तार साथ-साथ चलते हैं । दिव्यीकरण की प्रक्रिया-प्रकृति अपने स्वभाव से भी सम्पन्न कर सकती है पर मानव के पास वे यन्त्र हैं, जिन्हें प्रयासपूर्वक यदि वह सक्रिय कर सके तो इस प्रक्रिया में तेजी आ सकती है। सृष्टि विकास के क्रम में मानव या मानस ही अन्तिम स्तर है, यह कैसे मान लिया जाय ? विकास तो पूर्णता पर जाकर ठहरेगा, दिव्यीकरण की सम्पन्नता पर सम्पन्न होगा ।

दिव्यीकरण की प्रक्रिया में मानव का 'योग' क्या हो, महर्षि अरविन्द ने इस पर भी विचार किया, इसे पूर्ण योग या समन्वित योग की संज्ञा दी। अब तक की

आध्यात्मिक उपलब्धि एक तो व्यक्तिगत होती थी; साथ ही इस उपलब्धि को हम शरीर, प्राण और मन के धरातल पर अपने समग्र और समष्टि जीवन में अनुभवनीय नहीं मानते थे। यों शांकर अद्वैत तथा महायान में समष्टि युक्ति के संकेत मिलते हैं, फिर भी समग्र तथा सार्वभौम जीवन में दिव्य जीवन की उपलब्धि की बात तो नहीं ही थी। यह योग अविच्छेद्य और अखण्ड स्तर का योग है।

श्रीअरविन्द जीवन को ही अतिमानसिक योग में बदलना चाहते हैं। जीवन से अलग योग का कोई अर्थ नहीं। अतिमन के आनन्द और प्रकाश को जीवन में कैसे उतार लिया जाय यह है मूल समस्या। एतदर्थ जीवन और विश्व के निम्नतम धरातलों को उसके धारण योग्य बनाना पड़ता है और एतदर्थ उसका रूपान्तरण आवश्यक है। जिसका, जिसमें रूपान्तर होता है वह उसी में निर्वतित है, उसे केवल जाग्रत करना है। इसके लिए कहा जाता है कि निम्नतर सत्ता, उच्चतर सत्ता की ओर आरोहण करती है अथवा निम्नतर सत्ता अपने को सत्पात्र बनाती है ताकि उच्चतर सत्ता उसमें अवरोहण कर सके। इनके साथ-साथ खण्डता की परिधियाँ भी टूटती जाँय, फलतः साधक का व्यक्तित्व दिव्य होने के साथ-साथ व्यापक भी होता जाय।

एतदर्थ अरविन्द साहित्य में चार साधनों का उल्लेख है—शास्त्र, उत्साह, गुरु और काल। शास्त्र है—सत्यज्ञान। उत्साह का सम्बन्ध है जिज्ञासु तथा धीर साधक से। जिस प्रकार शास्त्र या सत्यज्ञान या अनन्तज्ञान का स्रोत मानव के हृदय में पहले से ही निहित है (यहाँ विकास का अर्थ है गुप्त का प्राकट्य), उसी प्रकार निर्देशक गुरु भी हृदयस्थित है पर आरम्भ में प्रतिनिधि रूप मानव गुरु की अपेक्षा है। समय तो अपेक्षित है ही। इसके लिए अतिधैर्य भी आवश्यक है और वैसी ही त्वरा भी। इन सबके साथ परमेश्वर अनुग्रह आवश्यक है। उसकी कृपा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता।

जिज्ञासा इस यात्रा का प्रथम स्तर है, जो परमेश्वर के अनुग्रहवश सम्भव है। सच्ची अभीप्सा की आग का निरन्तर प्रज्ज्वलित रहना ही उच्चतर उपलब्धियों का द्वार है। दिव्य जीवन की उपलब्धि की अभीप्सा में जो प्रतिबन्धक है, न केवल साधक उनका त्याग करता है, अपितु एक स्तर पर जाकर वह उस उच्चतर भागवत सत्ता के प्रति आत्मसमर्पण भी कर देता है, अहंता भी छोड़ देता है। ध्यानधारा को बहिर्मुख रखनेवाली विक्षेप जनक सामग्री साधना की आग में भस्म होने लगती है—आन्तर पुरुष जगकर ऊपर आ जाता है और अब जीवन अतिमन के सात्विक प्रतिनिधि चैत्य पुरुष के नियन्त्रण में चलने लगता है। धीरे-धीरे साधक की इच्छा भगवती की इच्छा से एक रूप हो जाती है। चैत्य पुरुष का, दिव्य चेतना की ओर निरन्तर सक्रिय यह औन्मुख्य, धीरे-धीरे निम्न-स्तरों का परिष्करण आरम्भ कर देता है। यह परिष्करण या रूपान्तर कहीं किसी भी स्तर पर आरब्ध हो जाता है, पर सभी स्तरों का रूपान्तर हुए बिना दिव्य चेतना का चरम उत्कर्ष प्राप्त नहीं होता। इसका चित्र इस प्रकार रखा जा सकता है—

—स्वाभाविक प्रक्रियावश

आरोहण या प्रत्यावर्तन—

— साधक के प्रयत्नवश—योग

प्रथम स्तर (जिज्ञासा) | साधकगत प्रयास | गुरुदीक्षा | परमेश अनुग्रह

अभीप्सा→त्याग→समर्पण

निष्काम साधना, एकाग्रता

संक्षेप में क्रम इस प्रकार होगा—योग मार्ग द्वारा पूर्ण आत्म-समर्पण→अहंता का भेदन→तादात्म्यलाभ→सबका रूपान्तरण→(आरोहावरोहपूर्वक) निम्न शक्ति का उच्च शक्ति के रूप में रूपान्तर और उच्च शक्ति का निम्न शक्ति के स्तर पर अवरोहण। इस प्रकार यह क्रम किसी व्यक्ति या वर्ग से आरम्भ होगा, फिर सार्वभौम सामूहिक विकास—जात्यन्तरण-विज्ञानमय पुरुष का अवतार—मृत्यु का अतिक्रम।

भारतीय काव्य चिन्ताधारा के सन्दर्भ में अरविन्द

'कवि' शब्द प्रयोग की दो परम्पराएँ

भारतीय काव्यशास्त्र में 'कवि' के सम्बन्ध में दो तरह की धारणाएँ मिलती हैं—एक है धनिक धनञ्जय युग्मक की, जो मानता है कि कवि योगी नहीं[1] है—वह योगी की भाँति काव्यवस्तु का साक्षात्कार नहीं करता, प्रत्युत कभी-कभार सरस्वती की दया कुछ ऐसी 'उत्प्रेक्षण' की विशिष्ट क्षमता उसमें भर देती है, जिसके प्रभाव में कवि स्वानुभूति को अपनी काव्यशक्ति की सहायता से पात्रान्तर में भरकर या साक्षात् शक्ततम और उपयुक्त प्रभावी शब्दों में उँड़ेल देता है। महिमभट्ट ने उस सरस्वती प्रदत्त 'दीप्ति' को कवि का 'तीसरा नेत्र' कहा है। निश्चय ही यह 'विज़न' सुन्दर होता है और अपने स्वरूप में उल्लासमय होता है। इसका कारण किसी अदृश्य काव्य की अधिष्ठात्री शक्ति का 'प्रसाद' तो है ही, कदाचित् इसी प्रभाव से वह निर्वैयक्तिक[2] भूमिका पर चला जाता है। मनोजगत् की यही निर्वैयक्तिक स्थिति सरस्वती के प्रसाद से उमड़ी हुई सर्जनात्मक अनुभूति को एक साथ सुन्दर और आह्लादमय बना देती है। ग्राहक और निर्माता दोनों ही दृष्टियों से सोचते हुए भारतीय काव्यशास्त्रियों ने 'रसास्वाद' को 'ब्रह्मास्वाद' नहीं, 'ब्रह्मास्वाद-सहोदर' ही कहा है, वासना का ही स्वाद माना है। अनुभूत की ही अनुभूति स्वीकार की है। अभिनवगुप्त जब 'रस' को

अनुव्यवसायात्मक[3] मानते हैं, तब वे ज्ञात के ही विशेष ज्ञान को रस कहना चाहते हैं। काव्यप्रकाशकार मम्मट जब 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृत'[4] कहते हैं तब वे स्थायीभावात्मक वासना के निर्वैयक्तिक आस्वाद को ही रस कहते हैं। इस क्रमागत धारा में विकल्प पण्डितराज जगन्नाथ[5] ने अवश्य पैदा किया। उन्होंने 'चिदवच्छिन्न रति' को नहीं, 'रति अवच्छिन्न चित्' को रस कहा अर्थात् 'रस' मुख्यतः आत्मास्वाद ही है। श्रुति का साक्ष्य दिया—'रसो वै सः'। यद्यपि इसमें भी निखालिस आत्मा का ही आस्वाद नहीं है; लोकानुभूति-वासना, निर्वैयक्तिक वासना का भी सम्भेद है। यहाँ का सारा रस विवेचन ही वासनात्मक स्थायी पर समाधृत रहा है। सामाजिक ही आस्वादयिता रहा है।

एक दूसरी धारा भी है जिसकी 'कवि' विषयक धारणा थोड़ी भिन्न है। यह धारा कवि को 'क्रान्तदर्शी' कहती है, उसकी 'दृष्टि' असामान्य है। दसवीं शताब्दी के एक कश्मीरी आलोचक 'भट्टतौत' ने कहा है (काव्यकौतुक) कि कवि की श्रेणी में उसकी गणना होती है, जो ऋषि है और ऋषि वह है जिसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है—

> नानृषिः कविरित्युक्तः ऋषिश्च किल दर्शनात्।
> ....तत्त्वप्रख्या च दर्शनम्॥

इसी प्रकार कवि की आर्षचक्षु की विशेषता बताते हुए अनर्घराघवकार श्री मुरारी ने भी कहा है कि वह शाश्वत वर्तमान का पर्याय है, जिसमें समस्त भूत और भविष्य भी समाहित रहते हैं। उन्होंने कहा—

> अविद्या बीज विध्वंसादमयार्षेण चक्षुषा।
> कालौ भूतभविष्यन्तौ वर्त्तमानमवीविशत्॥[6]

वेदों ने भी आदि-स्रष्टा ईश्वर को 'कवि' ही कहा है—

> 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः॥'

भट्टतौत ने एक संकेत और दिया है कि 'ऋषि' और 'कवि' ये दो शब्द सर्जक कलाकार की दो विभिन्न विशेषताओं या पक्षों की ओर इंगित करते हैं, उन्हें रेखांकित करते हैं। 'ऋषि' शब्द उसकी 'दृष्टि' (दर्शनशक्ति) पर बल देता है और 'कवि' शब्द उसकी 'वर्णना' पर। कुल मिलाकर अभिप्राय यह कि कलाकार ऋषि अपने 'असामान्यस्फुरण' में जिन सुन्दर और आह्लादक रूपों का साक्षात्कार करता है उसी को शब्दों में मूर्त कर देता है।

> दर्शनाद्वर्णनाच्चातः रूढा लोके कविश्रुतिः।
> तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादि कवेर्मुनेः।
> नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥

इससे स्पष्ट है कि काव्य भी एक साधना है। दक्षिण का भी एक प्रातिभ कवि है—नीलकण्ठ दीक्षित, उसने कहा है—

'चित्तं महेशे निभृतं निधातुम्
सिद्धः कवीनां कवितैव योगः ।।'

कवि काव्य में एक ऐसी ताकत रखता है कि आराधक उसके सहारे परमात्मा में अपने चित्त को परम शान्तिपूर्वक लीन कर सकता है।

डॉ. राघवन् ने Shri Aurobindo Aesthetic शीर्षक लेख में इन उद्धरणों के सहारे यह प्रतिपादित करना चाहा है कि इन उद्धरणों के सन्दर्भ में श्रीअरविन्द की काव्य चेतना के सूत्र ढूँढ़े जा सकते हैं, अथवा इसी धारा में उन्हें ठीक-ठीक विन्यस्त किया जा सकता है। स्वयम् उत्तररामचरितकार ने भी 'महर्षि वाल्मीकि' के प्रति ब्रह्मा से कहलवाया है—'अप्रतिहतं ते आर्ष चक्षुः'—सम्प्रति, तुम्हारे आर्ष नेत्र उद्घाटित हैं, करो काव्य। वाल्मीकि के विषय में तो प्रसिद्धि भी है कि उन्होंने भावी को भी वर्तमान में समेटकर राम विषयक अपनी काव्यवस्तु का साक्षात्कार कर लिया था और उसे काव्यबद्ध भी कर लिया था।

इस प्रकार स्पष्ट ही भारतीय काव्यशास्त्रीय और काव्यीय धारा में 'कवि' के विषय में दो धारणाएँ उपलब्ध होती हैं – एक कवि को योगी नहीं मानता, हाँ कवि होने के लिए काव्य की अधिष्ठात्री शक्ति का प्रसाद आवश्यक और अनिवार्य मानता है, जबकि दूसरा ऋषि भिन्न को कवि ही नहीं मानता और ऋषि उसे ही मानता है जिसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है।

श्रीअरविन्द की काव्य सम्बन्धी धारणा

(1) **उत्कृष्ट काव्य**
(2) **अपकृष्ट काव्य**

श्री अरविन्द यह मानते हैं कि सर्वोत्तम कविता मन्त्र है। इससे उनका आशय स्पष्ट है कि वे काव्य को एक गहनतम आध्यात्मिक सत्य का काव्यात्मक अभिव्यञ्जन मानते हैं। उनकी धारणा है कि मूल में कवि शब्द का प्रयोग ऐसी ही ऊँचाई के लिए होता था, बाद में उसे प्रामाणिक और मानसिक धरातल की वर्णना करने वालों के लिए भी प्रयुक्त किया जाने लगा। श्रीअरविन्द की इस धारणा के अनुसार इसे दो धारा न मानकर 'कवि' शब्द का अर्थगत क्रमिक विकास विभिन्न भूमियों पर माना जाना चाहिए। जो भी हो, परवर्ती समस्त रस सम्बन्धी चिन्तन 'सामाजिक' को भी केन्द्र में रखकर किया गया है, आध्यात्मिक ही को नहीं। इससे स्पष्ट है कि चाहे श्रीअरविन्द प्राचीन भारतीय साहित्य चिन्तन की पारिभाषिक शब्दावलियों रस, प्रतिभा, अलंकरण, छन्द, लय, भाव, कवि, आनन्द का प्रयोग अपने विश्लेषण में करते हों, परन्तु काव्य सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण आनन्दवर्द्धन, भरत और अभिनव से सर्वथा भिन्न है। उनके यहाँ प्राण, मन और बुद्धि सभी समर्पित भाव से काव्यक्रिया में यंत्रवत् हैं—सच्चा द्रष्टा, सच्चा ग्रहीता और सच्चा भोक्ता आत्मा ही है। उनकी भूमिका 'आत्मन्यैवात्मनात्मानम्' की है। यह अवश्य है कि उनका काव्योपयोगी आध्यात्मिक सत्य जीवन से असम्पृक्त नहीं है। अरविन्द

का अध्यात्मदर्शी कवि अपने जीवन में, चेतना के प्रत्येक स्तर पर दिव्यता को उतार लेता है या अभिव्यक्त कर लेता है। अन्यथा काव्य में अपेक्षित ऊष्मा और मूर्तता नहीं आ पाती।

रोमैण्टिक और अरविन्द की धारणा में साम्य और वैषम्य

(1) **यंत्रवत् हो जाना**

(2) **'प्रसाद और साधना'**

(3) **कविता का स्वतः स्फूर्त होना**

यहाँ एक बात स्पष्ट कर लेनी चाहिए कि कवि जिस आध्यात्मिक सत्य की काव्यात्मक अभिव्ञ्जना करता है—वह पारमेश्वर अनुग्रहवश प्राप्त हो जाता है या पौरुषेय साधनावश उपलब्ध होता है? निश्चय ही जब श्रीअरविन्द 'कवि' और 'काव्य' को वैदिक 'ऋषि' और 'मन्त्र' के स्तर पर देखना चाहते हैं तब निश्चय ही उन्हें साधनालब्ध मानना चाहिए। श्रीअरविन्द काव्य की रचना-प्रक्रिया जिस तरह की बताते हैं—वह 'प्रसाद' की अपेक्षा 'साधना' से ही अधिक सम्भव दीखती है। इन्होंने माना है कि काव्यरचना के क्षणों में कवि की प्राण-मन-बुद्धि जैसी सीमित शक्तियाँ यन्त्र बन जाती हैं—बड़ी शक्ति के प्रति समर्पित हो जाती हैं और वह बड़ी शक्ति है—आत्मन्शक्ति। निचले धरातल पर श्रवण दर्शनादिज्ञान की विधाएँ न केवल सीमित और व्यक्तिगत भूमिका में खण्ड-खण्ड होती हैं, प्रत्युत अनाध्यात्मिक भी होती हैं। इसलिए रोमैण्टिक कवि चाहे जितना भी कहें कि गान कोई करता है—यश उन्हें मिलता है—की एकरूपता अरविन्द के 'यन्त्र भाव' से करनी थोड़ा कठिन है। इनके यहाँ गहनतर आत्मिक अनुभव में मानसिक और प्राणिक अभिरुचियों को डुबाने के बाद पाया गया यह विषयवस्तु का आध्यात्मिक रूपान्तर है जो अनिवार्य शब्द और चरम रूपविधान तथा अविश्लेष्य लय को ले आता है। इनके यहाँ तो चेतना के उच्चतम स्तरों से आते हुए दिव्य आवेग के रास्ते यदि सतही मन अड़ गया—समर्पित नहीं हुआ, यन्त्र नहीं बना तो वह आवेग क्षीण हो जाता है। सीमित ज्ञान-साधनों का समर्पणभाव साधनासाध्य है। ऊपर से दिव्य आवेग आकर ही क्या करेगा, यदि निम्नस्तर की भूमियाँ उसे ग्रहण करने का पात्र अपने को नहीं बना सकी हैं। अतः कवित्व के उन्मेष के लिए यहाँ **'प्रसाद' और 'साधना'** दोनों की बात करनी पड़ेगी। मन्त्रात्मक कविता अथवा महत् काव्य का जो स्वरूप अरविन्द की रचनाओं में मिलता है—उसे देखते हुए यह मानना ही पड़ेगा।

अरविन्द की दृष्टि से काव्य के विभिन्न धरातल

श्रीअरविन्द कहते हैं—

"भावी कविता को, यह मानते हुए कि यह उस प्रकार की होगी, जिसका मैंने संकेत किया है और कि इसका उद्देश्य वस्तुओं के किसी अन्तरतम सत्य को अभि-

व्यक्त करना होगा, जिसे यह अपनी विषय-वस्तु बनायेगी, अपने कार्य के पूर्ण रूप से उपयुक्त होने के लिए उन्हें अन्तरतम तरीके से अभिव्यक्त करना होगा और यह तभी किया जा सकता है जब यह ज्यादा बौद्धिक तथा बाह्य रूप से प्राणिक तथा ऐन्द्रिकतापूर्ण अभिव्यञ्जना का अतिक्रमण करती हुई पूरी तरह से सम्बोधिजन्य, विज़न और कल्पना, सम्बोधिजन्य इन्द्रिय, सम्बोधिजन्य भाव, सम्बोधिजन्य प्राणिक भावना की भाषा में बोले, जो ज्ञान के एक खास अन्तरंग प्रकाश में आध्यात्मिक तादात्म्य द्वारा उस चीज के अन्तरतम विचार, दृष्टि बिम्ब, जीवन और भावना को पकड़ सकती है, जिसे उच्चरित करने के लिए वह नियुक्त की गयी है। काव्य की वाणी हममें ऊपर के प्रदेश से आती है, हमारी सत्ता के ऐसे धरातल से जो हमारी व्यक्तिगत बुद्धि के ऊपर और उससे परे है, एक 'अतिमानस' से जो वस्तुओं को किसी आध्यात्मिक तादात्म्य के द्वारा अन्तरतम और विशालतम सत्य में और देदीप्यमान प्रभा एवम् आह्लाद सहित देखता है तथा उसकी सहजात भाषा ऐसा उद्भासित, स्फुरित, सुबुद्धशब्द है, जो इस आह्लाद और प्रभा के ऐश्वर्य से सुस्पष्ट या सूक्ष्मतः झंकृत या सघनरूप से भरा हुआ है।"

अरविन्द की काव्यप्रक्रिया रहस्यदर्शिता का अंग

निस्सन्देह इनके काव्यसिद्धान्त इनकी रहस्यदर्शी प्रक्रिया के एक अंग हैं, जिनका द्वार अरहस्यदर्शियों के लिए बन्द है। जब वे काव्य के सम्बन्ध में 'दृष्टि', 'उत्तेजना' या 'प्रेरणा' तथा 'लय' और सटीक शब्द की बात करते हैं तब तो लगता है यह सब जाना-बूझा है, पर जब ऊपर उद्धृत भाषा में उसे विश्लेषित करने लगते हैं तब लगता है कि इनकी प्रक्रिया में काव्य अदीक्षित अरहस्यदर्शी के लिए अबोधगम्य है।

श्रीअरविन्द ने कहा—"The overhead poetry, in its highest form, comes from over mind, but all overhead poetry is not from the over mind, more often it comes from simply intuitive, illumined or strong and higher revealing thought."[7]

अर्थात् पराबौद्धिक कविता सर्वदा 'अधिमानस' से ही नहीं आती। हाँ, अपने सर्वोच्च रूप में वहीं से आती है, पर अधिकांश सम्बोधि, प्रकाशितमन, तथा उच्चतर मन से आती रहती है। पर वे स्तर भी अध्यातम राज्य के ही स्तर हैं। अरविन्द के सौन्दर्यशास्त्र या काव्य सम्बन्धी धारणा के ये ही मूल स्रोत हैं। वैदिक मन्त्रों को उन्होंने गहनतम सत्यानुभूति का काव्यात्मक प्रकाशन ही माना है। इनका सर्वोच्च काव्य यदि इसी मनोभूमि का काव्य है तो निश्चय ही आध्यात्मिक काव्य है, चरम-सत्य की अपरोक्षानुभूति का प्रकाशन है। यह पारमेश्वर अनुग्रह और साधक कवि की साधना का चरम प्रतिफल है।

अरविन्द काव्य का सामान्य तथा इतर रहस्यदर्शी कवियों से वैशिष्ट्य

यह अवश्य है कि श्रीअरविन्द सम्मत काव्यात्मक मन्त्र में वर्ण्य का बहिरंग सत्य

ही सामान्य कवियों की तरह उद्‌घाटित नहीं होता और न ही जीवन और जगत् का निषेध करके चलने वाले रहस्यदर्शी कवियों की भाँति केवल आत्मानुभूति का उल्लास और सौन्दर्य व्यक्त होता है जो अन्तरंग ही है। यहाँ तो जीवन और जगत् की तह में वही सुन्दर और आनन्द परिणत है, साधना से पूर्व अव्यक्त है और साधना के बाद व्यक्त, अतः इनके काव्य में एक साथ सत्य, आत्मा, जीवन और इन तीनों का मर्म आनन्द और सौन्दर्य मूर्त है, यहाँ आत्मा का शैत्य और अमूर्त्तता भी है और जीवन की ऊष्मा और मूर्तता भी। पैगम्बर, दार्शनिक और वैज्ञानिक से कवि अपने 'विज़न' या दृष्टि में ही भिन्न हो जाता है, जिसकी पद्धति और जिसका प्रयोजन दोनों ही पृथक् हो जाते हैं।

अरविन्द काव्य रचना प्रक्रिया में

(1) **द्रष्टा और भोक्ता के व्यक्तित्वों का तादात्म्य**

(2) **'रूप' की आवयविक अखण्डता**

कवि का व्यक्तित्व दोहरा होता है। साधना के कारण उसका बहिर्मुख या कामनामय रूप शान्त हो जाता है और रूपान्तर में भाग लेने वाला भीतर छिपा हुआ अन्तरंग या चैत्य पुरुष जागरूक हो जाता है। चैत्य पुरुष के रूप में कवि आध्यात्मिक विकास में भाग लेता है और जीवात्मा की तटस्थ देखरेख जो उसके व्यक्तित्व का दूसरा भाग है—में वह सब सम्पन्न होता है। विकसित चैत्यपुरुष जब मानस में दिव्यमानस को व्यक्त कर लेता है, तब प्रकृति भी उसकी पूर्ण सहयोगिनी बन जाती है और साधक अपने समस्त बहिः और अन्तःकरणों के साथ पराशक्ति की इच्छा का यन्त्र बन जाता है। इस भूमिका के साधक में जब कवि जन्म लेता है तो उसके व्यक्तित्व में उसका तटस्थ द्रष्टा तथा भोक्ता या विकास में भाग लेने वाला रूप, सभी एकाकार हो जाते हैं। अपने इस पूर्णव्यक्तित्व को कवि काव्योपयोगी, अर्थात् आनन्द और सौन्दर्यमय, जो ऊपर की भूमिका में अभिन्न हैं, निम्न भूमियों पर भिन्न प्रतीत होते हैं, 'विज़न' में विलीन कर देता है। यही 'विज़न' एक आध्यात्मिक उत्तेजना लाता है और उत्तेजना में उसी के भीतर से अनुरूप रूपविधान और लयात्मक वाणी फूटती है। यहाँ ऊपर से रूप, वाणी और लय—थोपे नहीं जाते। यह आत्मन् दृष्टि, आत्मन् अनुभव एक तरफ परावाक् रूपा भी है और दूसरी तरफ सम्पूर्ण अर्थमय भी। परा जिस तरह सिसृक्षा काल में 'पश्यन्ती' नाम धारण करती है, समस्त स्रक्ष्यमाण का आकलन करती है, वही स्थिति, वही आध्यात्मिक प्रहर्ष कवि का भी सर्जन काल में होता है। इसीलिए श्रीअरविन्द ने काव्यभाषा को तत्त्वतः वैदिक ऋषियों की भाषा में 'वाक्' कहा और तान्त्रिकों की भाषा में 'पश्यन्ती'। जिस प्रकार मूल सृष्टिकाल में लीलामयी परमसत्ता विश्व की आधारभूत अपरिवर्तमान विभूतियों को एक छन्दोमयी स्वरसंगति में बाँध देती है, उसी तरह यहाँ भी कवि की वाणी छन्दोमयी स्वरसंगति में स्वतः बँध जाती है। यह शब्द और कुछ नहीं उसी 'विज़न' (सारतत्व) की 'देह' है, अमूर्त और अव्यक्त का

ही मूर्त और व्यक्त रूप है। समस्त रूपविधान उसी 'विज़न' का वैचित्र्यगर्भ आकार ग्रहण है, ठीक उसी तरह जैसे मयूरांगत द्रव पदार्थ का परवर्ती रंगवैचित्र्य।

आनन्दवर्द्धन और वाक् (उक्ति) तथा अरविन्द

आनन्दवर्द्धन ध्वन्यालोककार ने काव्य शब्द की संज्ञा 'ध्वनि' दी है और कहा है—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकता बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत॥

काव्य में सटीक शब्द की संज्ञा 'ध्वनि' है, व्यञ्जक है, प्रकाशक है। प्रकाशक है वह कवि के वर्ण्य 'सुन्दर' का। यहाँ सौन्दर्य का प्रकाशन जो शब्द अपनी जिस बहिरंग तथा अन्तरंग क्षमता के साथ एकजुट होकर करता है, उसका स्थान उस सौन्दर्य के प्रकाशन में दूसरा शब्द ले नहीं सकता और ऐसा तभी सम्भव है जब वह सौन्दर्य ही 'शब्द' बन जाय। इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं है। इस क्षमता को भी आनन्दवर्द्धन ने 'व्यञ्जना' कहा है और यह भी कहा है कि शब्द का व्यञ्जकत्व और सौन्दर्य—दोनों ही समनियत हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने तो काव्यानन्द या काव्यरस के सन्दर्भ में इस 'व्यञ्जना' को 'व्यक्ति' कहते हुए उसे 'भग्नावरणा चित्' ही कहा है। कारण यह है कि वे काव्यरस को मुख्यतः आत्मास्वाद ही कहना चाहते हैं, अतः आत्मास्वाद के लिए आत्मशक्ति ही समर्थ हो सकती है, वह स्वयम् प्रकाश है न! आत्मास्वाद की अपरिमेयता का प्रकाशन आत्मशक्ति ही कर सकती है और ग्रहण भी उसी आत्मशक्ति, व्यञ्जना से सम्भव है। वह शब्द निरर्थक खोखला और कमजोर है जिसमें आत्मशक्ति व्यञ्जना का अन्तः सत्व नहीं है। इसीलिए श्रीअरविन्द ने शैली और शब्द पर विचार करते हुए उसके व्यावहारिक रूप और काव्यात्मक रूप में अन्तर बताते हुए कहा है—प्रथम स्तर पर शब्द विचारों के रूढ़ चिह्न हैं, जीवन के लिए उपयोगी हैं, पर स्वयम् जीवन से रहित हैं। उनका विचार है कि ये शब्द अपने आदिम रूप में ज्यादा जीवन्त थे, जो मानव की व्यावहारिक बौद्धिक यात्रा में सूखते गए। कवि शब्द की अन्तरात्मा, पुनः अन्यथा आहित करता है—काव्यात्मक मूलकल्पना के सहारे उसमें प्रभावी बिम्बों और प्रतीकों के रूप में अनन्त झंकृतियों को भरकर।

श्रीअरविन्द ने स्पष्ट कहा है—"कवि आध्यात्मिक शक्ति की एक उत्तेजना से सर्जना करता है जिसका यन्त्र या साधन उसका मन है और उसके अन्दर तथा दूसरों में इसकी सम्बद्धता किसी बौद्धिक परीक्षण से नहीं उगती बल्कि आध्यात्मिक अनुभूति से आती है। कवि को यही बताना चाहिए कि जो शब्द आ रहा है वह उसके विज़न की सच्ची देह है या उसे दूसरे शब्द को खोजना या उसका इन्तजार करना है जो उसके विज़न की सही-सही, प्रभावी, प्रकाशी, स्फुरित या अनिवार्य उक्ति है।"

इस प्रकार रूपविधान और माध्यम रूप में प्रयुक्त लयात्मक वाणी के विवेचन

से स्पष्ट काव्य की आवयविक अखण्डता की पूर्वी और पश्चिमी चिन्तनाएँ तो यहाँ समाहित हैं ही, काव्यास्वाद के मूल 'इम्पर्सनालिटी' या 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त भी अनुषंगतः व्यक्त है। यह भी परम्परा के सन्दर्भ में है कि कवि का एक ही लक्ष्य है—सौन्दर्य एवम् आनन्दमय विज़न में लीन होकर उसे अपनी समग्रता में व्यक्त हो जाने देना और प्रयोजन में भी पाठक को उसी भूमि पर उठा ले जाना, उसकी उसी क्षमता के लिए संवेद्य बनाना, जिस क्षमता से वह निर्माण के धरातल पर उमड़कर बाहर आया है। इसमें भी वैमत्य नहीं है कि मन्त्रात्मक काव्य में लयात्मक गति की उच्चतम तीव्रता, शब्द रूप, विचारतत्व शैली की उच्चतम तीव्रता और आत्मा की सत्यदृष्टि की उच्चतम तीव्रता मिलकर नीर क्षीरवत् एक हो जाती है। श्रीअरविन्द की दृष्टि में उत्कृष्ट कोटि का सम्बोधिजन्य उद्भासी काव्य जिन पाँच शाश्वत शक्तियों की एक परम स्वरसंगति की आवाज निःसृत करेगा—वे हैं सत्य, सौन्दर्य, आनन्द, जीवन और आत्मा।

उपसहार

इस प्रकार काव्यचेतना के विषय में भारतीय परम्परागत चिन्तन का सन्दर्भ देते हुए जब हम श्रीअरविन्द का मूल्य, महत्व और व्यतिरेक देखते हैं तो इन सबके पीछे उनका रहस्यदर्शी आता है, उसकी शब्दावली और उसमें निहित मौलिक उद्भावनाएँ आती हैं, जो उन्हें भारतीय चिन्तन परम्परा से संयुक्त रखती हुई भी पारम्परिक काव्य-सम्बन्धी चिन्तन से उनका व्यतिरेक व्यक्त करती हैं। अपनी रेखांकित करने योग्य विशिष्ट चिन्तना के सन्दर्भ में अरविन्द के रहस्यदर्शी के भीतर से झाँकता हुआ उनका कवि काव्य पर बड़ी आस्था व्यक्त करता है। वह कहता है—"आत्मा और जीवन परस्पर विरोधी नहीं है बल्कि आत्मा की बृहत्तर शक्ति जीवन की एक बृहत्तर शक्ति ले आती है। हमारी सारी शक्तियों में से काव्य और कला इस सत्य को आलोककारी और उदारशक्ति के साथ मानवमन के लिए बोधगम्य बना सकते हैं, क्योंकि जहाँ दर्शन अपने को अमूर्तताओं में खो सकता है और धर्म असहिष्णु पर लोकवादिता तथा कृच्छता की ओर उन्मुख हो सकता है वहाँ काव्य और कला अभौतिक और मूर्त, आत्मा और जीवन के बीच जन्मजात मध्यस्थ है। आत्मा के सत्य और जीवन के सत्य के बीच यह मध्यस्थता भविष्य के काव्य के मुख्य कार्यों में से एक होगी।"[8]

अरविन्द का मानवतावाद

महर्षि अरविन्द ने 'The Human Cycle' ('मानव चक्र') शीर्षक कृति के 'मनुष्य : दास या मुक्त' शीर्षक निबन्ध में विचार करते हुए कहा है कि मानव जाति का मनोविज्ञान आज तक विज्ञान के द्वारा नहीं ढूँढ़ा जा सका है। ये भौतिकवादी

चिन्तक मन की ऊपरी क्रियाओं का ही प्रेक्षण करते हैं। लेकिन ऐसी क्रियाओं में मन बाहरी वस्तुओं से इतना अधिक घिरा हुआ होता है और उन पर इतना आश्रित होता है कि परीक्षक के लिए मन की अपनी क्रिया के उत्स का पता पा लेना मुश्किल है। यूरोपीय वैज्ञानिक इस प्रकार इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि मानसिक क्रियाओं के कारण ही बाहरी वस्तुओं की उत्प्रेरणाएँ और जब मन अपने आप में क्रियाशील दीखता है तो भी वह अपनी बाहरी वस्तुओं की पूर्वार्जित अनुभूतियों को ही मिलाता, छाँटता, एकत्र करता अथवा बनाता बिगाड़ता रहता है। मन की प्रकृति ही है पूर्व में अर्जित भौतिक अनुभूतियों की सृष्टि, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस प्रकार निश्चित ढंग से उतरती चली आयी है कि मानव विकास करता हुआ आदि मानव के अनगढ़ मस्तिष्क से बीसवीं सदी के सभ्य मानव तक बढ़ता चला आया है। इन वस्तुवादी सिद्धान्तों का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि विज्ञान के लिए सचमुच किसी ऐसे मनोमय केन्द्र का अनुमान करना मुश्किल हो गया जो मानसिक क्रियाओं का उत्स हो और इसीलिए उन्होंने विचार के भौतिक उपकरण मस्तिष्क को ही एकमात्र सच्चा केन्द्र समझ लिया है। इस भौतिकवादी दर्शन से कुछ ऐसे सिद्धान्त निकले हैं, जो मानव के नैतिक भविष्य के लिए अत्यन्त भयावह हैं। पहला यह कि मानव जड़ तत्व की सृष्टि है और उसका दास है। वह जड़ तत्व पर अधिकार केवल इसकी आज्ञा का पालन करके ही कर सकता है। दूसरा यह कि मन स्वयम् जड़ द्रव्य का एक रूप है और इन्द्रिय से स्वतन्त्र तथा उसका स्वामी नहीं है। तीसरा यह कि स्वतन्त्र संकल्प नाम की कोई चीज नहीं, क्योंकि हमारी सारी क्रियाएँ दो महान् शक्तियों से नियन्त्रित हैं—"आनुवंशिकता और परिपार्श्व। हम लोग अपनी प्रकृति के दास हैं और जहाँ हम इसकी दासता से मुक्त दिखलायी पड़ते हैं वहाँ हम इससे भी अधिक परिपार्श्व के दास होते हैं जिस पर उन शक्तियों का प्रभाव होता है जो हमारे इर्द-गिर्द हैं और हमें चलाया करती हैं।"

इस विचारधारा के अनुसार मानव अपनी सम्भावनाओं को चरितार्थ करने में स्वतन्त्र नहीं है। मानवता की अन्य समसामयिक विचारणाओं के अनुसार मानव न केवल भौतिक विकासवाद की यान्त्रिकता का ही दास है, अपितु धर्माध्यात्ममूलक नियतिवाद का भी दास माना गया है—अर्थात्, वह अपनी क्रिया में किसी भी प्रकार स्वतन्त्र नहीं है। वह जो कुछ है, सब अनिवार्यता और नियतिवश और जो कुछ होगा भी, वह अनिवार्यता और नियतिवश। भारतीय दर्शनों में पौरुष और प्रारब्ध का संघर्ष चिरकाल से चला आ रहा है तथापि लोकमान्य तिलक ने अपने 'गीता रहस्य' में यह स्पष्ट बताया है कि 'व्यक्ति' में 'आत्मा' स्वतन्त्र है और आत्मेतर परतन्त्र। आत्मेतर तत्व वह ढक्कन है जिसके नीचे आत्मा का स्वातन्त्र्यमय स्वभाव उफनता रहता है और कभी-कभी ढक्कन को हटाकर सामान्य अनुभव के धरातल पर उतरता प्रतीत होता है। अध्यात्म की ही दृष्टि से विचार करते हुए योगी अरविन्द और आगे बढ़ते हैं। उनकी धारणा है कि मानव दास नहीं, मुक्त है, स्वतन्त्र है और वह स्वयम् में निहित सारी सम्भावनाओं के चरितार्थ होने में

स्वतन्त्र है। अरविन्द के अनुसार योग हमें वस्तुवादी दर्शन के इन्हीं झूठे और भयंकर सिद्धान्तों से जो भविष्य को खतरे में डाल रहे हैं, और मानव प्रगति के विरोधी हैं, बच निकलने का उपाय देता है। यह जड़ तत्त्व से मनुष्य की स्वतन्त्रता का जोरदार समर्थन करता है और वह उपाय बताता है, जिससे मानव इस स्वतन्त्रता को अपने जीवन में बरते। योगियों का सबसे पहला बड़ा अनुसन्धान यह था कि उन लोगों ने मन और हृदय की अनुभूतियों का विश्लेषण किया। योगियों का निश्चय है कि योग के द्वारा मन को पृथक् किया जा सकता है। इसकी क्रियाओं को उसी प्रकार देखा जा सकता है जिस प्रकार अनुवीक्षण यन्त्र द्वारा सूक्ष्म चीजों को। अन्तःकरण के प्रत्येक मानसिक और नैतिक शक्ति के विभिन्न भावों के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कार्य को अलग-अलग किया जा सकता है, उसकी अलग-अलग क्रियाओं के तथा साथ ही दूसरी क्रियाओं के साथ उनके सम्बन्धों और गुणों से परखा जा सकता है और इस प्रकार अध्ययन करते हुए पीछे हटते-हटते वहाँ तक पहुँचा जा सकता है, जहाँ मानसिक क्रियाओं का उद्गम-रूप अध्यात्मतत्व है। यह सब ठीक उसी प्रकार सम्भव है, जिस प्रकार वस्तुवादी विश्लेषण द्वारा एक मूलवर्ती भौतिक तत्व तक पहुँचा गया है। योगी अरविन्द की धारणा है कि मनोमय चेतना के उस मूल केन्द्र को भी विलग किया जा सकता है और आँका जा सकता है, जहाँ सभी मानसिक क्रियाएँ एकत्र होती हैं और इसी तरह व्यक्तित्व के मूल का पता लगाया जा सकता है। उनके अनुसार इस अनुसन्धान का पहला निष्कर्ष यह है कि बाहरी तत्वों से मन अपने आपको बिलकुल पृथक् कर सकता है और स्वयम् अपने आप में अपनी शक्तियों के द्वारा क्रियाशील हो सकता है। यह भी सत्य है और सम्भव है कि वह मन हमें बहुत दूर तक न ले जाय। कारण, सम्भावना इसकी भी है कि वह जो कुछ कर रहा है पूर्वार्जित अनुभूतियों के निर्देश में ही हो। पर, दूसरा अनुसन्धान यह है कि ज्यों-ज्यों मन अपने को विषयों से अधिक मुक्त तथा अलग रखता जाता है, त्यों-त्यों यह अधिक शीघ्रता से, शक्ति से तथा निश्चयपूर्वक काम करता है। इस प्रक्रिया से उसमें एक तीव्रगामी स्पष्टता, एक विजयिनी और प्रभुत्व सम्पन्न अनासक्ति रहती है। योगी अरविन्द की धारणा है कि उन तमाम भौतिक और मनोवैज्ञानिक विरोधी तर्कों के बावजूद मन केवल बाह्य तत्व से अलग ही नहीं है, वह इसका स्वामी भी है और बाहर के उत्प्रेरकों का न केवल निराकरण कर सकता है, अपितु उनका नियन्त्रण भी कर सकता है। वे मानते हैं कि मन की उपज जड़ तत्व है, न कि जड़ तत्व की उपज मन। महर्षि यह भी कहते हैं कि योग की प्रक्रिया से मानव में निहित स्वातन्त्र्य-सिद्धि की वह सम्भावना भी अन्ततः साकार हो सकती है, जो हमारे भीतर अनन्त शक्ति , अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द का उत्स है, जो निर्बलता, अभाव और कष्ट की सारी सम्भावनाओं के बहुत ऊपर है, हम इसका स्पर्श प्राप्त कर सकते हैं। यही वह तत्व है जिसे उपनिषदें ब्रह्म कहती हैं—जिससे सब होता है और जिसमें सब विलीन होते हैं। यही भगवान् है जिसके साथ एकत्व प्राप्त करना योग का चरम उद्देश्य है। यही वह भागवत् चेतना का व्यक्ति चेतना

से चैत्यरूपान्तर, आध्यात्मिक रूपान्तर यथा अतिमानसिक रूपान्तर द्वारा एकात्म्य है। मानव में निहित अतिमानववादी समष्टि-मुक्ति की सम्भावना चरितार्थ हो सकती है और इस चरितार्थता के लिए मानव में स्वातन्त्र्य है।

श्रीअरविन्द जिस योग के माध्यम से स्वातन्त्र्य लाभ की बात करते हैं— वह पूर्णयोग है। यह योग व्यक्ति के लिए नहीं, अपितु सारी मानवता के लिए है। इस योग का अन्तिम लक्ष्य है—दिव्यजीवन की स्थापना। कहा जाता है कि व्यक्ति में इस योग का प्रारम्भ एक पुकार— आन्तरिक पुकार—से होना है। यह पुकार है अपनी चेतना के पूर्ण रूपान्तर के लिए ऊपर की ओर उठती हुई अग्नि के समान तीव्र अभीप्सा। अभीप्सा एक बेचैनी है, जो ढक्कन को फोड़कर बाहर आ जाती है। अभीप्सा और भागवत कृपा ध्वनि-प्रतिध्वनि की तरह हैं। अभीप्सा होगी तो भागवत कृपा होगी। इस कृपा के साथ ही ऊर्ध्व यात्रा प्रारम्भ होती है। इस यात्रा में दो चीजें अपेक्षित हैं -- एक तो सर्वात्मना समर्पण और दूसरे निम्नगामी प्रवाह की सर्वथा अस्वीकृति। इस यात्रा में साधक को अपनी सत्ता के विभिन्न स्तरों और केन्द्रों का ज्ञान होता जायगा। अन्ततः वह केन्द्र हृदयकेन्द्र के पीछे निहित अपनी चैत्य सत्ता को जान लेगा। चैत्य केन्द्र उसकी सारी निम्न प्रकृति को आविष्ट कर रूपान्तरित कर देगा। यात्रा के इसी क्रम में साधक अपनी सत्ता के शिखर पर देश और काल का बोध प्राप्त करेगा। इस स्तर पर पुनः आध्यात्मिक रूपान्तर होता है, किन्तु चेतना की यात्रा यहीं नहीं रुकती, वह और आगे चलती है। तब मन के ऊपर चेतना के अन्य स्तर उच्चतरमन, दीप्तमन, सम्बोधि तथा अधिमन की भूमियाँ पार करनी पड़ती हैं। अधिमन और अतिमन के बीच एक स्वर्णिम आवरण है। साधक इस आवरण को भी पार करता है। अन्ततः अतिमानस इस धरती की चेतना पर उतर आयगा, पर उसके लिए व्यक्ति ही नहीं, समूह भी अपेक्षित है। इसमें व्यक्ति और समूह दोनों के रूपान्तर की क्षमता मौजूद है। इससे व्यक्ति में सम्भावित भागवत विशिष्टता व्यक्त हो जाती है और तब वह उसे समूह में व्यक्त कर सकता है।

अभिप्राय यह है कि महर्षि अरविन्द मानव की स्वतन्त्रता में विश्वास रखते हैं और प्रत्येक प्रकार के नियतिवाद की शृंखला से मुक्ति की सम्भावना करते हैं। यह अवश्य है कि इनका मानवतावाद अध्यात्म की सम्भावनाओं का मानवतावाद है।

श्रीअरविन्द की काव्यचेतना

[भावी कविता (Future Poetry) के आधार पर]

काव्यतत्व अपरिभाषेय है

महर्षि अरविन्द साधक, योगी, रहस्यदर्शी, कवि तथा आलोचक हैं। इन विभिन्न रूपों को आत्मसात् करनेवाले उनके व्यक्तित्व ने 'काव्य' के जिस रूप का साक्षात्कार

किया है—उसे किसी परिभाषा में बाँध पाना असम्भव है, इसलिए वे काव्य को तत्वत: अपरिभाषेय बताते हैं, फिर भी उसकी कतिपय व्यावर्तक विशेषताओं के द्वारा उसे यथासम्भव स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। उनका यह प्रयास उनके 'पत्रों', 'भावी कविता' तथा अन्य प्रकीर्णक चिन्तनों में मिलता है। इन सबको संपिण्डित कर अपनी क्षमता में उसे यहाँ पुनरुपस्थापित करने का संकल्प है।

काव्य की यथासम्भव परिभाषा

श्रीअरविन्द की दृष्टि में काव्य लयात्मक आन्तरिक उक्ति है, वाणी है, जिसमें चेतना के सर्वोच्च धरातल से जीवन और जगत् का अनुभव मूल काव्यात्मक कल्पना के सहारे रूपायित होता है। यह अनुभव रचनात्मक होता है, अत: मूल स्रष्टा के अनुभव की भाँति सुन्दर और आध्यात्मिक प्रहर्ष से आपूरित होता है। इसीलिए कवि पैगम्बर, दार्शनिक और वैज्ञानिक से भिन्न प्रयोजन और पद्धति ग्रहण करता है। ऐसे कवि का काव्य मन्त्र बन जाता है। भावी जीवन के अनुरूप भावी कविता भी कुछ ऐसी ही होगी। काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भी अरविन्द की ही पंक्तियों के साक्ष्य पर यद्यपि ऊपर बहुत कुछ कहने की कोशिश की गयी है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि 'काव्य' से उनका जो समग्र आशय है, वह इन शब्दों में बाँधा जा सका है।

लयतत्व

काव्य में उक्ति या शब्द से भी पहले जो तत्व प्रभावशाली होता है—नाद, लय, अशब्दात्मक राग। श्रीअरविन्द मानते हैं कि एक विशेष दृष्टिकोण से लय, काव्यात्मक गति, प्राथमिक महत्त्व की वस्तु है, क्योंकि वह प्रथम मूलभूत अपरिहार्य तत्त्व है जिसके बिना बाकी सब चाहे उनका अन्य जो भी मूल्य हो, काव्य की सरस्वती के लिए अस्वीकार्य रहते हैं। लयात्मकता काव्य को अमरता तक प्रदान कर सकती है, अन्य मूल्यों के अभाव के बावजूद। काव्यात्मक गति या लय केवल मात्रापरक छन्द नहीं है, यह एक प्रभावी भौतिक साधन है। काव्यात्मक उपलब्धि के पूर्व लयात्मक आत्म गति का होना अनिवार्य है। यह केवल मात्रात्मक उत्तमता नहीं है, जो बाहरी कानों तक को ही आप्यायित कर विरत हो जाती है, यह वह तत्व है जो आन्तरिक श्रुति को सन्तुष्ट करती है। सर्जनात्मक आत्मा के गहनतर उद्देश्यों का प्रत्युत्तर यही देती है। श्रीअरविन्द ने विटमैन तथा कारपेण्टर की छन्दोमुक्ति जैसे आन्दोलन, जो अब रघुवीर सहाय आदि की रचनाओं में देखा जा रहा है, का विरोध किया है और आशा व्यक्त की है कि वह आन्दोलन सफल होने के योग्य नहीं है। उनका विचार है कि सूक्ष्म आवृत्तियों की व्यवस्था में रक्षित एक सन्तुलित सामंजस्य सृष्ट वस्तुओं की अमरता की नींव है और छन्दोमय गति सीधे-सादे ढंग से ऐसी सर्जनात्मक ध्वनि है जो अपनी शक्तियों के सहारे इस रहस्य के प्रति जाग्रत हो गयी है। उनका खयाल है कि आधारभूत विश्वगतियाँ इसीलिए अपरिवर्तित बनी हुई हैं, क्योंकि सृष्टि

की आत्मा ने उन्हें छन्दोबद्ध रूप में निर्मित किया है। निष्कर्ष यह कि छन्दोमय रूप से जड़ित किसी भी तरह की प्रभावी भाषा को प्रायः जोरदार ढंग से सर्वसामान्य तक के द्वारा काव्य-संज्ञा दी जाती है। और फिर उत्कृष्टकाव्य के लिए तो लयात्मक गति की उच्चतम तीव्रता अपेक्षित और अनिवार्य है ही। फिर यह भी सच है, यह लयात्मक गति काव्य का रूपाकार या उसकी छाया हो सकती है, सारतत्व नहीं। काव्यात्मक लय तब अपने उच्चतम धरातल पर पहुँचना आरम्भ कर देती है; महत्तम काव्यात्मक संचरण तब सम्भव होते हैं, जब इन शक्तियों में से किसी से भी ऊँचे उठकर और परे जाकर आत्मा अपनी सीधी माँग पेश करना शुरू करती है और किसी गम्भीरतर सन्तुष्टि के लिए आकुल होती है, जब आन्तरिक श्रवण सुनना शुरू करते हैं तब वे जाग्रत होते हैं। निष्कर्ष यह कि लय काव्यात्मक अभिव्यंजना की प्राथमिक आवश्यकता है। काव्य अपनी चरम उत्कृष्टता में 'मन्त्र' कहा जाता है—अतः यहाँ वही संगीत अपने को मन्त्र के योग्य और श्रवणीय बनाता है जो तमाम सीमाओं के बावजूद काव्योचित सम्भावनाओं को काढ़ लाता है।

लय मन्त्रात्मक काव्य का अंग तब होता है जब अपनी सीमाओं के बावजूद काव्योचित सम्भावनाओं को काढ़ लाता है।

शब्द

मन्त्रात्मक काव्य का दूसरा तत्व है—शब्द। छन्दोमय शब्द जो कि इसका माध्यम है, काव्येतर कलाओं के माध्यमों की अपेक्षा सूक्ष्म और अभौतिक है, संश्लिष्ट, लचीला और विविध व्यंजक है, इसलिए काव्यकला का यह माध्यम अनन्त सम्भावनाओं से सम्वलित है। छन्दोमय शब्द में एक सूक्ष्मरूप से संवेदनशील तत्त्व होता है इसका ध्वनि मूल्य (जो काफी अभौतिक तत्त्व है) तथा विचार मूल्य; फिर दोनों की ध्वनि और अर्थ का पृथक्-पृथक् एवम् एक साथ आत्मन् मूल्य, एक सीधी आध्यात्मिक शक्ति जो उनके लिए असीम रूप से सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है। अन्य कलाओं की अपेक्षा काव्यकला में एक विशेषता और है और वह यह कि जहाँ अन्य कलाओं में रचनाकार अपनी आँखें अपनी कला के शिल्प पर उत्सुकतापूर्वक गड़ाये रहता है, वहाँ काव्य कलाकार की सर्जना की ऊष्मा के उत्तम क्षणों में शिल्प के लिए सक्रिय स्वर को, अपेक्षित शिल्पोपयोगी सचेतन स्वर को विस्मृत हो जाने की अनुमति पा लेता है। इसका कारण यह है कि तब ध्वनिलय तथा शिल्प की पूर्णता पूरी तरह उसकी आत्मा के सहज रूप में उच्चरित होती है, जिस तरह से विश्वात्मा अपने अन्दर के गुह्य और शाश्वत शब्द की शक्ति से विश्व स्वर संगतियाँ रचता है, यान्त्रिक कार्य को प्रच्छन्न आध्यात्मिक उत्तेजना की उमड़न में होने के लिए अपनी प्रकृति के उपचेतन अंश पर छोड़ देता हुआ। यही वह उच्चतम 'वाक्' है जो चरम काव्यात्मक उक्ति है। इसीलिए कहा जाता है कि काव्य अन्ततः अपना रूप स्वयम् निर्धारित करता है—अन्य कलाएँ अपना रूप स्वयम् निर्धारित नहीं करतीं।

व्यवहार के स्तर पर शब्द विचारों के रूढ़चिह्न

साम्राज्यवाणी, भाषा का इस्तेमाल अधिकांशतः सम्प्रेषण की एक सीमित व्यावहारिक उपयोगिता के लिए करती है, यह इसे जीवन के लिए जीवन की दृष्टि से अनिवार्य या उपयोगी विचारों एवम् भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए इसका प्रयोग करती है। ऐसा करने में हम शब्दों को विचारों के रूढ़चिह्न समझते हैं, उनकी स्वाभाविक शक्ति के प्रति लापरवाही से ध्यान देने के अलावा और कुछ नहीं करते, बहुत कुछ वैसे ही जैसे हम कोई सामान्य मशीन या सरल औजार इस्तेमाल करते हैं। हम उनका ऐसा प्रयोग करते हैं कि यद्यपि वे जीवन के लिए उपयोगी हैं, पर स्वयम् जीवन से रहित हैं। जब तक हम उसमें अधिक प्राणशक्ति डालना चाहते हैं तब हमें अपने में से उधार देना पड़ता है, स्वर कम्पन से, भावात्मक वेग या प्राणिक शक्ति से, जिन्हें हम उनकी ध्वनि में इस तरह निक्षिप्त करते हैं जिससे कि रूढ़ शब्दचिह्न में कोई वह चीज भर जाय, जो स्वयम् उसमें निहित नहीं है।

शब्द अपने उद्गम काल में अधिक जीवन्त थे

श्रीअरविन्द का विचार है कि भाषा के उद्गमों को देखें तो हम पायेंगे कि न केवल शब्दों की एक वास्तविक और सजीव जिन्दगी थी, बल्कि उसके प्रति हम अपनी यान्त्रिक और नागरिक बुद्धियों से जितना सचेत हो सकते हैं उससे अधिक सचेत वह स्वयम् बोलनेवाला था। यह भाषा की आदि प्रकृति में था। उस समय वह बुद्धि के अलग-अलग विचारों के प्रतिनिधित्व करने का उतना इरादा नहीं था, जितना भावनाओं, ऐन्द्रिय सम्वेदनों, सूक्ष्म गुणों की छायाओं से युक्त व्यापक अनिश्चित मानसिक प्रभावों, ऐन्द्रिय सम्वेदनों, सूक्ष्म गुणों की छायाओं से युक्त व्यापक अनिश्चित मानसिक प्रभावों के प्रतिनिधित्व का, जिनके अनुसरण की परवाह वे नहीं करते थे। एक उदाहरण है—वृक शब्द। आज हमारे सामने 'भेड़िया' शब्द है। यह एक जानवर का अर्थबोध कराकर विरत हो जाता है, शेष विशेषताएँ हमें अपनी ओर से उद्भावित करनी पड़ती हैं। इसके विपरीत पुरातन शब्द है—वृक। इसका अर्थ है—नोचनेवाला। मूलरूप में यह मनुष्य और भेड़िया के बीच उस इन्द्रियात्मक सम्बन्ध को व्यक्त करता था, जो मनुष्य के जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव डालता था और इसने ऐसा ध्वनि के एक खास गुण के कारण किया जिसने नोचने की सम्वेदना के साथ आसानी से इसे जोड़ दिया। इसने प्रारम्भिक भाषा को एक सशक्त जीवन, एक मूर्त ओज, एक दिशा में स्वाभाविक काव्य-शक्ति अवश्य दी होगी जिसे उसने खो दिया है, चाहे यथातथ्यता, स्पष्टता या उपयोगिता को जितना ही क्यों न पा लिया हो।

खोयी हुई ताकत की अन्यतः उपलब्धि

काव्य एक तरह से पीछे जाकर दूसरे ढंग से इस मूलतत्त्व को पुनः प्राप्त करता है। ऐसा अंशतः पुरानी ऐन्द्रिय मूर्तता की जगह बिम्ब पर बल देकर और अंशतः

ध्वनि की व्यंजनात्मकता, उसकी जीवन्तता, उसकी शक्ति, उसमें सम्वाहित मानसिक प्रभाव के प्रति अधिक ध्यान देकर करता है। इसे वह बुद्धि द्वारा प्रदत्त निश्चित विचार मूल्य के साथ सम्बद्ध करता है और दोनों को एक-दूसरे से संवर्द्धित करता है। इस तरीके से वह वाक् शक्ति को बौद्धिक या प्राणिक से ऊपर अनुभव के उच्चतर प्रसार की सीधी अभिव्यक्ति तक ले जाने में साथ-ही-साथ सफल होता है। क्योंकि यह शब्द के निश्चित बौद्धिक मान को ही नहीं उभारता, उसकी सम्वेगात्मक और सम्वेदनात्मक शक्ति को ही नहीं, उसकी प्राणिक व्यञ्जना को ही नहीं, बल्कि इनके द्वारा और इनसे परे शब्द की आत्मन् व्यंञ्जना को, उसके अध्यात्म को भी। अतः काव्य शब्द द्वारा सम्वाहित सीमित बौद्धिक अर्थ से परे असीम अर्थों के संकेत तक पहुँचाता है। यह आदिम शब्द की तरह न केवल मानव की प्राण-आत्मा को व्यक्त करता है, न केवल बुद्धि के विचारों को, जिस उद्देश्य को वाणी अब पूरा करती है, बल्कि हम कह सकते हैं कि मानव को उच्चतर, व्यापकतर आत्मा के अनुभव, विज़न और विचारों को अभिव्यक्त करता है।

मन्त्रात्मक वाणी का वैशिष्ट्य

भाषा के सम्बन्ध में कवि का विशेषाधिकार सामान्य से परे जाना है और वाणी के उस गहन प्रदीप को—इस स्फुटित शब्द और चरम अपरिहार्य उक्ति को खोजना है जिसमें दिव्य छन्दोमय गति की एकान्विति, हमारे भीतर की आत्मा के निर्झर स्रोतों से सीधी उमड़ती हुई, अर्थ की गहराई एवम् अनन्त व्यञ्जनाओं की शक्ति के साथ मिलती है। वह उन्हें सदैव या प्राय: नहीं भी प्राप्त कर सकता, पर उसकी खोज करना उसकी उक्ति का विधान है और जब वह न केवल इसे पा सकता है वरन् गहनता से उद्घाटित अध्यात्म के सत्य को इसमें डाल देता है, तो वह मन्त्र उच्चरित करता है।

नीचे के करण जब आत्मा के प्रति सर्वथा समर्पित हो चुके हों

चाहे खोज या प्रयत्न का स्तर हो या प्राप्ति और उपलब्धि—सदैव काव्य की समस्त शैली और लय ऐसी अभिव्यक्ति और गति है जो एक साथ आध्यात्मिक उत्तेजना के द्वारा हमारे अन्दर से निःसृत होती है--वह उत्तेजना आत्मा में एक विज़न द्वारा उत्पन्न होती है जिससे मुक्त होने के लिए वह उत्सुक रहती है। यह विज़न प्रकृति, प्रभु, मानव, प्राणियों के जीवन या वस्तुओं के जीवन किसी का भी हो सकता है, यह शक्ति और कर्म का विज़न हो सकता है या इन्द्रिय ग्राह्य सौन्दर्य का या विचार के सत्य का। इतना पर्याप्त है कि देखनेवाली सत्ता आत्मा ही हो और आँख सम्वेदनमय हृदय तथा विचारात्मक मन आत्मा के निश्चल यन्त्र हों। तब हमें असली ऊँचा काव्य मिलता है।

शब्द के दो पक्ष—बाह्य तथा आन्तरिक

असल में शब्द के दो पक्ष हैं—एक बाह्य स्वर रचनात्मक और दूसरा अन्तरतम मनोवैज्ञानिक पक्ष। जहाँ तक प्रथम पक्ष का सम्बन्ध है, जिन शब्दों को हम अपनी भाषा में प्रयुक्त करते हैं, वे महज भौतिक ध्वनियाँ प्रतीत होते हैं, जिससे मन की एक युक्ति ने कुछ खास वस्तुओं और विचारों और बोधों को प्रस्तुत करवाया है, एक ऐसी मशीनरी जो शायद अपने उद्‌भव में स्नायविक रही है लेकिन विकसित होती हुई बुद्धि के द्वारा निरन्तर सूक्ष्मतर और जटिलतर प्रयोगों के लिए विकसित की गयी है। जहाँ तक एक दूसरे पक्ष का सम्बन्ध है, हम पाते हैं कि जो चीज भाषा को बनाती है और उसे उसकी सप्राणता, अपील और महत्त्व प्रदान करती है, वह एक सूक्ष्म सचेतन शक्ति है जो ध्वनि की देह को अनुप्राणित करती है और उसकी आत्मा है, यह अतिचेतन परा प्रकृति शक्ति है, जो हमारे अवचेतन के अन्दर से सामग्री उठाती है—लेकिन मानवमन में अधिकाधिक सचेतन होते हुए उठाती है, उस मन में, जो अपने को भाषा में आधारभूत तरीके से, पर फिर भी वैविध्यसहित विकसित करता है। यही वह ऊर्जा है, वह शक्ति है, जिसे प्राचीन वैदिक मनीषियों ने 'वाक्' की संज्ञा दी, रचनात्मक भाषा की देवी और तांत्रिक अन्तर्मनोवैज्ञानिकों ने माना कि यह शक्ति हममें विभिन्न सूक्ष्म स्नायविक केन्द्रों के माध्यम से अपनी ऊर्जा के उच्च से उच्चतर धरातलों पर कार्य करती है और इस तरह से शब्द के सत्य एवम् विज्ञन की अभिव्यञ्जनात्मक शक्तियों की क्रमोन्नतता होती है। भाषा की शक्ति को, विभिन्न भाषाओं के इस विचार को, ऐसी शक्ति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जिसकी भारी उपयोगिता है, प्रत्येक अलग-अलग विशेषता से युक्त तथा अलग पहिचाने जाने लायक है—इसीलिए तान्त्रिक वर्गीकरण के किसी एक स्तर को पहचाना जा सकता है, 'पश्यन्ती' अर्थात् दर्शी शब्द शक्ति की उस मात्रा का विवरण है जिस तक अपने को उठाने के लिए काव्यमन का आह्वान किया जाता है और जो इसकी अभिव्यञ्जना के लिए मूल और निजी है। गद्य भाषा की विशिष्ट शब्द शक्ति की मात्रा आमतौर से प्रत्यात्मक बुद्धि के लिए, वस्तुओं को बिलगाने और वर्णित करने के लिए इस्तेमाल की जाती है, कवि का शब्द देखना है और अपने काव्य और बिम्ब में आन्तरिक लयात्मक श्रुति से जाग्रत मन की सूक्ष्म चाक्षुष अनुभूति को आत्मा तथा वैचारिक अनुभव के सत्य और इन्द्रिय तथा जीवन के सत्य को, विचार और वस्तु की आध्यात्मिक और सजीव वास्तविकता को प्रस्तुत करता है। मतलब यह कि साधारण भाषा समझनेवाली बुद्धि से उपजती है जबकि काव्योक्ति का स्वामी दर्शी मन होता है।

विज्ञन की सच्ची देह—काव्यभाषा

कवि आध्यात्मिक शक्ति की एक उत्तेजना से सर्जना करता है, जिसका मन्त्र या साधन उसका मन है और उसके अन्दर तथा दूसरों में उसकी सम्वेद्यता किसी बौद्धिक परीक्षण से नहीं आती, बल्कि आध्यात्मिक अनुभूति से आती है। कवि को

यही बताना चाहिए कि जो शब्द आ रहा है वह उसके विज़न की सच्ची देह है या उसे उस दूसरे शब्द को खोजना या उसका इन्तजार करना है जो उसके विज़न की सही-सही प्रभावी, प्रकाशी, स्फुरित या अनिवार्य उक्ति है।

पश्यन्ती भाषा के विभिन्न स्तर

पश्यन्ती भाषा के विज़न की शक्ति और विज़न की अभिव्यक्ति के विभिन्न स्तर होते हैं। पहली और सरलतम शक्ति एक स्पष्ट 'काव्यात्मक उपयुक्तता' तक सीमित है और अपने निम्नतम रूप में गद्यकथन से इसे अलग करना मुश्किल है। दूसरी शक्ति, अपनी तीव्रताओं में इस जमीन और पूर्ण उपयुक्तता से परे जाने की कोशिश करती है, ज्यादा समृद्ध और ज्यादा सशक्त अभिव्यंजना का प्रयास करती है, न केवल काव्यात्मक विज़न की दृष्टि से सही और उपयुक्त बल्कि सक्रिय और प्रबल रूप से प्रभावी।

काव्यात्मक वाणी का स्रोत 'अतिमानस'

काव्य की वाणी हमसे ऊपर के प्रदेश से आती है, हमारी सत्ता के ऐसे धरातल से जो हमारी व्यक्तिगत बुद्धि के ऊपर और उससे परे है, एक 'अतिमानस' (Super Mind) से जो वस्तुओं को किसी आध्यात्मिक तादात्म्य के द्वारा अन्तरतम और विशालतम सत्य में और देदीप्यमान प्रभा और आह्लाद सहित देखता है तथा उसकी सहजात भाषा ऐसा उद्‌भाषित, स्फुरित सम्बुद्ध शब्द है और जो इस आह्लाद और प्रभा के ऐश्वर्य से सुस्पष्ट और सूक्ष्मतर झंकृत या सघन रूप से भरा हुआ है। स्फुरित शब्द, जैसा कि पुराने जमाने में वैदिक ऋषियों ने कहा था—'सदनाद् ऋतस्य'। यह एक श्रेष्ठतर सत्ता का ऊँचा और निजी धरातल है, जो सामान्य बोध और बुद्धि के लघुतर सत्य द्वारा छिपाए गये वास्तविकता के प्रकाश को धारण करता है। अर्थात् काव्यात्मक शब्द आत्मा का यन्त्र है। इस प्रकार उक्ति विशेष रूप काव्य का कवि मनुष्य की आत्मा को उसके तईं अभिव्यक्ति करता तथा जो कुछ भी सौन्दर्य की शक्ति वह देखता है उसे अपने (शब्द) में मूर्तिमान करता है।

कवित्व के उपादान और रचना-प्रक्रिया

काव्यरचना के सन्दर्भ में श्रीअरविन्द ने 'कल्पना', 'स्फुरण', 'प्रतिभा', 'विज़न' और इन सबके उत्स पर भी विचार किया है। काव्य की रचना प्रक्रिया से सम्बद्ध 'प्रेरणा' का भी उल्लेख मिलता है। उल्लेख तो काव्य के पाँच सूर्यों अर्थात् महत्त्वपूर्ण तत्वों—जीवन, आत्मा, सत्य, सौन्दर्य और आनन्द—का भी मिलता है। असल में काव्य एक अखण्ड और समन्जस रूप है। इसीलिए वे स्थान-स्थान पर कहते हैं—''मन्त्र, जो गहनतम आध्यात्मिक वास्तविकता की काव्यात्मक अभिव्यंजना है, तभी सम्भव होता है जब काव्यात्मक वाणी की तीन उच्चतम तीव्रताएँ मिलती हैं और नीरक्षीरवत् एक हो जाती हैं—लयात्मक गति की उच्चतम तीव्रता, शब्दरूप,

विचारतत्त्व, शैली की उच्चतम तीव्रता और आत्मा की सत्य दृष्टि की उच्चतम तीव्रता।" इसी तरह अन्यत्र भी सामंजस्य की बात करते हुए उन्होंने लिखा है—"इसलिए काव्य अपने को सबसे ज्यादा तब प्राप्त करेगा और तब अपने उत्तराधिकार में सबसे पूर्णता सहित प्रवेश करेगा जब यह उनके सबसे अद्‌भुत और विपुल माधुर्य तथा प्रकाश और शक्ति में इन पाँच—सत्य, आत्मा, जीवन, सौन्दर्य तथा आनन्द—चीजों के सम्पन्नतम सामंजस्य पर पहुँचेगा। लेकिन यह पूरी तरह से तभी हो सकता है जब यह विज्ञन के उच्चतम गगनों से गान करें और हमारी सत्ता के व्यापकतम विस्तारों के बीच प्रसारित हो।"

चेतना के प्रत्येक स्तर पर इन शक्तियों को पाया जा सकता है

ये शक्तियाँ हर सोपान पर अधिकृत की जा सकती हैं, क्योंकि अपने आरोहण के चाहे जिस भी स्तर पर हम खड़े हों, आत्मा, मनुष्य की दिव्य परमसत्ता सदैव वहाँ पर है और वह अपने सारे देवरूपों को चाहे जिस भी रूप में सम्वाहित करती हुई अभिव्यक्ति की प्रबल ज्वाला में फूट सकती है और काव्य तथा कला के वे साधन हैं जिनके द्वारा वह इस तरह से अपने को अभिव्यक्ति में मुक्त करती है।

सौन्दर्य और आनन्द

सौन्दर्य और आनन्द ये भी आध्यात्मिक वस्तुएँ हैं और ये अन्य तीनों (जीवन, सत्य तथा आत्मा) के माधुर्य, रंग और ज्वाला का मर्म ही निचोड़ लाते हैं। सत्य और जीवन अपनी पूर्णता तब तक नहीं प्राप्त करते जब तक कि वे आनन्द की सम्पूर्णताकारी शक्ति और सौन्दर्य की **असीम** शक्ति से ओत-प्रोत नहीं हो जाते एवम् उनसे भर नहीं जाते और अपनी ऊँचाइयों पर इस सम्पूर्णताकारी रंग और अपने इस गोपन सारतत्त्व से एकमेव नहीं हो जाते—इन दो सन्तोषप्रद उपस्थितियों के बिना आत्मा का पूर्ण उद्‌भासन नहीं होता। प्राचीन भारतीय विचार नितान्त सत्य है कि आनन्द मुक्त सत्ता का सबसे अभिव्यंजक और रचनात्मक स्वभाव है क्योंकि यह आत्मा की मूल सत्ता का बिलकुल सारतत्त्व है। लेकिन सौन्दर्य और आनन्द, कला और काव्य की निजी आत्मा और मूल उत्स हैं। कला और काव्य का महत्त्व और उनका आध्यात्मिक कार्य इसमें है कि वे मनुष्य को शुद्ध आनन्द में मुक्त कर दें और उसके जीवन में सौन्दर्य लायें। सिर्फ बाकी अन्य सारी चीजों की तरह यहाँ पर भी क्रमिक धरातल और ऊँचाइयाँ हैं तथा आनन्द और सौन्दर्य के उच्चतम प्रकार हैं जो उच्चतम सत्य जीवन की पूर्णता और आत्मोद्‌भासक आत्मा के पूर्णतम आह्लाद से एकाकार हैं।

विज्ञन

कविता तीन शक्तियों की सीधी पुकार पर अस्तित्व में आती है—स्फुरण, सौन्दर्य और आनन्द; और स्फुरित लयात्मक शब्द के जादू भरे आकर्षण से उन्हें हमारे पास

ले आती है तथा हमें उनके पास ले जाती है। काव्य के लिए मूलक आध्यात्मिक उत्तेजना अनिवार्य है, सामग्री का आत्मा के रस में डूबकर स्वतः स्फूर्त ढंग से व्यक्त होना स्वाभाविक है—'विज़न' का दबाव आवश्यक है। विज़न कवि की विशिष्ट क्षमता है।

काव्य का व्यतिरेक—दर्शन और विज्ञान आदि से

काव्य का कार्य किसी खास तरह का उपदेश देना नहीं है, खास तरह क्या, कोई भी उपदेश देना नहीं है, न ही ज्ञान का अनुसरण करना है, न किसी धार्मिक या नैतिक लक्ष्य की सेवा, बल्कि शब्द में सौन्दर्य को मूर्तिमान करना और आनन्द प्रदान करना है। आत्मा और जीवन परस्पर विरोधी नहीं हैं, बल्कि आत्मा की बृहत्तर शक्ति जीवन की एक बृहत्तर शक्ति ले आती है। हमारी सारी शक्तियों में से काव्य और कला इस सत्य को आलोककारी और उदारशक्ति के साथ मानवमन के लिए बोधगम्य बना सकते हैं, क्योंकि जहाँ दर्शन अपने को अमूर्तताओं में खो सकता है और धर्म असहिष्णु परलोकवादिता तथा कृच्छ्रता की ओर उन्मुख हो सकता है, वहाँ काव्य और कला अभौतिक और मूर्त आत्मा और जीवन के बीच जन्मजात मध्यस्थ है।

कवि दार्शनिक, पैगम्बर या उपदेशक नहीं है

कवि ऋषि अलग ढंग से देखता है, दूसरे ढंग से सोचता है तथा दार्शनिक या पैगम्बर की अपेक्षा अपने को काफी दूसरे ढंग से मुखरित करता है। पैगम्बर सत्य को ईश्वरीय वाणी या उसके आदेश रूप में उद्घोषित करता है, वह सन्देश वाहक है, कवि सत्य को उसकी सौन्दर्यमयता में हमें दिखाता है, उसके प्रतीक या बिम्ब में, या उसे हमारे लिए प्रकृति की, जीवन की प्रक्रियाओं में उद्घाटित करता है और जब वह उसे कर चुकता है तब उसका सारा कार्य समाप्त हो जाता है, उसे सत्य के प्रत्यक्ष दूत होने की कोई जरूरत नहीं। दार्शनिक का कार्य सत्य का विवेक करना है और इसके अंशों या पार्श्वों को एक दूसरे के बौद्धिक सम्बन्ध में रखना है, कवि का कार्य सत्य के पार्श्वों को उनके जीवन्त सम्बन्धों में पकड़ना और मूर्तिमान करना है क्योंकि यह भाषा का बहुत ही दार्शनिक रूप हो गया—उसके रूपाकारों को देखना तथा उस विज़न से उत्तेजित होकर उसकी प्रतिभा के सौन्दर्य में रचना है।

निःसन्देह एक पैगम्बर में कवि हो सकता है और वैसे ही एक दार्शनिक में भी। ये लोग अपने घोषित सत्य अथवा अपूर्णताओं के सूखे पथ को कविता के कुछ प्रशमनकारी वर्ण एवम् बिम्बों से सींच सकते हैं और अलंकरण रूप में इन सबका प्रयोग कर सकते हैं पर यह सब उसके कर्त्तव्य के विषय-वस्तु नहीं हैं—और अगर पैगम्बर और दार्शनिक इन्हें विषय-वस्तु बना लेते हैं तो फिर वे—वे नहीं रह जाते। दार्शनिक एक खास तरह से सोचता है—दिमाग से, कवि द्रष्टा की आँख से देखता है—'कवयः सत्यश्रुताः'। दार्शनिक का सम्बन्ध चिन्तन से है और कवि का 'विज़न'

से। आध्यात्मिक प्रत्यक्ष, विज्ञन, सम्बोधि—सब पर्याय हैं—परस्पर।

काव्य का सत्य और उसमें महत्व के आधायक तीन तत्व

काव्य का क्षेत्र समस्त आत्मन् अनुभव है और सत्ता का या संसार का जो कुछ भी आत्मा को छूता है उसके लिए आत्मा की सौन्दर्यबोधी संवेदना के प्रति इसकी अपील होती है। यह हमारे आन्तरिक जीवन की सुन्दर शक्तियों में से एक है और हमारे बाह्य जीवन की भी शक्ति हो सकता है। सत्ता का समस्त असीम सत्य जो उस जीवन का अंग बनाया जा सकता है, उस अनुभव के लिए जो कुछ भी सत्य और सुन्दर एवम् सप्राण बनाया जा सकता है—वह काव्य सत्य है और काव्य के लिए उचित विषय-वस्तु है। लेकिन इसमें तीन ऐसी चीजें होतीं हैं जिनसे इसकी शक्ति का तारतम्य निर्धारित होता है। पहली है स्फुरित दृष्टि की एक शक्ति—जो हमें आत्मा, मन या संसार की अपील प्रदान करती है, चाहे इस भौतिक क्षेत्र में या वैश्य अस्तित्व या स्वयम् हमारी सत्ता के दूसरे धरातलों पर, जिसके प्रवेश द्वारों में से एक द्वार कल्पना है, ऐसा दर्शन जो उसके सत्य **और** उसकी प्रतिभा शक्ति को हम तक ले आता है एवम् शब्द के द्वारा मन में उसे देह प्रदान करता है। दूसरे, फिर उसमें स्वयम् जीवन का स्पर्श उपस्थिति, प्राण होना चाहिए, केवल बाह्य नहीं, बल्कि आन्तरिक जीवन का, किसी बाह्य गति या प्रकृति के रूप का वाणी की शक्ति के द्वारा अनुकरण नहीं या उनका दर्पजनित प्रतिबिम्ब नहीं वरन् एक सर्जनात्मक निवृत्ति जो कुछ भी प्रकृति है, हम हैं, वस्तुएँ हैं, उसके यथासम्भव ज्यादा-से-ज्यादा अंश को हमारे लिए बोधगम्य बनाती है। और फिर, तीसरे, उसे आत्मा पर इसके स्पर्श की भावना को अपने में संवाहित करना चाहिए तथा हममें जगाना चाहिए, प्राणिकी अंशों की भावना न हों, यद्यपि वह कई तरह की कविता में घुस पड़ती है—वरन् भावना का एक आध्यात्मिक सारतत्त्व जिससे हमारे आन्तरिक तार झंकृत हो सकें।

कल्पना और उसका कार्य

उपर्युक्त तीनों चीजों को मुयस्सर कराने में केवल एक साक्षात् आध्यात्मिक प्रत्यक्ष बोध और विज्ञन, जिसे हम सम्बोध भी कहते हैं—समर्थ है। इस (मुयस्सर कराने में) खोज और निवृत्तिकारी विज्ञन के लिए सिर्फ कल्पना कवि की सबसे सशक्त सहायिका है, फैंसी छिपे हुए अथवा रास्ते से अलग पड़नेवाले द्वारों की प्रतिभाशाली उद्घारिका है। किसी नये बिम्ब को पाना ही कवि और श्रोता के लिए एक आनन्द है, क्योंकि वह कोई नवीन महत्त्वपूर्ण साम्य उद्घाटित करता है या दृश्य वस्तु पर प्रबलतर उद्भासी प्रकाश उँड़ेलता है और उसे मन में ज्यादा वैभवपूर्ण रूप में, उज्ज्वल रूप से उससे ज्यादा आनन्द सहित उभारता और जीवित कराता है। जो चीज सतही अनुभव में जाहिर नहीं है उसे, सामान्य वस्तुओं तक में, बोधगम्य बनाने की वजह से कवि बिम्ब प्रतीक का उपयोग करता है, जो कुछ भी उपयुक्त

सुन्दर, अर्थपूर्ण और व्यंजक है—उसका। उसकी मानसिक कल्पनाएँ आकर्षक वायवी शून्यताएँ नहीं हैं, बल्कि जैसा कि हर कलाकार के साथ होता है, महत्वपूर्ण प्रतिमाएँ और सर्जनाएँ हैं जो अत्यन्त वास्तविक वास्तविकताओं की आत्मा के समीप ले आती हैं और उनकी अमरता सत्य की अमरता है। इसी अर्थ में श्रीअरविन्द काव्यसत्य के सूर्य की बात कह सकते हैं जिसके विश्वजनित प्रकाश में कवि सर्जना करता है।

कल्पना के विभिन्न स्तरीय रूप और काव्य कल्पना

कल्पना तरह-तरह की होती है—1. वस्तुवादी कल्पना जो जीवन और वस्तु के बाहरी पक्षों को सशक्त रूप से उजागर करती है। 2. आभ्यन्तरिक कल्पना उन मानसिक और भावनात्मक प्रभावों को प्रबल रूप से प्रत्यक्ष करती है जिन्हें वे मन में जगाने की शक्ति रखते हैं, 3. वह **कल्पना** जो मानसिक मनगढ़न्त कल्पनाओं की क्रीड़ा से सम्बोधित है और जिसे हम काव्यात्मक फैंसी का नाम देते हैं, 4. **सौन्दर्य बोधी कल्पना**, जो शब्दों और बिम्बों में स्वयम् उसके खातिर आनन्द लेती है और आगे नहीं देखती। इन सबका काव्य में स्थान है, पर वे कवि को सिर्फ उसके उपादान देते हैं, वे काव्य शैली की रचना के केवल प्राथमिक यन्त्र हैं। **मूल काव्यात्मक कल्पना** बाह्य या आन्तरिक वस्तुओं की सबसे सूक्ष्म प्रतिकृतियों तक भी रुकती नहीं, फैंसी की सम्पन्नतम या कोमलतम क्रीड़ा या शब्द अथवा बिम्ब की सबसे सुन्दर रंगावर कतई नहीं, यह रचनात्मक होती है, न केवल वास्तविकता और काल्पनिकता की, पर अधिकतर और अधिकतम वास्तविकता की, यह वस्तुओं के आध्यात्मिक सत्य को देखती है। इस सत्य के भी कई स्तर हैं, जो अपने आरम्भ बिन्दु के लिए या तो वास्तव या आदर्श को ले सकती है। सभी सच्ची कला की भाँति काव्य का उद्देश्य प्रकृति की न तो फोटोग्रेफिक—प्रति चित्रात्मक—न दूसरे तरह से यथार्थपरक नकल है, न ही उसकी प्रतिमा का रूमानी चमकाना और रँगना अथवा आदर्शवादी संशोधन है बल्कि उस चीज की उन बिम्बों के द्वारा, जिन्हें प्रकृति स्वयम् अपनी रचना के एक नहीं अनेक धरातलों पर हमें प्रदान करती है, विवृत्ति करना है जिसे वह हमसे छिपाती है, लेकिन ठीक तरह से 'एप्रोच' करने पर उद्घाटित करने के लिए तैयार है। काव्य का यही वास्तविक लक्ष्य है।

काव्य और जीवन

सत्य का विज्ञन कवि की सर्जना को प्रबुद्ध करनेवाली शक्ति है और इसे परिचालित करनेवाली शक्ति सौन्दर्य और आनन्द है, लेकिन इसकी संयोजक शक्ति एवम् जो चीज इसे महान् और महत्त्वपूर्ण बनाती है, वह जीवन का प्रश्वास है। कोई काव्य जो सिर्फ विचार है जीवन नहीं, अथवा एक ऐसा विचार जो जीवन के स्रोतों के साथ सतत सम्पर्क नहीं रखता और अपने को उससे ताजा नहीं करता, वह चाहे निपुण पद्य में सशक्त, सोफियाना, या सुसंस्कृत दार्शनिकीकरण या नैतिकीकरण से ज्यादा

कोई चीज भी हो, चाहे उसमें विज्ञन या बौद्धिक सौन्दर्य भी क्यों न हो, वह सदा ज्वाला और मूर्तता की कमी से पीड़ित रहता है, उसमें पकड़ की कमी रहती है और आकर्षित करने तथा ऊँचा उठाने के साथ ही मधुर बनाने और आलोकित करने के लिए आन्तरिक सत्ता को पूरी तरह से अधिकृत नहीं करता, जैसा कि काव्य को करना चाहिए और सारी महत् काव्य-रचना करती है। महत्काव्य वह है जो अपने उत्तमात्मक रूप में आत्मा तक पहुँचता ही नहीं, उसमें डूब जाता है।

स्वतःस्फूर्त रूप विधान की प्रक्रिया

बुद्धि, कल्पना और श्रवण न तो काव्यानन्द के सच्चे ग्रहीता हैं, न ही सच्चे रचयिता—वे केवल माध्यम और यन्त्र हैं। सच्ची सर्जक और सच्ची श्रोता आत्मा है। अन्य सब सम्प्रेषण का जितना क्षिप्र और पारदर्शी कार्य करते हैं, जितना कि कम वे अपनी अलग सन्तुष्टि का अधिकार माँगते हैं—उतना ही काव्य का महत् बढ़ता है। महत्, काव्य में रूप-विधान भावना को न तो निर्धारित करता है, न उद्भासित, वरन् भावना अपने में से रूप-विधान तथा शब्द का निर्माण करती है और ऐसा वह इतने असन्दिग्ध अन्वेषण के साथ करती है कि अगर हम उसमें एक बार भी डूब सकें और दुरूह एवम् युक्तिकारी बुद्धि के बहुत ज्यादा हस्तक्षेप के बिना उसमें से रच सकें तो उनकी गति उतनी ही सहजरूप से अनिवार्य बन जाती है, जितनी निश्चेतन प्रकृति की गतियाँ और उनका साँचा, विन्यास में उतना ही पूर्ण जितना निश्चेतन प्रकृति की जादुई संरचना में। प्रकृति पूर्णता सहित रचती है, क्योंकि वह सीधे जीवन में से रचना करती है और बौद्धिक रूप से सचेत नहीं है, आत्मा पूर्णता सहित रचेगी, क्योंकि यह सीधे सत्ता में से रचना करती है और सहजतापूर्वक अतिबौद्धिक रूप से आत्म सचेतन है।

जीवन के प्रति कला के विचित्र दृष्टिकोण

जीवन के प्रति कला का क्या दृष्टिकोण होना चाहिए? इस सम्बन्ध में निरन्तर भेद-प्रभेद किये जाते रहे हैं जैसे, आन्तरिक या वस्तुपरक निरूपण अथवा यथार्थ-वादी या आदर्शवादी दृष्टि की आवश्यकता, जो स्पष्ट करने के बजाय भटकाते ज्यादा हैं। कोई कवि मूर्त के प्रस्तुतीकरण में और कोई आभ्यन्तरिक स्वच्छन्द विचरण में समर्थ होता है और इस तरह अंशतः वजनी दोनों हैं, लेकिन मात्र वस्तुपरकता हमें कला से फोटोग्राफी पर उतार लाती है, आभ्यन्तरिकता को घटाते-घटाते शून्य तक ला देना विज्ञान के लिए उचित है—कविता के लिए नहीं। श्रीअरविन्द, काव्य के लिए इस दृष्टिकोण को घातक मानते हैं। वे कहते हैं कि इससे किसी महत्तर सत्य या वास्तविकता के मिलने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। कारण कि वस्तुओं का वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण अपने क्षेत्र में चाहे कितना ही औचित्यपूर्ण क्यों न हो, अन्यत्र, पर आत्मा के प्रति सच्चा नहीं है, निश्चय ही पूर्ण सत्य या वस्तुओं की सम्पूर्ण दृष्टि नहीं है, क्योंकि यह केवल उनकी प्रक्रिया, मशीनरी और यान्त्रिक

नियम देता है पर उनका आन्तरिक जीवन और आत्मा नहीं। यथार्थवादी सिद्धान्त की यही त्रुटि है। यथार्थवादी कला हमें जीवन की वैज्ञानिक रूप से यथातथ प्रस्तुति नहीं देती और न दे सकती है। कला विज्ञान नहीं है और न हो सकती है। जो यह करती है वह होता है विशिष्ट रूपों, लक्षणों और रंगों का निरंकुश रूप से चयन करना—कभी भोथरे, काले, मटमैले, भूरे, गन्दे, सफेद और कड़वे पीले का…।

आदर्शवादी कला भिन्न रूप से चुनती है और या तो शक्ति अथवा सौन्दर्य की कोई वस्तु उत्पन्न करती है अन्यथा एक झूठा और विकृत दिवास्वप्न। इन विभेदों में कोई सुरक्षा नहीं है, न ही कवि के लिए कोई नियम निर्धारित किया जा सकता है, क्योंकि वह जो कुछ होता है और जो देखता है उसी से उसे अवश्यमेव परिचालित होना चाहिए सिवाय इसके कि उसे अपने भीतर के जीवन्त काव्यकेन्द्र से कार्य करना चाहिए और अपने को कृत्रिम दृष्टिकोणों में निर्वासित नहीं करना चाहिए।

काव्य की मूलशक्ति उसकी आत्मन् दृष्टि है

काव्य की मूलशक्ति उसकी 'दृष्टि' में है, उसके बौद्धिक विचार वस्तु में नहीं और उसकी यह फूजियन विज़न के इस मूल सिद्धान्त का पालन करने एवं उसके प्रत्यय, विचार, भाव, प्रस्तुतीकरण, संरचना को उसी में से उठने देने या अपना अन्तिम रूप लेने के पूर्व उसमें उठने को मजबूर करने में है। जीवन का काव्यात्मक विज़न उसकी आलोचनात्मक या बौद्धिक या दार्शनिक दृष्टि नहीं है, बल्कि एक आत्मन् दृष्टि है—अन्तर्बोध के द्वारा पकड़ है और मन्त्र अपने विषय-वस्तु या रूपाकार में किसी दार्शनिक सत्य का काव्यात्मक प्रतिपादन नहीं है, बल्कि आत्मा की दृष्टि में से उठता हुआ ईश्वर, प्रकृति, जगत् और अन्तःसत्य का जो बहिःदृष्टि के लिए गुप्त क्रियात्मक है—जो कुछ भी उसमें बना है—उनके जीवन और सत्ता के रहस्यों का लयात्मक उद्भासन और सम्बोधि है।

रचना की सफलता का रहस्य

कवि के लिए एक ही चीज आवश्यक है कि वह अपने द्वारा प्रयुक्त शब्द या बिम्ब अथवा अपने द्वारा दृष्ट वस्तुओं के रूप का अतिक्रमण कर सकने में सक्षम हो, उनसे बद्ध नहीं, बल्कि उस प्रकाश में प्रवेश कर सके जिसको उद्घाटित करने की क्षमता उनमें है और उन्हें उस प्रकाश से तब तक आप्लावित कर सके जब तक कि वे उससे उमड़ने न लग जायें अथवा यहाँ तक कि अपने को उद्भासन में खो देती हुई और उसमें विलीन होती हुई प्रतीत न होने लगें। उच्चतम रूप में कवि स्वयं दृष्टि में विलीन हो जाता है, द्रष्टा का व्यक्तित्व विज़न की शाश्वतता में खो जाता है और अकेले ही सबकी आत्मा ही वहाँ अपने रहस्यों को परम रूप से कहती हुई प्रतीत होती है।

आनन्द अस्तित्व की आत्मा है, सौन्दर्य आनन्द का तीक्ष्ण प्रभाव और घनीभूत रूप है और ये दो मूल वस्तुएँ कलाकार और कवि के मन में एक हो जाने की ओर उन्मुख होती हैं—यद्यपि वे हमारे अनगढ़ प्राणिक और मानसिक अनुभव में प्रायः काफी अलग-अलग रहती हैं। ये जुड़वाँ शक्तियाँ कवि के कर्त्तव्य में मिलती हैं और उसकी पूर्ण स्वर संगति का सुरीलापन उत्पन्न करती हैं, एवं वे कवि द्वारा सेवित प्रथम देवता हैं, बाकी सारे उनके चारों ओर इकट्ठा होते हैं—आनन्द की आत्मा और सौन्दर्य के विशेषाधिकार में प्रवेश पाने की चेष्टा करते हैं और वे उनके साथ सम्मोहक एवं आकर्षक एकता में घुल सकें—इसके पूर्व उन्हें अपने को स्वीकृत किये जाने योग्य बनाना पड़ता है। कवि के लिए सौन्दर्य और आनन्द का चन्द्र सत्य के सूर्य और जीवन के प्रश्वास से भी बड़ा देवता है। आत्मा की पर्याप्त गहन और अन्तरंग अनुभूति सौन्दर्यबोध और आनन्दानुभूति का स्रोत है।

सारी वस्तुओं में और सारे अनुभवों के पीछे एक गहन सहजात आनन्द और सौन्दर्य होता है—सतही मन के लिए चाहे जो भी मुखौटा वह पहने, जो इसे हमारे अन्दर निवसित आत्मा के लिए उसकी प्रथम प्रतीति से भिन्न बना देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसे अब मानसिक दिलचस्पी, दुख-सुख उत्तेजित करनेवाली चीज न बनाकर सत्ता के सत्य, शक्ति और आनन्द का उद्भासन बनाता है और उसकी अनुभूति को पुराने दार्शनिक विचारकों के विश्वव्यापी आनन्द का एक रूप बना देता है—प्रशान्त, फिर भी स्पन्दित आह्लाद, जिससे संसृति की आत्मा अपने को तथा अपनी रचना को अनुभव करती है। यह गहनतर आध्यात्मिक अनुभूति, यह आनन्द काव्यानन्द और काव्य-सौन्दर्य का उत्स है। यह अनुभव के चरम सारतत्व के एक परम सौन्दर्यबोध से निःसृत होता है जो अपने निजी स्वभाव में आध्यात्मिक, निर्वैयक्तिक होता है। मन की व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं और आवेगों से स्वतन्त्र है, इसीलिए कवि पीड़ा और दुख तथा सबसे कारुणिक, भयंकर और वीभत्स वस्तुओं को भी काव्य सौन्दर्य के रूपों में बदलने में सक्षम होता है, सारे अनुभव में आत्मा के इस निर्वैयक्तिक आनन्द के कारण, चाहे अनुभव का जो भी स्वरूप हो। और इसलिए जिस तरह से कवि का विषय वह सबकुछ है जितना कुछ सृष्टि में रचित आत्मा के अनन्त जीवन का वह अनुभव कर सकता है और ईश्वर, प्रकृति हमारी अपनी तथा जगत् की सत्ता के असीम सत्य को पकड़ सकता है, उसी तरह से कवि अपने विषयों में से जो कुछ अभिव्यक्त करता है उस सबकुछ को अपने शाश्वत और विश्वजनित सौन्दर्य के विज़न की भाषा में उड़ेल सकता है, अस्तित्व में आत्मा के विश्वजनित आनन्द को अभिव्यक्त कर सकता है।

यह आनन्द किसी मूड या भावना या रूपाकार के आकर्षण में इन्द्रिय के असीम सौन्दर्यबोधी भोग का सुख नहीं है, ये तो छिछले परिणाम और अवान्तर चीजें हैं जिन्हें लघु काव्यात्मक क्षमता, कमतर कलात्मक मन, बेहद गम्भीरतर और बृहत्तर वस्तु समझने की गलतफहमी कर बैठते हैं, वरन् स्थायी आनन्द है जैसा कि पुरानी

परिकल्पना ने ठीक अनुभव किया था, जो आत्मा और सत्ता का सार है एवं वह सौन्दर्य जिसे सारी चीजें तब धारण कर लेती हैं जब आत्मा रचना और अनुभव के विशुद्ध हर्ष में जीती है।

इस आनन्द और सौन्दर्य की विश्वव्यापकता का अर्थ यह नहीं है कि हम जीवन और अनुभव से जो भी लेना चाहें उसे सीधे ले सकते हैं, ठीक उसी रूप में जिस रूप में वह है और उसे शब्द और बिम्ब के माध्यम से यथावत और स्पष्ट बनाकर अथवा कल्पनात्मक रंगों से सजाकर काव्यात्मक प्रभाव और सौन्दर्य उपलब्ध कर सकते हैं। इसी सिद्धान्त से काव्य में हमारे आधुनिक प्रयास का बहुत अंश परिचालित प्रतीत होता है। वह निम्नतर कवियों को शासित करनेवाली पद्धति है।

प्राचीन भारतीय समीक्षकों ने काव्य के सारतत्व को 'रस' कहकर परिभाषित किया था और रस शब्द से उनका तात्पर्य एक घनीभूत आस्वादन, भाव के आध्यात्मिक सार, मूल सौन्दर्य बोध, भावना के पूर्ण और शुद्ध स्रोतों में आत्मा के सुख से था।

सत्य

काव्य का सत्य केवल दर्शन का सत्य या विज्ञान का सत्य या धर्म का सत्य नहीं है, क्योंकि यह असीम सत्य की आत्माभिव्यंजना का दूसरा तरीका है, इतना विशिष्ट कि यह वस्तुओं को काफी दूसरा रूप प्रदान करता हुआ और अनुभव का काफी दूसरा पक्ष उद्घाटित करता हुआ प्रतीत होता है।

इस प्रकार इन सब तत्त्वों को आत्मसात करता हुआ आध्यात्मिक प्रेरणा की छाया में काव्य मन्त्र तब बनता है जब वह अन्तरतम सत्य की आवाज होता है और उस सत्य के निजी लय और वाणी की उच्चतम शक्ति में साधा जाता है। वेद तथा उपनिषद के विज्ञों ने मन्त्र उच्चरित करने का दावा इसी आधार पर किया था। मन्त्र प्रत्यक्ष और सबसे उन्नीत, तीव्रतम और सबसे दिव्यतः ऊर्जापित लयात्मक शब्द है जो सम्बोधिजन्य और साक्षात् दृष्टिपरक श्रुति को मूर्तिमान करता है और मन को वस्तुओं के बिल्कुल निजीरूप, उनकी अन्तरतम वास्तविकता की दृष्टि और उपस्थिति से और उस वास्तविकता के सत्य तथा उसके दिव्य आत्मन्रूपों ने देवगण—जो जीवन्त सत्य से उत्पन्न होते हैं—के द्वारा मन को आत्मा से घेर लेता है अथवा यह कहा जाय कि वह एक परम लयात्मक भाषा है जो सारी सीमित वस्तुओं पर अधिकार कर लेती है और प्रत्येक में अपनी निजी असीम का प्रकाश और वाणी ले आती है।

हिन्दी साहित्य पर अरविन्द का प्रभाव

अरविन्द दर्शन के हिन्दी साहित्य में प्रभावाभिव्यंजन का कार्य कदाचित् सर्वप्रथम

सुमित्रानन्दन पन्त के माध्यम से हुआ। पं. पद्मनारायणाचार्य ने एक आकाशवाणी वार्ता में यह प्रभाव 'कामायनी' में ढूँढ़ निकाला था—पर 'कामायनी' की चिन्ताधारा जिस शब्दावली के माध्यम से गतिशील होती है वह प्रत्यभिज्ञा शास्त्र की है, अतः वहाँ यह प्रभाव बलात् लादा हुआ ही लगता है।

'उत्तरा' की भूमिका में पन्तजी ने लिखा है कि अरविन्द दर्शन से उनका सम्बन्ध 1942 के बाद अथवा उसके आसपास हुआ। किन्तु इस सम्पर्क से पूर्व ही उनके भीतर कुछ ऐसी अनुभूतियाँ उत्पन्न होने लग गयी थीं, जिसकी पुष्टि अरविन्द दर्शन के सम्पर्क में आने के बाद उन्हें हुई। 'ज्योत्स्ना' में उसका उन्मीलन हो चुका था। पन्तजी को लगा कि उनकी नवीन अनुभूतियों के लिए, जिन्हें वे अपनी सर्जन चेतना का स्वप्नसंचरण या कल्पनारोहण समझते थे, किसी प्रकार के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक अवलम्ब की आवश्यकता थी। उदयशंकर के संस्कृति केन्द्र से सम्बद्ध होकर मद्रास होते वे पाण्डिचेरी पहुँचे और उन्हीं दिनों अरविन्द के भागवत जीवन (Life Divine) से उनका परिचय हुआ। उन्हें लगा कि उनके अस्पष्ट चिन्तन को अत्यन्त सुस्पष्ट सुगठित तथा पूर्ण दर्शन के रूप में वहाँ रख दिया गया है। पाँचवें दशक की रचनाओं में जिस नव्य चेतना का स्वर मुखर हुआ है—उसका शुभारम्भ 'युगवाणी' में ही हो चुका था। यही स्वर बाद में 'स्वर्णकिरण', 'उत्तरा' और 'अतिमा' तक पहुँचा है। पन्तजी ने इसे स्वीकार किया है कि अरविन्द के सम्पर्क से उनका मानसिक क्षितिज व्यापक, गहन तथा सूक्ष्म बन सका। 'युगवाणी' की सन् '47 वाली भूमिका में दिनकरजी को पन्त की शब्दावली अरविन्द दर्शन से प्रभावित मिलती है। पन्तजी का विचारक कवि उनकी रचनाओं के साक्ष्य पर धीरे-धीरे स्वाभाविक रूप से उभरता है। आरण्यक सौन्दर्य के कवि को जनारण्य की पीड़ा का साक्षात्कार 'गुंजन' तक आते-आते हो जाता है, पर उसके समाधान की चिन्ता का उदय 'युगान्त' में होता है, हाँ वहाँ कोई समाधान की रेखा स्पष्ट नहीं है। 'युगान्त' सौन्दर्यभोगी कल्पक कवि के अन्तर्द्वन्द्व की कविता है, जिसे अब कल्पना नहीं 'यथार्थ' खींच रहा है। 'युगवाणी' से जनारण्य के हाहाकार की चिन्ता उन्हें सताने लगती है और वे निदान के लिए व्यग्र हो जाते हैं। 'युगवाणी' के इस प्रथम सोपान पर ही पन्तजी ने यह तय कर लिया था कि 'भूतवाद' और 'आत्मवाद', मानवीय दुख-दर्द की समाप्ति में अकेले अपर्याप्त हैं—यदि किसी तरह इनमें समन्वय हो जाय, तभी जनारण्य का हाहाकार शान्त हो सकता है। राजनीति और अर्थनीति का सम्बन्ध समाज की बहिरंग व्यवस्था से है, समाज की आन्तरिक या मानस व्यवस्था में उसका कोई योगदान नहीं हो सकता। मानस व्यवस्था के लिए जो क्रमागत अध्यात्मदर्शन प्राप्त है, वह रूढ़ि जर्जर है, अपर्याप्त है। 'युगवाणी' में ही मानवीय क्लेश का निदान प्रस्तुत करते हुए कहा—

> भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान।
> जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान।

अरविन्द दर्शन के ही प्रभाव में पन्तजी ने माना है कि पदार्थ और चेतना दो किनारे

हैं जिनके बीच जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित होता है। उन्हीं दो किनारों में से भूतवाद नास्तिकवाद है और आत्मवाद आस्तिक। पहले का समर्थक मार्क्स है और दूसरे का मायावाद। पहला चाम की रक्षा में तत्पर है और दूसरा चाम की उपेक्षा में। रक्षा पक्षीय अतिवाद व्यावसायिक युद्ध की ओर ले जाता है और उपेक्षा पक्ष जीवन प्रवाह से व्यक्ति को काटकर द्वीप बना देता है। भूतवादियों को फटकारते हुए पन्तजी ने कहा—

आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम।
मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम?

और भी,

दया द्रवित हो गए देख दारिद्र्य असंख्य तनों का।
अब दुहरा दारिद्र्य उन्हें दोगे निरुपाय मनों का।

मार्क्सवादी-भूतवादी व्यवस्था में 'रोटी' तो मिल जायगी, पर चिन्तन स्वातन्त्र्य समाप्त। और 'रोटी' का भी व्यावसायिक संघर्ष में क्या होगा, कहना कठिन है। कभी दुहरा दारिद्र्य भी आ सकता है, क्रमागत आत्मवाद व्यष्टि कल्याण कर सकता है पर समस्या समष्टि कल्याण और विश्वहित की है। समाज की है। इस उद्देश्य की पूर्ति में या तो दोनों वादों से परे जाना होगा अथवा दोनों का समन्वय करना होगा। जिस तरह मार्क्सवादियों को फटकारते हुए पन्त ने दुहरे दारिद्र्य की बात कही थी, उसी तरह मायावादियों के लिए भी उनका कहना है—

मानव! कभी भूल से भी क्या सुधर सकी है भूल?
सरिता का जल मृषा? सत्य उसके केवल को कूल?

दोनों कूलों की सार्थकता जीवन नदी में प्रवहमान मानवता के जल को स्वस्थ और गतिमय रखने में है। पन्तजी सामग्री सबसे लेते हैं पर प्रशंसा उसकी अपनी दृष्टि से निर्णीत उपादेयता को लेकर करते हैं। भूतवाद या मार्क्स की प्रशंसा पन्तजी अपनी दृष्टि से करते हैं। भूतवाद का विकास विज्ञान है, स्थूल है और आत्मवाद का प्रतिफल दर्शन है, सूक्ष्म है। दोनों के पारस्परिक द्वन्द्व से नये सत्य प्रकाश में आते हैं। दिनकरजी ने इस सन्दर्भ में कहा है कि मार्क्स ने पूँजीवाद के विरुद्ध जो कठोर चिन्तन किया, उससे दो प्रकार की प्रेरणाएँ निकलीं। इनमें से एक प्रेरणा का उत्तराधिकार समाजवादी (सोशल डेमोक्रेट) चिन्तकों को प्राप्त हुआ जो यह मानते थे कि पूँजीवाद को हटाकर उसके स्थान पर कोई ऐसी पद्धति चलानी चाहिए जिससे समाज में मानवीय स्वतन्त्रता की वृद्धि हो और दूसरी प्रेरणा लेनिन को मिली जो यह मानते थे कि पूँजीवाद को हटाकर उसकी जगह पर ऊँची सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का प्रचलन ही मुख्य कार्य है और इस कार्य को सम्पन्न करने की प्रक्रिया में उन्होंने राजनीति को, रक्त क्रान्ति को महत्व दिया और मनुष्य की स्वतन्त्रता को दबा दिया। मार्क्स ने अपने विरोधियों का मुँह बन्द करने को कभी नहीं कहा, क्योंकि मार्क्स ने एक सच्चे वैज्ञानिक की भाँति कहा था "मैं मार्क्सवादी नहीं हूँ।" लेनिन ने पार्टी विरोधियों का मुँह बन्द किया और स्टालिन ने पार्टी से

भी सोचने का अधिकार छीनकर स्वयं ले लिया। पन्त साम्यवादी मार्क्स की नहीं, वैज्ञानिक मार्क्स की प्रशस्ति गाते हैं। पन्त का समाजवादी कवि भक्त है मार्क्स का। दिनकरजी ने ठीक ही लक्षित किया है कि 'युगवाणी' पन्तजी के अन्तःसंघर्ष की वाणी है। उनका संघर्ष यह है कि यदि द्रव्य या भूत आधार है और आत्मा आधेय—तो द्रव्य की उपेक्षा करके आत्मा की रक्षा कैसे सम्भव है? फलतः गाँधी को स्वीकार करते समय वे मार्क्स की अवहेलना नहीं कर पाते थे। पन्त की ये ही नवीन अनुभूतियाँ थीं जिसके लिए वे कोई शक्त 'बौद्धिक तथा आध्यात्मिक अवलम्ब' चाहते थे, और यह अवलम्ब उन्हें अरविन्द दर्शन से मिला।

पन्तजी ने अरविन्द दर्शन का अवलम्ब ही लिया, उसे पूर्णतः स्वीकार नहीं किया। दोनों में साम्य कई बातों को लेकर है। दोनों 'समन्वय' के अन्वेषी हैं, दोनों इस समन्वय के सूत्र वैदिक ऋचाओं और औपनिषद चिन्तन में ढूँढ़ते हैं, दोनों भारतीयता में आस्था रखते हैं, दोनों विश्वसंस्कृति के स्वप्नद्रष्टा हैं, दोनों पूर्ण-मानव के शिल्पी हैं, दोनों के भावी युग के स्वप्न में साम्य है, दोनों व्यक्ति मुक्ति की जगह समष्टि मुक्ति के कामी हैं। मार्क्स ने वैयक्तिक मुक्ति को निराधार बताया और गाँधी ने वैयक्तिक मुक्ति का मार्ग समाज-सेवा बताया। पर इस वैषम्य के साथ कि पन्त की मुख्य प्रवृत्ति सामाजिकता की ओर है जब कि श्रीअरविन्द का सारा बल 'मानस' में 'दिव्य ज्योति' को उतारने पर है फिर भी एक की सामाजिकता में आध्यात्मिकता का उतना ही गहरा पुट है, दूसरे की आध्यात्मिकता में जितनी सामाजिकता का। '**छायावाद : पुनर्मूल्यांकन**' में पन्तजी ने विस्तार के साथ इस अन्तर पर प्रकाश डाला है।

अरविन्द दर्शन को समन्वय या समझौता नहीं समझना चाहिए, वह एक 'इण्टिग्रेटेड दर्शन' है। वह एक स्वयम् में पूर्ण दर्शन है, जो निवर्तन और विवर्तन की प्रक्रिया अपनाता है। वहाँ गाँधीवाद और मार्क्सवाद का समझौता नहीं है। भूतवादी जैसे-तैसे भी बाह्य दारिद्र्य को मिटाना चाहते हैं, गाँधी पवित्र साधन से पवित्र लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं—पहला अन्तः पर बल नहीं देता, मानवता की उपेक्षा करता है, दूसरा मानवता की ओर इतना बढ़ जाता है कि एकांगी हो जाता है। फलतः निदान यह मिलता है कि समस्या बाह्य शोषण और युद्ध की नहीं है जितनी वह समष्टि मानस की संकीर्णता की है—चेतना की है। अतः वहाँ से उसे ठीक करना चाहिए। यह प्रश्न राजनीतिक और आर्थिक से अधिक सांस्कृतिक है। इसलिए पन्त मार्क्स को न छोड़ते हुए भी गाँधी की ओर झुकते हैं, पर वहाँ की एकांगिता उन्हें असन्तुष्ट कर अरविन्द की ओर मोड़ती है। उन्हें लगा है—

> आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित।
> खण्ड मनुजता को युग-युग की होना है नवनिर्मित॥

अरविन्द ने बता दिया कि भूत भी आत्मा का ही प्रच्छन्न रूप है, अविद्या भी विद्या का ही आवृत रूप है। अतः झिझक की कोई बात नहीं, दोनों में कोई विरोध ही नहीं है। उन्हें अरविन्द दर्शन में कई बातें अपने अनुकूल लगीं। भोगवाद और

कृच्छ्राचार---दोनों की अतियों का यहाँ खण्ड न था। **आरोहण और समदिक् संचरण** के सिद्धान्त भी उन्हें अनुकूल लगे। कर्म, भक्ति और ज्ञान का समन्वय भी उन्हें आकर्षक लगा। आरोह कर्म का, अवरोह भक्ति का और समदिक् संचरण सम्भवतः ज्ञान का मार्ग है। अरविन्द में समदिक् संचरण पूर्णतः ज्ञानमार्ग ही है या और कुछ ? पर पन्त ने उसे ज्ञान मार्ग के ही रूप में ग्रहण किया है। वे मार्क्स को इसलिए ज्ञानी रूप में वन्द्य मानते हैं कि उसने समाज के बहिःस्तर पर समदिक् संचरण का मार्ग प्रशस्त किया। समदिक् संचरण जब भूत की उपलब्धियों को एकान्वित करता है, संग्रथित करता है तब स्थूल ज्ञान का काम करता है और जब आत्मलब्धियों को संग्रथित करता है तब आत्मा के संचरण का प्रतीक है। समदिक् संचरण अध्यात्म और ज्ञान दोनों का प्रतीक है।

भूत और अध्यात्म के बीच जो समन्वय पन्तजी ने स्थापित किया है, उसका व्यावहारिक पक्ष उन्हें मार्क्स और गाँधी में दिखायी पड़ता है। अरविन्द दर्शन इस समन्वय में उन्हें बल देता है। इसलिए पन्तजी को ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म में कोई विरोध दिखायी नहीं देता। मार्क्स तथा गाँधी दोनों में उनके लिए आंशिक ग्राह्यता है। पन्तजी विज्ञान की सहायता से होनेवाली भौतिक समृद्धि के समर्थक हैं, वे गाँधी के यन्त्रवाद विरोध के समर्थक नहीं हैं। पन्तजी स्वस्थ भोग के समर्थक हैं, इसलिए 'अतिमानव' के प्रसंग का उनका शृंगार उनकी दृष्टि से समर्थनीय है। वे नर-नारी के यौन सम्बन्ध का आधार पवित्र प्रेम मानते हैं, प्रेम-शून्य खोखली नैतिकता नहीं। कारण, इससे अनेक सामाजिक कुप्रथाएँ शुरू हुईं। नर-नारी के ऐन्द्रिक सम्बन्धों की जिस स्वाभाविकता का समर्थन पन्त ने 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' में किया है उससे पता चलता है कि उनका झुकाव मुख्यतः समाज की ओर है। अरविन्द ने 'दिव्यजीवन' और 'सावित्री' की रचना ही इस उद्देश्य से की है कि मानव का भूत-भ्रान्त मन आध्यात्मिकता की ओर मुड़ सके। इस प्रकार पन्त ने अरविन्द से जो प्रभाव ग्रहण किया, उसका उपयोग अधिक सुन्दर समाज की कल्पना में किया है। दिनकरजी ने ठीक कहा है कि पन्त मनुष्य के शरीर पर भूतवाद का, मन पर प्राणिवाद का और हृदय पर अध्यात्म का शासन स्वीकार करते हैं। पन्त की कल्पना में जो मनुष्य आता है उसके तीन लक्षण हैं—भौतिक शरीर में प्राणिशास्त्रीय मन और आध्यात्मिक हृदय। 'स्वर्णधूलि' की निम्नलिखित पंक्तियाँ साक्षी हैं—

> वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन।
> भूतवाद हो जिसका रज तन, प्राणिवाद जिसका मन ।।
> औ' अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गभीर चिरन्तन।
> जिसमें मूल सृजन विकास के विश्व-प्रगति के गोपन ।।

'क्रोटन की टहनी' में पन्तजी ने मानव की तुलना उद्भिज से की है जिसके सम्यक् विकास के लिए व्योम और वायु के साथ मिट्टी भी आवश्यक है। आधिभौतिक सुख भी वे मानव के लिए स्वाभाविक और आवश्यक मानते हैं। नर-नारी के शरीर को

असामाजिक तत्वों द्वारा रौंद दिये जाने पर भी वे आत्मिक प्रगति में इसे बाधक नहीं मानते। 'स्वर्णधूलि' की 'पतिता' साक्षी है। इस प्रकार पन्तजी ने 'प्रेम' की प्रतिष्ठा की है।

व्यष्टि और समष्टि के बीच समन्वय की दिशा में उन्होंने अपने ढंग से ऊर्ध्व संचरण तथा समदिक् संचरण की प्रतिष्ठा की है। यदि पहली का सम्बन्ध आत्म-मंगल से है तो दूसरी का समष्टि मंगल से। जो आत्मोन्नयन नहीं करेगा, वह समाज का उन्नयन कैसे कर सकता है?

ऊर्ध्व संचरण में रे व्यक्ति निखिल समाज का नायक।
समदिक् गति में सामाजिकता जनगण भाग्य विधायक।।

(स्वर्णकिरण)

पन्तजी 'विज्ञान' का और वैज्ञानिक प्रगति का विरोध नहीं करते। वे कहते हैं कि 'विज्ञान' का दुरुपयोग 'विज्ञान' नहीं, हम असंस्कृतात्मा करते हैं। अतः यदि 'विज्ञान' को संस्कृत मानवीय 'हृदय' की प्रेरणा मिले, तो विज्ञान क्यों अहितकर? 'रजतशिखर' के कवि और वैज्ञानिक इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—वाद-विवाद के माध्यम से।

विज्ञान और अध्यात्म की भाँति विद्या और अविद्या का भी कोई भेद नहीं, वह भेद केवल ऊपरी है। अरविन्द की इस स्थापना का भी प्रभाव पन्त में लक्षित होता है—

अन्धतमस में गिरते वे जो मात्र अविद्या में रत।
उससे भूरि तमस् में वे जो विद्या में रत संतत।
विद्याविद्या उभय एक में भेद जिन्हें यह अवगत।
विद्यामृत पी मृत्यु अविद्या से वे तिरते अविरत।
ब्रह्म ज्ञान रे विद्या। भूतों का एकत्व समन्वय।
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक ज्ञान का परिचय
आज जगत् में उभयरूप तन में गिरने वाले जन।
ज्योतिकेतु-ऋषि दृष्टि करे उन दोनों का संचालन।

(स्वर्णकिरण)

पन्तजी की रचनाओं में बार-बार जो स्वर्ग और पृथ्वी के परिणय की बात आती है—वह इसी ऊर्ध्व तथा समदिक् संचरण के फलस्वरूप—

अमर कल्पना पंख खोल रत्नच्छायास्मित।
सेतु बाँध जो गये धरा को मिला स्वर्ग से।।

(शिल्पी)

आज विज्ञान की कसावट से आध्यात्मिक रस भी समुच्छलित हो रहा है। विश्व का झुकाव स्पष्ट है। पन्तजी को समाज के बाहरी संगठन में होनेवाले समदिक् प्रसार के कारण जनारण्य का हाहाकार निराश नहीं करता, वे इस ओट में मानवता की ऊर्ध्व गति को भी देख रहे हैं। इसीलिए भावी मानव में भौतिक

शरीर के भीतर आध्यात्मिक मन के साम्राज्य की बात करते हैं।

सवाल यह है कि पन्तजी को यह दृष्टि, यह आशावाद कहाँ से मिला ? पन्तजी ने स्पष्ट कहा है—"मैं न दार्शनिक हूँ, न दर्शनज्ञ, न मेरा अपना कोई दर्शन है और न मुझे यह लगता है कि दर्शन द्वारा मनुष्य को सत्य की उपलब्धि हो सकती है···अपनी भावना तथा कल्पना के पंखों से मैं जिन सौन्दर्य-क्षितिजों को छू सका हूँ, वे मुझे दार्शनिक सत्यों से अधिक प्रकाशवान् एवम् सजीव लगते हैं" (चिदम्बरा) इसका स्रोत उनकी 'कल्पना' है। वे भविष्य के कवि हैं। वे अपनी रचनाओं में जब मानवता की कशमकश व्यक्त करते हैं—तब हमें सही लगते हैं और जब भावी विश्व संस्कृति, पूर्ण मनुष्य तथा समन्वित जीवन का अनाघ्रात चित्र देते हैं—तो रहस्यवादी लगते हैं। 'नील झील का जल' तथा 'निःस्वरशिखर' किसी ऐसी ही अतीन्द्रिय स्थिति की, मन के सर्वोच्च शिखर की, झाँकी देते हैं।

'स्वर्णकिरण' तक पन्तजी भूत-आत्मा के समन्वय की चेष्टा में हैं, पर 'उत्तरा' और 'अतिमा' की ध्वनि उससे आगे की है—अर्थात् समन्वित धरातल पर उभरने वाली है। उत्तरोत्तर कवि उस धरातल पर आ जाता है, जहाँ 'आग' का अस्पष्ट अनुभव होता है, पर उसे व्यक्त करने की भाषा अभी ढूँढ़ी नहीं गयी। यह 'मानस' से 'अतिमानस' की ओर बढ़ने की राह है।

श्री पन्त के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य में विद्यावती कोकिल, आरसीप्रसादसिंह, गोपालदास नीरज, ब्यौहार राजेन्द्रसिंह, नरेन्द्र शर्मा आदि भी श्री अरविन्द के प्रभाव में रचनाशील हैं और यह धारा सक्रिय है।

कोकिलजी आश्रम के प्रति समर्पित कवयित्री हैं। 'समर्पण के गीत' साक्षी हैं। समर्पित होने के कारण ही वे 'सुहागिन' में अपनी तन्मयता का आख्यान करवाती हैं। 'समर्पण' से 'अहम्' की क्षीणता और चेतना का उन्नयन आरम्भ हो जाता है और वे 'पुर्नमिलन' में पहुँच जाती हैं—अपनी अनादि बुभुक्षा तृप्त कर लेती हैं और फिर तो आत्मदेव की 'आरती' होने लगती है—वहाँ मन्त्र गीत, अन्तःस्फुरण, ऊर्ध्वारोहण तथा शिशु मन्थन आरम्भ हो जाता है।

आरसीप्रसाद सिंह मुख्यतः सौन्दर्य और यौवन के कवि हैं, किन्तु उनकी कतिपय रचनाओं में अरविन्द का प्रभाव दर्शनीय है। उनकी ऐसी रचनाओं में 'नन्ददास' तथा कतिपय अन्य प्रकीर्णक गीत हैं। अरविन्द की ही भाँति श्री सिंह ने 'नन्ददास' को 'सावित्री' की तरह प्रतीक और जीवन-दर्शन कहा है। इसमें अरविन्द की मुख्य दार्शनिक स्थापनाएँ तो हैं ही, उनका सरस और काव्यात्मक प्रकाशन भी है। इसमें नन्ददास के नारी के प्रति होनेवाले आरम्भिक अविद्यावृत वासनात्मक आकर्षण में शुद्ध चैतन्य का उन्मीलन दिखाया है। प्रकीर्णक रचनाओं में भी समर्पण, चेतना का निवर्तन-विवर्तन आदि व्यक्त हैं। इस प्रकार साधक होने के कारण इनमें भी अरविन्द का आध्यात्मिक प्रभाव स्पष्ट है।

मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त कुछ अनुवादक लोग भी हैं। नीरज ने श्री अरविन्द की अनेक रचनाओं का रूपान्तर किया है। पद्य-साहित्य के अतिरिक्त

गद्य-साहित्य के क्षेत्र में भी अरविन्द से प्रभावित होकर कुछ लोग कार्य कर रहे हैं। अन्ततः प्रतापसिंह चौहान की इन पंक्तियों के साथ मैं अपना निबन्ध समाप्त करता हूँ---"यदि कविता का विषय मानव और उसकी समस्याएँ रहेंगी तो मानव का मानस स्तरों के उदात्तीकरण और मानवता के क्रमिक विकास के हेतु अन्ततः श्री अरविन्द की दार्शनिक स्थापनाओं का अवलम्बन लेना ही पड़ेगा"---उनसे प्रभावित होना ही पड़ेगा।

सन्दर्भ

1. धनञ्जय---'न हि कवयो योगिन इव ध्यान चक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनाभवस्थामितिहासादिवदुपनिबध्नन्ति। किन्तर्हि सर्वलोकसाधरणीः स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधीः धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीर्विदधति'। दशरूपकावलोक, चतुर्थ प्रकाश, पृ. 97
2. ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः, पृ. 97
3. अभिनवगुप्त : ध्वन्यालोकलोचन, पृ. 591
4. मम्मट : काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ. 86
5. जगन्नाथ : रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ. 27
6. भट्टतौत : काव्यकौतुक। (अनुपलब्ध)
7. अरविन्द : The Renaissance in India. page, 46-47.
8. भावी कविता—श्री अरविन्द, पृष्ठ 216

सर्जना का माध्यम और लेखकीय पीड़ा

सर्जना का माध्यम और लेखकीय पीड़ा के द्वन्द्व से चिरन्तन और सामयिक तरह-तरह के सवाल उभरते हैं। सर्जन माध्यम और लेखकीय पीड़ा की सोहबत और संघर्ष एक लम्बे अरसे से चला आ रहा है। इसलिए सवाल इनके चिरन्तन सम्बन्ध-निर्वाह को लेकर भी खड़ा किया जा सकता है और आधुनिक तथा सामयिक परिवेश सीमित करके भी पूछा जा सकता है। सर्जन माध्यम पर भी बहस की गुंजाइश है। और लेखकीय पीड़ा का स्वरूप भी अनेक कोणों से विचारणीय है।

इसके पूर्व कि इस युग्मक की इकाइयों के सम्बन्धों को लेकर विचार-विनिमय किया जाय, आवश्यक यह प्रतीत होता है कि पहले इन इकाइयों पर अलग-अलग कुछ कह सुनकर अपनी धारणा यथासम्भव स्पष्ट कर ली जाय। लेखकीय पीड़ा के सन्दर्भ में प्रयुक्त सर्जन माध्यम राग, रंग, रेखा, पत्थर, माटी और धातु की जगह शब्द और अर्थ ही हो सकते हैं। भाषा ही हो सकती है। सर्जनात्मक दृष्टि से सर्जना का बीज सर्जनात्मक अनुभूति ही है—काव्येतर क्षेत्र में वह चिर सत्य हो सकती है, पर काव्य के क्षेत्र में आकर्षक सत्य, सुन्दर सत्य। इसके सम्मूर्तन का माध्यम शब्दार्थमयी भाषा है—लेखकीय सूझ-बूझ, कल्पना या प्रतिमा सहायक हैं। इसी के कारण माध्यम में सामर्थ्य आता है। जिसके सम्पर्क से कोई वस्तु समर्थ हो जाती है, वह स्वयम् में कितना बड़ा सामर्थ्य है। इसीलिए व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी कल्पना (क्लपू सामर्थ्ये) का नामान्तर है। वैसे निर्माण या सर्जना की दृष्टि से साध्य और माध्यम जैसी दो सर्वथा भिन्न रेखाओं का अस्तित्व नहीं है—तथापि विचारक की विश्लेषणात्मक दृष्टि से ऐसे भेद समझाने के लिए कर लिए जाते हैं। अन्यथा चिन्तकों ने लेखकीय सन्दर्भ में व्यावहारिक अनुभूति से सर्जनात्मक अनुभूति का अन्तर ही स्पष्ट करते हुए बताया है कि जब व्यवहार या जीवन के माध्यम से अर्जित अनुभूति ही सही भाषा में उभरती है—तब वही सर्जनात्मक अनुभूति कही जाती है। इस प्रकार वस्तुतः मूल में साध्य-माध्यम इस तरह एकाकार हैं कि उन्हें ऐसी अलग-अलग संज्ञा देकर प्रसारना असंगत और अतर्क प्रतिष्ठ है। इस कल्पित समझ के अनुरूप यहाँ भाषा को माध्यम कहा जा रहा है—सर्जन माध्यम। सर्जक अपने प्रतिभा सामर्थ्य के सहारे भाषा के माध्यम

से सर्जनात्मक अनुभूति को व्यक्त करता है। व्यापक अर्थ में यह सर्जनात्मक अनुभूति ही पीड़ा है—अन्यथा इसके अभिव्यक्त हो जाने पर, ठीक-ठीक अभिव्यक्त हो जाने पर, राहत न मिलती।

अभिव्यक्ति हो जाने पर राहत मिलती है का मतलब ही यह है कि इसके पूर्व की भूमि पीड़ामयी थी। मूलतः इस मिट्टी पर जिसने पीड़ा नहीं भोगी वह सर्जक हो ही नहीं सकता। कहा जाता है कि मूल द्रष्टा को भी अकेले होने की पीड़ा थी—अतः उसने सृष्टि की और आदि कवि वाल्मीकि की भी यही स्थिति थी। पीड़ा की इस मूलवर्तिनी धरा पर प्रत्येक सर्जक उतरता है। भीतर प्यास की अनन्त लहरें उठती-गिरती हैं और बाहर रोड़े-पत्थर तथा सीमाएँ। इन्हीं का संघर्ष जीवन है। इस संघर्ष को हैवानियत के साथ जिएँ तो पशु से भी बदतर और इन्सानियत के साथ जिएँ तो देवता से भी ऊपर। ये सीमाएँ और अभाव हैं जो प्राणी को सक्रिय करते हैं और सीमाएँ और अभाव ही तो पीड़ा के अक्षय स्रोत हैं। निष्कर्ष यह कि पीड़ा का एक तो यह सर्वसामान्य रूप है, जिसका सम्बन्ध लेखक-अलेखक सबसे है। वह सर्जनात्मक होकर लेखक से कब और कैसे जुटती है—इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

भाषा, सर्जन-माध्यम अपने उच्चरित रूप में वक्ता की न जाने कितनी शारीरिक भंगिमाएँ साथ लिये रहती है, पर लिखित रूप में वही भाषा इनसे रहित और निस्सहाय हो जाती है। भाषा की सीमाएँ इसी स्तर की नहीं हैं। अभिधा उसकी वश्य है, सबसे बड़ी सीमा है। जहाँ वह अपने को अभिव्यक्ति में असमर्थ पाकर अपने सांकेतिक रूप की ओर मुड़ती है—लक्षणा और व्यन्जना इसके ऐसे ही रूप हैं। इन स्तरों पर जाकर वह अभिव्यन्जक की ही न हो, ग्राहक के सामर्थ्य की अपेक्षा करने लगती है। इन्हीं सीमाओं में वह भी निरन्तर संघर्षरत रहती है। अनुभूत सत्य को सम्प्रेषित करने में उसे निरन्तर संघर्षपूर्वक आत्मविकास करना पड़ता है। अभिप्राय यह, लेखकीय पीड़ा का सम्बन्ध अनुभूति के स्तर पर नहीं है, अभिव्यक्ति के स्तर पर भी है। भाषा अपने उच्चरित रूप में सहायक शारीरिक हरकतों का अभाव अनुभव करती और वर्णमाला से भिन्न चिट्ठों, या प्रतीकों, और कभी-कभी अभावद्योतक व्यवधानों तक का सहारा लेने को आकुल हो जाती है। प्रयोगवाद और प्रपद्मवाद के सर्जकों ने ऐसे न जाने कितने उलटे-सीधे चिट्ठात्मक और वर्णविन्यासात्मक तरीकों का सहारा लिया था। भाषा ने जब अपनी शक्ति का विकास कर लिया—तब इन अनगढ़ तरीकों को छोड़ भी दिया। इस दिशा में सोचते हुए सर्जन के माध्यम भाषा की व्याप्ति कहाँ तक मानी जाय—यह भी एक सवाल है? व्यक्तिगत अनुभूतियों को व्यक्तिगत रूप से ऐसे उलटे-सीधे प्रयोगों द्वारा सर्वजनग्राह्य बताने के उद्देश्य से प्रयोग करना, समाज स्वीकृत साहित्य के क्षेत्र में कहाँ तक उचित और ग्राह्य है? मेरी दृष्टि में जहाँ तक ये चिह्न 'भाषा' के लक्ष्य (सम्प्रेषण) के सहज पूरक हैं, वहाँ तक तो उचित और ग्राह्य हैं, पर जब सचेत ग्राहक को भी कवि निसम्वाद प्राप्त करने में बाधा बन जायें, असमर्थ हो जायें, तब उनकी

ग्राह्यता और उचितता संदिग्ध ही नहीं, विवादास्पद भी हो जाती है। यह बात केवल चिह्नों के ही विषय में नहीं प्रत्युत वर्णमाला में लिखे गये शब्दों, बिम्बों, प्रतीकों तथा अनगढ़ सांकेतिक प्रयोगों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यदि कोई शब्द वैयक्तिक सांकेतिकता से संवलित रहकर, ग्रहण के धरातल पर सचेत ग्राहक को भी बाधा डालता है, तो उसका भी समावेश भाषा की परिधि में नहीं किया जाना चाहिए।

कहा जा सकता है कि यदि इस प्रकार व्यक्ति द्वारा किये गये प्रयोगों को नकार दिया जाय तो भाषा का विकास ही रुक जायेगा, उसकी निहित क्षमता ही अनाविष्कृत रह जायेगी। नहीं, 'प्रयोग' द्वारा परम्परा में निहित 'सम्भावनाओं' का विकास होता है। जिसने भाषा की समाजसम्मत, परम्परासम्मत, प्रकृति को आत्मसात् किया है—वही उसकी सम्भावनाओं को प्रयोग द्वारा सहज विकसित कर सकता है। नागार्जुन ने निराला के छन्द प्रयोगों के विषय में ठीक कहा था कि निराला छन्दोविधान के मर्मज्ञ और अभ्यासी हैं—इसीलिए वे प्रयोग के अधिकारी हैं, वे मुक्त छन्द का प्रयोग कर सकते हैं। यही कारण है कि रीतिबद्ध कवियों की भाषा कतिपय परम्परागत रूढ़ प्रयोगों और बँधी हुई सरणियों में फँस गयी थी, घनानन्द आदि रीति मुक्त धारा के लेखकों ने अपनी पीड़ा को जिस भाषा में बाँधा था, वह जग की पिटी हुई भाषा से भिन्न थी। लोग उसे समझ नहीं पाते थे। पर इस न समझ सकने का कारण उनकी भाषा के नव-नव प्रयोग नहीं थे, ग्राहक की अपनी सूझ-बूझ की कमी थी। कमी ही नहीं, कमजोरी भी थी। तभी तो ब्रजनाथ ने कहा था—

> "जग की कवितहि के धोखे रहे
> ह्याँ प्रवीननि की मति जाति जकी।"

अर्थात् घनानन्द ने आत्मचेतना के सन्दर्भ में ऐसी भाषा सृष्ट की—ऐसी रचना प्रस्तुत की कि बड़े-बड़े प्रवीण अभ्यासी ग्राहकों की मति स्तब्ध रह गयी। सूझबूझ-वाले ग्राहकों ने गढ़ तोड़ा और अब उनकी भाषा का सामर्थ्य स्पष्ट है। जो प्रयोक्ता परम्परा की जीवन्त पहिया तोड़कर, 'प्रयोग' ही प्रयोग की एक पहिया से कविता की गाड़ी खींचना चाहेगा, वह वस्तुतः भाषा के विकास का रहस्य ही नहीं जानता। वह उसके प्रकृतिगत विकास से मुँह मोड़ता है। निष्कर्ष यह कि सर्जन के माध्यम की सीमा उन चिह्नों, प्रतीकों, बिम्बों तथा ऐसे ही अन्य रूपों तक जा सकती है, जो परम्परा और प्रकृति को आत्मसात् कर 'प्रयोगों' के सहारे आते हैं।

यह रहा सर्जन माध्यम, अब 'लेखकीय पीड़ा' का आशय देखें। इतना तो निर्विवाद है कि स्रष्टा, अपनी सृष्टि में अपने को ही व्यक्त करता है। यह अपना और कुछ नहीं, समाज में रहकर अर्जित की गयी चेतना का ही नामान्तर है। इस प्रकार यह चेतना व्यक्ति की भौतिक परिधि में रहकर भी सामाजिक है। यही चेतना व्यक्ति की परिधि में रहकर, साक्षात्कार के जिन क्षणों में कुछ और ही-सी प्रतीत होती है—असाधारण-सी लगने लगती है, तब उस लेखक का ही सामाजिक

व्यक्तित्व उसे साधारण, सर्वसाधारण बनाने को मचल पड़ता है। इसको रोकना उसके लिए बेसम्हार भार है। इस भार या पीड़ा को वह सर्जन के माध्यम से व्यक्त करती है।

लेखक के लिए जीना बहुत जरूरी है। जीते तो सभी हैं, पर लेखक का 'जीना' चेतना के उस विकसित स्तर की सम्भावनाओं को चरितार्थता प्रदान करनेवाली दिशा-यात्रा में जीना है. जो विकासक्रम में पाशविक स्तर से ऊपर माना गया है। लेखक यदि मानव है तो उसकी प्रत्येक क्रिया की धुरी उसकी अन्तरात्मा अर्थात् मानवता होनी चाहिए। इस धुरी से परिचालित होनेवाले को जीवन और समाज के हर मोड़ पर दुर्दमनीय दानवी शक्तियों के लताड़, उपदेश, आश्वासन, यातना, अपमान, पराजय आदि भुगतने पड़ते हैं। मरणान्तगामी संघर्ष करना पड़ता है, पर यही संघर्ष का खराद है, जिस पर से मानवता की कौंध अन्धकार को चीर जाती है। लेखक साक्षात्कार के इन क्षणों को शब्दों में बाँध देता है।

आज अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह विघटनात्मक है। औसतन समष्टि शक्ति अपनी नैतिक सत्ता को बलि देकर भौतिक अस्तित्व को सुरक्षित रखने में सारी चेतना केन्द्रित किये हुए है। इसको हस्तावलम्ब दे रहा है—यथार्थवादी दर्शन। इस विघटनात्मक वेगवान प्रवाह में पीड़ा उसे भुगतनी पड़ रही है, जो मानवीय चेतना के अनुरूप भौतिक सत्ता की अपेक्षा नैतिक सत्ता की चरितार्थता में जीने के लिए संघर्ष कर रहा है। संघर्ष की यह धार उत्तरोत्तर तीव्र, तीव्रतर होती जा रही है। एक बात और, मानवीय चेतना के प्रकाश में व्यक्ति की रागात्मक सत्ता उत्तरोत्तर प्रसृत होती जाती है। इस रागात्मक सत्ता के प्रसार के साथ-साथ लेखक (व्यक्ति) की अनुभूति का क्षेत्र बढ़ता जाता है, वह सूखता नहीं। जिस लेखक या वर्ग की रागात्मक सत्ता का प्रसार नहीं होता, वह अपनी एकरस तथा संक्षिप्त अनुभूति की पूँजी में थोड़ी दूर की लेखन यात्रा के बाद तेली के बैल की तरह, वहीं चक्कर काटने लगता है और मृत घोषित कर दिया जाता है। आज के लेखक में यह वर्तुल यात्रा काफी मिलती है, इसलिए सर्जना रूढ़ मुहावरों में फँसकर छटपटाने लगती है। तभी तो एक को चुकते हुए देखकर दूसरा, अपनी पताका फहराता हुआ दूसरे-चौथे महीने या वर्ष आ खड़ा होता है। सारांश यह कि लेखक यदि इस विघटनात्मक प्रवाह में मानवता को जीना चाहता है तो उसे निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है। पीड़ा और यातनाएँ सब तरफ की भुगतनी पड़ती हैं। हैवानियत के साथ जीनेवाले को काहे की पीड़ा और फिर भी उसकी रचना में वह दिखायी पड़े, तब समझना चाहिए कि वह ओढ़ी हुई है। हैवानों को, दूसरों को पीड़ा प्रदान करने की पीड़ा अवश्य हो सकती है।

इस प्रकार लेखक संघर्ष के दौरान अर्जित मानवीय चेतना या अनुभूति में जब कुछ ऐसा अनुभव करता है कि वह सामान्य से कुछ और है—तब उसका सामाजिक रूप उसे समाजगत कर देना चाहता है—साधारण कर देना चाहता है। इसके लिए परम्परागत भाषा, जब असमर्थ-सी दिखायी पड़ती है, तब 'प्रयोग' के सहारे उसमें

निहित सम्भावना को वह मूर्त करता है और मूर्त करता है – युग चेतना, आत्म-चेतना की अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में। आत्मचेतना और भाषा की यह प्रतिस्पर्धा बराबर चलती रहती है। दीवारों का नहीं, मैदानों का छन्द पाकर, अपनाकर जो अनुभूति के स्रोत को बृहत-बृहत्तर करता रहेगा, और भाषा की अन्तरात्मा को पहचानता रहेगा, वही लेखक इस प्रतियोगिता में जयी होगा।

लेखकीय दायित्व : भारतीय काव्यचिन्तन के सन्दर्भ में

स्तरीय रचना दायित्वबोधपूर्वक सायास नहीं की जाती, वह किसी बड़ी शक्ति से हो जाती है

रचना दायित्वबोधपूर्वक होती है क्या ? सर्वसम्मत अनुभव तो यह कहता है कि रचना की एक मनःस्थिति होती है और जब उस मनःस्थिति के दबाव में रचना होने लगे—तब उसमें दखलंदाजी नहीं करनी चाहिए। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि रचनाकाल में कोई बड़ी शक्ति सक्रिय हो जाती है, जिस पर छोटी शक्ति को हावी नहीं होना चाहिए। इस अनुभव को सर्वसम्मत इसलिए कहता हूँ कि एक तरफ प्राचीन आत्मवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन, दूसरी ओर आधुनिकों में व्यक्तिवादी प्रख्यात चिन्तक और सर्जक अज्ञेय और तीसरी ओर पदार्थवादी चिन्तन के प्रति प्रतिबद्ध सर्जक केदारनाथ अग्रवाल—सभी इसका समर्थन करते हैं। आनन्दवर्द्धन का कहना है—"येषां हि सुकवीनाम् प्राक्तन पुण्य परिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थ परिग्रह निःस्पृहाणाम् स्व-व्यापारः कर्तुम् न युज्यते। सरस्वती स्वयमेव तस्याभिमतमर्थमाविर्भावयति। एतदेव महाकवित्वं महाकवीनाम्।" अर्थात् रचना में प्रवृत्ति कभी-कभार प्राक्तन पुण्यपरिपाक होती है और जब रचनाकार इसके लिए हुमसता है तब उसकी शक्ति न तो परम्परागत परोपरचित अर्थ के परिग्रह की ओर जाती है और न ही वह अपनी ज्ञात-सीमित क्षमता को ही दखलंदाज़ी करने की अनुमति देता है। उसकी कोई महती शक्ति स्वतः सक्रिय होती है, जिसमें उसकी व्यक्तिसत्ता विसर्जित रहती है—उसके प्रति समर्पित हो जाती है। यह विसर्जन ही विशिष्ट सर्जन है। अज्ञेयजी 'असाध्यवीणा' के माध्यम से रचना की इसी प्रक्रिया का समर्थन करते हैं। कवि केदारनाथ अग्रवाल का अभिमत है—"कविता लिखने के लिए, मैं जब भावातुर होता हूँ⋯एक मूड चलता रहता है, इस दौरान कथ्य भी अपना रूप बदलता रहता है, उसमें खतरा है, जहाँ व्यक्ति कथ्य पर हावी होना चाहता है।" निष्कर्ष यह कि स्तरीय रचना घटित होती है—की नहीं जाती। दायित्वबोधपूर्वक स्तरीय रचना को **करने** की बात यदि मान ली जाय—तो एक सर्वसम्मत अन्तर्विरोध उभरता है और वह यह कि

फिर किसकी दखलंदाज़ी का निषेध? रचयिता के चेतन मानस का ही न? दायित्वबोध का उसी स्तर से सम्बन्ध है न?

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
निकलकर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान।।

लोग कहते हैं कि अनजान में पेशाब हो जाती होगी, रचना नहीं होती। अनुभव, अनुभव की बात है। यह भी होता है। यह भी विचारणीय है, विचार करूँगा, पर उससे पहले यह कहना चाहता हूँ कि चाहे व्यवहार हो या परमार्थ या काव्य-रचना —यह सही है कि रचना के लिए सीमित चेतना को बड़ी चेतना में विर्सजित होना पड़ता है—विसर्जन 'विशिष्ट-सर्जन' की परा उपनिषद् है। विसर्जन का एक पक्ष विलयन है और दूसरा नवनिर्माण या रचना। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह विसर्जन व्यक्तिसत्ता का लोकसत्ता— छोटी सत्ता का बड़ी सत्ता में विलयन है।

रचना के लिए विसर्जन-बोध का अनुभूति में विलयन होता है

रचना के लिए विसर्जन आवश्यक है और तदर्थ कोई बड़ी शक्ति सक्रिय होती है और उससे रचना होती है। इस प्रक्रिया की रहस्यमयता की ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इंगित किया है। उनका कहना है कि लोक का ताना-बाना विरोधी तत्त्वों से निर्मित है और इन्हीं विरुद्धों का सामंजस्य सौन्दर्य है। रचयिता इसी में डूबता है और दूसरों को डुबोता है, प्रभावित करता है—जिससे सात्विक मानसिकता निर्मित होती है और वह लोकमंगल में विनियुक्त करती है, कुरूपता को हटाने के लिए—उसे बदलने के लिए। सारी भारतीय परम्परा रचना के मुहाने और दहाने को 'सामाजिक' मानकर चलती है। व्यक्तिसत्ता के समाजसत्ता में विलयन से वह उद्भूत होती है और 'सामाजिक' को प्रभावित करती है—उसकी मानसिकता को लोकमंगलोपयोगी बनाती है। आचार्य शुक्लजी ने इस प्रक्रिया को जो अनजाने सम्पन्न होती है —यों कहा है—"किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना में कई प्रकार के सौन्दर्यों का जो मेल आप-से-आप हो जाया करता है, उसे पाठक के सामने भी वह प्रायः रख देता है।" अर्थात् रचना अन्तःप्रेरणा से होती है—जो रचयिता की सीमित चेतना को बड़ी चेतना से सम्पृक्त कर देती है और रचना होने लगती है।

स्तरीय रचना की रहस्यमय प्रक्रिया की बोधगम्य व्याख्या

ज्ञान-विज्ञान के इस युग में अब किसी स्रोत या प्रक्रिया को रहस्यमय कहना मध्य-कालीन मनोवृत्ति जैसा लगता है जो कहनेवाले की अपने युग— आधुनिक युग से सम्पृक्ति पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाता है। बीते हुए युग की चेतना से सम्पृक्त भी रहे और आधुनिक भी कहा जाय—परस्पर विरोधी बात है। 'रहस्य' पर अतिरिक्त

आस्था ही वह तत्व है, जो आधुनिक को पुरातन से पृथक् करती है। आधुनिक हर रहस्य को रैशनलाइज और सिस्टेमेटाइज—तर्कसंगत और व्यवस्थित करती है। इसलिए इस रहस्यमय स्रोत को बोधगम्य बनाते हुए कहा जा सकता है कि रहस्यमय स्तर पर स्वत:घटित होनेवाली रचना और चेतन स्तर पर किया जानेवाला दायित्वबोध—दोनों का सम्बन्ध सम्भव है। सम्भव इस प्रकार है कि दायित्वबोधपूर्वक जिया जाये और दायित्वबोध का सम्बन्ध साक्षात् रूप से रचनाकार के जीवन से हो। दायित्वबोध दूसरों के सन्दर्भ में विशेष रूप से उभरता है—लोक के, समाज के सन्दर्भ में ही उभरता है। दायित्वबोध जिन मूल्यों और विधि-निषेधों के प्रति होता है—वे दूसरों के सन्दर्भ में अपने लिए कहे गये हैं और इस दायित्वबोध से व्यक्ति की, मानव-व्यक्ति की मनुष्यता चरितार्थ होती है—उसकी ऊर्ध्वगामी सम्भावनाएँ चरितार्थ होती हैं और अधोगामी सम्भावनाएँ नि:शेष होती हैं। प्राणियों में मनुष्य ही तो है जो बनने और बिगड़ने की अपरिमेय सम्भावनाएँ लेकर आता है और प्रकृति उसे विवेक से बाँधकर स्वतन्त्र भी कर देती है, उन सम्भावनाओं की पूर्ति के लिए। इस प्रकार यही दायित्वबोध जीवन में निरन्तर आचरित होता हुआ रचनाकार की चेतना का स्वभाव बन जाता है—फिर वही परिपक्व होकर प्रेरणा बन जाता है—अचेतन में भी घर कर लेता है और अनजान अर्थात् अबोधपूर्वक भी क्रियाशील रहता है। शरीर के धरातल पर सक्रिय सीमित बोध को जो कभी स्वार्थ, लोकविरोधी स्वार्थ से भी संचालित हो सकता है—निष्क्रिय करता हुआ स्वयं सक्रिय हो जाता है, यही है रचना का होना। दायित्वबोध को जीकर ही रचना का स्रोत रचनात्मक बनता है। रचयिता की मन:स्थिति रचनात्मक होती है। उस स्रोत को बाह्य घटना भी दीप्त कर सकती है और आन्तरिक स्थितियाँ भी। वाल्मीकि के काव्य-स्रोत अर्थात् रचनात्मक मनोदशा को बाह्य घटना ने दीप्त किया था और तब, अभिनवगुप्त के अनुसार बाह्य घटना→संवाद→तन्मयीभवन→परिपूर्ण कुम्भोच्चलनवत् वाणी का काव्यात्मक विस्फोट→यह सब अनजाने सम्पन्न हुआ था। इस शाप-गर्भ काव्य-रचना की चेतन-मानस के दायित्वबोध से जब टकराहट हुई तो प्रजापति ने स्वयं प्रस्फुटित, अनजाने स्तर पर घटित का ही पक्ष लिया और मूल रचयिता प्रजापति ने कहा था—"क्रियताम् महाकाव्यम्, अव्याहतं ते आर्षचक्षु:" करो रचना तुम्हारा अन्त:चेतन या बड़ी शक्ति सक्रिय है। छोटी शक्ति की दखलन्दाजी की चिन्ता मत करो। इस प्रकार दायित्वबोध को जीवन से जोड़कर रचना के रहस्य की, अन्त:प्रेरणा के रहस्य की तर्कसंगत और बोधगम्य व्याख्या की जा सकती है।

सहजशक्ति को धारदार बनाने के लिए आयास-प्रयास भी अपेक्षित है

यह रचनात्मक शक्ति जन्मजात तो होती ही है—प्रमाण भरे पड़े हैं—अर्जित भी की जाती है। मतलब उक्त प्रकार से प्रथम श्रेणी के रचनाकारों से अनजाने रचना

हो सकती है, पर द्वितीय श्रेणी के रचनाकारों को चेतनमन द्वारा बोधपूर्वक रचना करने के लिए जूझना पड़ता है। असल में प्रथम श्रेणी के रचनाकार की बड़ी शक्ति भी धारदार होती है—चेतन स्तर के अर्जन और अनुशीलन से, द्वितीय स्तर के रचनाकार की तो बात ही अलग है। काव्यादर्शकार दण्डी ने कहा है—

न विद्यते यद्यपि पूर्व वासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्‌भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥

अर्थात् कुछ रचनाकार ऐसे होते हैं जिनके लिए प्रवृत्ति अपना सर्वस्व दान जन्मजात कर देती है। उनके पैदा होने की प्रक्रिया ही कुछ ऐसी होती है—मानव द्वारा पूर्वार्जित अद्‌भुत प्रतिमान जीन्स के माध्यम से संक्रान्त हो जाता है, पर जो ऐसे नहीं होते उन्हें भी निराश होने की जरूरत नहीं है। कवि और आचार्य दण्डी का विश्वास है कि जिस रचयिता में प्रथम श्रेणी का अद्‌भुत प्रतिभान विरासती तौर पर नहीं आता—वे भी यदि दायित्वबोधपूर्वक चेतन मन से ज्ञानार्जन और रचनाभ्यास करें—तो निश्चय ही उनमें अद्‌भुत और विस्मयावह प्रतिभा—बड़ी शक्ति पैदा हो जाती है—जो उसकी भी सीमित शक्ति पर अन्ततः हावी हो जाती है और जैसे मानव की रचनात्मक सम्भावना अपरिमेय है—वैसे ही उसको चरितार्थ करनेवाली शक्ति भी अपरिमेय है—उसकी सम्भावनाओं को भी उजागर करने के लिए दायित्वबोधपूर्वक अर्जन और अभ्यास आवश्यक है। एक तरफ कथ्य के रूप में इन्सानियत को चरितार्थ करनेवाले सामाजिक और मानवीय मूल्यों को जीवन से जोड़ना और उनको स्वभावगत करना आवश्यक है और दूसरी ओर, अनुरूप शिल्पगत क्षमता को उजागर करने के लिए सारस्वत प्रयास भी। परिपक्व स्तर पर सक्रिय रचनात्मक क्षमता में दोनों अविभाज्य हो जाते हैं। निष्कर्ष यह कि दायित्वबोध का रचना से सम्बन्ध है—पर असाक्षात्। साक्षात् रूप में दायित्वबोध रचना की तैयारी का अंग है।

परम्परा के साक्ष्य पर इन्सानियत का सहज समुच्छलन ही काव्य है

रचना के लिए मनुष्य स्वतन्त्र है—पर विवेक—सापेक्ष—दृष्टिसापेक्ष। उसकी यह स्वतन्त्रता—स्व की अधीनता है—जिस स्व का दायित्वबोधपूर्वक जीवनयापन से समष्टीकरण हो चुका है। इसीलिए तुलसी का 'स्वान्तः सुखाय', 'सब कर हित कोई' के अविरुद्ध जाता है। भारतीय परम्परा काव्य के मूल में 'परदुःख द्रवण' होना मानती है—उसी को अन्तःप्रेरणा बनाती है। अभाव सृष्टि के स्वरूप का घटक है और इन्सान उस 'अभाव' को दूर करने के लिए ही अस्तित्ववान है। मैं इसी दृष्टि से नियन्त्रित मानव को स्वतन्त्र मानता हूँ। भारतीय परम्परा का दर्शन और काव्य इसी का समर्थन करता है। भागवत कहता है कि जो उदर-भरण से ज्यादा संग्रह करता है—'स स्तेनः दण्डमर्हति'—वह चोर है—फलतः दण्डभाजन है। आदिकाव्य रामायण परदुःखद्रव का ही हिमवान् है। भारतीय चिन्तन और रचना हैवानियत

के विरुद्ध संघर्ष की परम्परायात आवाज है—कान लगाकर सुनने से काफी जोर से सुनायी पड़ती है। मध्यकाल की अन्तर्मुखी चेतना एक ऐतिहासिक दौर थी, जिसने हमें बहिरन्तः संघर्ष से काटकर अन्तर्मुखी ही कर दिया था। वह हमारी प्रकृति की संस्कृति नहीं, आपातकालीन स्थिति थी। आधुनिक काल में हमारी प्रकृति पुनः बहिरन्तर्धरातल पर जागरण के लिए अँगड़ाई लेकर उठ चुकी है। पुनर्जागरण सर्वांगीण रूप से अपनी जातीय अस्मिता का साक्षात्कार कर उससे जुड़ना चाहता है। अपनी शब्दावली में शोषक, शोषित और वर्ग संघर्ष की जगह मैं हैवान, इन्सान और अमानवीय उत्पीड़न शब्द का प्रयोग करना चाहूँगा। 'न मानवाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्' की महाभारती घोषणा के अनुसार 'मानवता' हमारी सर्वोच्च उपलब्धि है और हैवानियत या अमानवीय उत्पीड़न सबसे बड़ा पतन। साहित्यकार को इस दायित्वबोध से अपने जीवन को जोड़ना चाहिए।

अद्यतन चिन्तन और आत्मवाद तथा वस्तुवाद से उसकी टकराहट : जातीय अस्मिता

आजकल लेखकीय दायित्व पर चर्चा-परिचर्चा के निमित्त बहुत शिविर लग रहे हैं और उन अवसरों पर रचना के प्रत्येक पक्ष से सम्बद्ध अच्छा वैचारिक मन्थन हो रहा है। इस वैचारिक मन्थन में सुर-असुर सभी संलग्न हैं और खेदकर बात यह है कि इसमें पक्षधरता का विष अभी उतराता जा रहा है, पर प्रत्येक आशावादी और आस्थावान रचनाकार अमृतत्व की सम्भावना से मन्थन की प्रक्रिया को गहराता जा रहा है। भविष्य आशाप्रद है। इसी तरह का एक शिविर स्वदेश भारती के संयोजकत्व में कलकत्ता में हुआ था—जहाँ कि सुदर्शन चोपड़ा ने लेखकीय उत्तर-दायित्व की सूची से 'जातीय अस्मिता' को अजागलस्तन की भाँति काटकर अलग कर दिया था। उनका कहना था कि ज्ञान को आचरण से जोड़ते चलते रहने की प्रक्रिया में नवचिन्तन आवश्यक है, पर नव-चिन्तन की हमारे परम्परापीटक समाज में गुंजाइश नहीं। क्योंकि हमारी भारतीय संस्कृति की अति पुरातन जड़ें इतनी गहरी हैं कि वे सड़-गल गयी हैं और उनकी राह से अज्ञान का विष निकलता रहता है, वह किसी भी नये विचार की कोंपल को पनपने नहीं दे सकता। हमारी सनातन संस्कृति की जिस पुरातनता पर हमारे यहाँ का बौद्धिक वर्ग प्रायः गर्व करता है वह मेरे निकट चिन्ता का विषय है और चिन्तन का भी। और इसी चिन्ता और चिन्तन के माध्यम से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हुआ हूँ कि जिस राष्ट्र की सांस्कृतिक जड़ें जितनी कम गहरी हैं—वह नव-चिन्तन के क्षेत्र में उतना ही अधिक आगे है। "हमारी आर्य संस्कृति मूलतः ग्राम्य संस्कृति है और इसी कारण हम आज भी ग्रामीण बोध से आगे बढ़ पाने में असमर्थ हैं, जबकि नव-चिन्तन नगरबोध और महानगर बोध से जुड़ा हुआ है।" लगे हाथ उन्होंने यह भी कहा है कि—"हमारे यहाँ नव-चिन्तन के नाम पर आज भी यदि कोई चिन्तन है तो वह है सौ साल पुराना चिन्तन मार्क्स का—मानवीय इतिहास का एकांगी चिन्तन, जो कि इन सौ वर्षों के

दौरान न केवल पुराना पड़ चुका है बल्कि गलत भी सिद्ध हो चुका है—नवचिन्तन के सन्दर्भ में।" इस लम्बे उद्धरण द्वारा जातीय सांस्कृतिक विरासत से जुड़ने की सम्भावना को पूर्णतः समाप्त कर दिया गया है। ज्ञानरहित आचरण रूढ़ि है और आचरणशून्य ज्ञान वायवीय—अतः ज्ञान या नवचिन्तन से आचरण को निरन्तर जोड़े रहना चाहिए। यह सही है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी जातीय अस्मिता से कट जायें—परम्परा से विच्छिन्न हो जायें। जड़ की क्षमता ही विकास के विकास की सम्भावना है—वैसे परम्परा की जड़ों में निहित सम्भावना ही हमारे वर्तमान में भावी विकास बनकर उभरती है। जो अपनी क्षमता—जातीय अस्मिता को ही नहीं पहचानेगा, वह विकास क्या करेगा? हमारी जातीय अस्मिता की पहचान अभेदगामी 'दृष्टि' और समन्वयी संस्कृति में है। हमारी दृष्टि में मानव और प्रकृति जिसकी शक्तियों को देवता कहा गया है—परस्पर एक-दूसरे के लिए हैं। यहाँ मानव प्रकृति का और प्रकृति मानव का तर्पक है—दोनों तत्त्वतः एक ही हैं—अतः उनमें प्रतिस्पर्द्धा का भाव नहीं है—सामंजस्य का भाव है—यज्ञीय संस्कृति इसी भाव का द्योतक है। कालिदास में यही सहभाव व्यक्त है—

गां दुदोह स यज्ञाय सस्याय मधवा दिवम्।
संपद् विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवन द्वयम्॥

आयातित बोध और उसकी दुष्परिणति

आयातित पश्चिमी जातीय बोध मानव और प्रकृति में भेद मानता है—फलतः परस्पर प्रतिस्पर्द्धी हैं—मानव अपनी बुद्धि द्वारा प्रकृति पर विजय पाना चाहता है—उसे विजित करना चाहता है, फलतः वहाँ के देवता और मानव में संघर्ष होता है। उनकी चेष्टाएँ आक्रामक रूप में नियति बन जाती है, जिसके समक्ष वह विवश है। वही प्रतिस्पर्द्धा भाव विज्ञान युग में भी जातीय विरासत के रूप में सक्रिय है—फलतः प्रकृति का स्वार्थ पूर्ति के निमित्त दोहन करनेवाला जगत् न केवल अपने लिए प्रत्युत विश्व के लिए विघटन और विध्वंस का निमित्त बन रहा है। यह आयातित संस्कार तनाव का वातावरण सर्वत्र पैदा कर रहा है। इसलिए यह अकस्मात् नहीं है कि इस विध्वंस लीला से मुक्ति पाने के निमित्त विश्व की दृष्टि भारत की जातीय अस्मिता की सम्भावनाओं की ओर लगी हुई है।

रचना के दो स्तर : सायास—निरायास

रचना की इस स्तरीय और चिरन्तन रूप की चर्चा से यद्यपि यह स्पष्ट होता है कि रचना दायित्वबोधपूर्वक नहीं होती है—बल्कि सीमित दायित्वबोध की अपेक्षा बड़ी शक्ति सर्जनात्मक अनुभूति से उत्पन्न होती है, जो रचनाकार के स्वभाव से समुच्छलित होती है—तथापि जो अपरिपक्व रचनाकार हैं उन्हें कथ्य और शिल्प—दोनों स्तरों पर दायित्वबोधपूर्वक ही रचना में प्रवृत्त होना पड़ता है। अन्तःप्रेरणा वाले प्रथम स्तरीय रचनाकारों के लिए विधि निषेधमय दायित्वबोध की बैसाखी

निरर्थक है। उससे वही होता है जो 'चाहिए', क्योंकि वह लोक चेतना से एकरस है —फलतः उसका स्वभाव ही रचनात्मक है।

रचनाकार की सावधि चेतना

ठीक ही कहा गया है कि जो अपने समय से नहीं जुड़ा है, वह किसी से नहीं जुड़ा है। संवेदनशील रचनाकार पहले अपने समय से जुड़ता है और जुड़कर लेखन में प्रवृत्त होता है—यदि उसका समय शान्ति और समृद्धि का है, तो वह कला की ऊँचाइयों की ओर जाता है, पर यदि अशान्ति और अमानवीय उत्पीडन का है, तो प्रेमचन्द की भाँति यह जानते हुए भी कि 'रचना होती है', 'की नहीं जाती'—दायित्वबोध-पूर्वक रचना में प्रवृत्त होता है। प्रेमचन्द कहते हैं कि उनका समय ऐसा है कि उन्हें अवसर निकालकर दायित्वबोधपरक बातें करनी हैं। अनुभूति के उच्चतम प्रवाह के बीच उनका समय के प्रति सचेतबोध उनसे दखलन्दाजी कराता है और वे इसका समर्थन करते हैं—भले उन्हें कोई प्रोपेगैण्डिस्ट कहे—रचना की अपेक्षा उनके सचेत और सायास बोध को मुखर कहे—उन्हें इसकी चिन्ता नहीं। आज के विघटनात्मक प्रवाह और अमानवीय उत्पीड़न से त्रस्त वातावरण में यदि रचनाकार के दायित्व-बोध का सवाल खड़ा होता है—तो यह स्वाभाविक है। भले यह रचना कालांकित हो, पर है आवश्यक। समय के तकाजे को देखते हुए आज यदि दायित्वबोधपूर्वक रचना की जाती है, तो वह समयोचित है—उसके आगे रचनाकार की क्षमता है कि वह अपने कलात्मक उद्रेखण से कालजयी बन जाय।

निष्कर्ष

इस प्रकार निष्कर्ष यह कि रचना दायित्वबोधपूर्वक 'की जाती है', 'होती नहीं'। पहला स्तर अपरिपक्व रचनाकार और अशान्त माहौल के लिए है और दूसरा सांस्कृतिक प्रवाह से जुड़े स्वभावगत इन्सानियत के स्तर के लिए। बातें दोनों ही अपनी जगह ठीक हैं। ऐसा नहीं कि जो रचना 'होती' है—वहाँ दायित्वबोध नहीं है, किन्तु वह सर्जनात्मक अनुभूति नामक बड़ी शक्ति के स्वभाव में है—अलग से उसके उभरने की आवश्यकता नहीं। जो पहले स्तर पर सायास घटित होता है, वही दूसरे स्तर पर निरायास। दायित्वबोध उभरकर सहज सर्जनात्मक अनुभूति की निर्नियन्त्रित कलात्मक उड़ान को ध्वस्त कर सकता है—रचनाकार को उपदेशक और प्रोपैगैण्डिस्ट बना सकता है, पर सर्जनात्मक अनुभूति में विलीन दायित्वबोध ऐसा नहीं कर सकता—वह कला की वासन्तिक परिणति में दखलन्दाजी नहीं कर सकता।

आधुनिकता और मानवतावाद–आधुनिक साहित्य के सन्दर्भ में

'आधुनिक' होने या कहे जाने के लिए किसी 'दृष्टि' का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। 'दृष्टि' से मुख्य तात्पर्य 'पदार्थवादी' या 'अध्यात्मवादी' सोद्देश्य जीवन दर्शन से है। आधुनिक होने का लक्षण केवल आस्थाहीन तार्किकता है। ऐसी तार्किकता, जो अपने को कहीं भी बाँधना पसन्द नहीं करती, मुझे स्वीकार्य नहीं। भारतीय चिन्तन में ऐसे लोगों को 'वैतण्डिक' कहा गया है, जिनका अपना कोई पक्ष ही नहीं होता। कुछ लोग 'आधुनिकता' की पहचान इस विशेषता में कराते हैं कि प्रत्येक पूर्ववर्ती स्थापना अपनी समग्रता में त्याज्य है, चिन्तन को कहीं भी बँधना नहीं चाहिए। पर, सत्य तो यह है कि वे भी बंधे हैं। कम-से-कम इस धारणा से कि 'आधुनिक' को कहीं बँधना नहीं चाहिए। ऐसी तार्किकता महज चिन्तन के क्षेत्र में व्यक्तिगत रूप से चल जाय तो चल जाय—व्यवहार, जीवन और समाज में नहीं चल सकती। अतः ऐसा विवेक या तार्किकता 'आधुनिकता' का घटक है, जो सोद्देश्य मानव जीवन में और समाज में अपनी रचनात्मक चरितार्थता रखती हो। निष्कर्ष यह कि रचनात्मक चरितार्थता से युक्त विवेक-दृष्टि या दृष्टिकोण का नामान्तर 'आधुनिकता' कही जाय तो कोई असंगति न होगी।

परम्परा में जीवन और समाज को गति देनेवाले जीवन्त तत्त्व और जीवन्त सम्भावनाएँ भी होती हैं और निर्जीव चीजें भी। परम्परागत जीवन्त तत्त्व और जीवन्त सम्भावनाओं के प्रति आस्था भी 'आधुनिकता' की घटक है। कारण, रचनात्मकता आस्था के बिना आ नहीं सकती। इस प्रकार 'परम्परा' के प्रति भी सजगता परिभाषेय का एक घटक ही है। इसके विपरीत डॉ. विपिनकुमार अग्रवाल का मत है—"आधुनिक के माने होगा जो परम्परागत नहीं है, जिसको समझने के लिए और जिसका रसास्वादन करने के लिए पुरानी कविताओं या संग्रहालय के चित्रों का जानना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए अनुभव से कहा जाता है कि अमूर्त चित्रों को समझने के लिए पदार्थ कला की उपलब्धियों से परिचित होना न केवल अनावश्यक है, बल्कि हानिकारक भी है।"[1]

डॉ. अग्रवाल की धारणा है कि 'आधुनिक' के बारे में हम जिज्ञासु रहते ही हैं, आधुनिकता के उन पक्षों से हम अधिक आसानी से आगाह हो जाते हैं जो पुराने

दौरों से मेल खाते हैं और वे पक्ष, जो उसके नयेपन के द्योतक हैं, पृष्ठभूमि में चले जाते हैं। उनके अनुसार ऐतिहासिक या पारम्परिक सन्दर्भ में जब हम किसी नवनिर्मित वस्तु का अध्ययन करते हैं तब चूँकि प्रत्येक नवनिर्मिति में अधिकांश पूर्व निर्माण शेयर करता है और बहुत स्वल्प नया, फलतः स्वल्प होने के कारण नयापन प्रायः उपेक्षित हो जाता है—जो नवनिर्मिति का सबकुछ होता है--फलतः कलाकार मारा जाता है। इन सबके बावजूद भी श्री अग्रवाल मानते हैं[2] कि इतिहास और परम्परा को इसलिये जानना ही नहीं चाहिए, क्योंकि कलाकार ने कुछ जाना नहीं कि वह बिगड़ा। इतिहास आवश्यक है, क्योंकि अनिवार्यतः उसी के अंश लेकर हम नये को गढ़ते हैं। पर इससे अधिक इसका महत्त्व नहीं है। वह पूरी तस्वीर नहीं है। आधुनिकता का एक पहलू वह है जो वह बीते हुए से शेयर करता है और दूसरा वह जो उसकी अपनी देन है, उसका अपना विशेष गुण है, क्योंकि यही वह है, जो नयी दिशाएँ खोल सकता है। यह उस एक डिग्री तापमान के बराबर है जो 99 को 100 तक पहुँचाता है और पानी में उबाल पैदा करता है। इस प्रकार वे परम्परा को सर्वथा उपेक्षणीय तो नहीं मानते परन्तु उनका विरोध भी करते हैं, जो परम्परा को अधिक महत्त्व देते हैं। उनकी दृष्टि में परम्परा को वे ही अधिक महत्त्व दे सकते हैं, जिन्हें आधुनिक का कोई अनुभव या ज्ञान नहीं है। जो आधुनिक को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देख रहे हैं और उसे ही सम्पूर्ण मानते हैं वे क्लाइव बेल के इस प्रश्न को चरितार्थ करते हैं—"क्या वे समझ सकते हैं कि ऐसा नियम है कि कला का इतिहासकार सौन्दर्यानुभूति का सबसे बाद में एहसास करनेवाला होता है?" मतलब आधुनिकता को समझने के लिए ऐतिहासिक अध्ययन या पारम्परिक चेतना का बहुत कम मूल्य है, क्योंकि इससे अनुसन्धायक की—1. चलराशियाँ परिवर्तनहीन हो जाती हैं, 2. इसका प्रयोग आधुनिकता को बिना जाने या समझे हुए किया जाता है और 3. यह जिस चीज का अनुसन्धान करने चलता है, उसे गलत ढंग से बदल देता है। उसकी दृष्टि—वैज्ञानिक दृष्टि में 'आधुनिकता' एक खण्डित घटना है, जिसका बीती हुई घटनाओं से बहुत दूर का सम्बन्ध है। उन्हें 'आधुनिकता' और क्वाण्टम् सिद्धान्त की समस्या में एक उपयोगी समानता दिखायी पड़ती है और वह यह कि व्यापक परीक्षक किसी सूक्ष्म-कण के परीक्षण के दरम्यान उसे अनिश्चित ढंग से बदल देता है। 'आधुनिकता' की प्रकृति वैसी ही सूक्ष्म है। इसे समझने के लिए ऐतिहासिक प्रभावों की अपेक्षा उपस्थित प्रभावों को धैर्यपूर्वक बैठकर इकाइयों में अलग किया जाय तो अच्छा है। इस पद्धति की भी सीमाएँ हो सकती हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा 'आज की आधुनिकता' पर विचार करते हुए उपस्थित प्रभावों में 'रोमाण्टिसिज़्म' को बहुत ही घातक मानते हैं और चिन्तित होकर देखते हैं कि कहाँ तक और किस कोटि का रोमाण्टिसिज्म उनके आसपास भटक रहा है। उन्हें लगता है कि जरा-सा रूमानी तत्त्व आया कि सबकुछ ढह जायेगा। डॉ. अग्रवाल मानते हैं कि जहाँ विरोध दीखे वहीं आसपास 'आधुनिकता' के मिलने की सम्भावना है। 'आधुनिकता' जुड़ जाने में नहीं, अलगाव की शुरूआत करने में है। कहा जा सकता

है कि यदि यही आधुनिकता है तो वह निरुद्देश्य और सतही है। सही है, ध्येय का पूर्वाभ्यास शिल्प को जन्म दे सकता है, कला को नहीं। कला में अन्त तभी स्पष्ट होता है जब रचना प्रक्रिया पूरी हो जाती है। अन्त को पहले से तभी जाना जा सकता है जब हम रचना प्रक्रिया के पूर्व सजग हों और यह केवल व्यवसायी कला या शिल्प में सम्भव है।[3] वास्तुकार की प्रक्रिया और प्रयोजन पूर्व निर्धारित नहीं है--इसीलिए परम्परा से जोड़कर देखने की गलतफहमी भी हो सकती है। वस्तुतः उनकी दृष्टि में परम्परावादी उनकी 'आधुनिकता' में उद्देश्य ढूँढ़ेगा और उसे न पायेगा—यह स्वाभाविक है। परम्परावादी 'आधुनिकता' की परिभाषा 'उद्देश्य घटित' करेगा। डॉ. अग्रवाल की यह 'आधुनिकता' केवल कलागत क्षेत्र की ही है, इसीलिए वे ऐसी बात कर रहे हैं। डॉ. अग्रवाल 'आधुनिकता' का सम्बन्ध उस परम्परागत विषय-वस्तु को नहीं मानते जो परम्परा प्रतिष्ठ और गम्भीर है, खासकर जब रचनाकार को उससे मोह हो। विपरीत इसके वे मानते हैं कि 'आधुनिकता' में परम्परा के प्रवेश के लिए उससे विरक्ति अपेक्षित है और कच्चे माल की तरह उसका उपयोग आवश्यक है। 'आधुनिकता' का आग्रह सुधारने में नहीं, सर्जन में है, वह आकार को सुधारती नहीं, सृष्ट करती है। विषयवस्तु आधुनिकता की समस्या ही नहीं है, उसकी मुख्य समस्या अभिव्यक्ति की है। इसके लिए वे औजार परम्परा के राजपथ से नहीं, उपेक्षित गली-कूचे से लेते हैं। परम्परा की अपेक्षा ये वास्तविकता और आडम्बरहीनता से अपनी भाषा को लैस करते हैं जो चीजों को कम, उसके सम्बन्धों को अपना लक्ष्य ज्यादा बनाती है। 'आधुनिकता' का सम्बन्धों और आकारों से गहरा लगाव है। रघुवीर सहाय की भाषा में यही सब तो है।

कहा जाता है कि यह टूटने का युग है। हर चीज टूट रही है। तोड़ने की शक्ति में असाधारण वृद्धि हो गयी है। अतः अब ऐसा कुछ रचना चाहिए जो प्रहार कर सके। इसीलिए आधुनिकता की सृष्टियाँ भारी-भरकम आकारवाली नहीं हैं। वे अपनी पहुँच को देखती हुई छोटे आकार की हैं। मित कथन करती हैं, सादी और अभेद्य हैं। इनको पहचानने के लिए नये ढंग से देखना आवश्यक है। आधुनिकता ने अति साधारण और अतिशब्दार्थमयता की चरमसीमा छू ली है। फलतः डॉ. अग्रवाल की मान्यता है कि सम्बन्धों और आकारों से गहरा लगाव और अत्यधिक सामान्य अतः सर्वमान्य तक पहुँच के लिए उसने अमूर्तन का रास्ता पकड़ा है। अमूर्तन का यह रास्ता छायावाद में भी था पर वहाँ कल्पना की वस्तु को अभिजात भाषा में प्रस्तुत किया जाता था, आज का लेखक यथार्थ के क्षेत्र से गृहीत घटना को बोलचाल की भाषा में व्यक्त करता है। उदाहरण के लिए कोलाज और टूटे यन्त्र से बनी मूर्तियों को देखा जा सकता है। छायावाद की तुलना में नयी कविता की कृतियों में अमूर्तन और उसका क्रिस्टल की तरह का आन्तरिक संगठन है।

निष्कर्ष यह कि डॉ. अग्रवाल मेरी उक्त स्थापना के विरुद्ध पड़नेवाली अनेक बातें कह गये हैं। इस वैपरीत्य का कारण एक तो उनकी सीमा है, आधुनिकता को कला के क्षेत्र तक ही रखना। वैसे रखा तो मैंने भी है--आधुनिक काव्य के सन्दर्भ

में ही। वे 'आधुनिकता' को 'परम्परा' के सन्दर्भ में देखने की अपेक्षा उपस्थित सन्दर्भों में ही परखना ज्यादा उचित समझते हैं और छायावादोत्तर 'नयी कविता' के सन्दर्भ में उसे उसकी विशेषताओं के साथ स्पष्ट करते हैं। इस सीमा में वे न तो 'परम्परा' की सजगता को आवश्यक मानते हैं और न ही 'उद्देश्य' की स्पष्टता को।

वास्तव में 'आधुनिकता' कालगत विशेषता के रूप में भी समझायी जाती है और दृष्टिगत विशेषता के रूप में भी। जब हम प्राचीनकाल और आधुनिककाल कहते हैं, तब वह कालगत है और जब प्राचीन दृष्टि और आधुनिक दृष्टि कहते हैं, तब दृष्टिगत प्रतीत होती है। उभयत्र उसे सापेक्ष मानकर व्याख्यायित किया जाता है। यह अपेक्षा अतीत या परम्परा से ही है। मतलब यह कि एक विचारधारा कहती है कि आधुनिकता का पुरातन की सापेक्षता से भिन्न स्वतन्त्र कोई अस्तित्व सिद्ध ही नहीं किया जा सकता, जबकि दूसरी विचारधारा जिसका ऊपर संकेत किया जा चुका है, प्रतिपादित करती है कि आधुनिकता अपने में अलग महत्व रखती है तथा उसकी पुरातन निरपेक्ष व्याख्या करना ही उसे सही रूप में समझना है। दूसरे पक्ष को खोखला और बड़बोला बताते हुए पहले पक्ष के समर्थन में डॉ. गुप्त कहते हैं —"आधुनिकता का अर्थ मेरे निकट पुरातन को गाली देना नहीं है, वरन् सारग्राहिणी तत्त्व दृष्टि के साथ विगत सांस्कृतिक समृद्धि को आत्मसात करते हुए मानव की वर्तमान नियति एवं उसके भावी विकास के प्रति अपने दायित्व का विशिष्ट एवं सक्रिय अनुभव करना है। व्यक्ति के भीतर सजगता और संवेदनशीलता का परिविस्तार होने पर अतीत एक बिन्दु पर समसामयिक भी प्रतीत होने लगता है। इसके विरुद्ध विचार एवम् चेतना में संकीर्णता आने पर बहुत-सा समसामयिक भी अतीत की तरह दूरवर्ती, निरर्थक एवं निष्प्रेरक लगने लगता है। उनके विचार से सही अर्थ में आधुनिकता उस विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से उपजती है जो व्यक्ति को वास्तविक युगबोध प्रदान करने के साथ-साथ अधिक दायित्वशील, सक्रिय और मानवीय बनाता है।" मेरी उक्त परिभाषा के अधिक नजदीक है यह चिन्तन।

आधुनिकता के लिए नये-से-नये का जानना तो आवश्यक है, पर जो भी नये से नया हो, वह सब 'आधुनिकता' का घटक नहीं है। प्रायः आज की नव-नव मानसिकता को 'आधुनिकता' से सम्बद्ध किया जाता है और कहा जाता है कि 'आधुनिकता' की समझ के लिए आज की मानसिकता को समझना आवश्यक है, क्योंकि वह भी किसी-न-किसी प्रकार उसका उत्स है। इसी सन्दर्भ में 'आधुनिकता' को 'अध्यात्म' से काटकर 'विज्ञान' से जोड़ा जाता है। लगता है 'विज्ञान' से पूर्व 'आधुनिकता' थी ही नहीं। 'परम्परा' से काटकर आधुनिकता को देखने पर वह कैसी हो गयी है, इलियट का एक उद्धरण लें—The tendency of unlimited industrialism is to create masses of men and women detached from tradition susceptible to suggestions; in other words, a mob

and 'a mob' will be no less a mob, if it is well fed, well housed and well disciplined.[4]

वर्तमान औद्योगिकीकरण की असंयत प्रगति से जो विषम परिस्थिति उत्पन्न हो रही है और उसमें आदमी अपने को अतीत से काटकर आधुनिकता के नाम पर कितना खोखला और निरर्थक होता जा रहा है, इसकी ओर इलियट ने संकेत किया है। मैं इसे अस्वस्थ 'आधुनिकता' के नाम पर स्पष्ट करना चाहता हूँ। यह नयी मानसिकता जो वैज्ञानिक सन्दर्भ की उपज है, है क्या ? बात यह है कि नया प्रस्थान चेतना को भी भौतिक ही मानता है। भौतिक तो भौतिक है ही, यानी कुल मिलाकर भौतिक ही सत्य है, चरम सत्य है। विश्व चेतना की तह में चाहे जो हो, जो कुछ चल रहा हो, अभी परीक्षणीय है, पर जो कुछ जाग्रत चेतना पर हावी है, वह यह कि भौतिकता ही व्यष्टि और समष्टि दोनों क्षेत्रों में सर्वोपरि प्राप्य है। व्यष्टि के धरातल पर देह को दैहिक आवश्यकता तथा समष्टि के धरातल पर राष्ट्रों का भौतिक वृत्त और भौतिक वैभव ही आज की जागृत चेतना का सर्वोपरि उभरा हुआ रूप है। इस प्रवाह के कारण विश्व की भौतिक शक्तियाँ, इसी उद्देश्य को प्राप्त करने में प्रतिस्पर्धी बनी हुई हैं। इस प्रतिस्पर्धी प्रवाह का सर्वोपरि मूल्य 'अर्थ' है और तदर्थ व्यवसाय माध्यम है। इस प्रकार आज का जाग्रत समष्टि चेतना प्रवाह व्यावसायिक हो गया है। व्यष्टि और समष्टि लक्ष्यपूर्ति के लिए चाहिए अर्थ, और 'अर्थ' के लिए इस दौड़-धूप में संक्षिप्त मार्ग है व्यवसाय। फलतः, जो जीवन और समाज का नवप्रवाह है, उसकी मानसिकता व्यावसायिकता का पर्याय है। यह व्यावसायिकता मानवता की विरोधी है। इस मानसिकता ने दानवीय भावनाओं और क्षयिष्णु वृत्तियों तथा अनुरूप परिवेश की सृष्टि की है। फलतः साहित्य में इसी नवीनता को आधुनिकता समझकर उरेहा जा रहा है। अतः जो जितनी ही मात्रा में इस मानसिकता को उरेह रहा है, हम उसे उतना ही आधुनिकता सम्पन्न समझ रहे हैं। इस प्रवाह में ऐसी मानसिकता के दर्शन भी (अस्तित्ववाद[5]) 'आधुनिकता' की परिधि में घिसटते चले आते हैं। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास—सर्वत्र इस मानसिकता का प्रतिबिम्ब मिलता है और उसे आधुनिकता के सन्दर्भ में उद्धृत किया जाता है। एक लेखिका मोहन राकेश की कृतियों के सन्दर्भ में 'आधुनिकता' को परिभाषित करती हुई लिखती हैं—"इसीलिए आधुनिकतावादी साहित्य में विकृत का तत्व अत्यधिक प्रबल है। दूसरे शब्दों में इसे कहा जा सकता है कि आश्चर्य, उत्तेजना, सन्त्रास, आत्मनिर्वासन, आत्महत्या या आत्महनन, विभीषिका, विसंगति, अपमान, नैराश्य तथा कुण्ठा इत्यादि ही आधुनिकतावादी साहित्य के प्रेरक तत्व हैं। इसलिए 'आधुनिकता' के काव्य के सन्दर्भ में उल्लेख्य विशेषताएँ हैं—बुद्धिवाद, व्यंग्योक्ति, विसंगति, सांकेतिकता, दुर्बोधता, रूखापन, अनास्था, कटुता, अनुभूति तथा अजनबीपन आदि।"[6]

इस तरह साहित्य में जो आधुनिकता की पहचान करानेवाले तत्व हैं, वे इसी मानसिकता की उपज हैं। कुछ उदाहरण लें—

श्रीकान्त वर्मा की पंक्तियाँ हैं—

बाध्य हैं हम दोनों
एक दूसरे से घृणा
करते हुए
करने को प्यार ।[7]

डॉ. धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' से 'आधुनिकतावादी' दृष्टिकोण का एक उदाहरण लें—

इसलिए सूने गलियारे में
निरुद्देश्य-निरुद्देश्य
चलते हम रहें सदा
दाँये से बाँये
और बाँये से दाँये ।[8]

पहले उद्धरण में समाज का सन्दर्श, यौन नैतिकता के संस्कार तथा व्यक्तिगत यौन भावनाओं के अदम्य समुच्छलन से उत्पन्न अविश्वास और विसम्वाद की स्थिति का चित्रण है, नये सामाजिक ढाँचे की नयी मनोवृत्ति है; पर क्या इसे ही 'आधुनिकता' का नामान्तर कहें ? हाँ, यदि इस 'चक्रव्यूह' से हम सजग रूप में अवगत हैं और उससे उबरने की दिशा में कोई रचनात्मक प्रेरणादायी प्राप्ति का प्रयोग करते हैं, तो हम अधिक शक्त तथा स्वस्थ आधुनिक हैं ।

दूसरे उद्धरण में अवश्य हमारे सामने एक प्रश्न रखा गया है कि निरुद्देश्य रूढ़ि का अनुवर्तन ऐसे ही करते रहें ? मुक्तिबोध के 'अँधेरे में' संकट का भी संकेत है और आत्मान्वेषण की स्थिति की भी झलक है और इसका कारण है—उनकी 'दृष्टि' पर आस्था । दृष्टिहीनों की रचना में रचना और प्रेरणा के तत्व नहीं मिलेंगे । मैं ऐसे लोगों के साहित्य में उरेही हुई वृत्तियों को नवीन या नवीनतम तो कह सकता हूँ, पर सर्वथा 'आधुनिक' नहीं ।

इन उपर्युक्त उद्धरणों और विवेचनाओं से 'आधुनिकता' को जिस मानसिकता से जोड़कर विवेचित किया जा रहा है, वह 'विज्ञान' के ही दायरे में सोचने का परिणाम है । 'आधुनिकता' शब्द जरूर इस प्रवाह में उभरकर आया, परन्तु यह दृष्टिकोण इस दायरे से बाहर नहीं था । यह सोचना गलत होगा और इसीलिए इसे किसी खास दायरे की 'नवीनता' के प्रवाह रूप में विवेचित करना भी गलत होगा । ये ही लोग जब तुलसी की अपेक्षा कबीर को आधुनिक कहते हैं तब क्या समझकर कहते हैं ? कबीर में जो कुछ भी आधुनिकता के नाम पर दृष्टिगोचर होता है, क्या उसके मूल में अध्यात्मपरक दृष्टि नहीं है ? इसीलिए अध्यात्म और विज्ञान की रेखा खींचकर नवीनता के पर्याय रूप में 'आधुनिकता' के विवेचन का ही परिणाम है कि इसे प्रायः शहरी जीवन से ही जोड़कर देखा जाता है और फलितार्थ के रूप में निम्नांकित निष्कर्ष निकाला जाता है—

"मनुष्य को आध्यात्मिक मानवतावाद से मुक्त करके प्राचीन सामाजिक प्रति-

मानों, सम्बन्धों, संस्कृति तथा परम्पराओं आदि के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करने का ही नाम आधुनिकता है।"

वैदिक ऋचा है—'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः'। कौन कहेगा कि यहाँ आधुनिकता नहीं है? 'पर उपकार सार श्रुति को' का उद्घोष करनेवाला 'अनाधुनिक' है? दृष्टिहीनों और फैशनपरस्तों की विकृत आधुनिकता को रेखांकित करते हुए मार्क्सवादी चिन्तक अमृतराय तक ने रचनात्मक विवेक को आधुनिकता के रूप में परिभाषित करते हुए इस भ्रम से पाठकों को सचेत किया है कि वे कहीं समाजवाद को ही आधुनिकता का पर्याय न समझ लें। मतलब, अन्य दृष्टिवालों में भी आधुनिकता मिल सकती है।

इस विषय में कुछ राष्ट्र विकसित माने जा रहे हैं और कुछ अविकसित। विकसित राष्ट्र औद्योगिक प्रगति की ऊँचाइयाँ छूकर अनेक प्रकार के अन्तर्विरोधों से टकराहट और तद्जन्य विशेषताओं का भी अनुभव कर रहे हैं। विज्ञान की रचनात्मक शक्ति से चमत्कृत होने के बाद उसकी नाशक शक्ति से आतंकित हो रहे हैं। पारस्परिक स्पर्धा के चक्र में पड़कर वे विक्षिप्त की तरह युद्ध की विवशता पैदा कर शान्ति खोज रहे हैं। अविकसित देशों में अभी पहला दौर है। अतः इनकी 'आधुनिकता' उनसे भिन्न हो सकती है। अपनी-अपनी दृष्टि से अपने विकास क्रम में परिस्थिति के अनुरूप आधुनिकता की ऐसी व्याख्या करनी होगी, जो उसके यथार्थ को छू सके और जिसमें अन्य देशों के कटु अनुभवों के ज्ञान से लाभ उठाने की सजगता भी वर्तमान हो। देशों की प्रगति के धरातल भले ही भिन्न हों, पर विश्व-मानव की नियति विभाजित नहीं है।

आधुनिकता के नाम पर मैं जितना ही सोचता हूँ—मुझे लगता है कि मानवतावादी (Humanitarianisn) जीवनदृष्टि इसका प्रधान और मूल आधार है। मानवता को परिभाषित करते हुए कहा गया है—"Any view in which interest in Human Value is Central"। विभिन्न देशों और युगों में जहाँ भी पुरातन से आधुनिक का संघर्ष हुआ, वहाँ उसके मूल में कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में मानवीयता की उपेक्षा और तज्जन्य विरोध अवश्य निहित रहा है। दास-प्रथा, राजतन्त्र, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, उपनिवेशवाद का विरोध इसी कारण हुआ कि इनमें कहीं-न-कहीं अमानवीयता की गन्ध थी। उसे हटाकर ही प्रगति सम्भव थी। इनसे संघर्ष में ही हमें सन्तोष मिलता है और अपनी सार्थकता प्रतीत होती है। मतलब यह कि जिनके पीछे मानवतावादी दृष्टिकोण निहित न हो, आधुनिकता के नाम पर प्रचलित वे सारी बातें निरर्थक हैं।

'दि फिलासफी आफ ह्यूमेनिज्म' में 'कारलिस लेमाण्ट' ने मानवता के दस सूत्र निर्धारित किये हैं। 'मनुष्य' को केन्द्र से हटाकर 'आधुनिकता' के विषय में सोचने पर हम क्या पा सकते हैं? प्रजातन्त्र और समाजवाद का संघर्ष भी इसी के अनुवर्तन से सम्भव है। युंग ने भी आधुनिकता और आधुनिक मनुष्य को इस तरह परिभाषित किया है—The modern man is a newly formed human

being, a modern problem is a question which has just arisen and whose answer lies in the future...it must be clearly understood that the mere fact of living in the present does not make a man modern, for in that case every one at present alive would be so. He alone is modern who is fully concious of the present'[9]
अर्थात् आधुनिक मनुष्य वह है जो वर्तमान के प्रति पूर्ण सजग हो। युंग ने समय निरपेक्ष बनाकर आधुनिक की परिभाषा नहीं दी। युंग मानता है कि पुरातन युग की चेतना के समस्त स्तरों की मानसिकता को भोगकर उन्हें पार करते हुए ही आधुनिकता तक पहुँचा जा सकता है। यूरोपीय आधुनिक मनुष्य विज्ञान से सन्त्रस्त होकर आन्तरिक जीवन के तथ्यों की शरण लेने पर विवश हो रहा है। आइन्स्टाइन जैसा वैज्ञानिक भी इसी बात को प्रकारान्तर से व्यक्त करते हुए लिखता है— the serious scientific workers are the only profoundly religious people.
इन सबसे स्पष्ट है कि विज्ञान के निकट ले जाकर आधुनिकता की व्याख्या करना उल्टी और अर्थहीन पद्धति है। यदि आधुनिकता की कोई सार्थकता है तो वह मानवीयता संवलित है, विशिष्ट युगबोध में ही है, जिसके लिए विज्ञान की अपेक्षा ऐतिहासिक पद्धति का ज्ञान अधिक अपेक्षित है। कला की परिधि को लाँघकर सामान्य 'आधुनिकता' पर विचार करनेवाले भी इसी धारणा से सहमत हैं। नेहरू ने कहा है—"the modern mind that is to say better type of the modern mind, is practical and pragmatic, ethical, social altruistic and humanitarian. It is governed by a practical idealism for social betterment. The ideals that move it represent the spirit of the age, the 'yugdharm'"[10]
स्पष्ट ही यहाँ मानवतावादी और सामाजिक दृष्टि से आधुनिक दृष्टिकोण का अभिन्न सम्बन्ध माना गया है।

सन्दर्भ

1. डॉ. विपिनकुमार अग्रवाल : आधुनिकता के पहलू, पृ. 13
2. वही, पृ. 17
3. वही, पृ. 24
4. डॉ. जगदीश गुप्त : नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ, पृ. 20
5. कु. उर्मिला मिश्र : आधुनिकता और मोहन राकेश, पृ. 21

6. कु. उर्मिला मिश्र : आधुनिकता और मोहन राकेश, भूमिका, रामचन्द्र तिवारी, पृ. 5
7. वहीं से उद्धृत, पृ. 32
8. डॉ. धर्मवीर भारती : अन्धायुग, पृ. 29
9. डॉ. जगदीश गुप्त : नयी कविता : स्वरूप एवं समस्याएँ, पृ. 25
10. पं जवाहरलाल नेहरू, The discovery of India, पृ. 557

खण्ड : तीन

हिन्दी समीक्षाधारा और उसके प्रमुख स्तम्भ

रीतिकालीन आचार्यों के काव्य-सिद्धान्त

जिसे हम भारतीय काव्य-चिन्तन का प्रौढ़ एवं परिणत रूप मानते हैं, वह संस्कृत काव्यशास्त्र में उपलब्ध है। प्राकृत और अपभ्रंश ने इस दिशा में न तो कुछ जोड़ा और न ही विशेष रुचि ली। मध्यकालिक भक्त आचार्यों और कवि आचार्यों ने 'संस्कृत' तथा 'भाषा' के माध्यम से पुन: रुचि लेनी आरम्भ की और जोड़ना भी। एक बात अवश्य है। लक्षणग्रन्थों के प्रणयन में जो उद्देश्य और चेतना संस्कृत के आचार्यों में थी, वह 'भाषा' के कवि आचार्यों में नहीं है। संस्कृत के आचार्य आचार्य थे और अपने क्षेत्र में उद्‌भावन तथा विवेचन उनका मूल लक्ष्य था। भाषा के आचार्य कवि थे और राजसभा में बड़प्पन पाने के निमित्त **चमत्कार युक्त** तथा **सरस काव्य रचना** उनका लक्ष्य था। कभी-कभार आचार्यत्व उदग्र भी हुआ तो सामने थे—सुकुमार बुद्धि आश्रयदाता, उनके कुमार और पार्षद ! मध्यकालिक रीतिग्रन्थों के विषय में सभी मर्मज्ञ इस तथ्य से सहमत हैं कि ये ग्रन्थ चिन्तन के गाम्भीर्य के अनुरोध से बने ही नहीं। इसलिए उनका निरूपण विवेचनात्मक नहीं, विवरणात्मक ही रहा। लक्षण ग्रन्थ वस्तुत: लक्ष्य बनाने के लिए सहारे का काम करते थे। 'भाषा' के कवि आचार्यों में शास्त्र सम्बन्धी नवोद्‌भावन की चेतना ही लुप्त हो गयी थी। ऐसा तो नहीं है---स्वयं भिखारीदास कहते हैं—

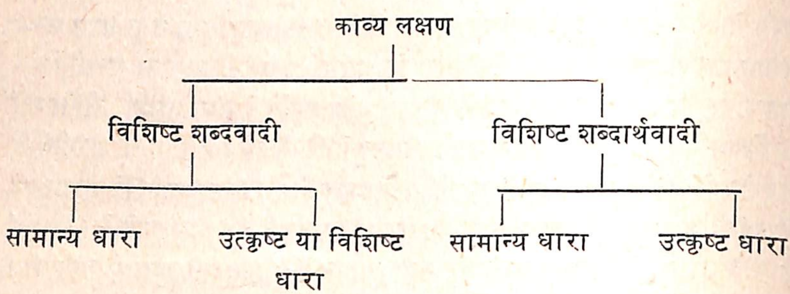
वही बात सिगरी कहें, उलथो होत मयंक।
सब निज उक्ति बनाय हूँ, रहै स्वकल्पित संक ॥

यदि चन्द्रालोक और काव्य प्रकाश जैसे संस्कृत ग्रन्थों की ही सारी बात ज्यों-की-त्यों रख दी जाय तो लोग उसे उलथा कहेंगे। साथ ही यदि सब-कुछ नवोद्‌भावित ही हो तो लोग शंका की दृष्टि से देखेंगे। अत: 'यातैं दुहुं मिश्रित सज्यों'—कुछ क्रमागत भी है और कुछ स्वोद्‌भावित भी काव्यनिर्णय में। यह प्रश्न अवश्य है कि इस प्रतिज्ञा और चेतना का निर्वाह कैसा है ? वस्तुत: काव्यशास्त्र या संस्कृत काव्यशास्त्र में भी उद्भावन की वृत्ति 'वक्रोक्ति' और 'औचित्य' सिद्धान्तों के अनन्तर ही शिथिल हो गयी थी। संस्कृत में ही आचार्यगण अब नवोद्भावित की जगह जो कुछ हो चुका था—उसी के खण्डन, मण्डन या व्यवस्थित उपस्थापन में लग गये थे। 'रसगंगाधर', 'अलंकार-कौस्तुभ' तथा 'अलंकार चन्द्रिका' जैसे

सत्रहवीं-अट्ठारहवीं शताब्दी के इन लक्षणग्रन्थकारों ने नव्यन्याय की भाषा में उठा-पटक आरम्भ कर दी। 'भाषा' भाषी समाज के समक्ष यह उदग्र पाण्डित्य 'भाखा' के माध्यम से आ भी नहीं सकता था। दूसरे, साहित्यिक कहलाने के लिए सर्जक होना जरूरी माना जाने लगा था, आज भी है। अतः 'उद्भावना' की वृत्ति पहले ही चुक गयी थी और 'पाण्डित्य' में इनका अनुवाद भी असम्भव था। आगे बढ़ने की तो बात भी नहीं की जा सकती। फलतः निष्कर्ष ही विवरणात्मक ढंग से रखे जा सकते थे। यत्रक्वचित् कतिपय नयी बातें अवश्य मिल जाती हैं पर भारतीय काव्य चिन्तन का जो सौर-प्रकाश संस्कृत काव्यशास्त्राकाश में दीप्त हो चुका था उसके समक्ष वह नगण्य ही था। इस स्थिति में रीतिकालीन आचार्यों के 'काव्य सिद्धान्त' में सर्वथा स्वतन्त्र सिद्धान्त जैसी कोई बात कम सम्भव है—फिर भी उद्धरणियों और विवरणिकाओं से उनकी जो मान्यताएँ उभर कर आती हैं, उनका उल्लेख अवश्य किया जा सकता है।

काव्य स्वरूप

संस्कृत साहित्यशास्त्र में काव्यस्वरूप निरूपक लक्षणों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—



काव्य एक विशिष्ट प्रकार की उक्ति है जो काव्येतर सामान्य उक्ति से भिन्न होती है। इस विशिष्ट उक्ति स्वरूप काव्य का लक्षण करते हुए आचार्यों ने कहीं विशेष रूप में 'शब्द' को और 'शब्द तथा अर्थ' दोनों को रखा है। इन दोनों धाराओं के लक्षणों में से कतिपय सामान्य काव्य का परिचय देते हैं और कतिपय इतने विशेषणों (दोषाभाव, गुण, अलंकार आदि) से विशिष्ट हैं, जिनका संचार केवल उत्कृष्ट काव्यों पर ही किया जा सकता है। 'भाषा' के आचार्यों ने चूँकि संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों को उपजीव्य बनाया, अतः इनके काव्यलक्षणों को भी इन्हीं चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। विशिष्ट शब्दार्थवादी धारा में 'उत्कृष्ट काव्य'[1] परक काव्यलक्षण प्रस्तुत करनेवालों में चिन्तामणि, देव, सोमनाथ, प्रताप साहि का नाम लिया जा सकता है और काव्य सामान्य[2] पर लागू होनेवाले लक्षणों के प्रणेताओं में इस वर्ग के अन्तर्गत कुलपति तथा ग्वाल जैसे लोग परिगणित किये जा सकते हैं। विशिष्ट शब्दवादी धारा के अन्तर्गत काव्यसामान्य[3] पर संचरणशील

लक्षणविधायकों में सूरति मिश्र, कुमारमणि तथा उत्कृष्ट[4] काव्य परक लक्षणकारों में केशवदास को रखा जा सकता है। इन आचार्यों में से अनेकों ने राजशेखर की भाँति काव्य पुरुष के रूपक से भी अपनी काव्यविषयक मान्यता निरूपित की है। इन लक्षणों में काव्य सामान्य के लिए विशेषण के रूप में 'सुखदानि', 'रमनीय', 'चमत्कृतभाव भरे' अथवा 'मनरंजनरीति' का प्रयोग है। उत्कृष्ट काव्य के लिए सगुन, अलंकारसहित, दूषनरहित आदि का सन्निवेश है। यह सब-कुछ संस्कृत काव्य शास्त्र में निबद्ध काव्य लक्षण एवं तद्घटक विशेषणों की उद्धरणी-भर है। एक बात अवश्य है। इन लोगों में से कुछ एक ने काव्य लक्षण के अन्तर्गत 'छन्द' का भी समावेश कर दिया है। संस्कृत में काव्य 'गद्य पद्य च तद्विधा' था, अतः काव्य का छन्दोबद्ध होना अनिवार्य हो गया। इस मध्यकाल में भाषाबद्ध न तो चम्पू लिखा गया, न ही कथा, न आख्यायिका। मौलिक गद्यबद्ध दृश्य-काव्य नगण्यप्राय थे। इसलिए छन्द का उल्लेख युगानुरूप है। एक बात और। काव्य का केन्द्रीय तत्व सौन्दर्य है, इसमें तो सभी को आस्था है और इन आचार्यों को भी, पर उस सौन्दर्य का मूल स्रोत क्या है? इस प्रश्न पर अभिनिवेशपूर्वक विचार उपलब्ध नहीं होता, जिससे उनकी काव्य-स्वरूप विषयक मान्यता एक और कोण से भी स्पष्ट होती। यद्यपि रीतिकालीन आचार्यों पर अपना मन्तव्य अभिव्यक्त करते हुए कतिपय शोधियों ने इन आचार्यों को सम्प्रदाय क्रम से विभाजित किया है, तथापि, अन्ततः अपने विभाजन पर वे स्वयं असन्तुष्ट हैं और मानते हैं कि हिन्दी रीतिशास्त्र को विभिन्न काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों में विभाजित करना सरल नहीं है, क्योंकि अधिकांश आचार्यों ने रस-अलंकार दोनों पर लिखा है और निश्चयतः किसी एक का प्रतिपादन नहीं किया। काव्य के सम्बन्ध में दिये गये पुरुषरूपकों के सन्दर्भ में कहीं व्यंग्य-ध्वनि को प्राण और कहीं रस को जीव, आत्मा, मन कहा गया है —केवल एक केशवदास ऐसे हैं जिन्होंने सब कुछ के रहते हुए काव्योचित 'सौन्दर्य' का समुद्रेक भूषण के बिना अस्वीकार कर दिया है। दूसरी ओर देव हैं कि चित्र-काव्य पर परम अश्रद्धा व्यक्त करते हैं—"चित्र काव्य जे करत ते वायस चाम चबात"। जो भी हो, लक्ष्यग्रन्थों में अलंकार और रस पर सबकी दृष्टि है। इन सब विवेचनों की संगति तात्कालिक परिवेश और श्रोता को ध्यान में रखते हुए ठाकुर की निम्नलिखित उक्ति की छाया में लगती है—

> मोतिन की-सी मनोहर माल, गुहै तुक अच्छर जोरि बनावै।
> प्रेम को पन्थ कथा हरिनाम की, बात अनूठी बनाई सुनावै।।
> ठाकुर सो कवि भावत मोंहि जो राजसभा में बड़प्पन पावै।
> पंडित और प्रवीननि को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै।।

इसी सन्दर्भ में 'कवित्व' के प्रतिमान रूप में दास की भी पंक्ति उद्धृत की जा सकती है—

मो सम जु ह्वै है ते विशेष सुख पैहे

× ×

आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई

उपर्युक्त उद्धरणों में श्रोता रूप में 'पण्डित' और 'प्रवीन' ही हैं सामान्य जनता नहीं, अतः रस से हो या अलंकार से, हृदय के रसमय प्रवाह से हो या वाग्भंगिमा से, बात अर्थात् उक्ति अनूठी होनी चाहिए। ऐसी अनूठी कि पण्डितों और प्रवीन को भी उसमें 'नवता' या ताजापन मिले--ऐसी नवता या ताजगी जिससे उनका चित्त बरबस खिंच जाय, रमकर या चमत्कृत होकर—वह स्रोत रस हो या अलंकार। अर्थात् वही अनूठी उक्ति काव्य है, जो रसात्मकता से या वाग्विकल्प से सहृदयों का चित्त आवर्जित कर ले। कवि आचार्य दास का प्रतिमान और महत्वपूर्ण है। जिस अनूठी उक्ति में रचयिता की मनःस्थिति से ग्राहक की मनः-स्थिति का जितना ही व्यापक 'संवाद' होगा, उसमें कवित्व की मात्रा वैसी ही उत्कृष्ट मानी जायेगी। जिस उक्ति ने ग्राहक पर 'सम्वादी' प्रभाव नहीं डाला--वह ठूँठ है—बन्ध्या है। समसामयिक पर 'संवाद' पैदा करना उतना कठिन नहीं है जितना कालान्तरवर्ती पर। जो अनूठी उक्ति कालान्तरवर्ती ग्राहक को भी संवादमग्न कर रिझाने की क्षमता रखे, वही कालजयी कविता, कविता है। निष्कर्ष यह कि काव्यलक्षणों और प्ररूप रूपकों के माध्यम से तो क्रमागत सिद्धान्त की उद्धरणी ही अधिक है पर इन स्वतन्त्र उक्तियों से तात्कालिक कवि आचार्यों की काव्य-स्वरूप-विषयक मान्यता अधिक स्पष्टता से उभरकर सामने आती है। दोनों ही उद्धरणों में श्रोता 'सुकवि-पण्डित' तथा 'प्रवीन' ही हैं, आम जनता नहीं। इनका चित्ताकर्षण रसात्मकता से तो सम्भव है ही, पर वैशिष्ट्य वाग्भंगिमा से ही आयेगा। यही कारण है कि 'रस' को महत्व देने के बावजूद प्रयोग में ये कवि आलंकारिक भंगिमा से उक्ति को अनूठा बनाने पर अधिक बल देते हैं। संस्कृत काव्य शास्त्र में रस की महत्ता चढ़ाते-चढ़ाते तो यहाँ तक भी कह दिया गया कि यदि कविता रसवती है तो अलंकार की कोई आवश्यकता नहीं और यदि कविता रसवती नहीं है तो अलंकार की कोई उपादेयता और चरितार्थता नहीं। रीतिकाल में कविता रसवती न भी हो तो भी 'रस' को शाश्वत मानते हुए ये रीति कवि आचार्य वाग्भंगिमा को ही, पण्डित और प्रवीनों के बीच सार्थकता मानते हैं। काव्य स्वरूप के विषय में इनकी यही परिनिष्ठित मान्यता है।

काव्य हेतु

'सुकवि संवाद' अथवा 'पण्डित-प्रवीण-चित्ताकर्षण' को कवित्व का प्रतिमान मानना सामान्य काव्य की अवहेलना तथा विशिष्ट या उत्कृष्ट काव्य को ही मान्यता देना है। उस काल के आचार्यों की औसत धारणा यही है। जहाँ वाग्-भंगिमा है, वहाँ तो पाण्डित्य की अपेक्षा ही है, जहाँ रसात्मकता ही निवेद्य है वहाँ भी प्रयुक्त पदों या प्रयोगों में सूक्ष्म तथा अनुरूप अर्थझंकृति के रूप में ध्वन्यात्मकता

का ग्रहण प्रावीण्य की अपेक्षा करेगा। राजसभा में बड़प्पन ऐसी अनूठी उक्तियों द्वारा ही सम्भव है। एक उदाहरण लें—

मानी न मानवती, भयौ भोर, सु सोच ते सोई गये मनभावन।
तेहते सासु कही, दुलही भई वार, कुमार की जाहु जगावन।
मानको सोच, जगैवे की लाज, लगी पगनूपुर पाइ बजावन।
सो छवि हेरि हेराय रहे हरि, कौन को रूसियो काको मनावन।

यहाँ आज्ञप्त नायिकोत्थ श्रृंगार का प्रसंग है। ढाई पंक्तियाँ सर्वसामान्य के अनुभव की हैं, पर परवर्ती डेढ़ पंक्तियों से अनुरूप अर्थझंकृतियाँ और वाग्-भंगिमाएँ स्वत: प्रवाहित हो उठी हैं। इस कवित्त को समग्रतया ग्रहण करने के लिए पाण्डित्य और प्रावीण्य की अपेक्षा है। निष्कर्ष यह कि 'खास' लोगों के बीच की कविता सामान्य नहीं, उत्कृष्ट होगी। और उत्कृष्ट काव्य के लिए काव्य हेतु के रूप में भिखारीदास का मत ही औसत मत होगा। मत है—

सक्ति कवित्त बनाइबे की जिहिं जन्म नछत्र में दीन्ही विधातैं।
काव्य की रीति सिख्यो सुकवीन सों देखी सुनी बहुलोक की बातैं।
दास जू जामै इकत्र इ तीनि वनै कविता मनरोचक तातैं।
एक बिना न चलै रथ जैसे धुरन्धर चक्र कि सूतनिपातैं।

स्पष्ट ही काव्य प्रकाश की—

शक्तिर्निपुणता लोक शास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

कारिका का रूपान्तर है परन्तु है अपने परिवेश का औसत मत। सामान्य काव्य केवल 'शक्ति' या केवल व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के सम्मिलित प्रयास से भी बन सकता है पर पण्डित और प्रवीनों के बीच रिझानेवाले काव्य की सृष्टि के लिए तीनों—शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास की सम्मिलित कारणता ही अपेक्षित है। केशव, चिन्तामणि, पदुमनदास, देव, कुमार मणि शास्त्री, श्रीपति तथा प्रतापसाहि आदि ने समुदित 'कारणतावाद' के पक्ष में ही अपने मत दिये हैं। असल में संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य हेतु के सम्बन्ध में दो मत हैं—(1) पृथक् कारणतावाद तथा (2) समुदित कारणतावाद। जो लोग शक्ति को पृथक् तथा व्युत्पत्ति, अभ्यास को पृथक्-पृथक् काव्य का हेतु मानते हैं, वे पृथक्कारणतावादी हैं और जो लोग तीनों की समुदित रूप में कारणता स्वीकार करते हैं—वे 'समुदित कारणतावादी' कहे जाते हैं। इन आचार्यों का औसत पक्षपात समुदित कारणता-वाद में ही है।

काव्यप्रयोजन

अन्य विचारणीय प्रमुख बिन्दुओं की भाँति काव्य-प्रयोजन के सम्बन्ध में भी इन आचार्यों ने संस्कृत आचार्यों की कारिकाओं का उल्था किया है। इन प्रसंगों में निर्माता और ग्राहक दोनों की दृष्टि से काव्य-प्रयोजन पर विचार है। भामह तथा

विश्वनाथ की भाँति काव्य से काव्यविलासकार ने 'चारि वर्ग' तथा 'सुखदता' का, मम्मट की भाँति कुमारमणि तथा सोमनाथ ने 'कीरत, वित्त, विनोद, अति-मंगल तथा भलोपदेश' का तो उल्लेख किया ही है—देव और भिखारीदास ने उस रूढ़ि से हटकर भी कुछ कहा है। देव की दृष्टि में काव्य का फल 'यश' तथा 'हरिरस' की उपलब्धि है। उन्होंने प्रयोजन के सन्दर्भ में हरिजस रस की रसिकता का उल्लेख किया है। शब्द रसायन में काव्य-प्रयोजन की दृष्टि से देव ने जो कुछ कहा है, उससे काव्य की उदात्तता और व्यापकता बढ़ जाती है। रस, प्रीति, सुखदता, ब्रह्मानन्द संवाद का उल्लेख तो प्रायः सभी ने किया है। संस्कृत आचार्यों की अपेक्षा एक विशेष उल्लेखनीय बात इन कई आचार्यों में किसी-न-किसी व्याज से मिलती है और वह है—हरिजस, हरिकथा, राधाकन्हाई सुमिरन, श्याम-जस। मध्यकाल में यह संस्कार प्रबल था—कम-से-कम स्वस्थ चिन्तकों में कि सारी क्रिया की सार्थकता कहीं-न-कहीं 'पर-तत्व' से अनुरंजित रहने में है। उसकी छलकन यहाँ भी मिल जाती है। संस्कृत के आचार्यों ने काव्यानन्द को ब्रह्मा-स्वादसहोदर कहा, पर ब्रह्म से भिन्न रखा, ब्रह्मास्वाद से पृथक् स्तर का कहा, भले ही दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म का ही वह एक सावधि रूप हो। यह ठीक है कि यह रीतिकालीन आचार्यों का प्रतिनिधि मत हो या न हो, पर वैशिष्ट्य के रूप में इसका उल्लेख अवश्य किया जा सकता है। यों ग्राहक की दृष्टि से आनन्द, रस, ब्रह्मानन्द सम्वाद, प्रीति—जो पर्याप्त है, का उल्लेख अपेक्षाकृत अधिक है—कहीं क्वचित् उपदेश की बात भी है। वैसे रसपीयूषनिधिकार ने कहा—

करै भलो उपदेश नित वह कवित्त चित चेति

इस प्रकार प्रीति और व्युत्पत्ति अथवा विवेक वृद्धि तथा आनन्दोपलब्धि मुख्यतः ये दो ही प्रयोजन ठहरते हैं। इनके साथ 'कीरति, वित्त, **विनोद** अरु अतिमंगल को देति' में कथित विनोद का भी समावेश किया जाना संगत होगा। **मनोरमण** के साथ **बौद्धिक विनोद** का पुट इस काल के गोष्ठी काव्य के लिए अत्यावश्यक था। रही व्युत्पत्ति—वह तो 'बाईप्रॉडक्ट' के रूप में ही सम्भव है।

काव्य प्रभेद

संस्कृत के आचार्यों ने काव्य प्रभेद का विचार भाषा, बन्ध, शैली, इन्द्रिय-माध्यम तथा अर्थ की दृष्टि से किया है। पर रीति ग्रन्थकारों ने केवल अर्थ की दृष्टि से काव्य प्रभेद की चर्चा की। 'भाषा' का आधार तो संस्कृत के आचार्यों ने ही छोड़ दिया था। शैली के विषय में आचार्य चिन्तामणि का कहना है—'गद्य-पद्य द्वै भाँति सो सुरबानी में होई'—अर्थात् यहाँ तो केवल पद्यबद्ध ही काव्य है—इसीलिए काव्य लक्षण में 'छन्द' का भी समावेश इन आचार्यों ने किया। इन्द्रिय माध्यम के आधार पर होनेवाले दो भेदों में से केवल श्रव्य को ही महत्व मिला, 'दृश्य' उपेक्षितप्राय रहा। इसीलिए श्रव्य काव्य को ही ध्यान में रखकर काव्यशास्त्र लिखा गया, दृश्यतत्वों की विवेचना कहीं नहीं मिलती। दृश्य काव्य

की आकांक्षा संवादात्मक रूप में श्रव्य के ही अन्तर्गत सिमटने लग गयी थी। 'बन्ध' की दृष्टि से इस काल का काव्य रूप 'मुक्तक' था, प्रबन्ध नहीं। अतः कुल मिलाकर अर्थ की दृष्टि से ही इन 'अगेय मुक्तकों' को ध्यान में रखकर विचार हुआ।

संस्कृत काव्यशास्त्र में अर्थ की दृष्टि से भी चार वर्ग मिलते हैं। महिमभट्ट ने अर्थ (रस) की दृष्टि से एक, महापात्र विश्वनाथ ने दो (ध्वनित रस, गुणीभूत रस), मम्मट या आनन्द तथा अभिनव ने तीन, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य तथा चित्र को उत्तम, मध्यम तथा अधम तथा पण्डितराज ने उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम—कुल चार भेद माने हैं।

आचार्य केशव ने तो काव्य भेद की चर्चा ही नहीं की, उसकी जगह 'कविप्रिया' में कवि के तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम तथा अधम। कवि भेद की बात सस्कृत ग्रन्थों में भी है। परवर्ती रीति-आचार्यों ने अर्थ की दृष्टि से काव्य-प्रभेद का उल्लेख किया है। चिन्तामणि, कुमारमणि, सोमनाथ, प्रतापसाहि, तथा ग्वाल आदि ने उत्तम, मध्यम एवं अधम रूप में अर्थ की दृष्टि से काव्य के तीन भेद किये हैं। इनमें से प्रतापसाहि और ग्वाल थोड़े सजग हैं। शेष चालू ढंग से अपनी बात कह गये हैं। वस्तुतः व्यंग्यार्थ जहाँ सर्वातिशायी और स्फुट हो वहाँ उत्तम काव्य, जहाँ अप्रधान स्फुट, अति स्फुट और अस्फुट हो, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य और जहाँ अस्फुटतरातिरिक्तव्यंग्य साहित्य हो—वहाँ अधम काव्य माना जाता है। यह भेद ध्वनिवादियों द्वारा आविष्कृत है और वे आत्मा की भाँति व्यग्यार्थ का अस्तित्व काव्य मात्र में मानते हैं। अतः जो आचार्य चित्रकाव्य में व्यग्य का सर्वथा अभाव समझते हैं, उनकी समझ चालू ढंग की है। पर प्रतापसाहि और ग्वाल सचेत हैं। वे व्यग्यार्थ का सर्वथा अभाव नहीं मानते। प्रतापसाहि लिखते हैं—

> ढँकी शब्द सो व्यंग्य जहँ शब्दचित्र सो जानि।
> समुझि परै नहिं अर्थ सों अर्थचित्र पहिचानि॥

जहाँ शाब्दिक चमत्कार इतना उदग्र हो कि अस्फुटतर व्यंग्य रहकर भी अनदेखा रह जाय, वहाँ शब्द चित्र और जहाँ अर्थ (वाच्य) चमत्कार से व्यंग्य चमत्कार ढँका रह जाय, वहाँ अर्थचित्र की स्थिति मानी जायेगी। इसी प्रकार ग्वाल ने भी ठीक लिखा है—

> शब्द चित्र या अर्थ को किंचित् व्यंग्यहु होय।
> अधम काव्य तासों कहें बहुविधि की है सोय॥

अर्थात किंचित् ही सही, पर व्यंग्य की स्थिति स्वीकार करते हैं।

काव्यात्मवाद

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने काव्य का केन्द्रीयतत्व 'चारुता' को स्वीकार किया था और इस चारुता के मूल स्रोत पर अनेकविध मत सामने आये। स्थूल बुद्धि वाले

इसे शब्द एवं अर्थ के 'स्वरूप' एवं 'संघटना'गत विशेषताओं को ही चारुत्व का स्रोत मानते रहे। स्वरूप एवं संघटनागत ये विशेषताएँ थीं, अलंकार और गुण। वे मानते हैं इन्हें शब्दार्थ स्वरूप एवं संघटनागत, पर इनमें समावेश कर लेते थे ऐसी समस्त विशेषताओं का, जो चारुतास्रोत हो सकती थीं। परवर्ती सूक्ष्म चिन्तकों ने इन्हें अयुक्तिसंगत सिद्ध किया और ध्वनिवादी चिन्तन के आलोक में पर्याप्त संगति बैठायी। ये काव्य में रसतत्व के प्रतिष्ठापक थे। पर तदवधिक अनाविष्कृत और अव्याख्यात प्रक्रिया (व्यजनात्मक) पर तर्कसंगत प्रकाश डाला। ध्वनि सिद्धान्त रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया पर प्रकाश डाल रहा था तो औचित्य रस निष्पादक सामग्री की क्षमता का प्रतिष्ठापन कर रहा था। इस प्रकार अलकार और 'रीति' का खण्डन कर 'ध्वनि' और 'औचित्य' 'रससिद्धान्त' की सुसंगत प्रतिष्ठा कर रहे थे। 'वक्रोक्ति' भी 'स्वभाव' और 'भाव' को साध्य मानता था, उसके साधनभूत 'अलंकृत' के रूप में निर्माता के पक्ष से वह काव्योचित बाँकपन को महत्व देना चाहता था। इस प्रकार परम्परा में 'रस' की सर्वमान्य प्रतिष्ठा थी। रीति और वक्रोक्ति का अनुगंता संस्कृत काव्यशास्त्रियों में ही नहीं था—अतः 'भाषा' के रीतिकालीन आचार्यों ने विशिष्ट परिवेश के अनुरूप निर्धारित काव्य प्रयोजन विनोद तथा आस्वाद—बुद्धिरंजन तथा मनोरमण के सन्दर्भ में अलंकार, ध्वनि तथा रस-सिद्धान्तों को लिया। ध्वनि भी एक प्रकार से रसनिष्पत्ति प्रक्रिया से सम्बद्ध था, अतः गृहीत होकर भी निमज्जितप्राय ही रहा। फलतः, इस काल में विशेष रूप से अलंकार एवं रस सिद्धान्त की ही चर्चा रही। रसों में भी शृंगार रस और तदर्थ नायक-नायिका भेद।

इस प्रकार परम्परा प्राप्त अभिव्यक्तिपक्षीय अलंकारवाद और अभिव्यंग्य-पक्षीय रसवाद को लक्ष्यनिर्माणोपयोगी रूप में स्वीकार कर लिया। काव्यात्मवाद से सम्बद्ध विवेचन-खण्डन-मण्डन-स्थापन-उद्भावन की ओर बढ़े ही नहीं, बढ़ भी नहीं सकते थे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। तर्क प्रतितर्कात्मकपद्धति का अभाव और लक्ष्यग्रन्थों की सामग्री को देखकर यह निर्णय करना सम्भव नहीं है कि कौन-सा आचार्य किस 'वाद' में अभिनिविष्ट है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में भी परम्परा यदि किन्हीं वादों की चली तो वे प्रायः दो ही हैं—अलंकारवाद और रसध्वनि-वाद। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि संस्कृत काव्यशास्त्रियों में जहाँ दोनों वर्गों में भिन्न-भिन्न आचार्यों की गणना की जा सकती है वहाँ रीतिग्रन्थकारों में यह दिखाना असम्भवप्राय है। निष्कर्ष यह कि इन आचार्यों का वर्गीकरण सम्प्रदाय-क्रम से तो सम्भव नहीं है। भारतीय काव्यचिन्तन के इतिहास में उद्भावन और पाण्डित्यगर्भ व्याख्यान के सोपान तो संस्कृत काव्य शास्त्र में ही समाप्त थे, अब तो थिराए हुए स्वीकृत निष्कर्षों को रूपान्तरित करना था, जो रीतिकालीन आचार्यों ने किया। युगोपयोगी चेतना, वह भी वर्ग विशेष से सम्बद्ध, से अपने को जोड़ कर भी कुछ नया कहने की हुमस उनमें नहीं थी, यह कहना कठिन है। इस सन्दर्भ में उन्हें देखना आवश्यक है।

रीतिकालीन आचार्यों की अलंकार के सम्बन्ध में क्या धारणा थी, इस विषय में उनका क्या सिद्धान्त था, इसका पता उनके[1] प्रयोगों अर्थात लक्ष्यों या लक्ष्यग्रन्थों से स्पष्ट मिलता है। (2) इस उपलब्धि की पुष्टि उनके अलंकार सम्बन्धी निरूपण से भी होती है। (3) साथ ही तात्कालिक विशिष्ट वर्गगत अलंकरण की ओर विभिन्न कलाओं में झुकाव भी उक्त तथ्य का पोषक है। (4) उस समय की कलात्मक और सौन्दर्यरुचि भी अलंकार पसन्द थी। (5) जिन रूपकों में कविता-कामिनी का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है वह सर्वांगसुन्दर रसमयी तथा नखशिख-भूषण-भूषित है। इन बिन्दुओं से विचार करने पर यह स्पष्ट है कि रीतिकालीन कविता की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं—शृंगारिकता तथा आलंकारिकता। उक्ति को आलंकारिक बनाकर उपस्थित करने की मनोवृत्ति उनकी तो है ही। जो अलंकारवादी हैं उनकी भी है, जो अपने को रसवादी या रसध्वनिवादी कहते हैं, उनकी भी। निष्कर्ष यह कि प्रयोग में ये रीतिकालीन कवि आचार्य अलंकार-प्रिय प्रवृत्ति के हैं।

अलंकार-निरूपण में भी इन कवि आचार्यों ने रुचि ली है। रीतिकालीन अलंकार निरूपण को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने संस्कृत काव्य-शास्त्र से जो कुछ प्राप्त था केवल उसका अनुवाद मात्र कर दिया। अलंकार के सम्बन्ध में विचार करने वाले आचार्य दो प्रकार के हैं—एक वे जो सर्वांगनिरूपक हैं और दूसरे वे जो केवल अलंकारनिरूपक हैं। पहले वर्ग में केशव, चिन्तामणि, कुलपति, भिखारी तथा लछिराम आदि आते हैं और दूसरे वर्ग में जसवन्त सिंह, दूलह, मूलन तथा बैरीसाल आदि हैं। इनमें संस्कृत काव्यशास्त्रियों की भाँति वक्तव्य दोनों तरह के मिलते हैं। यह भी कि—

केशव—'भूषन बिनु न विराजई कविता वनिता मीत'

देव—'अलंकार पहिरे अधिक अद्‌भुत रूप लखाति।'

दूलह—'बिनु भूषन नहि भूषई कविता वनिता चोर।'

अर्थात् अलंकार के बिना कविता में काव्योचित चारुता उत्पन्न नहीं होती। भामह की भाँति केशव की स्पष्ट ही धारणा है कि चारुता दो तरह की है—एक तो निसर्गजात और दूसरी अर्जित। निसर्गजात चारुता के बावजूद काव्य व्यपदेश के लिए अपेक्षित चारुता अर्जित चारुता है और यह है—अलंकारवश। केशव और दूलह की उक्त उक्तियों से यह स्पष्ट है।

साथ ही रसवादी देव आदि जैसे भी आचार्य हैं, जो यह मानते हैं कि कविता में सार रस है। सौन्दर्य का मूल स्रोत तो वही है—अलंकार उसे और व्यक्तता प्रदान करता है। कुलपति ने तो 'रसरहस्य' में स्पष्ट कहा है—

रसहिं बढ़ाये होय जहँ कबहुँक अंग निवास।
अनुप्रास उपमादि है, अलंकार सुप्रकास॥

अर्थात् तत्वत: अलंकार वे ही हैं जो शब्दार्थ रूपी अंग पर रहकर अंगोत्कर्ष द्वारा अंगी का उत्कर्ष करते हैं। इस प्रकार अलंकारवादियों की भाँति काव्य व्यपदेशोचित चारुता के स्रोत रूप में तो अलंकार की चर्चा मिलती ही है, इन ध्वनिवादियों की भाँति रसात्मगत सौन्दर्य के अनेक अभिव्यंजकों में से एक अभिव्यंजक स्रोत के रूप में भी मिलती है।

ध्वनिवादियों ने अलंकार का निरूपण तात्विक और व्यावहारिक दो रूपों में किया है—तात्विक रूप में प्रतिभावान् कवियों को ध्यान में रखकर उसका लक्षण किया गया है—अपृथग्यत्न निर्वर्त्य, रसाविष्ट मन:स्थिति में स्वयं खिंचे चले आते हुए अलंकरण ही वास्तविक अकलंरण है। अर्जित प्रतिभासम्पन्न कवियों के लिए कुछ नियम निर्धारित किये गये हैं, उनका पालन करने पर अलंकारों की सायास योजना भी हो सकती है। मम्मट ने प्रयोगों को ध्यान में रखकर व्यावहारिक दृष्टि से अलंकार की जो स्थिति और विशेषता बताई है—भाषा के ये आचार्य उसका भी उल्लेख करते हैं। सोमनाथ ने स्पष्ट कहा है—'अलंकार कहूँ रस को पोषत है, कहूँ उदास, कहूँ दूषक होय है'। इन सबके साथ देव ने एक बड़ी ही जीवन्त उपमा के साथ बात कही है। काव्य भी एक जैविक विकास की तरह है—जिसकी सूक्ष्मरूप में निहित सम्भावनाएँ ही अनुकूल परिवेश पाकर बाद में पुष्पित-पल्लवित होती हैं। अनुभूति काव्य का बीज है—उसी से भाषा अलंकार आदि सब फल-फूल की तरह फूटते और विकसित होते हैं। देव ने कहा—

अलंकार शब्दार्थ के फल-फूलनि आमोद

निश्चय ही यह अनुवाद नहीं, काव्य वृक्ष की जैविक प्रक्रिया से बड़ी ही हृदयग्राही उपमा है। काव्यानुभूति सर्जनात्मक अनुभूति है। इस अनुभूति की यही सर्जनात्मकता है कि वह अनुरूप भाषा में ही जन्म लेती है और काव्य रूप में पुष्पित फलित होती है।

अलंकार की ओर इन कवि आचार्यों का विशेष झुकाव था, इसका पता इस क्षेत्र से सम्बद्ध निरूपणों में कतिपय उद्भावनाओं से भी चलता है। यह उद्भावना विविध है (1) अलंकार सामान्य का स्वरूप निर्देश, जो अभी किया जा चुका, (2) अलंकार वर्गीकरण, (3) विशेष विशेष अलंकार निरूपण उद्भावन। जिस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार व्यापक और सीमित दो रूपों में निरूपित हैं उसी प्रकार रीतिकाल में भी। दण्डी ने भी अलंकार का क्षेत्र बहुत ही व्यापक माना है और जैसे दो भेद (1) अलंक्रिया वर्ग तथा (2) साधारण अलंकार वर्ग कहे हैं—उसी प्रकार केशवदास ने भी 'सामान्य' एवं 'विशेष' दो रूप कहे हैं। अवान्तर भेद-निरूपण में दोनों भिन्न-भिन्न हैं। केशव दास ने सामान्य अलंकार वर्ग के अन्तर्गत—वर्ण, वर्ण्य, भूश्री तथा राजश्री चार का उल्लेख है। समस्त कवि-प्रौढ़ोक्तिसिद्ध बातों को अलंकार कोटि में रख लिया है और बताया है कि कवि को उनकी जानकारी आवश्यक है। विशिष्ट अलंकार के अन्तर्गत 37 अलंकारों का उल्लेख है। इसी प्रकार देव ने भी मुख्य और गौण

दो रूपों में अलंकारों का वर्गीकरण किया है, यह भी सर्वथा नवीन पक्ष है।

इन अलंकार सम्बन्धी उद्भावनाओं के साथ-साथ व्यक्तिशः 22 नये अलंकारों की उद्भावना उपलब्ध होती है। केशव ने गणना, आशिष व्यधिकरणोक्ति, प्रेम अमित, युक्ति सुसिद्ध, प्रसिद्ध तथा विपरीत, मतिराम ने गुणवत्, देव ने गुणवत्, लेख, संकीर्ण, प्रत्युक्ति तथा सिंहावलोकन, रघुनाथ ने प्रेमात्युक्ति, भिखारीदास ने स्वगुण रसनोपमा, देहरीदीपक सिंहावलोकन, जगतसिंह ने संग्रामोद्दाम हुंकारा तथा रस रूप ने धन्यता, निर्णय, उन्मत्तोक्ति जैसे बाईस नये अलंकार दिये। यह अभिनिवेश सिद्ध करता है कि तात्कालिक कवि आचार्यों का अलंकार पर पर्याप्त ध्यान था।

इन सबके अतिरिक्त अंत्यानुप्रास के अन्तर्गत 'दास' ने तो तुक का विचार पर्याप्त जमकर किया है।

तुक

उत्तम	मध्यम	अधम
(1) समसरि	(1) असंयोगमीलित	(1) अमिलसुमिल
(2) विषम सरि	(2) स्वरमीलित	(2) आदिमत अमिल
(3) कष्ट सरि	(3) दुर्मिल	(3) अन्तमत अमिल

कतिपय अलंकारों की नयी संज्ञा भी दी है। जैसे उपमेयोपमा को ग्वाल ने पर्यायोपमा कहा है।

अलंकार पर इतना अधिक बल दिये जाने का एक और भी कारण प्रतीत होता है। संस्कृत के आचार्यों का दृष्टिकोण औसतन ग्रहीता की दृष्टि से काव्यास्वाद या रस निरूपण पर अधिक था, निर्माणपक्ष से उक्ति में वैशिष्ट्य लाने के निमित्त अलंकार कम। रीतिकाल में ये आचार्य कवि थे, अतः निर्माणपक्ष से उक्ति में वैशिष्ट्य लाने के लिए अलंकार पर ज्यादा बल दिया, यों रस की अपेक्षा भी बनी रही। इस प्रकार इन तमाम दृष्टियों से विचार करने पर लगता है कि काव्य में आलंकारिकता का सन्निवेश इनका एक विशिष्ट सिद्धान्त ही हो गया था।

आलंकारिकता के प्रति अभिनिविष्ट होने पर भी ये अरसिक नहीं हैं। प्रत्युत रसिक और रसोपासक आचार्य हैं। अतः अलंकार की भाँति इस पर भी इनकी कतिपय चिन्तन प्रसूत उद्भावनाएँ तो मिलती ही हैं—रसात्मक उक्तियों की स्तूपीभूत काव्यराशि भी उमड़ पड़ती है। रसों में भी सर्वाधिक चेतना-केन्द्रण श्रृंगार पर होता है और श्रृंगार के भी प्रसंग को नायक-नायिका भेद से तुन्दिल किया गया है।

इस प्रसंग में एक बात पुनः दुहराना चाहता हूँ कि ये कवि आचार्य रचना करने की क्रमागत प्रणालियों का क्षितिज विस्तार चाहते थे, अतः तात्कालिक परिवेश के अनुसार जो क्षेत्र समुचित जान पड़ता, उसमें वे भेद-प्रभेद और बढ़ाने

का यत्न करते थे। उन बातों से वे तटस्थ थे, जिसके करने से लक्ष्य-निर्माण का मार्ग या पद्धति विस्तृत नहीं होती थी। ऊपर कहा जा चुका है कि इनका झुकाव आलंकारिकता तथा शृंगारिकता की ओर था। इसीलिए और रीति, वक्रोक्ति, औचित्य—क्षेत्रों को छोड़कर अलंकार के कतिपय भेद बढ़ा दिये। रसात्मकता के क्षेत्र में इनका झुकाव शृंगार की ही ओर था अतः शृंगार के निरूपण में दत्तचित्त हुए। उसके क्षेत्र का विस्तार करने के लिए—अभिव्यंजन मार्ग का विस्तार करने के लिए शृंगार के आलम्बन आश्रय के प्रसंग में नायक-नायिका भेद का समावेश कर लिया और भेदों के क्रमागत स्रोतों तथा संख्याओं को तो आत्मसात् किया ही, वृद्धि भी की। नाट्यप्रवाह, काव्य प्रवाह, कामशास्त्र प्रवाह, भक्ति प्रवाह और इन सबके साथ फारसी प्रवाह और लोक प्रवाह का भी सम्मिश्रण कर नायक-नायिका भेद की संख्या बढ़ा दी, ताकि रचना निर्माण का क्षेत्र और बढ़ जाय।

यहाँ एक प्रश्न है, यदि लक्ष्य निर्माण की दृष्टि से क्रमागत प्रणालियों का क्षितिज विस्तार ही लक्ष्य था और इसलिए इन कवि आचार्यों का ध्यान अन्य विवादास्पद अथवा निर्विवाद बिन्दुओं की ओर न जाकर भेद-प्रभेदों की ओर ही गया, तो अलंकार की भाँति 'रीति' के भी भेद थे, वक्रोक्ति के भी भेद कहे गये थे, औचित्य के भी सत्ताईस भेद किए गये थे, इनकी ओर उनका ध्यान क्यों नहीं गया? ध्वनि के भी 10455 भेद गिनाये गये थे और गुणीभूत व्यंग्य के भेदों की इयत्ताहीनता की ओर भी संकेत किया गया है, ये कवि आचार्य उधर से क्यों विरत हो गये?

इस प्रश्न के और चाहे जो भी उत्तर हों, एक तो सीधा उत्तर यही है कि सोलहवीं शताब्दी में संस्कृत काव्यशास्त्र के सन्निहित प्रवाह में रसध्वनिवादी आचार्य ही जमे रह गये थे, जो अलंकारों पर भी जमकर पाण्डित्यपूर्वक विचार कर रहे थे। अप्पय दीक्षित और पण्डितराज इन्हीं क्षेत्रों में संघर्ष कर रहे थे। रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्यवाद जैसे प्रवाह से हट गये थे। इसके साथ-साथ हिन्दी के काव्यशास्त्रियों को भक्ति का प्रवाह भी प्रभावित कर रहा था। इसलिए अपनी आलंकारिक और शृंगारिक रुचियों के अनुरूप जो परिवेश प्रेरित थे—अलंकार और रसध्वनि का क्षेत्र ही पकड़ा। ध्वनिवाद रसध्वनि को ही महत्त्व देता है। वस्तुध्वनि में रसात्मकता नहीं है और अलंकार ध्वनि के लिए अलंकार है ही—अतः ध्वनिवाद अपने अरसात्मक सलक्ष्यक्रम भेदों के अतिरिक्त असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के रूप में गृहीत हुआ। असंलक्ष्यक्रम ध्वनि रसध्वनि ही है। इस ध्वनि में भी शृंगार रस पर इनका प्रातिभ सरम्भ सर्वाधिक था। तात्कालिक भक्ति प्रवाह के सम्पर्क ने शृंगाररस की क्रमागत धारा को प्रभावित किया। यही कारण है कि आचार्य कवि केशवदास ने नवरसों को 'ब्रजराजमय' कहा, फलतः शृंगारेतर रसों का रूप प्रच्छन्न हो गया और उजागर भी रहा, तो प्रकारान्तर से उसमें भी शृंगार की ही महक मिलती रही। भक्ति प्रवाह का प्रभाव भी इन लोगों ने भक्तों के ढंग

से नहीं, अपने ढँग से ग्रहण किया। यथावत् प्रभाव ग्वाल के 'रसिकानन्द' तक ही सीमित रह गया।

भेदोपभेद के नाम पर केशव ने प्रत्येक रस के दो भेद 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' माने। तोष ने इन दो के अतिरिक्त भूत, भविष्य और वर्तमान जैसे भेदों का उल्लेख किया है। तोष ने अन्य रसों की तुलना में श्रृंगार का विशेष निरूपण करते हुए उसे चार भागों में विभक्त किया है -- संयोग, वियोग, सामान्य तथा मिश्रित। इनमें से प्रच्छन्न और प्रकाश की चर्चा तो संस्कृत काव्यशास्त्र (रुद्र, भोज आदि) में भी मिलती है---पर शेष उद्‌भावित हैं। देव, ग्वाल, दास और रसलीन ने भी भेद-प्रभेद और अन्तर्भाव के रूप में कुछ विशेष प्रयत्न किये हैं। कतिपय आचार्यों ने (देव आदि) श्रृंगारेतर (करुण) रसों के भेदोपभेद की भी चर्चा की है, जो नये से लगते हैं, पर तर्कसंगत कम हैं। उदाहरण के लिए देव के करुण के भेदों को लें—करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण तथा सुखकरुण। देव के विशेषज्ञ डॉ. नगेन्द्र ने आरम्भिक चार को तो तारतम्य पर आधृत कहकर, मनोविज्ञान विसम्मत कहकर, व्यर्थ प्रयत्न मात्र कहा ही है, सुखकरुण को भी अन्ततः असंगत ही निरूपित किया है। हाँ, श्रृंगार के सम्बन्ध में जो कुछ इन्होंने कहा है उसकी प्रशंसा सभी ने एकमत से की है। देव ने श्रृंगारेतर सभी रसों का समावेश श्रृंगार के संयोग तथा वियोग पक्ष के अन्तर्गत किया है। इस प्रकार श्रृंगार की रसराजता प्रतिष्ठित की है। ग्वाल की रस विवेचना अपना कुछ विशेष महत्व रखती है। आचार्य प. विश्वनाथप्रसाद मिश्र की धारणा है कि कवि के रूप में चाहे इनका जो भी स्थान हो, पर रीतिग्रन्थकार के रूप में इनका पूरा महत्व माना जाना चाहिए। हिन्दी रीति शास्त्र की परम्परा में संस्कृत आधार ग्रन्थों का कदाचित् सर्वाधिक आलोचन करने वाले ये ही हुए हैं। वैसे ग्वाल देव से प्रभावित हैं। ग्वाल ही एक ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने रसस्वरूप का विश्लेषण करते हुए उसके प्रत्येक अवयव पर विचार किया है। साथ ही इसी प्रसंग में सात्विक भाव को अनुभावान्तर्गत न मानकर संचारी में अन्तर्भूत किया है और देवसम्मत कायिक और वाचिक की भाँति उन्हें 'तनज' और 'मनज' कहा है। इतना ही नहीं, इन्होंने सात्विक भाव के चालीस भेद भी अन्यथा किये हैं। रस तरंगिणी से प्रभावित देव की भाँति रस को 'लौकिक' और अलौकिक जैसे वर्गों में रखे हुए भी आधार का स्पष्टीकरण किया है। नयनादि इन्द्रियों से सम्बद्ध लौकिक और मानसिक (काव्यास्वाद) अलौकिक। अलौकिक के भी तीन भेद 1. स्वापनिक, 2. मानोरमिक, तथा 3. औपनायिक। इस प्रकार देव से वे इस माने में भिन्न भी हैं कि जहाँ देव काव्यरस को लौकिक भी मानते हैं - वहाँ ग्वाल अलौकिक ही कहते हैं। स्वापनिक और मानोरमिक तो विचार मात्र हैं - नवरसों का मूल औपनायिक ही है और वह प्रत्यक्ष मानस अनुभूति है। चर्चा तो इन्होंने भी श्रृंगारेतर रसों की पूर्ति के निमित्त की है, पर रुचि स्पष्ट ही श्रृंगार के विवेचन-विस्तार की ओर है। यही स्थिति 'दास' की भी है। श्रृंगारेतर रसों की चर्चा तो की है, पर रुचि श्रृंगार के

भेद-प्रभेद निरूपण में ही ली है। इनका विभाजन इस प्रकार है :

- श्रृंगार
  - संयोग
    - समश्रृंगार
      - संयोग श्रृंगार
      - सामान्य
    - मिश्रित
  - वियोग
    - सम
    - मिश्रित

संयोग श्रृंगार के अन्यथा भी वर्गीकरण हैं। जैसे, संयोग श्रृंगार के दो रूप—संयोग श्रृंगार तथा सामान्यश्रृंगार। संयोग श्रृंगार के भी दो रूप–नायकोत्थ और नायिकोत्थ। इसी प्रकार विप्रलम्भ श्रृंगार के चार भेद—मान, पूर्वानुराग, प्रवास, करुण। करुण का परम्परागत कथन कुछ वैचित्र्य के समय ठहराया गया है। इसी प्रसंग में हाव के क्रमागत रूप से दस अधिक हावों का उल्लेख, 22 दोहों में 'श्रृंगारनियम कथन' की लम्बी सूची आदि बातें सिद्ध करती हैं कि दास का भी झुकाव श्रृंगार की ही ओर था। हो सकता है ऊपर कही हुई बातों में से बहुत-सी अतर्कसंगत हों या क्रमागत हों, हमारा उद्देश्य इन विवरणों से केवल इतना ही बताना है कि श्रृंगार पर ये सभी संरब्ध हैं।

शोधियों ने रीति काव्य को रसनिरूपणपरक दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया है :

(1) नवरसनिरूपक आचार्य।

(2) सर्वांग या विविधांगनिरूपक आचार्य।

(3) श्रृंगार एवम् नायक-नायिका भेद-निरूपक आचार्य।

सभी वर्गों में आने वाले आचार्यों के निरूपण से यह स्पष्ट है कि इस काल के कवि आचार्यों का प्रातिभ सरम्भ जितना श्रृंगार पर है, उतना अन्यत्र नहीं। अतः काव्यात्मवाद की दृष्टि से उन्हें किसी कठघरे में खड़ा करना सम्भव नहीं। इस सन्दर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि तात्कालिक परिवेश के अनुसार सरस और चामत्कारिक रचनाओं की सृष्टि इन्हें अभीष्ट थी, तदर्थ अलंकार और इस श्रृंगार रस से ये सहज ही जुड़ गये थे और उनसे सम्बद्ध विभिन्न समस्याओं—रस निष्पत्ति प्रक्रिया, साधारणीकरण आदि – से हटकर केवल भेद-प्रभेद पर अपनी विवेचना और निरूपण को केन्द्रित कर दिया था।

नायक-नायिका भेद भी इसी श्रृंगार-निरूपण का अंग है। रीतिकालीन कवि आचार्यों ने इसी क्रम में इसी प्रकार नायक-नायिका के भी भेदोपभेद किये हैं। भारतीय काव्य-चिन्तन में मूलतः नायक-नायिका भेद का सम्बन्ध नाट्यशास्त्र और

नाट्य प्रयोग से था। धीरे-धीरे नाट्य की भाँति जब काव्य में भी रस की प्रतिष्ठा हो गयी और श्रृंगार को रसराज मान लिया गया, तब नायिका-भेद काव्यशास्त्र के अन्तर्गत भी ले लिया गया और रुद्रट तथा रुद्रभट्ट ने इस नायिका-भेद को श्रृंगार से सम्बद्ध कर दिया। रीतिकालीन नायिका-भेद की पृष्ठभूमि के रूप में एक तीसरा स्रोत कामशास्त्र और चौथा भक्तिशास्त्र का भी मिला था। कहने के लिए तो कतिपय पुराणों में भी निरूपित नायक-नायिका-भेद को एक अतिरिक्त स्रोत के रूप में लिया जा सकता है पर इसे विवादग्रस्त मान लिया गया है।

रीतिकालीन कवि आचार्यों से पूर्व सूरदास एवं नन्ददास जैसे भक्त कवियों ने भी इस विषय पर कुछ कहा था, किन्तु इसका प्रसार रीतिकालीन कवि आचार्यों के प्रयोगों और निरूपणों में अधिक दिखायी पड़ता है। रीतिकालीन इस नायक-नायिका-भेद पर रुद्रट—रुद्रभट्ट तथा रसमंजरी—की दो परम्पराओं का प्रभाव सर्वाधिक है। यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि इन नवरस-निरूपक अथवा सर्वांग निरूपक आचार्यों की मूल वृत्ति यह है कि वे रस-प्रसंग में श्रृंगारेतर रसों का चलते ढंग से निरूपण करते हैं और श्रृंगार रस पर जमकर—विशेषकर नायक-नायिका-भेद का। नायक-नायिका-भेद विवेचनाओं के साथ इन ग्रन्थों में श्रृंगार में सहायक पुरुष तथा नारी वर्ग के पीठमर्दादि, दूती एवं सखियों का वर्गीकरण तथा निरूपण है। इसी प्रसंग में नायक के गुण, नायिका के अलंकार तथा हाव का भी समावेश हुआ है।

नायक-भेद-निरूपण

नाट्य शास्त्र में प्रकृति, शील, नारी के प्रति रतिसम्बन्धी तथा अन्य व्यवहार—स्नेह, क्रोध तथा अन्यविध भावावेशों में स्वतः स्फूर्त सम्बोधनों के आधार पर नायक-भेद-निरूपण किया गया है। रुद्रट ने अनुकूल, शठ, धृष्ट तथा दक्षिण का और सहायक रूप में पीठमर्द, विदूषक तथा विट का, भोज ने कथावस्तु के आधार पर नायक, प्रतिनायक, उपनायक, नायकाभासादि, गुण के आधार पर उत्तम, मध्यम तथा अधम, प्रवृत्ति के आधार पर उद्धत, ललितादि और श्रृंगार प्रकाश में तो यह संख्या 104 तक पहुँचा देने की सम्भावनागर्भ कोशिश की है। विश्वनाथ ने 48, भानुमिश्र, उज्ज्वल नीलमणिकार तथा अकबर शाह आदि ने भी विभिन्न नये भेदों की ओर संकेत दिया है।

भेद-प्रभेद की इस निरूपण परम्परा में इस दिशा में प्रायः परम्परागत भूमिका पर ही नायक-भेद का निरूपण हुआ है। केवल केशव, चिन्तामणि, मतिराम, रसलीन, वेनीप्रवीण, सोमनाथ, भिखारीदास, रूपसाहि, पद्माकर तथा ग्वाल ने नायकगत विभिन्न गुणों का उल्लेख किया है। ये गुण वे ही हैं जिनसे नायिका नायक की ओर आकृष्ट होती है।

केशव ने रुद्रभट्ट की भाँति नायक के पहले चार भेद किये हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। इनमें से प्रत्येक के पुनः दो भेद किये हैं—प्रच्छन्न और

प्रकाश। चिन्तामणि, तोष, मतिराम, देव, कुमारमणि, सोमनाथ, भिखारीदास, रसलीन, रूपसाहि, ग्वाल आदि सभी ने नायक-भेद पर थोड़ा बहुत कहा है पर वह सब पूर्णतः उपलब्ध भेद-प्रभेदों का ही जैसे-तैसे पुनर्विन्यास है। केवल ग्वाल ने कुछ नयी बातें कही हैं, उन्होंने जात्यनुसार कतिपय नये भेदों की चर्चा की है।

नायिका-भेद

केशव से ग्वाल तक सभी आचार्यों ने नायिका-भेद का निरूपण किया है। इनके आधार रहे हैं—जाति, सामाजिक बन्धन, कर्म-अवस्था तथा गुण। जाति अथवा नारी की शारीरिक विशेषताओं के आधार पर केशव, जसवन्तसिंह, देव, तोष और ग्वाल प्रभृति आचार्यों ने विचार किया है। सामाजिक बन्धन के आधार पर स्वकीया, परकीया, सामान्या का तो सभी ने विचार किया है। केशव ही एक ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने सामान्य का उल्लेख कहीं नहीं किया। नायिका-भेद का विस्तार-पूर्वक विचार करनेवाले आचार्य हैं—देव। इन्होंने नायिका को अष्टांगवती—रूप, गुण, यौवन, शील, कुल, प्रेम, विभव और भूषण—मानकर उसके दो भेद किये हैं—स्वकीया अष्टांगवती और परकीया अष्टांगवती तथा सामान्या कुल, शील, प्रेम, और विभवहीन होने के कारण चार अंगों से युक्त मानी जाती है। स्वकीया के तेरह, परकीया के दो तथा सामान्या एक–कुल मिलाकर सोलह। प्रत्येक की आठ अवस्थाएँ अतः अवस्थाभेद से 128 उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद से 384। रसविलास में देव ने कामिनी का एक ही रूप माना है, पर साथ ही जाति, गुण, कर्म, देश, काल, वय, प्रकृति और सत्व के आधार पर असंख्य भेद किये गये हैं। इनके अतिरिक्त नागरी और ग्राम्या के भेद भी कहे गये हैं। फिर पुरवासिनी के ग्रामिणी, वनवासिनी के अन्तर्गत भी भिन्न-भिन्न भेदों का उल्लेख हुआ है। साथ ही कटकवासिनी, सैंन्यानायिका और पथिकवधू भी निरूपित हैं। कुमारमणि में भी कुछ नूतनता है। भिखारीदास ने युगचेतना से जुड़कर परदायतों और अन्तःपुर में पड़ी रखैलिनों का स्वकीया में अन्तर्भाव किया है। इनका वर्गीकरण बहुत ही व्यवस्थित है। इस प्रकार निरूपण तो सभी ने किया है पर जिन्हें थोड़ा बहुत मौलिक होने का महत्व प्राप्त है, वे हैं केशव, देव, भिखारी, रसलीन और ग्वाल।

इस प्रकार यह सारा प्रयास किसी लम्बे गहरे पाण्डित्यगर्भ विवेचन के फल-स्वरूप किन्हीं विशिष्ट उद्भावनाओं के लिए नहीं, प्रत्युत लक्ष्य निर्माण का अवसर निकाल लेने के लिए था।

इन रीतिकालीन आचार्यों ने शब्दशक्तियों, ध्वनि प्रभेदों, गुणों, रीतियों और वृत्तियों के साथ छन्दों पर भी विचार किया है। पर इन सबके गहन मन्थन और अनुशीलन से जो स्पष्ट है वह यह कि शब्दशक्ति के और ध्वनि के सैद्धान्तिक पक्ष में भिखारीदास जैसे लोग भी भ्रान्त हैं। इस सारे विवेचन और पर्यालोचन से यह स्पष्ट है कि उनका सरम्भ किसी खास काव्य सिद्धान्त के आविष्कार या स्थापना पर नहीं था। पर यह धारणा अवश्य थी कि 'रचना' जो

साहित्यकार का मुख्य कर्म है उसमें प्रवेश पाने के लिए साहित्य शास्त्र का—उसकी परम्परा का ज्ञान होना आवश्यक था। उस कवि पर विशिष्ट आराध्य वर्ग का उतना ही प्रभाव रहता था, जो काव्यशास्त्र की परम्परा में अधिकार रखकर उस गहन अभ्यास को रचना में उभार देता था। मध्यकालीन आश्रय रियाजियों का अखाड़ा था। रियाज प्रत्येक क्षेत्र में आवश्यक था। दूसरे, यह युग क्लैसिक युग था। रूपवादिता क्लैसिक साहित्य का लक्षण है। इस रूपवादिता के निर्वाह के लिए व्युत्पत्ति और अभ्यास की आवश्यकता थी। अत: प्रत्येक कवि को आचार्य और आचार्य को कवि होना आवश्यक था। संस्कृत के आचार्य आचार्य थे–पण्डित-राज आदि के समान कवि गिने-चुने थे। फलत: इन रीतिकालीन कवियों को काव्य-सिद्धान्त का प्रश्न खड़ा होने पर यही कहा जा सकता है—

1. काव्य की छन्दोबद्धता उनकी दृष्टि में अनिवार्य थी।
2. प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास आवश्यक था।
3. कविता को राजसभा में बड़प्पन पाने योग्य तथा आगे के सुकवियों को भी रिझाने योग्य होना ही चाहिए।
4. कविता से सरसता और चमत्कृति दोनों अथवा अन्यतर का उद्रेक होना ही चाहिए।
5. काव्य में चारुता के उभार के लिए आलंकारिक भंगिमा और रसवत्ता का होना आवश्यक है।
6. रसवत्ता और अलंकारिता की क्रमागत परिधि का ज्ञान रखकर उनमें नूतन लक्ष्य निर्माणोपयोगी भेदोपभेद का आविष्कार करना चाहिए। सम्भव हो तो युगचेतना से जुड़कर कोई नयी बात भी जोड़नी चाहिए।

7. यथासम्भव श्रृंगार को राधा और कृष्ण के कूलों में बाँध कर रखें, तो भारतीय मर्यादा की रक्षा, परकीया श्रृंगार निर्वाह में विदेशी साहित्यकारों से लोहा लेना, वाग्वैदग्ध्य और वाग्वैचित्र्य का उभार ले आना कवित्व का उत्कर्ष उभारना जहाँ सम्भव है—वहाँ यह सब न होने पर न तो लोक और न परलोक का ही लाभ सम्भावित है।

संक्षेप में, इन कवि आचार्यों के ये ही काव्यसिद्धान्त प्रतीत होते हैं।

सन्दर्भ

1. सगुणालंकार न सहित दोष रहित जो होइ।
   शब्द अर्थ ताको कवित कहत विवुध सब कोइ। —चिन्तामणि, कवि कु. कु. त.
2. जगतें अद्‌भुत सुखसदन शब्द अर्थ कवित्त।
   ये लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रन्थ बहु चित्त।—रस रहस्य (कुलपति)

3. बरनन मनरंजन जहाँ रीति अलौकिक होइ।
निपुन जुतिहि कवि कर्म को काव्य कहत सब कोइ। सूरति मिश्र : काव्यसिद्धान्त

4. जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त।—कविप्रिया

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और काव्यशास्त्र को उनका प्रदेय

जीवनवृत्त

प. रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सं. 1941 (1884) में आश्विन शुक्ल चतुर्दशी के अनन्तर पूर्णिमा को मध्याह्न में हुआ। इनके पिता का नाम था—पं. चन्द्रबली शुक्ल। इनकी माता भाना के प्रतिष्ठित मिश्र कुल की थी। कहा जाता है कि तुलसीदासजी इसी वंश के पूर्वजों में से थे। अपने पिता की ये चौथी सन्तान थे और दूसरे पुत्र। सतवाँसा (सात माह के गर्भ से पैदा) होने के कारण अत्यन्त दुर्बल और क्षीणकाय थे। बहुत बाद में जब नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में सम्पादित होने वाले 'हिन्दी शब्दसागर' की योजना में इन्हें महीनों कश्मीरवास का अवसर मिला, तब स्वरूप उभरा, देह भर गयी, वे मांसल और स्वस्थ हो गये। कश्मीर से वापस आने पर जब अपने पिताश्री के चरणस्पर्श करने गये, तो पिता ही अपने पुत्र को कुछ समय तक न पहचान सके। उनकी जन्मभूमि सरयू तट पर बने कलवारी थाने से एक फर्लांग हटकर बस्ती जिले का एक छोटा-सा गाँव अगौना है। गर्ग गोत्री सरयूपारीय ब्राह्मण बालक रामचन्द्र की माता का 1893 ई. में ही स्वर्गवास हो गया। फलतः पितामही की छाया में ही इनका बचपन बीता। पितामही भी 1918 में दिवंगत हो गयीं।

पिताश्री चन्द्रबली शुक्ल फारसी, अरबी तथा उर्दू के ज्ञाता थे और आकार-प्रकार, रहन-सहन तथा वेशभूषा से भी उसी संस्कृति में ढले थे। सुपरवाइजर कानूनगो के रूप में शासकीय सेवारत थे। इस क्रम में उन्हें इटावा, राठ तथा मिर्जापुर में स्थानान्तरित होना पड़ा था। राठ में ही शुक्लजी की शिक्षा का शुभारम्भ घर पर ही पं. गंगाप्रसाद से हुआ। प्रारम्भ में अंग्रेजी, उर्दू और फारसी का ही अध्ययन सम्पन्न हुआ, क्योंकि पिताश्री मिजाज से मुस्लिम सभ्यता और संस्कृति के पोषक थे। सन् 1918 में उर्दू और अंग्रेजी में मिडिल उत्तीर्ण किया। लन्दन मिशन स्कूल, मिर्जापुर से सन् 1901 में स्कूल फायनल परीक्षा भी पास की। शुक्लजी का अध्ययन आरम्भ से ही अत्यन्त मनोयोगपूर्वक होता था और वे अपनी कक्षा में प्रथम आते रहे। मिर्जापुर के रमईपट्टी मुहल्ले के एंग्लो संस्कृत

जुबली स्कूल के हेडमास्टर बाबू रामस्वरूप राय अंग्रेजी अच्छी जानते थे। फलतः- उन्होंने विशेष रुचि लेकर शुक्लजी को अंग्रेजी का अच्छा व्यावहारिक ज्ञान करा दिया। ऐसा ही मार्गदर्शन लन्दन मिशन स्कूल के हेडमास्टर काशीनाथ बरुआ तथा प्रिंसिपल पादरी एफ. एफ. लांगसैन का भी अंग्रेजी में शुक्लजी को मिला। इसी स्नेह का परिणाम था कि सन् 1901 में 16 वर्ष की उम्र में ही उन्होंने एडिसन के 'एसे आन इमिजिनेशन' का अनुवाद कर डाला था। बरुआ साहब प्रकृति के भी पुजारी थे। शुक्लजी के प्रकृति-प्रेम को सिक्त करने में भी उनका योगदान कम न था।

अध्ययन के इसी क्रम में 1896 में ही काशी के ज्योतिषी पं. रामफल पाण्डे की कन्या से उनका विवाह भी हो गया। मिडिल पास करते ही 1898 में उनका गौना भी करा दिया गया। मिरजापुर आकर पिताश्री का मिजाज भी बदल गया। आर्यसमाज के प्रभाव से हिन्दी और अपनी संस्कृति की ओर झुकाव हुआ। फलतः- जहाँ पहले शुक्लजी हिन्दी की पुस्तकें लुकछिपकर पढ़ते थे, वहाँ अब मुक्त आकाश में क्रम बढ़ा। सनातन धर्म की ओर भी रमईपट्टी के पं. विन्ध्येश्वरीप्रसाद तथा बाबू बलभद्रसिंह ने खींचा पिताश्री को। राठ के वातावरण से मिरजापुर का वातावरण भिन्न हो गया—शुक्लजी का मुस्लिम पाजामा भी उतर गया। शुक्लजी की विमाता और पत्नी से अनबन पिताश्री की नाराजगी तक परिणत हुई। 1901 में उच्चशिक्षा के लिए प्रयाग के कायस्थ पाठशाला में इण्टरमीडियट में नाम लिखाया, पर पारिवारिक अशान्ति के कारण हुई मिरजापुर की वापसी ने पिताश्री की नाराजगी और बढ़ा दी—फलतः, पिताश्री की ओर से मिलनेवाली आर्थिक सहायता बन्द हो गयी। 1902 में प्लीडरशिप की परीक्षा में भी अनुत्तीर्ण हो गये—वे अगौना पुनः लौट आये। 1903 में उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी ने 'आनन्दकादम्बिनी' के सम्पादनार्थ बुला लिया। शुक्लजी के साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित विन्ध्येश्वरीप्रसाद तिवारी, इन्सानियत की प्रतिमूर्ति बाबू बलभद्रसिंह तथा प्रेमघनजी का अपूर्व योगदान था। जहाँ इन तीनों ने शुक्लजी का निर्माण किया, वहीं मेयो मेमोरियल लाइब्रेरी के अध्यक्ष पं. केदारनाथ पाठक ने शुक्लजी को 'हिन्दी शब्दसागर' की सम्पादन समिति में बाबू श्यामसुन्दरदास के माध्यम से पहुँचाकर भावी उत्कर्ष की भूमि निर्मित की। यद्यपि इस बीच वहाँ के कलेक्टर बिन्दम साहब ने शुक्लजी की प्रतिभा से प्रसन्न होकर नायब तहसीलदारी के पद पर नियुक्ति दी, पर वह शुक्लजी की रुचि से मेल न खा सकी। इसी बीच ब्रिटिश नीति विरोधी राष्ट्रीयता की भावना ने उनसे 'What has India to do' लेख भी लिखवाया, जिससे साहब नाराज हो गया। 1904 में लन्दन मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर के रूप में वे नियुक्त हुए—जहाँ वे 1908 तक थे। 1908 में 'हिन्दी शब्दसागर' के सम्पादन के लिए काशी गये। शुक्लजी की साहित्यिक प्रतिभा का हिन्दी जगत् पर आतंक का सूर्य इसी बेला में दीप्तिमान् हुआ। 'शुक्लजी की प्रतिभा में निखार लानेवाले एक

और विद्वान पं. रामगरीब चौबे थे—अंग्रेजी के अद्‌भुत विद्वान। कोशवाले कार्य से शुक्लजी बाबू साहब के अत्यन्त घनिष्ठ और नजदीकी हो गये। फलतः 1919 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी अध्ययनशाला के लिए नियुक्त हो गये। बीच में अलवर नरेश के आमन्त्रण पर वर्ष भर बाहर भा रहे—पर अन्ततः पुनः विभाग में वापस आ गये। काशीनिवास का 1908-1929 तक का काल संघर्षकाल है और 1930 से 1941 तक का शान्तिकाल कहा जाता है। इस दीर्घ-अवधि में शुक्लजी की साहित्यसाधना अनवरत चलती रही। अन्ततः निष्ठा और सारस्वत साधना की इस जीवन्त प्रतिमूर्ति ने शारीरिक और मानसिक दोनों स्तरों पर संघर्ष करते हुए 2 फरवरी 1941 में अपनी इहलीला समाप्त कर दी। मिर्जापुर उनकी कर्मभूमि और काशी उनकी फलभूमि रही।

साहित्य-सिद्धान्त

शुक्लजी कला, विज्ञान और दर्शन के गहन अध्येता थे। अध्ययन के इस सन्दर्भ में सृष्टि और उसके मूल उत्स पर पौरत्स्य एवं पाश्चात्य दर्शन का तुलनात्मक मन्थन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सृष्टि और सृष्टा के बीच द्वैतभाव मानने की अपेक्षा अद्वैतवाला पक्ष अधिक संगत है। विश्वप्रपंच की भूमिका में उनका निर्णय है—"नाना भेदों में अभेद दृष्टि ही सच्ची तत्व दृष्टि है।" विज्ञान-लब्ध मान्यताओं के आलोक में द्रव्य और शक्ति एक ही सत्ता के दो रूप हैं—यह धारणा तो उनकी है ही, साथ ही यह भी कि वह नित्य और अव्यय है। 'विश्वप्रपंच' की भूमिका में यह भी कहा है—"विश्व में जितना द्रव्य है उतना ही सदा से है और सदा रहेगा—उससे न घट सकता है, न बढ़ सकता है।" यह शक्ति गत्यात्मक है और उसकी गत्यात्मकता का रहस्य उसका आकर्षण-विकर्षण रूप स्वभाव है। सवाल अब यहाँ आकर रुक गया है कि वह सत्ता चेतन है या अचेतन। प्रयोगशाला में अभी चेतन का निर्माण नहीं हो सका है। विज्ञान अभी उसके उद्‌भव की पूरी व्याख्या नहीं कर सका है। उन्होंने इसीलिए कहा है—"यदि चैतन्य की नित्य सत्ता सर्वमान्य हो गयी तो फिर सब मतों की भावना का समर्थन हुआ समझिए—क्योंकि चेतन सर्वस्व रूप है"—और अपने मन्तव्य की ओर संकेत करते हुए कहा है—"सब मतों और सम्प्रदायों में धर्म और ईश्वर की जो सामान्य भावना है—उसी का पक्ष अब शिक्षित पक्ष में आ सकता है।" डा. रामविलास शर्मा इस पर से यह निष्कर्ष निकालते हैं—"यह सामान्य भावना नैतिक आदर्शों की हो सकती है—एक चेतन परोक्ष सत्ता की भी।" शुक्लजी के विवेचनों में शर्माजी के दोनों विकल्प मिलते हैं। धर्मविषयक उनकी सामान्य अवधारणा नैतिक आदर्शों से सम्बद्ध है और ईश्वरविषयक चेतन परोक्ष सत्ता से। **व्यवहार** की व्याख्या तो वहीं तक करते हैं जितना विकासवाद के आलोक में बोधगम्य और तर्कसंगत है, पर **काव्य** और **परमार्थ** के विषय में विचार करते हुए वे 'अव्यक्त' (सच्चिदानन्द) की सत्ता स्वीकार करके ही अपना पक्ष रखते हैं।

स्रष्टा और सृष्टि की एकता की कल्पना करनेवाले हीगेल, काण्ट और शापेन-हावर को जब वे पढ़ते हैं और उनसे मिलते-जुलते विचार भारतीय वेदान्त में पाते हैं, तब उन्हें भारत के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा पैदा होती है। इसीलिए उनकी विवेचना में 'हमारे यहाँ' 'हमारे यहाँ' की ध्वनि प्रायः सुनायी पड़ती है। उनके चामत्कारिक व्यक्तित्व के कारण उन्हें संस्कारी तो मानना ही पड़ता है। फलतः, जहाँ एक ओर जन्मजात संस्कारों के कारण वे भारतीय ब्राह्म विभूति हैं, वहीं अर्जित ज्ञान के कारण दूसरी ओर विज्ञानसम्मत सार्वभौम मान्यताओं के समर्थक भी। राजनीति के क्षेत्र में पाश्चात्य नीति के विरोधी होते हुए भी ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में वे उधर के ज्ञान से अप्रभावित नहीं थे। इसलिए कभी-कभी उनमें इनकी टकराहट के अन्तर्विरोध का उभर आना सम्भव है। 'काव्य' स्वरूप के सन्दर्भ में अपने को **अभिव्यक्तिवादी** कहते हुए उन्होंने यह स्वीकार किया है कि **अव्यक्त** की अभिव्यक्ति जगत् और जगत् की अभिव्यक्ति काव्य है। परमार्थ के क्षेत्र में एक ही सत्ता के **अव्यक्त** रूप को अतिप्राकृत योग मार्ग का और 'व्यक्त रूप' को प्राकृत भाव या रागमार्ग का विषय निरूपित किया है। 'धर्म' की परिभाषा करते हुए उसे **अव्यक्त** के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रकृति कहा है। निष्कर्ष यह कि उनका चिन्तन और उसमें निहित दृष्टि 'अव्यक्त' सत्ता को मानकर चलती है और उसे 'सच्चिदानन्द' मानती है। शुक्लजी के साहित्य सिद्धान्त के लिए उनकी दृष्टि का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

चिन्तन या ज्ञान के क्षेत्र में अद्वैतवाद या अव्यक्तवाद को अवश्य मानते हैं, पर व्यवहार के स्तर पर द्वैतवाद या व्यक्तवाद तक ही अपनी सीमा मानते हैं। 'अव्यक्त' को उन योगियों के लिए छोड़ देते हैं, जो अतिप्राकृत साधना से अतिप्राकृत शक्ति द्वारा उनकी अपरोक्षानुभूति करते हैं, वे निर्वासित होते हैं (वासनात्मक मन का ध्वंस कर चुके होते हैं)। वे महाभारत का साक्ष्य देते हैं—'यावता वासनानाशः तावत्तत्वागमः कुतः ?'। अतिप्राकृत शक्ति और अव्यक्त की बात करते हुए भी उसकी रहस्यात्मकता के कारण स्पष्टतावादी विवेकनिष्ठ शुक्लजी मानवता की चरितार्थता या उसकी पूर्णता के विकल्प में प्राकृत सीमा में ही जमकर विचार करते हैं। शुक्लजी के 'हदीस' के विषय में विश्वनाथप्रसाद मिश्र शुक्लजी के भ्रातुष्पुत्र चन्द्रशेखर को प्रमाण मानते हैं और उस चन्द्रशेखर शुक्ल का कहना है—"मनुष्य को हृदय, बुद्धि और शरीर की त्रिमूर्ति मानते हैं और कहते थे कि तीनों की समस्त शक्तियों के सामंजस्य का उत्कर्ष ही मनुष्य की पूर्णता है। किसी एक या दो की उन्नति तीसरे के उत्कर्ष के बिना मनुष्य को पूर्णता तक नहीं ले जा सकती।" मनुष्य की लोकयात्रा का यही लक्ष्य है और लोकयात्रा के लिए ही धर्म की अपेक्षा की गयी है।

"लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः"

यद्यपि धर्म को अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धिवाले गुण से सम्पन्न शुक्लजी मानते हैं तथापि 'धारणाद्धर्म इत्याहुः' में ही उसे ज्यादा स्पष्ट समझते थे। जैसे

अग्नि का धर्म जलाना उसके स्वभाव का पर्याय है, वैसे ही मानव का धर्म मानवता है, जो उसका स्वभाव है। इस स्वभावात्मक धर्म के शाश्वत और अशाश्वत, दोनों रूप हैं। पहला नित्य और दूसरा परिवर्तनशील, पहला अन्तरंग और दूसरा बहिरंग। मानवता मानवस्तर पर विकसित चेतना में व्यक्त उन गुणों —धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, विद्या-बुद्धि, सत्य और अक्रोध— की समष्टि का नाम है, जो मानव को लोकमंगल में प्रवृत्त करता है—लोक के अस्तित्व, रक्षण, पालन और रजन में प्रवृत्त कराता है। इस धर्म के कारण मानव 'सर्वभूतात्मभूत ब्राह्मण' बन पाता है। शुक्लजी मानवजीवन का उद्देश्य, उसकी सभी विकसित शक्तियों का सामंजस्य इसी ब्राह्मण में देखना चाहते थे—

"सर्वभूतात्मभूतो स्तं देवा ब्राह्मणं विदुः"

इस शाश्वत धर्म का सम्बन्ध वे बुद्धि से नहीं, हृदय से बताते थे। उनकी दृष्टि में **काव्य** इसी 'सामंजस्य' की ओर मनुष्य को पहुँचाने का साधन है। उनके अनुसार काव्य में इसी धर्म के भावों को जगाने की शक्ति देखकर वे उसके आधार पर भावयोग की कल्पना करते हैं और उसे कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के समकक्ष रखते हैं। वे मानते हैं कि 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आयी है उसे कविता कहते हैं।' शुक्लजी की दृष्टि में कविता द्वारा भावित यह रसदशा—मन की सात्विक दशा, व्यक्तिसत्ता और लोकसत्ता की समरस दशा, वह मनोदशा है, जो ग्राहक या रसयिता को लोक मांगलिक कर्मों में प्रवृत्त कराती है। वह रसदशा अपने आपमें साध्य नहीं है—सत्कर्म प्रवर्तन में साधन है। परम्परा काव्य को संविद् विश्रान्ति में साधन मानती है, शुक्लजी रसमयता द्वारा उसके सत्कर्म-विश्रान्त होने में साधन मानते हैं। उनकी दृष्टि में हृदय की मुक्तावस्था अर्जन-विसर्जन की व्यावहारिक जीवनयापन के सन्दर्भ में चेतना के शरीर केन्द्रित हो जाने से उद्रिक्त राग—द्वेषमूलक स्व-पर भाव के बन्धन से मुक्ति है। कविता मनुष्य की वासना का परिष्कार करती है—उसे राग-द्वेष मुक्त कर परकीय सुख-दुःख में रमण कराती है। परकीय सुख-दुःख को मन का विस्तार कर आत्मीय बनाती है, आत्मा या मन की परिधि का विस्तार करती है। इस प्रकार के व्यायाम से मन का परिष्कार होता है। मनुष्य के हृदय-पक्ष के लिए उनका नहीं, भावों के परिष्कार द्वारा सर्वात्मभूत होने का सिद्धान्त था जिसे वे भावयोग कहते थे और कविता को जिसका साधन मानते थे। इसी भावयोग या अनुभूति योग के अभ्यास से शेष-सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। उनका कहना है—"सम्पूर्ण सत्ताएँ एक ही परमसत्ता और सम्पूर्ण परमभाव एक ही परमभाव के अन्तर्भूत हैं। अतः बुद्धि की क्रिया में हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्व रस के प्रभाव से पहुँचता है। इस प्रकार अन्त में जाकर दोनों पक्षों की वृत्तियों का समन्वय

हो जाता है। इस समन्वय के बिना मनुष्यत्व की साधना पूरी नहीं होती।" उनके शब्दों में—"भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती—उसका हृदय, विश्व हृदय हो जाता है।"

शुक्लजी काव्य को मनोमय कोष तक ही परिमित करते थे—क्योंकि उनका सम्बन्ध मनोविकारों से ही है। उन कोषों तक काव्य की सीमा कैसे बढ़ाई जा सकती है, जिनका उद्‌घाटन मनोनिग्रह और मनोनाश से होता है। भावमय मन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—

जिस सूक्ष्म सूत्र को पसार कर बँधा हुआ
एक है अनेक होता गया वही भाव है।

शुक्लजी काव्यानुभूति और लोकानुभूति को भिन्न कोटि का नहीं मानते, जबकि परम्परा में काव्यानुभूति को लोकोत्तर अनुभूति सिद्ध करने का अटूट आग्रह है। उनकी दृष्टि में काव्यानुभूति एक सात्विक मनोदशा है जो लोकव्यवहार में भी अनुभव सिद्ध है। जिस तरह लोकव्यवहार की सात्विक मनोदशा की पर्यवसिति सत्कर्म प्रवृत्ति में है, वैसे ही काव्यानुभूति की भी। क्योंकि जीवन का जो चरमलक्ष्य है, उसी में काव्य का भी योगदान है—महज प्रस्थान भिन्न है। परम्परा से हटकर शुक्लजी गैर-आत्मवादी भूमि पर काव्यानुभूति की व्याख्या करते हुए उसे सुख-दुःखोभयात्मक मानते हैं। दुःखात्मक कोटि की काव्यानुभूति रसात्मक केवल इसलिए मानी जाती है कि वह स्व-पर-भाव-निर्मुक्त मन से अनुभूत होने के कारण उतना क्षोभकर अथवा उद्वेगजनक नहीं होती। इस रसात्मकता को काव्य का व्यावर्तक लक्षण मानने के कारण, उक्ति-वैचित्र्यपरक रचना को काव्य न कहकर, वे सूक्ति कहना पसन्द करते हैं और जिसमें चमत्कार पर्यवसायी उक्ति-वैचित्र्य भी न हो—उनकी दृष्टि में वह विशुद्ध 'पद्य' है।

सृजन या निर्माण पक्ष से विचार करते हुए शुक्लजी ने कहा है कि जिस व्यक्ति का रागात्मक सत्व जितना ही उद्रिक्त है—वह चराचर जगत् से, विश्व-सत्ता से, उतना ही शीघ्र तादात्म्यापन्न हो उठता है। उसके लिए नर या नरेतर सृष्टि का साधारण रूप हो या असाधारण, इसीलिए रागात्मक सत्व सम्पन्न स्रष्टा या सर्जक मनोनिष्ठ या जगन्निष्ठ शेष सृष्टि के साथ तादात्म्यापन्न होकर व्यक्ति सत्ता को विश्वसत्ता से—इतरसत्ता से एकात्म कर देता है और यही मनोभूमि रसात्मक अनुभूति की मनोभूमि है। इस मनोभूमि पर उदित काव्यानुभूति स्रष्टा की विधायक कल्पना को सक्रिय कर गोचर रूप विधान में संलग्न कर देती है। जिस प्रकार भक्ति के लिए (उपासना) आराध्य की मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करने की जरूरत होती है वैसे ही भावयोग के लिए 'भावना' या 'कल्पना' की, निर्माण की ओर से विधायक कल्पना की। शुक्लजी भाव संचारोपयोगी मूर्ति-विधान में कल्पना को साधन मानते हैं और यह मूर्त विधान मूल रूपों और व्यापारों का होना चाहिए। यद्यपि आज भावों के विषयों और

उनके द्वारा प्रेरित व्यापारों में बौद्धिकता के आड़े आने से जटिलता बढ़ती जा रही है। भाव भी नंगे होकर नहीं, सभ्यतासूचक लिबास में प्रच्छन्न रूप से सामने आ रहे हैं। शुक्लजी की दृष्टि में इसी प्रच्छन्नता का निवारण कवि-कर्म का एक प्रमुख अंग है। रस का आधार खड़ा करने वाला जो विभावन व्यापार है, कल्पना का प्रधान क्षेत्र वही है। निर्माण के लिए कवि में वे 'सहृदयता' और 'कला-निपुणता' आवश्यक मानते हैं—अर्थात कवि में प्रबल वासनात्मक अनुभूति भी हो और उसको व्यक्त करने की निपुणता भी। सहृदय और कलानिपुण कवि **कल्पना के सहारे जो रूपविधान** करता है उससे तो जागरित होनेवाली मार्मिक अनुभूति काव्यानुभूति या रसानुभूति है ही, **प्रत्यक्ष रूप विधान** या **स्मृत रूपविधान** भी शुक्लजी की दृष्टि में रसानुभूति की ही कोटि में विशेष दशाओं में आ सकती है। भावव्यंजना कवि स्वयं भी करता है और निबद्ध पात्रों के माध्यम से भी करता है और निबद्ध पात्र-गत भाव उचित भी हो सकते हैं तथा अनुचित भी। उचित स्थान पर कल्पित पात्र के साथ सहज किन्तु अनुचित स्थल पर आरोपित रूप में कवि तादात्म्यापन्न होकर सृष्टि करता है। इन अवसरों पर यदि कलात्मक सृष्टि प्रौढ़ न हुई तो कभी आराध्य के शृंगार वर्णन में और कभी अनाराध्य के भाव-व्यंजन में कल्पना का शैथिल्य उभर आता है।

शुक्लजी मानते हैं कि कविता का मूल तो अन्तर्निहित है राग या वासना में ही, पर वह अव्यक्त मूल को लेकर नहीं चलती, व्यक्त प्रसार को ही लेकर चलती है। इस दृष्टि से कविता अभिव्यंजना है—जहाँ अलंकरण और भाषा आदि का विस्तार किया जाता है। शुक्लजी के अनुसार काव्य भाषा के चार गुण हैं—लक्षण शक्ति द्वारा गोचर रूप विधान, जाति संकेतवाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप-व्यापार सूचक शब्द, नाद सौंदर्याधायक वर्णविन्यास तथा व्यक्तियों के नाम के स्थान पर रूप-गुण या कार्यबोधक शब्द। कवि-भाषा को प्रभावशाली बनाने के लिए कभी-कभी बात को घुमा-फिराकर या बढ़ा-चढ़ाकर रखना पड़ता है और इस क्रम में भाषा की सभी शक्तियों से काम लेना पड़ता है। उनकी दृष्टि में अलंकार कथ्य को प्रभावशाली बनाने के लिए कथन के ढंग हैं। वे वर्ण्य-वस्तु-निर्देश कथन—जैसे स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति आदि—को अलंकार नहीं मानते।

परम्परा में ग्रहण की दृष्टि से रस पर विचार किया गया है। उन्होंने रस निष्पत्ति पर काव्य की **सौन्दर्यदृष्टि** से तो विचार किया ही है—उससे हटकर **लोक-मंगल की दृष्टि** से भी विचार किया है—इसीलिए 'रस' के मूल 'भाव'-क्षेत्र को वे अत्यन्त पवित्र मानते हैं—क्योंकि न केवल वह सत्कर्म प्रवर्तक हैं अपितु **शील** विधायक भी हैं। परम्परा जहाँ 'भाव' का विचार सहृदय के वासनावासित हृदय से जोड़कर करती है, शुक्लजी वहाँ लौकिक विषय (पात्र) से जोड़कर मनोविकार के रूप में करते हैं। कारण, शुक्लजी काव्य अनुभूति को प्रत्यक्षानुभूति से भिन्न जाति का नहीं मानते और प्रत्यक्षानुभूति में प्रभाव मनोविकार के रूप में लौकिक विषय से ही सम्बद्ध होता है। इसीलिए मनोविज्ञान के आलोक में भाव या मनो-

विकार को प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति—तीनों का गूढ़ संश्लेष कहते हैं। वे मानते हैं कि ज्ञान, कर्म तथा उपासना की जीवन पद्धतियों में सर्वोच्च स्थिति उपासना या भक्ति नामक भाव की ही है—जो धर्म की रसात्मक अनुभूति है और धर्म अव्यक्त के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति का ही नाम है। अभिप्राय यह कि भाव-निरूपण के मूल में उनका मनोविज्ञान तथा रुचि विशेष का द्योतक लोकमंगलवाद भी है। इस भाव के व्यष्टिगत होते हुए भी उनमें परार्थता, समष्टिगामिता के साथ-साथ परमार्थता की भी सम्भावना है। इमोशन भाव है और सेन्टिमेण्ट—स्थायीभाव। उनके अनुसार एक व्यक्ति या वस्तु के प्रति एक अवसर पर व्यक्त मनोवेग—**भाव**—अनेक अवसर पर व्यक्त **स्थायीभाव** या चिरभाव है। विशेष या निर्दिष्ट के सामने से हट जाने पर भी यदि वह मनोवेग किसी के प्रति प्रकट होने लगे तब **स्वभाव** (शीलदशा)। इनके अतिरिक्त लोकरक्षण तथा लोकरंजन की दृष्टि से उन्होंने 'बीजभाव' (करुणा तथा प्रेम) का भी उल्लेख किया है। स्थायीभाव पर जमकर विचार करते हुए उन्होंने कहा कि स्थायी भाव के दो अर्थ हो सकते हैं—

1. किसी एक भाव का एक अवसर पर इस आधिपत्य के साथ बना रहना कि उसके उपस्थिति काल में अन्य भाव अथवा मनोवेग उसके शासन के भीतर प्रकट हों और वह ज्यों का त्यों बना रहे। अन्यत्र यह भी कहा कि रसावस्था (पूर्ण) तक पहुँचने की सम्भावना से सम्पन्न 'भाव' ही स्थायी कहा जा सकता है और पूर्ण रसावस्था वह है जहाँ नायक, कवि तथा ग्राहक तीनों का तादात्म्य हो सके।
2. किसी मानसिक स्थिति का इतने दिनों तक बने रहना कि उसके कारण भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न भाव प्रकट होते रहें। चित्त की इन स्थितियों को भावकोश कहते हैं और इनका विधान भावविधान से उच्चतर है। यह कोई 'भाव समष्टि' नहीं है, अपितु अन्तःकरण में संघटित एक प्रणाली मात्र है, जिसमें कई भिन्न-भिन्न भावों का संचार हुआ करता है। मनुष्य में शील या आचरण की प्रतिष्ठा इसी भावप्रणाली के अनुसार होती है। भाव में संकल्प वेग मुक्त होते हैं और भावकोश में धीर और संयत।

परम्परा ने पहले प्रकार के स्थायीभाव को मानकर रसों की संख्या निर्धारित की है। शुक्लजी रस की उत्तम और मध्यम—दो कोटियाँ मानते हैं—पूर्ण रस दशा और शीलदशा। जहाँ कवि, ग्राहक और आश्रय तीनों का तादात्म्य हो, वहाँ रस की पूर्ण दशा उत्तम कोटि और जहाँ ग्राहक और आश्रय का तादात्म्य न हो—फलतः उसकी भावदशा अतृप्त रह जाय—वहाँ मध्यम कोटि।

शुक्लजी ने इसी सन्दर्भ में एक और रस की कल्पना की और उसे 'प्रकृतिरस' कहा और बताया कि प्रकृति का उद्दीपनात्मक रूप ही नहीं होता, आलम्बनात्मक रूप भी होता है—जहाँ चिर साहचर्यजन्य प्रकृतिनिष्ठ वासना तृप्त होती है। जहाँ कवि प्रकृतिचित्रण की बारीकियों के साथ संश्लिष्ट रूप प्रस्तुत करे—वहाँ समझना

चाहिए कि प्रकृति आलम्बनात्मक रूप में प्रकट हुई है।

शुक्लजी ने एक प्रश्न और उभारा और वह यह कि जहाँ रति की व्यंजना एकांगी हो, वहाँ क्या नियमतः रसाभास ही होगा ? अगर ऐसी बात है तो घनानन्द की सुजान के प्रति या गोपियों की कृष्ण के प्रति की गयी अतृप्त रति व्यंजना रसाभास अर्थात् अनुचित मानी जायगी ? उत्तर स्पष्टतः निषेधात्मक है।

रसनिष्पत्ति के सन्दर्भ में उनका अविस्मरणीय सिद्धान्त साधारणीकरण का आता है—जहाँ उन्होंने कई विकल्प प्रस्तुत करते हुए अन्ततः कहा कि साधारणीकरण आलम्बन का नहीं, अपितु आलम्बनत्व धर्म का होता है। कल्पना में मूर्ति तो व्यक्ति या विशेष की ही आती है पर उससे विन्यास ऐसी साधारण विशेषताओं का होता है जो सर्वसामान्य (सहृदयग्राहकों) में समान भाव ही व्यक्त करती है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने दर्पणकार विश्वनाथ महापात्र के 'तादात्म्य' (आश्रय और ग्राहकगत) की भी चर्चा की है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा भारतीय परम्परागत सामान्यीकरण के बीच उभरते हुए अन्तर्विरोध को शान्त करने के लिए आलम्बनत्वधर्म के साधारणीकरण की उद्भावना की गयी।

इनके अतिरिक्त शुक्लजी की कुछ और भी प्रकीर्णक मान्यताएँ हैं—हिन्दी आलोचना को उनके प्रदेय हैं। वे परम्परा से हटकर यह स्वीकार करते हैं कि काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ में रहती है चाहे वह योग्य और उपपन्न हो या अयोग्य और अनुपपन्न—लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में नहीं। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए 'जीकर हाय पतंग करे क्या'—का साक्ष्य दिया है। शुक्लजी की यह मान्यता पर्याप्त विवादास्पद रही और विद्वानों के बीच मान्यता न प्राप्त कर सकी।

उनका ऐसा ही विवादास्पद पक्ष यह भी है कि यूरोप का अभिव्यंजनावाद यहाँ के पुराने वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान है। कहाँ स्पन्दवादी कश्मीरी दर्शन पर आधारित लोकोत्तराह्लादकारी वैचित्र्य का साधक और स्वभाव प्राण भारतीय वक्रोक्ति और कहाँ सर्वथा भिन्न दृष्टि पर आधारित मनोगत रूप-व्यंजना ?

डण्टन का खण्डन करते हुए शुक्लजी ने काव्य के दो भेदों—प्रयत्नपक्षपरक तथा भोगपक्षपरक—का उल्लेख किया है कि डण्टन की अपेक्षा वे उभयत्र कलात्मकता का समावेश अपेक्षित मानते हैं। वे डण्टन की इस स्थापना से भी असहमत हैं कि हेमलेट की सृष्टिविधायिनी कल्पना निरपेक्ष है और ऐसी ही नाटकीय या स्वानुभूति निरपेक्ष या नाटकीय दृष्टि ही काव्यकला का चरम लक्ष्य है।

शुक्लजी काव्यरूपों में मुक्तक और प्रगीत की अपेक्षा प्रबन्धात्मक काव्यरूप को सर्वाधिक महत्व देते हैं। उनका मन्तव्य है कि मुक्तक में जो रस की अदायगी होती है—उससे शीलदशा का समावेश नहीं होता—उसका उद्देश्य तो मनोरंजन होता है; पर उच्च लक्ष्य रखनेवाले, मनुष्य की प्रकृति का संस्कार या निर्माण करने की सामर्थ्य रखनेवाले प्रबन्ध काव्य या नाटक के चरित्र-चित्रण का आधार शील-

दशा ही है। आलम्बन का स्वरूप संघटित करने में उपादान रूप होकर शीलदशा रसोत्पत्ति में पूरा योग देती है। इसीलिए वे रामायण को आर्य काव्य का आदर्श मानते हैं।

इसी प्रकार 'सौन्दर्य' क्या है, वस्तुगत है या आत्मगत ? सौन्दर्यशास्त्रियों में विवाद का एक बृहद् बिन्दु है। शुक्लजी का पक्ष है कि जिस प्रकार वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं है, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं है। कुछ रूपरंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आने से थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तःसत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। अर्थात् जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिये सुन्दर कही जायेगी। इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर-बाहर का भेद व्यर्थ है, जो भीतर है वही बाहर है।

शुक्लजी मन को तालाब के सदृश छायाग्राही, तदाकार परिणतिशील, और दृश्य जगत् का मूल बताते थे। कर्म के मूल में वे उसी को बतलाते थे। उसकी इच्छाशक्ति के प्रवृत्ति और निवृत्ति नाम के दो रूप मानते थे। सौन्दर्यानुभूति के समय भीतर-बाहर एक हो जाता है—बाह्यवस्तु और आन्तरिकता एक हो जाती है। उसमें बाहर या भीतर जैसा विशेषण कैसे लगाया जाय ?

साहित्यिक अभिव्यक्ति का एक बहुत बड़ा भाग है, जिसका स्रोत 'भक्ति' है। उस भक्ति के विषय में; उसके आलम्बन के विषय में और उससे प्राप्त मुक्ति के विषय में शुक्लजी की अद्भुत धारणा है। शुक्लजी मनुष्य को हृदय, बुद्धिऔर शरीर की त्रिमूर्ति मानते थे और कहते थे कि तीनों की समस्त शक्तियों के सामंजस्य का उत्कर्ष ही मनुष्य की पूर्णता है। पर कर्म, ज्ञान और उपासना की जीवन पद्धतियों में सर्वोच्च स्थिति उन्हें उपासना या भक्ति—धर्म की रसात्मक अनुभूति—में दिखाई पड़ती थी। उनकी दृष्टि में भक्ति का मार्ग प्राकृत मार्ग है —"यह सूधो सनेह को मारग है।" इसका विषय चरमसत्ता का ज्ञानी आचार्य-निर्दिष्ट ज्ञात या व्यक्त पक्ष है, क्योंकि भाव का संचार ज्ञान की ही परिधि में होता है। भक्त आराध्य व्यक्त रूप को भ्रमात्मक या मिथ्या नहीं मानता। प्राकृत परिधि में ही भावात्मक भक्ति का विचार करने से उन्होंने भक्ति और ज्ञान का दोनों क्षेत्र भेद माना है। ज्ञान से जितना जाना जाता है, भाव का उतनी दूर तक संचार हो जाता है। ज्ञान आगे-आगे रास्ता बनाता है, भक्ति पीछे-पीछे चलती जाती है। शुक्लजी मानते हैं कि आत्मबोध और जगत् बोध में भारतीय भक्ति-पद्धति ने ज्ञानियों की भाँति भेद नहीं माना और दूसरी ओर नर में ही नारायण की दिव्यकला का दर्शन कर हृदय का पूर्ण निवेदन किया—गीता ने नारायण में विश्वरूपता का भी दर्शन कराया। इस प्रकार भारतीय चिन्तन में भक्ति का व्यक्त सत्ता से सम्बन्ध होने के कारण रहस्यवादिता की यहाँ कोई सम्भावना नहीं

है—हाँ, यदि 'प्रायवेसी' के अर्थ में रहस्य माना जाय तब माधुर्य भक्ति में उसकी झलक मिलती है।

शुक्लजी के अनुसार ज्ञानमार्ग या भक्ति मार्ग—उभयत्र रहस्य का लेश नहीं है—हाँ, उस सामी मत में जहाँ ज्ञान अध्यात्म में वर्जित है, फलतः, उस काम 'भाव' से ही लिया जाता है—रहस्य की सम्भावना अवश्य हो सकती है। काव्य में 'रहस्य' की स्थिति केवल जिज्ञासा के ही रूप में विराट प्रकृति के माध्यम से सम्भव है। ज्ञान के क्षेत्र में अद्वैत और अज्ञात सत्ता के प्रति राग के संयोग-वियोग का प्रयत्न छद्म रहस्यवाद है।

संक्षेप में, शुक्लजी की ये ही साहित्यविषयक मान्यताएँ हैं। सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में जहाँ तक उनके प्रदेय का सम्बन्ध है, चूँकि लगभग उनकी सारी मान्यताएँ परम्पराप्रतिष्ठ भारतीय चिन्तन से कहीं-न-कहीं हटकर हैं, इसलिए उन सारी मान्यताओं को उनका अवदान ही कह सकते हैं—इनमें से कई एक विवादास्पद भी बनीं और कई एक उनकी अवधारणा के रूप में चल रही हैं। उनके चिन्तन का प्रस्थान बिन्दु तदवधिक वैज्ञानिक और दार्शनिक मान्यताओं के आलोक में सक्रिय अपनी बुद्धि ही थी, साथ ही उनका संकल्प था कि शास्त्र के क्षेत्र में प्रत्येक निष्कर्ष तथ्याधृत, वस्तुमुखी और तर्कप्रतिष्ठ होना चाहिए—अतः वे अपने चिन्तन को यथासम्भव प्राकृत परिधि में ही रखते थे। परम्पराप्रतिष्ठ मान्यताएँ प्रायः अतिप्राकृत शक्ति पर समाधृत हैं—इसलिए शुक्लजी का उनसे सम्वाद नहीं हो पाता। दूसरा उनके व्यक्त जगत् की परिधि का लोकमंगलवाद भी उन्हें अपने बताये हुए रास्ते पर चलने को विवश करता था।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और रसमीमांसा

रस की प्राचीन व्याख्या आत्मवाद की पीठिका पर भारतीय आचार्यों ने की है। यह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं, जिन्होंने आत्मवाद से हटकर मनोविज्ञान तथा निजी धारणाओं पर आधारित, उसकी सर्वप्रथम बोधगम्य व्याख्या की। नव-जागरण के इस आधुनिक प्रवाह में जिस प्रकार पुरानी मान्यताओं की बोधगम्य, फलतः विश्वसनीय व्याख्या हुआ करती है, उसी प्रकार शुक्लजी ने क्रमागत 'रस' सिद्धान्त की नयी व्याख्या की। यदि रस प्रतीति एक अनुभूति है, मानस-अनुभूति है, तो उसका विश्वसनीय विश्लेषण मनोविज्ञान ही कर सकता है। पर मनोविज्ञान भी शुक्लजी को वहीं तक ग्राह्य है, जहाँ तक उनके संस्कार स्वीकार करते हैं। वे फ्रायड की इस निष्पत्ति से असहमत हैं कि काव्यात्मक अभिव्यक्ति सर्वदा दमित भावनाओं की ही होती है। अनभिनन्द्य वृत्तियों का कल्पना में कहीं कोई भोग करता है ? स्वप्न-सिद्धान्त काव्य के विषय में भी लागू किया जाय, फ्रायड की इस मान्यता से वे सहमत नहीं हैं। वे यह भी नहीं मानते हैं कि कामवासना की तृप्ति ही काव्य का लक्ष्य है। डॉ. नगेन्द्र अवश्य मानते हैं कि काव्य व्यक्तित्व की अभि-व्यक्ति है और यह व्यक्तित्व ही सर्जक की आत्मा है। व्यक्तित्व उन रागद्वेषों का, जिनमें से अधिकांश कामचेतना के प्रोद्भास हैं, संश्लिष्ट समूह है। इस व्यक्तित्व के भी उसी अंश की साहित्य में अभिव्यंजना होती है, जो अभाव या अतृप्ति से ग्रस्त होता है। अभिव्यक्ति के इस सिद्धान्त में उन्होंने तीनों प्रमुख मनोवैज्ञानिकों की विचारणा का उपयोग किया है। फलतः उनके अनुसार व्यक्तित्व के निर्माण में वे कामवृत्ति और उसकी अतृप्ति का योग स्वीकार करते हैं। डॉ. राकेश भी व्यक्तिनिष्ठ सामाजिक भाव का नहीं, मनोविज्ञानसम्मत 'मनोविकार' का विश्लेषण काव्यास्वाद के सम्बन्ध में स्वीकार करते हैं। पर डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का विचार भिन्न है। वे मानते हैं कि जो मनोविज्ञान अभी प्रयोगकाल में है, जिसकी अनेक निष्पत्तियाँ विज्ञान की अन्य शाखाओं से प्राप्त निष्पत्तियों से विरोध खाती हैं, ऐसी अपूर्ण और अमान्य वैज्ञानिक शाखा को आधार बनाकर रस-निष्पत्ति का विवेचन ठीक नहीं है। आचार्य नन्ददुलारेजी इसीलिए परम्परागत दार्शनिकों की अनुभवसंगत उपपत्तियों तथा सौन्दर्यशास्त्रीय आधारों को कहीं अधिक अपनाते

हैं। कवि की काव्य दृष्टि पर विचार करते हुए उन्होंने यह स्वीकार किया है कि अपने व्यापक रूप में 'भावाश्रित रूप' एक मनोवैज्ञानिक पदार्थ है; फिर भी रस-विवेचन में मनोविज्ञान का कोई उपयोग उन्होंने नहीं किया है। शुक्लजी की रस सम्बन्धी निष्पत्तियाँ इस प्रकार हैं :

1. शुक्लजी का रसदर्शन आंशिक रूप से मनोविज्ञान पर और आंशिक रूप से उनके लोकदर्शन पर आधारित है। मनोविज्ञान पर आधारित होने के कारण जहाँ वे एक ओर व्यक्तिगत मनोविकारों या मनोवेगों के रूप में स्थायीभाव के विश्लेषण से रस-विमर्श का आरम्भ करते हैं, वहाँ दूसरी ओर अपने लोक-दर्शन के अनुरूप उसकी चरम परिणति व्यक्तिसत्ता का लोकसत्ता में विलयन तथा फलतः सत्कर्म में प्रवृत्ति मानते हैं। भरत ने 'भाव' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए जो दो विकल्प—1. भवन्तीति भावाः, 2. भावयन्ति इति भावाः, प्रस्तुत किये थे उसमें से पहला मनोवैज्ञानिकों का प्रस्थान बिन्दु है और दूसरा शास्त्रीय आचार्यों का। मनोवैज्ञानिक 'भवन' पक्ष का और शास्त्रीय आचार्य 'भावनपक्ष' का समाश्रय लेते हैं। मनोवैज्ञानिक स्थायी मनोवेग या मनोविकार का क्या स्वरूप है, यह स्पष्ट करते हुए आगे बढ़ते हैं, जबकि शास्त्रीय आचार्य रसप्रक्रिया की निष्पत्ति पर सीधे उतर आते हैं, इसीलिए उसके 'भावन' पर से अपना निर्वचन आरम्भ करते हैं, यह प्राचीन और नवीन विचारों का प्रथम दिग्भेदक बिन्दु है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'भाव' का विश्लेषण करते हुए उन्होंने स्वीकार किया है कि 'प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्तप्रवृत्ति', इन तीनों के गूढ़ संश्लेषण का नाम भाव है (रसमीमांसा)। शुक्लजी ने व्यावहारिक दृष्टि से स्थायीभाव या भाव को दो कोटियों में वर्गीकृत किया है—सुखात्मक कोटि तथा दुःखात्मक कोटि। इन दोनों कोटियों में आनेवाले आठ स्थायीभावों की चर्चा उन्होंने की है। निर्वेद को अभावात्मक स्वीकार किया है। तुलसीदास के विवेचन के प्रसंग में शान्त का भी उल्लेख किया है। 'भक्ति' के स्वरूप की उनकी अपनी लोकादर्शमूलक व्याख्या है। वे मानते हैं कि ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति धर्म है और धर्म की रसात्मक अनुभूति भक्ति है। उन्होंने जगत् के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार में ही भक्ति का प्रकृत लक्षण माना है। इस प्रकार भक्ति द्वारा भी अन्ततः उपासक का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व को सियाराममय चराचरजगत् में विलीन कर देना ही है। निष्कर्ष यह कि वे काव्य-साधना और धार्मिक साधना का एक ही लक्ष्य मानते हैं, भेद केवल प्रस्थान का है। वे मानते हैं कि काव्य की दृष्टि से जो सुन्दर है, धर्म या भक्ति की दृष्टि से वही 'मंगल' है। इस प्रकार भावनिरूपण में उनकी लोकादर्श सम्बन्धी धारणा भी सक्रिय है, यह स्पष्ट है। स्थायी भाव के अतिरिक्त उन्होंने संचारियों की भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या प्रस्तुत की है। चकपकाहट-जैसे नवीन संचारी की ओर भी इंगित किया है और उन्हें सुखात्मक, दुःखात्मक एवं उदासीन कोटियों में वर्गीकृत किया है।

2. भावों के निरूपण की भाँति रस के अवयवों के व्याख्यान में भी शास्त्रीय

निरूपण से इनकी कतिपय उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। अन्य अवयवों में संचारी का उल्लेख तो ऊपर किया जा चुका है—अवशिष्ट रहे विभाव एवं अनुभाव। इनमें भी अनुभाव पर तो नहीं, विभाव के विश्लेषण पर अधिक बल दिया है। विभाव का निरूपण करते हुए उन्होंने कई नयी मौलिक बातें कहीं हैं, जो उन्हें शास्त्रीय प्रस्थान से भिन्न करती हैं। काव्य-कल्पना की सफलता वे इसी के चित्रण में मानते हैं। काव्य में वे विभाव का इतना अधिक महत्व स्वीकार करते हैं कि उसी के आधार पर रस की पूर्ण निष्पत्ति मान लेते हैं। विभाव का निरूपण करते हुए ही 1. प्रकृति का आलम्बन होना, 2. प्रबन्ध काव्य का आपेक्षिक महत्व, 3. लोकगत विभाव तक व्याप्ति, 4. बिम्बग्रहण या संश्लिष्ट चित्रण का सिद्धान्त जैसी स्थापनाएँ उन्होंने मौलिक रूप से प्रस्तुत की हैं। विभाव के स्वरूप की व्याप्ति शुक्लजी ने शास्त्रीय व्याप्ति से बढ़ा दी है। वे काव्य एवं नाट्यगत हो 'विभाव' की चर्चा नहीं करते, लोकस्तर पर भी या लौकिक क्षेत्र में भी विभाव की स्थिति मानते हैं। शर्त इतनी ही है कि उसमें लोकसामान्य धर्मों की स्थिति हो। विभाव के स्वरूप का ही विस्तार करते हुए शुक्लजी ने विभिन्न रूप विधानों की बात कही है। उन्होंने कहा है, 1. प्रत्यक्ष रूप विधान, 2. कल्पित रूप विधान एवं 3. स्मृत रूप विधान, 4. स्मृत्याभास रूप, 5. प्रत्यभिज्ञात रूप, 6. प्रत्यभिज्ञाताभास रूप, 7. अनुमानाश्रित प्रत्यभिज्ञात रूप, ये सभी रूप भावव्यंजक या रसोद्बोधक रसमग्नकर्त्ता हो सकते हैं—आवश्यक इतना ही है कि एक ओर जहाँ द्रष्टा की दृष्टि रागद्वेष से रहित और हृदय उन्मुक्त हो, दूसरी ओर उन रूपों में समान भाव जगाने के अनुरूप लोकसामान्य धर्मों की संस्थिति हो। इस प्रकार शुक्लजी विभावपक्ष के अन्तर्गत उन सब प्रस्तुत वस्तुओं और व्यापारों को लेते हैं जो हमारे मन में सौन्दर्य, माधुर्य, दीप्ति, कान्ति, प्रताप, ऐश्वर्य, विभूति इत्यादि की भावनाएँ उत्पन्न करती हैं। प्राचीन शास्त्रीय परम्परा विभाव की इतनी अधिक व्याप्ति स्वीकार नहीं करती। व्यावहारिक क्षेत्र में प्रायः उदारचेता मानव, करुण परिस्थितियों में पड़े हुए व्यक्ति को देखकर व्यक्तिबद्ध भूमिका से ऊपर उठ जाता है और उस व्यक्ति के दुख से भर जाता है। उस लोक में अपने व्यक्ति को लीन कर देता है और सद्यःपरोपकाररत हो जाता है।

3. व्यक्तिबद्ध भूमिका की भाँति क्षोभ कारण नहीं है, रसात्मक अनुभव ही कहेंगे, पर प्राचीन आलंकारिक इस अनुभूति को रसात्मक नहीं मानेंगे। शुक्लजी ने रसात्मक अनुभव को भी मानवीय प्रवृत्ति और निवृत्ति का मूल हेतु माना है। यह उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि है। शास्त्रीय आचार्य रसात्मक अनुभव का पर्यवसान 'चर्वणौन्मुख्य' में मानेंगे, कर्तव्यौन्मुख्य में नहीं। शुक्लजी स्पष्ट कहते हैं—'क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा के सम्बन्ध में साहित्य प्रेमियों को शायद अड़चन दिखाई पड़े, क्योंकि इनकी वास्तविक अनुभूति दुःखात्मक होती है। रसात्मक प्रतीति आनन्दस्वरूप कही गयी है, अतः दुःखरूप अनुभूति इसके अन्तर्गत कैसे ली जा सकती है—यह प्रश्न कुछ अड़चन डालता दिखायी देगा। पर आनन्द शब्द को

व्यक्तिगत सुख भोग के स्थूल अर्थ से ग्रहण करना, मुझे ठीक नहीं जँचता। उसका अर्थ मैं 'हृदय' का व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और हलका होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ।' पर साथ ही वे यह भी मानते हैं कि हृदय मुक्त होने से वह दुःखात्मक अनुभूति भी रस कही जाती है।

4. शुक्लजी की शास्त्रीय मान्यता से चौथी विलक्षणता रसोपकरणों के वैकल्य या असामग्रह्य में भी रस की पूर्ण निष्पत्ति मानने में है। काव्यप्रकाशकार ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए कहा है कि यद्यपि कतिपय रचनाओं में केवल विभाव या केवल अनुभाव या केवल संचारी की स्थिति हो सकती है पर इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि वहाँ अन्य अवयवों से निरपेक्ष रहकर ही रस-निष्पत्ति हो जाती है, वरन् अवशिष्ट अवयवों का आक्षेप कर लिया जाता है। इस प्रकार रस-निष्पत्ति के लिए सभी अवयव आवश्यक हैं। इसके विपक्ष में शुक्लजी की मान्यता कहीं-कहीं यह भी प्रकट हुई है कि वैसे सामान्यतः रस निष्पत्ति में भले ही विभावादि रसावयवों का सम्यक् योग प्रपानक रस की भाँति अखण्ड रसानुभव पैदा कर दे पर यह बात नियमपूर्वक नहीं कही जा सकती। रस-मीमांसा में उन्होंने 'लज्जा' के सभी अवयवों की उपस्थिति में भी रस-निष्पत्ति का अभाव और प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण में अन्य अवयवों के न रहने पर भी उसकी निष्पत्ति होना माना है। इस प्रकार यदि शास्त्रीय पदावली में कहा जाय तो कहा जा सकता है कि रसानुभव एवं रस के कार्य-कारण भाव सम्बन्ध के खण्डनार्थ व्यतिरेक व्यभिचार और अन्यत्र व्यभिचार दोनों ही प्रदर्शित किया है। शास्त्रीय मान्यता इससे बिलकुल भिन्न है।

वैसे शुक्लजी दध्यादि-न्याय, प्रपानक रस-न्याय का उल्लेख करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि सभी अवयवों से संयोग होने पर रस का ज्ञान उस समूहालम्बनात्मक ज्ञान से भिन्न है, जिसमें भिन्न-भिन्न विषय अपना पृथक्-पृथक् रूप-बोध कराते हैं, फलतः उसके अनुरूप प्रपानक रस का ही दृष्टान्त स्वीकार किया जाना चाहिए, जिसके अनुसार सभी की अपृथक् रूपेण एक रस अनुभूति स्वीकार की जानी चाहिए। शुक्लजी रस-प्रतीति को ध्वन्यालोककार की भाँति घट-प्रदीप न्याय से नहीं, प्रत्युत साहित्य दर्पणकार की भाँति दध्यादिन्याय से मानते हैं।

5. रस की निष्पत्ति-प्रक्रिया या साधारणीकरण की प्रक्रिया के विषय में शुक्लजी किस प्रकार शास्त्रीय मान्यताओं से भिन्न हैं, इसका विशद विवेचन अन्यत्र (साधारणीकरण वाले खण्ड में) किया गया है, अतः उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

6. मनोविज्ञान का ही प्रभाव होने के कारण शुक्लजी ने रसानुभव की शास्त्रीय मान्यता के विपक्ष में उसे 'मनोमय' कोश का ही स्वीकार किया, आत्म-रूप नहीं। रसानुभूति की अत्यधिक व्याप्ति मान लेने के कारण शुक्लजी

शास्त्रकारों की भाँति सर्वथा आत्मानन्द के निरावृत प्रकाशानन्दमय रूप को नहीं मानते। वे उसे लोकगत सात्विक अनुभूति से पृथक् मानने को कथमपि प्रस्तुत नहीं हैं। यद्यपि वाल्मीकि एवं राम जैसे सात्विकतम पात्रों में रस की संस्थिति शास्त्रकारों ने भी कही है पर शास्त्रकारों ने उन्हें स्वयं अलोकसामान्य भूमिका का व्यक्ति भी माना है। क्या उसी भूमिका का स्पर्श सामान्य उदारचेता मानव भी कर सकता है? यदि विज्ञान का युग इन सब बातों को अनास्थेय मानता है तो उनकी चर्चा भी दृष्टान्त के रूप में विरोध करने के लिए लाना समुचित नहीं है।

7. शुक्लजी ने रसानुभूति का कोई सीमित क्षेत्र नहीं माना है। शर्त उनकी यही है कि 1. सामग्री सामान्यरूपेण गृहीत हो। 2. व्यक्तित्व का विलयन हो।

शास्त्रीय आचार्य भी इन शर्तों का विरोध नहीं करते, परन्तु शुक्लजी रसानुभूति से सम्बद्ध पात्र या उन्मुक्त हृदय वाले उदारचेता सहृदय मानव को लाभ या हानि कराने में प्रवृत्त करा सकते हैं—शास्त्रीय आचार्य नहीं। शास्त्रीय पद्धति तो यह मानती है कि रसोचित सामग्री या रसोचित व्यक्ति के लाभ-हानि में नहीं, बल्कि उससे रसमग्न होकर अनायास गृहीत, व्युत्पत्त, जीवनोपयोगी तथ्यों का ग्रहण कर लोक भूमिका पर, बाद में अन्य व्यक्तियों या वस्तुओं के प्रति उसका प्रयोग किया जाना चाहिए। रसानुभूति काल में प्रवृत्ति-निवृत्ति का प्रश्न शास्त्रीय आचार्य सर्वथा अनुत्थाप्य मानते हैं, शुक्लजी नहीं।

8. शुक्लजी ने रस की दो कोटियाँ या श्रेणियाँ निर्धारित की हैं—उत्तम रसदशा और मध्यम रसदशा। उत्तम रसदशा वह है, जहाँ ग्राहक आश्रय से तादात्म्यापन्न हो जाय और मध्यम वह, जहाँ वह तटस्थ रहे। दूसरी दशा का विश्लेषण करते हुए शुक्लजी ने कहा है कि इस दशा का हमारे यहाँ के साहित्य-शास्त्रों में निर्वचन या विवेचन नहीं हुआ है। उनके अनुसार न तो यहाँ आश्रय के साथ ग्राहक का तादात्म्य होता है और न उसके आलम्बन का साधारणीकरण। पर एक दृष्टि से तादात्म्य और साधारणीकरण सम्भव भी है। उन्होंने कहा है—"तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।" शास्त्रीय दृष्टि से कहना चाहें तो यह रस की भाव दशा भावाभास एवं रसाभास के अन्तर्गत आ सकती है।

9. शुक्लजी रसात्मक अनुभूति को प्रत्यक्षानुभूति या वास्तविक अनुभूति से भिन्न नहीं मानते। वे मानते हैं कि यह भी एक प्रकार की लौकिक अनुभूति है—अन्तर यदि कुछ बताया जा सकता है तो केवल इतना ही कि वह एक उदात्त या अवदात्त कोटि का सात्विक अनुभव है। यदि उसे अलौकिक कहा जा सकता है, तो केवल इतने ही अर्थ में।

10. शुक्लजी रसानुभूति और सौन्दर्यानुभूति दोनों में अपनी पृथक् सत्ता की प्रतीति का विसर्जन मानते हैं। शुक्लजी अन्तःकरण या अन्तरसत्ता की तदाकार (विषयाकार) परिणति को सौन्दर्यानुभूति मानते हैं। जो वस्तु ग्राहक के हृदय पर जितना शीघ्र छा जाय, वह उतना ही सुन्दर है। सुन्दर वस्तु से भिन्न 'सौन्दर्य'

नाम की कोई चीज नहीं है, अतः शुक्लजी के अनुसार सौन्दर्य वस्तुगत ही हो सकता है। इस प्रकार शुक्लजी सौन्दर्य सम्वेदन और रससम्वेदन को एक ही कोटि की चीज मानना चाहते हैं।

11. प्राचीन आचार्यों की भाँति शुक्लजी के समक्ष रसादर्शों से निर्मित होने वाली रचनाएँ ही नहीं थीं, ऐसी रचनाएँ और प्रवृत्तियाँ भी थीं—जो रस को कलाकृति में विकेन्द्रित करती जा रही थीं। पात्र रसरूढ़ियों से हटते जा रहे थे और ऐसे अनादर्शपात्रों से संकुल साहित्यिक कृतियाँ भी आने लगी थीं। 'रस' वाद का सम्बन्ध 'समष्टि' सामान्य से ही है, 'व्यष्टि' और 'विशेष' से नहीं, अतः शुक्लजी के समक्ष यह भी प्रश्न था कि या तो वे अपने रसवादी प्रतिमान को अव्याप्त मानें या 'व्यष्टि' और 'विशेष' का आग्रह मानकर चलनेवाली कृतियों को अकाव्य घोषित करें, उन 'कल्पना' निर्मित 'रूपों' से भरी हुई कलावृत्तियों को खिलवाड़ बतायें जिन्हें अनुभूति का योग न मिला हो। शुक्लजी का स्पष्ट उत्तर है कि अनुभूतिहीन कल्पना का रूपविधान मन का रंजन चाहे करे पर काव्योचित मनोरमण करने में सर्वथा अशक्त है। इसी प्रकार उन्होंने 'विशेष' या 'व्यक्ति-वैचित्र्य' का आग्रह रखकर चलनेवाली रचना को काव्य की दृष्टि से व्यर्थ ही कहा है। रस की जगह शीलवैचित्र्य या अन्तःप्रकृति वैचित्र्य को केन्द्रगामी रखनेवाली कृतियों से जो समष्टि-प्रभाव उत्पन्न होता है, शुक्लजी के अनुसार उसे त्रिधा विभक्त किया गया है—1. आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, 2. आश्चर्यपूर्ण अवसादन तथा 3. कुतूहल मात्र। सात्विक वर्ग का चरित्र रहा तो प्रथम स्थिति, तामस रहा तो दूसरी स्थिति और किसी वर्ग में न आनेवाला रहा तो तृतीय स्थिति। तीसरी स्थिति के चरित्र को पश्चिमी समीक्षकों ने 'अद्वितीय' माना है और माना है कि यही नूतन सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्ज्वल उदाहरण है। शुक्लजी इस विधान में भी अनुभूति सहकृत कल्पना को ही उपजीव्य मानते हैं।

संक्षेप में, शुक्लजी की रससम्बन्धी यही धारणा है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उनके अनुसार प्रकृति और निवृत्ति ही प्राणी की सप्राणता का लक्षण है और उस प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का लोकमंगलोन्मुख होना—मानवता का। प्रवृत्ति और निवृत्ति मनोवेगों पर निर्भर हैं, इसीलिए मनोवेगों का स्थान जीवन में सर्वोपरि है। बुद्धि प्रवर्तिका नहीं होती, मनोवेगों की सहायिका मात्र होती है। काव्य का लक्ष्य इसी मनोवेग को सदाचारों में प्रवृत्ति की ओर और कदाचारों से निवृत्ति की ओर उन्मुख करना है। इस प्रकार आदर्श और नैतिक दृष्टि से काव्य सर्वथा मानवोचित सद्वृत्तियों के परिष्कार का साधन है—हृदय को मुक्त दशा में ले जाने का साधन है। हृदय की मुक्तदशा एक अवदात स्थिति ही है, जो लोकमंगलोचित कर्त्तव्य में पर्यवसित होती है। यह अवदात मनोवृत्ति ही रसात्मक मनोवृत्ति है—यह सुखात्मक भी हो सकती है और दुःखात्मक भी। दुःखात्मक होकर भी क्षोभ का कारण इसलिए नहीं होती कि उसका सम्बन्ध वैयक्तिक

(लाभ का) हानि से नहीं होता।

शुक्लजी की रस-विवेचना का महत्व यह है कि उसमें किसी अबुद्धिगम्य तर्क का उपयोग नहीं है—कोई ऐसी साम्प्रदायिक या 'दार्शनिक' दृष्टि नहीं है जो 'आत्मा'-'अनात्मा' के रहस्यमय स्तरों से सम्बद्ध व्याख्या करती हो। फलतः, उसकी युगानुरूपता में कोई सन्देह नहीं है। पर इतना अवश्य है कि लोक मांगलिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि उन्हें काव्योचित लीक से हटा नहीं सकी है—यह कहना कठिन है। शुक्लजी क्षोभ का कारण, हृदय का रागद्वेष से बद्ध होना मानते हैं और अक्षोभात्मक या आनन्दात्मक स्थिति प्राप्त करने के लिए रागद्वेष से उसकी मुक्ति। ऐसी स्थिति, अवदातस्थिति, लोकानुभूति, प्रत्यक्षानुभूति भी हो सकती है और काव्यानुभूति भी। शुक्लजी के मत से काव्यानुभूति का उक्त प्रकार की लोकानुभूति या प्रत्यक्षानुभूति से कोई व्यतिरेक नहीं है, जो एक खटकने की चीज है। मेरा अपना मत अभिनवगुप्त के उस निर्णय के अनुरूप है, जो प्रत्यक्षानुभूति तथा काव्यानुभूति की सात्विक और अवदात स्थितियों में भी यह व्यतिरेक स्थापित करता है और कहता है कि काव्यानुभूति तत्काल चर्वणापर्यवसायी होती है, तत्काल प्रवृत्ति पर्यवसायी नहीं। फलतः, शुक्लजी के उस विश्लेषण के भी पक्ष में मैं नहीं हूँ, जो काव्य के आनन्दपक्ष की प्रमुखता का अनुरोध नहीं मानता। शुक्लजी का यह मत भी मुझे चिन्त्य जान पड़ता है कि रस प्रतीति दुःखात्मक होती है। जब वे दुख या क्षोभ का मूल रागद्वेष के बन्धन को मानते हैं, और सात्विक दशा में वह बन्धन विगलित हो जाता है, तो दुख निदान के निरोध पर भी दुखात्मक स्थिति रस की क्यों मानी जाय? यहाँ, कथमपि यह अवश्य कहा जा सकता है कि फिर उसे अदुःखात्मक माना जाय, आनन्दात्मक नहीं, फलतः रस और आनन्द पर्याय हैं, यह मान्यता ठीक नहीं। वस्तुतः यह निर्णय शुक्लजी को इसीलिए मानना पड़ा है कि वे काव्यानुभूति और लोकानुभूति का व्यतिरेक नहीं मानते अन्यथा रस की आनन्दात्मक प्रकृति में कोई त्रुटि दिखायी न पड़ती।

यहीं प्रश्न भी प्रस्तुत होता है कि यदि शुक्लजी लोकानुभूति और काव्यानुभूति का व्यतिरेक अस्वीकार करते हैं तो विभाव, अनुभाव एवं संचारी जैसी लोकोत्तर संज्ञाओं का भी विरोध करना चाहिए था, उन्हें इसकी जगह यह भी संशोधन करना चाहिए था कि उन्हें कारण, कार्य और सहकारी ही कहना चाहिए। इस संज्ञा का आविष्कार रस सामग्री की लोक-व्यतिरेकी प्रकृति को ही ध्यान में रखकर प्राचीन आचार्यों ने किया था।

विभाव विश्लेषण से प्रसूत जो अनेक शुक्ल-सिद्धान्त हैं, उनमें से जहाँ तक प्रकृति को आलम्बन मानने का सवाल है, उसके आह्लादकारी सौन्दर्य का प्रश्न है, मैं समझता हूँ इसमें किसे अड़चन है? हाँ, नवरसों की कोटि में उसे भी एक समस्तरीय रसानुभूति मानने में आवश्यक विचार करना होगा। प्रकृति का भी काव्य द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण संश्लिष्ट चित्र, यदि स्वतन्त्र भी आह्लादकारी हो, तो इसमें किसे विरोध है? रहा यह कि प्राचीन आचार्यों की यह कमी है कि उन

लोगों ने प्रकृति के आलम्बन रूप की भी चर्चा क्यों नहीं की, तो उस विषय में स्पष्ट कहा जा सकता है कि वे लोग प्रकृति सौन्दर्य से समुद्भूत रागमूलक उत्फुल्लता को रस कोटिक या रस स्तरीय निष्पत्ति नहीं मानते --भावात्मक रस-दशा भले ही मानते रहे हों।

प्राचीन आचार्यों पर यह आक्षेप भी ठीक नहीं है कि उन लोगों ने 'बिम्बग्रहण' की चर्चा कहीं नहीं की। शब्द-शक्ति या अभिधा निरूपण के प्रसंग में इस कोटि का अर्थ ग्रहण अविवेच्य है, कारण, वहाँ तो 'सामान्य' वाचक शब्दों के सामान्य या 'जाति' रूप अर्थ का विवेचन अवसरोचित है। 'कमल' शब्द के उदाहरण से जिस मूर्त्त अर्थ के ग्रहण की चर्चा की है, वह शब्द की सामर्थ्य का नहीं, ग्राहक की ग्रहण शक्ति का वैशिष्ट्य है। वाक्य द्वारा जो संश्लिष्ट चित्र मिलते हैं—उनकी भी चर्चा पद या शब्द-शक्ति के सामर्थ्य के सन्दर्भ में उचित नहीं है। पर महिमभट्ट ने 'स्वभावोक्ति' की स्थापना करते हुए कहा है कि शब्द से दो प्रकार के अर्थ मिल सकते हैं—परोक्षात्मक और प्रत्यक्षायमाण। स्वभावोक्ति में निरूपित वाच्य द्वारा उपस्थापित यह प्रत्यक्षायमाण अर्थ संश्लिष्ट चित्र ही है—बिम्बग्रहण ही है। अतः प्राचीन आचार्यों ने सर्वथा इसकी चर्चा ही नहीं की—यह कहना तो ठीक नहीं है परन्तु हाँ, इतना विस्तार उन लोगों ने नहीं दिया है।

शुक्लजी का यह मत है कि भावव्यंजना में समर्थ विभाव पक्ष का जो धारावाही चित्र प्रबन्ध में सम्भव है वह प्रगीत और मुक्तक में नहीं, अतः प्रबन्ध की स्थिति मुक्तक तथा प्रगीत से सुतरां श्रेष्ठतर है, आँख मूँदकर स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्राचीन आचार्यों ने कहा कि एक-एक मुक्तक भी इस तरह के बन जाते हैं कि उनसे सैकड़ों प्रबन्धों की रसधारा प्रवाहित हो सकती है। हाँ, प्रतीत में 'विशेष' का आग्रह चाहे जो करे, पर यदि अदम्य अनुभूति का स्रोत उसकी रचना-प्रक्रिया में निहित है, तो उसकी रसात्मकता में भी क्या सन्देह है—हाँ, यह अवश्य है कि वह प्रबन्ध की भाँति उतनी देर तक ग्राहक को रसमग्न नहीं रख सकता। पर काव्य में मात्रा की तुलना में क्या 'गुण' को हीनतर घोषित करना उचित है? यहाँ मुक्तक एवं प्रबन्धगत रसचर्वणा के तारतम्य पर विचार करना आवश्यक है।

भावव्यंजक विभावात्मक वस्तु या व्यक्ति की कल्पनागत मूर्ति को शुक्लजी 'व्यक्ति' रूप ही मानते हैं, तन्निहित आलम्बनत्वधर्म को अवश्य लोक सामान्य स्तरीय स्वीकार करते हैं। 'व्यक्ति' की कथमपि स्थिति तो प्राचीन आचार्य भी मानते हैं, पर उसकी वैयक्तिकता निर्धारक सीमाओं की नियमतः प्रतीति को बाधक मानते हैं।

रूप विधान के विभिन्न रूप, रस-प्रतीति के लिए अपेक्षित दो भूमिकाएँ, मनोमयकोष तक ही रस की स्थिति-जसी स्थापनाएँ रस की लोक तक व्याप्ति स्वीकार करने के ही फलस्वरूप आयी हैं। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि मैं इसे रस की व्याप्ति नहीं, अतिव्याप्ति मानता हूँ।

इस प्रकार व्यावहारिक लोकादर्श की निजी धारणाओं तथा कतिपय अनुकूल पड़नेवाली मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं के आधार पर शुक्लजी ने जो रस विवेचन प्रस्तुत किया, उसने रस के स्वरूप को सर्वसामान्य की बुद्धिसंगत भूमिका तो दी, परन्तु उसकी 'व्याप्ति' इतनी बढ़ाई, उसका उपयोग इतना आदर्शपर्यवसायी कर दिया कि 'रस' अपनी साहित्यिक सीमा को लाँघ-सा गया।

आलोचकप्रवर नन्ददुलारे वाजपेयी

टी. एस. इलियट ने अपने निबन्धों में समीक्षक के स्वरूप और समीक्षा के प्रयोजनों पर अनेकत्र विचार किया है और कई प्रकार से किया है।[1] उसने कहा है कि महत्व-पूर्ण आलोचक वह है, जो कला की वर्तमान समस्याओं में निमग्न होते हुए भी उन समस्याओं पर अतीत की मान्यताओं की प्रासंगिकता प्रदर्शित करना चाहता है। इसके अतिरिक्त इलियट की दृष्टि में आलोचना के निम्नलिखित कार्य हैं—

1. काव्य के स्वरूप का अनुसंधान।
2. अच्छे और बुरे काव्य का भेद-निरूपण।
3. साहित्य की जीवन्त परम्परा का परिरक्षण।
4. कलाकृतियों का विशदन।
5. रुचि परिष्कार।
6. साहित्य के बोध और आस्वादन का संवर्धन।
7. स्थायी कलात्मक मूल्यों और मानदण्डों का समसामयिक कला पर विनियोग।

इन सूत्रों के निकष पर आचार्य वाजपेयी का तटस्थ आकलन होगा। प्रत्येक अंत:प्रज्ञासम्पन्न आलोचक सौभाग्य से किसी साहित्य को वर्षों बाद मिलता है। यह आलोचक पहले तो अपनी पूरी रचनात्मक परम्परा पर दृष्टिपात करता है और अपने समय की नवीन उपलब्धियों से मण्डित नये साहित्य को आत्मसात् करता है, तब उसे लगता है कि साहित्य की परिभाषा को इतना व्यापक बनाना है, जिसमें क्रमागत अतीत और वर्तमान सभी समा सकें। सर्जनात्मक प्रतिभा-प्रसूत रचनात्मक साहित्य अपनी गतिशीलता में अवश्य कुछ-न-कुछ नया जोड़ता है, जिसका स्पष्ट आभास कुछ समय बाद मिलता है। सचेतस्क आलोचक का पहला कर्तव्य होता है—अपने समय तक के साहित्य को दृष्टिगत कर नये मान की सृष्टि करना। रचनात्मक साहित्य के साक्ष्य पर अपनी अन्त:प्रज्ञा से वह काव्य का नया प्रतिमान निर्मित करता है और सत्काव्य के लिए अपेक्षित घटकों का संकेत करता है।

आचार्य वाजपेयी से पूर्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल यह काम अपनी रुचि के

अनुसार कर चुके थे और उनके मानदण्ड पर नया साहित्य (छायावादी मुद्रा से अंकित हो रहा साहित्य) अपना प्राप्य नहीं पा रहा था—फलतः, तदर्थ अपेक्षित (टेस्ट) आस्वाद या रुचि का न तो परिष्कार अपेक्षित मात्रा में हो रहा था और न ही उन कलाकृतियों की समझ के लिए उनका विशदन ही। यद्यपि आचार्य शुक्ल में वह अन्तःप्रज्ञा थी, जो नये साहित्य का विशदन कर सकती थी और इसका प्रमाण उनके इतिहास तथा निबन्धों में उपलब्ध है। 'छायावाद' शीर्षक नये काव्यान्दोलन से वे कितने नाराज हैं, इसका पता उनके 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक लेख से मिलता है। उन्होंने कहा है—"अब तक जो कुछ लिखा गया उससे यह स्पष्ट हो गया कि हिन्दी में आ निकला हुआ यह 'छायावाद' कितनी विलायती चीजों का मुरब्बा है।"[2] वे रहस्यवाद और छायावाद को कभी-कभी पर्याय के रूप में भी प्रयोग करते हैं अथवा स्वतन्त्र रूप से छायावाद को शैली विशेष तक सीमित करते हैं। वे कहते हैं कि रहस्यवाद की कविताओं में दो बातें बहुत खटकती हैं। भावों में सच्चाई का अभाव और व्यंजना की कृत्रिमता। छन्द मुक्ति का विधान और लय का अनुधावन भी उन्हें अक्षमता का प्रतीक ही लगता है। छायावादी काव्य के तमाम उपकरण—वैयक्तिकता, कल्पनावाद, अध्यात्म, अभिव्यंजनावादी प्रभाव, प्रभाववादी प्रभाव, रहस्यवादी रुझान, कृत्रिम भाषा, छन्दोमुक्ति का आग्रह, गीतिमयता, उनकी रुचि के विरुद्ध थे। काव्य में वे वस्तुवादी थे, नैतिकता के माध्यम से काव्यास्वाद की बात करते थे, इसीलिए वे काव्य में विभाव पक्ष के प्राधान्यवादी थे और अलंकार तथा आलंकार्य का भेद मानकर चलते थे। इन सब कारणों से शुक्लजी न तो नये साहित्य का विशदन कर सके और न ही उसके प्रति रुचि पैदा कर सके। रुचि तो रुचि, अरुचि पैदा कर दी।

आचार्य शुक्ल के गुरुगम्भीर व्यक्तित्व से भर्त्सित साहित्य—छायावादी साहित्य के विशदन और रुचि परिष्कार का स्वतःस्फूर्त संकल्प लेकर आचार्य वाजपेयी हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में उतरे। उतरते ही उन्हें इस बात की आवश्यकता महसूस हुई कि साहित्य का स्वरूप और सत्साहित्य की प्रत्यभिज्ञापक रेखाओं को उभारा जाय। 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' इलियट की उपर्युक्त मान्यताओं का मूर्त रूप है। वाजपेयीजी ने भूमिका में लिखा है—'एक ओर इसकी अमित प्रशंसा हुई थी और दूसरी ओर इसका प्रबल विरोध भी हुआ था।' वाजपेयीजी ने शुक्लजी के आक्षेपों को मनोगत कर ही कहा—"अक्सर कहा जाता है कि यह नवीन भवन विदेशों की नकल पर बना है। इसमें पाश्चात्य मध्यम-वर्गीय उत्थानकाल के आदर्श और डिजाइन की अनुकृति है। इस सम्बन्ध में मेरा इतना ही कहना है कि ईंट, चूना, गारा और मिट्टी जब स्वदेशी हैं तो केवल डिजायन विदेशी होने से क्या ? और वह भी इसी अर्थ में विदेशी कही जा सकती है कि विदेशों में उससे मिलती-जुलती इमारतें बन चुकी थीं। किन्तु वे डिजाइनें स्वतः कट्टर प्रादेशिक राष्ट्रीयता (Nationalism) के प्रभावों से बनी हैं—उसमें एक-दूसरे की नकल के लिए अधिक गुंजाइश ही नहीं थी।"[3] वाजपेयीजी उलटे

यह भी कहते हैं—"शुक्लजी में पाश्चात्य बुद्धिवादियों का असर अधिक है।"[4] उनकी दृष्टि में मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द और शुक्लजी द्विवेदीयुगीन साहित्यकार हैं और इन तीनों की धारणा है कि विषय की ऊँचाई से काव्य की ऊँचाई का सम्बन्ध है। ये तीनों ही बुद्धिवादी, आदर्शवादी और नीतिवादी लेखक हैं, जिन्होंने मध्यवर्ग में जन्म लेकर भी मध्यवर्गीय पराजय के दर्शन नहीं किये थे। वाजपेयीजी की धारणा है कि द्विवेदी युग की बौद्धिकता और नीतिमत्ता सर्जनात्मक मन के समस्त द्वारों का उद्‌घाटन न कर सकी[5], काव्यविकास के बहुत से कपाट अवरुद्ध ही रहे। एक कपाट खोलने का उपक्रम श्रीधर पाठक के प्राकृतिक वर्णनों और उनके अंग्रेजी अनुवादों ने किया। दूसरा कपाट प्रसादजी के प्रयत्नों द्वारा खुला। जिन-जिन बातों को शुक्लजी ने कमी के रूप में रेखांकित किया, वाजपेयीजी ने उन-उनको ही इस काव्यान्दोलन की महत्ता, व्यापक विशेषता सिद्ध किया। रहस्यवाद को शुक्लजी फटकार चुके थे। वाजपेयीजी कहते हैं—किसी प्रकार का बुद्धिवादी प्रतिबन्ध न रहने के कारण प्रसादजी का काव्य-विकास निर्बाध और स्वच्छन्द गति से तथा बहुमुखी साहित्यिक सृष्टियों में हो पाया। प्रसाद[6] का वह जीवन दर्शन क्या है ? वह जीवनदर्शन है विशाल और बहुमुखी जीवनानुभूति का स्वाभाविक परिणाम—**रहस्यवाद**। शुक्लजी ने 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में लिखा था—"मैं रहस्यवाद का विरोधी नहीं हूँ। मैं इसे भी कविता की एक शाखा विशेष (जिज्ञासा स्तर तक ही) मानता हूँ। पर जो इसे काव्य का सामान्य स्वरूप समझते हैं, उनके अज्ञान का निवारण मैं बहुत ही आवश्यक समझता हूँ।"[7] वाजपेयीजी इस आक्रमण को नादिरशाही ढंग का बताते हैं और वैसा ही तमतमाया हुआ उत्तर देते हैं। वे कहते हैं—"समुचित विज्ञप्ति के अभाव में इसकी पूरी प्रतिष्ठा भी नहीं हो पायी थी कि इसके ऊपर कथित हमले शुरू हो गये।"[8] "काव्यात्मक परम्परा में इतने गहरे पैठे हुए समीक्षक भी जब इस प्रकार की सम्मति देते हैं—तब मानना पड़ता है कि इस युग की काव्यसृष्टि के साथ किसी अशुभ ग्रह का योग अवश्य हो गया था।"[9] वाजपेयीजी का कहना है—"उनमें (शुक्लजी का इतिहास तथा निबन्ध) आधुनिक साहित्य का विवेचन बड़ी मोटी कलम से किया गया है। नवीन साहित्य की प्रेरक शक्तियों, नवीन व्यक्तियों और नये विकास के अनुरूप उनकी रचनाओं की वास्तविक छानबीन में शुक्लजी एक प्रकार से उतरे ही नहीं।"[10] इस प्रकार वाजपेयीजी ने शुक्लजी की और अपनी समीक्षा दृष्टियों का अन्तर भी निरूपित किया है।

इस पक्ष-प्रतिपक्ष से यह स्पष्ट हुआ कि नये साहित्य के विशदन और अनुरूप रुचि-परिष्कार के लिए आलोचक कितनी महाप्राणता और आलोचन-क्षम ऊर्जा को लेकर आता है। इसी क्रम में आलोचक को संकल्पित साहित्य के मानसिक, कलात्मक, स्थायी और सांस्कृतिक मूल्यांकन के लिए अपने मानदण्ड निर्धारित करने पड़ते हैं। साहित्य का स्वरूप निर्दिष्ट करना पड़ता है ऐसा, जो तब तक के साहित्य के लिए पर्याप्त पड़ सके। शुक्लजी की ही तरह 'कविता क्या है'[11]—प्रश्न

उठाकर आचार्य वाजपेयी ने कहा—"काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र में अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्यसम्वेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्यसम्वेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते हैं। कविता की परिभाषा के साथ उन्होंने उन मानदण्डों का भी उल्लेख किया, जिनसे कविता का उत्कर्षापकर्ष नापा जाता है। उन्होंने अपनी साहित्य समीक्षा सम्बन्धी प्रयास दिशा का भी उल्लेख किया है, जिनके आधार पर नये साहित्य का विशदन और रुचिपरिष्कार सम्पन्न हुआ है—आधार है—

1. रचना में कवि की अन्तर्वृत्तियों (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन। (Analysis of the poetic spirit)।
2. रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन। (एस्थेटिक एप्रिसिएशन)
3. रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्यांगों का अध्ययन। (Study of Techniques)
4. समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन।
5. कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचनाकार पर उसके प्रभाव का अध्ययन। (मानस-विश्लेषण)
6. कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन।
7. काव्य के जीवन सम्बन्धी सामंजस्य और संदेश का अध्ययन।[12]

यह सही है कि वाजपेयीजी में शुक्लजी की चतुर्मुख शास्त्रीय प्रतिभा नहीं थी, पर यह भी सही है कि नये साहित्य के औचित्य-गर्भ मूल्यांकन के लिए अपेक्षित क्षमता वाजपेयीजी में ऐसी थी, जिससे वे अपना पृथक् प्रस्थान निर्मित कर सके। छायावादी काव्यान्दोलन में विदेशी प्रभाव की छानबीन में शुक्लजी जितना तत्पर हुए, उतना उसकी शक्तिमत्ता के परीक्षण में नहीं। नवजागरण का सांस्कृतिक स्वर, शक्ति का दर्शन, राग की राष्ट्रव्यापी ऊर्जा का विस्फोट, भाषा और छन्द की क्रमागत व्यवस्था से विद्रोह, सौन्दर्य की सीमा का विस्तार, काव्य की अखण्ड स्वायत्तता और समुन्नत मानस के हिमगिरि से उसका प्रसरण, आत्मवादी भारतीय चेतना से इस साहित्य की प्रतिभाओं का चेतन-अवचेतन स्तर पर सम्बन्ध, कविता को किसी अपरिमेय शक्ति से परिचालित होने में विश्वास—आदि बहुत-सी ऐसी बातें इस नये आन्दोलन या मोड़ में निहित थीं, जिधर शुक्लजी की दोषाच्छन्न दृष्टि न जा सकी। यह तो सही है कि किसी भी काव्यान्दोलन में मानदण्ड-प्रसवी रचना विरल होती है, बरसाती मेंढक ज्यादा होते हैं। और उनके कारण परिदृश्य स्पष्ट नहीं हो पाता, उफान शान्त होने पर ही उन्नत भूमियाँ साफ दिखायी देने लगती हैं। शुक्लजी ने भी राग और करुणा

को बीज-भाव कहा और उस पर आधारित प्रयत्नों की प्रशंसा की। और राग और करुणा का स्वर छायावाद में भी मुखर है—शुक्लजी ने भी माना कि काव्य में एकमात्र कुरूप और सुरूप की शब्दावली ही व्यवहृत होती है (उनकी दृष्टि में काव्य में कुरूपता का अवस्थान सौन्दर्य की पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए ही समझना चाहिए)। छायावाद भी राग और करुणा का साहित्य है। वहाँ भी कवि की दृष्टि केवल सौन्दर्य की ओर जाती है। पर छायावादी काव्यचेतना में आत्मवाद या अध्यात्म के संस्पर्श से दमक उठनेवाली अतिरिक्त चारुता शुक्लजी की काव्यदृष्टि की परिधि से बाहर ही रह जाती है। माना कि दोष-गुण सर्वत्र होता है। पर यह भी सही है कि दोष की उदग्रता से गुण भी छिप जाते हैं। मध्यकाल का जागरण आन्तरिक ही था—पर उन्नीसवीं शती का जागरण अध्यात्म की भूमि पर अन्तर के साथ बाहर से भी सामरस्य लाने की ओर उन्मुख था। यह बात दूसरी है कि भौतिक और बुद्धिवादी पाश्चात्य अभिमान ने, अपनी उपलब्धियों के चाकचिक्य में उसे अपेक्षित मात्रा में उभरने नहीं दिया। नये साहित्य ने अपनी प्रातिभ ऊर्जा का जो विस्फोट किया—उसके सौन्दर्य और शक्ति पर नाचनेवाली वृत्ति शुक्लजी की बन्द थी, वाजपेयीजी की मुक्त थी। छायावादी प्रतिभा कालिदास की परम्परा में थी, जो नटराज के सार्वभौम शृंगार की धारा का अन्तश्चेतना में संस्पर्श पाती थी और सर्वत्र उसका अनुभव करती थी। यह आकस्मिक नहीं था जो यह प्रतिभा और उससे परिचालित काव्यमोड़ शक्ति की अनुगूँज से आप्लावित था, यह शक्ति का काव्य था। भक्ति काव्य भी शक्ति का ही काव्य था। शक्ति राग का ही नामान्तर है। भक्ति साहित्य में अध्यात्म के संस्पर्श से ही 'राग' शक्ति थी और रीति काल में उससे विच्छिन्न होकर अ-शक्ति में परिणत हो गयी। छायावादी काव्यान्दोलन अनायास नवजागरण के प्रवाह में उससे जुड़ गया। यह सही है कि 'अध्यात्म' तर्क की जगह विश्वास और समर्पित श्रद्धा की अपेक्षा रखता है। पर भारतीय सन्दर्भ में 'अध्यात्म' तर्कविहीन नहीं है। यहाँ तो ऊर्ध्वबाहु घोषणा है—

"यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः"

धर्म का मर्म वही पकड़ता है जो तर्क या चिन्तन से उसे सदा जोड़े रहता है। महादेवीजी इसीलिए कहती हैं कि उनका साहित्य, दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है। निष्कर्ष यह कि इलियट के अनुसार वाजपेयीजी कला की वर्तमान समस्याओं में रचनात्मक साहित्य के साक्ष्य पर निमग्न हुए और ऐसे मानदण्डों की बात की जो शुक्लजी से इनके काव्यप्रस्थान को पृथक् करते हैं। कला की वर्तमान समस्याओं में निमग्न होते हुए भी उन पर अतीत की मान्यताओं की प्रासंगिकता-प्रदर्शन की दिशा में अग्रसर हुए हैं। इलियट परम्परावादी थे और मानते थे कि परम्परा में व्यक्ति को विसर्जित हो जाना चाहिए, उसका अंग बन जाना चाहिए—स्वयं जब तक व्यक्ति माध्यम पात्र नहीं रह जाता तब तक काव्य की रचना की प्रक्रिया में प्रतिभा का अपरिमेय स्तर नहीं उमड़ता। 'प्रसाद'जी ने 'संकल्पात्मक

अनुभूति' की व्याख्या में इसी सत्य का उद्घाटन किया है और कहा है कि वह आत्मा की मनन शक्ति की एक असाधारण अवस्था है। यह असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित होती है, क्योंकि सत्य या श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतना या चिन्मयी ज्ञानधारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है।

शुक्लजी का बुद्धिवाद तथा काव्य की मनोमय कोष की सीमा—दोनों उक्त क्रमागत मानदण्ड की प्रासंगिकता का निषेध करते हैं। वाजपेयीजी समसामयिक साहित्य पर भी अतीत की मान्यताओं की प्रासंगिकता और सारवत्ता का संचार करते हैं, स्थायी कलात्मक मानदण्डों और मूल्यों का भी उसके सम्यक् ईक्षण में उपयोग करते हैं।

शुक्लजी की समीक्षा में 'हमारे यहाँ' का पर्याप्त प्रयोग है और चेतन स्तर पर भारतीय अवतारवादी संस्कृति और अनुरूप मूल्यों का समर्थन करते हुए शुक्लजी भी राष्ट्रीयता से जुड़े प्रतीत होते हैं, पर वाजपेयीजी अध्यात्म-संस्पर्श-शून्य चेतना को नहीं, अध्यात्मसंस्पर्शयुक्त चेतना और आत्मवादी निष्पत्तियों में आस्था रखते हैं और इस भूमि से अपनी राष्ट्रीय चेतना को जोड़े रहते हैं। इसी-लिए राष्ट्रीय चेतना की दुर्दम्य अभिव्यक्तिवाले नये साहित्य को पाश्चात्य चेतना की नकल कहना वाजपेयीजी के गले नहीं उतरता। राष्ट्रीय अस्मिता का पक्षधर अराष्ट्रीय कैसे होगा ?

वाजपेयीजी साहित्य के विवेचन में जिन दो तथ्यों की स्वीकृति अपेक्षित मानते हैं, उनमें से एक यह है, कि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है और दूसरा यह कि राष्ट्रीय होकर ही कोई साहित्य सारवान् बन सकता है। उनकी दृष्टि में साहित्य अपने को अक्षुण्ण और सार्वभौम बना ही नहीं सकता। जब तक उसमें राष्ट्रीय और जातीय चेतना का सम्मूर्तन न हो, वे कहते हैं कि राष्ट्रीयता[13] या जातीयता से उनका आशय केवल जातीय बाह्यगुणों और विशेषताओं से नहीं है—केवल उन लक्षणों से नहीं है जिन्हें हम परम्परा के नाम पर दोहराते चले आते हैं, प्रत्युत राष्ट्र या जाति के उस वास्तविक, सक्रिय और गम्भीर जीवन से है जो एक-साथ मानवीय और विशिष्ट ऐतिहासिक अनुभवों तथा जातीय दृष्टि से मुक्त होने के कारण ही राष्ट्रीय हैं। वस्तुतः राष्ट्र की आत्मा, संस्कृति और संस्कृति का सम्बन्ध, जाति से है। प्रजाति विज्ञानियों ने बताया है कि जाति की आत्मा है—विशिष्ट संस्कारों का अयुतसिद्ध सन्धान। जिस जाति ने आनुवंशिकता के माध्यम से इसे बचा रखा है वह जाति संस्कृतिसम्पन्न है। अपनी जातीय अस्मिता के लिए यह आवश्यक है कि हमें 'अपनी मौलिक'[14] जातीय चेतना से संसर्ग रखना होगा ही, जो व्यक्तिगत या खण्डित वस्तु नहीं है–वरन् सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय और ऐतिहासिक है। इस चेतना से सम्पृक्त रहकर हम अपनी प्रकृति के अनुरूप कहीं से भी ग्राह्य का ग्रहण और त्याज्य का त्याग कर सकते हैं। वाजपेयीजी का पक्ष है कि

आधुनिकता भारत के लिए पश्चिम से नहीं, केवल आधुनिक भारत से ही नहीं, किन्तु समस्त भारतीय संस्कृति के पुनर्मूल्यांकन और आकलन के द्वारा ही अर्थ-ग्रहण कर सकती है। उन्होंने भारत, रूस और अमेरिका को केन्द्र में रखकर भारतीयता या भारतीय राष्ट्रीयता का बहुत ही उत्तम स्वरूप निर्वचन किया है। अमेरिका और भारत में यह साम्य है कि दोनों 'व्यक्तिस्वातन्त्र्य' के उपासक हैं और रूस इसका विपक्षी—तथा अमेरिकन व्यक्तिस्वातन्त्र्य जहाँ भौतिकता की उपासना में अराजकता का पर्याय और तथाकथित मानवता का दम्भ भरता है—वहाँ भारत का अध्यात्म पर आधारित 'व्यक्तिस्वातन्त्र्य' काफी गहरा अर्थ रखता है और उसका 'व्यक्तिस्वातन्त्र्य' व्यक्ति की महत्ता का पक्षधर होता हुआ भी समष्टि तक आत्मविस्तार में सार्थकता समझता है। उसका 'व्यक्ति' अपने में विश्वात्मक तथा विश्वातीत तक होने की सम्भावना रखता है। इसीलिए यदि अमेरिका को रूस-भारत की दोस्ती अजीब लगती है तो भारत को रूस और अमेरिका का वैमनस्य आश्चर्यकर प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह कि वाजपेयीजी व्यक्ति की महत्ता भी स्वीकार करते हैं और समष्टि तक आत्मविस्तार में उसकी चरितार्थता भी। व्यक्ति में अपरिमेय सम्भावनाएँ उपलब्धि का रूप ग्रहण कर सकती हैं पर उसकी चरितार्थता और सार्थकता उनके सामाजीकरण में ही है। इस तरह भारतीय राष्ट्रीयता विश्व की अविरोधिनी बनकर अपनी सांस्कृतिक चेतना में विश्वहित की भावना रखती है। अध्यात्म ही इस व्यष्टि और समष्टि के अर्तविरोध को सामंजस्य में बदल सकता है, फलतः उसे जीवन और साहित्य से कैसे निकाला जा सकता है ? छायावादी साहित्य सायास-अनायास इसी भूमि से जुड़ा हुआ है।

इसीलिए वाजपेयीजी उस सिद्धान्त से अपना वैषम्य रखते हैं जो आर्थिक आधार पर ही सुपरस्ट्रक्चर की बात करता है और कला की स्वायत्तता भंग कर उसे भौतिक प्रगति का अंग निरूपित करते हैं। वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं, मुझे मार्क्स की सामाजिक और साहित्यिक प्रतिपत्तियाँ स्वीकार नही हैं। यहाँ कवि-कल्पना वर्गीय घेरे को पार ही नहीं कर सकती।[15] उनकी धारणा है कि 'वर्गवादी समाज' और 'वर्गवादी साहित्य' के प्रति इतनी घृणा फैलाई जा चुकी है कि मार्क्सवादी विकासक्रम में मानवीय मूल्यों की सही-सही प्रतिष्ठा असम्भवप्राय हो गयी है। इस प्रकार जहाँ वे एक ओर मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति को अराष्ट्रीय बताकर विरोध करते हैं, वहीं वे प्रयोगवादी प्रस्थान में उभरते हुए समष्टि विरोधी व्यक्तिवाद और मनोविज्ञान की सहायता से मन की गुहाओं में बुद्धिहीन भावनावों के स्वतःचालित लेखन का भी विरोध करते हैं। वे कहते हैं,[16] "जहाँ एक ओर नया सामाजिक दर्शन हिन्दी साहित्य की विचारभूमि में प्रवेश कर रहा है, वहाँ दूसरी ओर मनोमय कोष—व्यक्तिमुखी और एकान्तिक मनोविज्ञान भी विश्लेषण के एक नये तत्वज्ञान का विज्ञापन करने लगा है। इस नये तत्वज्ञान की मूल प्रतिज्ञा यह है कि साहित्य और कलाओं का सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तर्मन

से रहा करता है और साहित्य प्रत्येक अवस्था में इस अन्तर्मन की ही अभिव्यक्ति होता है। सामाजिक प्रगतियाँ और मानव विकास हमारे इस मूल या आदिम मानस को बदल देने में अक्षम है और यह आदिम मानस ही साहित्य तथा कलाओं का प्रेरक है। जो कुछ परिवर्तन साहित्य[17] या कलाओं के क्षेत्र में होते हैं—वे सब औपचारिक हैं और केवल हमारी अन्तश्चेतन वृत्ति को ही नाना छद्मवेशों में उपस्थित करते हैं।" स्पष्ट ही इस भूमिका पर हमारा समस्त राष्ट्रीय साहित्य, जिसके मूल में धर्म और अध्यात्म है, अस्वाभाविक कुण्ठा के ही परिणाम सिद्ध होंगे। वाजपेयीजी की धारणा है कि मनोवैज्ञानिक सारा विश्लेषण व्यक्तिमूलक है जबकि धर्म और दर्शन या अध्यात्म की विधियाँ और निर्देश पूर्णतः सार्वजनिक हैं। परिवेश से काटकर भक्ति साहित्य या भक्त का मानस-विश्लेषण अत्यन्त चिन्त्य हो जाता है। फलतः वाजपेयीजी का निष्कर्ष है[18]—"प्राचीन विकासोन्मुख धर्म और संस्कृति का विवेचन करने में वर्गवादी या भौतिक यथार्थवादी आलोचक भी उतने ही अनुदार हैं जितने ये आदिम मानस के प्रतिष्ठाता 'मनोविश्लेषण-वादी'। कदाचित् ये इस सत्य का उद्‌घोष करते हैं कि अतिवादी सीमा पर पहुँच-कर दो प्रतिपक्षी मिल जाते हैं। यदि यह बात है तो सत्य इन दोनों से दूर है और वह तटस्थ ऐतिहासिक और भावात्मक अनुशीलन द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है।"

वाजपेयीजी ने 'बीसवीं शताब्दी' के निबन्धों में कवि के लिए एक अनिवार्य आस्था का होना आवश्यक बताया है और दूसरी उच्चकोटि की नैतिक चेतना के सन्निवेश को। निराशा और कुत्सित मानस से श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। जब वाजपेयीजी साहित्य में नैतिक चेतना की बात करते हैं, तब शुक्लजी की नीतिमत्ता भी उनके ध्यान में रहती है। इसीलिए वे अपने को स्पष्ट करते हुए कहते हैं[19] "निश्चय ही यह नैतिक चेतना साहित्य में किसी नीतिवाद की सृष्टि नहीं करती। यह मानव सम्बन्धों को सम्पन्नता देती है और मानव आकांक्षाओं की परितृप्ति द्वारा ही साहित्य की रसात्मक अनुभूति को प्रांजल और परिपूर्ण बनाती है।" व्यष्टि और समष्टि के सामंजस्य पर दृष्टि टिकी होने के कारण ही वे स्वीकार करते हैं कि काव्य की रूपसत्ता जब तक उपयुक्त अभिव्यंजना या वाणी-विधान नहीं प्राप्त करती तब तक उसमें आह्लादकता का गुण नहीं आ पाता।...रूप योजना व्यक्तिगत होती है, वह कवि के वैयक्तिक मानस से सम्बन्धित है, पर वाणी की शक्ति इस रूपसत्ता को सार्वजनिक बनाती है और उसमें ऐसे तत्व की प्रतिष्ठा[20] करती है जो काव्य को सार्वजनिक आह्लाद का विषय बना देता है। उन्हें प्रसाद, पन्त और निराला में वह असाधारण ध्वन्यात्मक शक्ति लक्षित हुई है।

इस प्रकार वाजपेयीजी कला की वर्तमान समस्याओं में निमग्न होते हुए भी उन समस्याओं पर अतीत की मान्यताओं की प्रासंगिकता स्पष्ट करते हैं—परम्परा में आस्था व्यक्त करते हैं, उसे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक निरूपित

करते हैं—इसी में अपनी राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा और तदनुरूप स्वस्थ विकास की सम्भावना मानते हैं। अन्यथा साहित्य की सीमा को मनोमय कोष तक ही मान लें अथवा मार्क्सवादी और मनोविश्लेषणवादियों की एकांगिता को ही स्वीकार कर लें और भारतीय साहित्य का मूल्यांकन करने निकलें तो इस घेरे से सूर और तुलसी जैसी महान प्रतिभाएँ सदा बाहर ही रह जायेंगी। उनका मूल्यांकन सही नहीं हो पायेगा। समय, समाज या सिद्धान्त विशेष की चौहद्दी में न रहकर जो कवि उसका अतिक्रमण कर जाते हैं वे ही राष्ट्रीय सम्पत्ति बनते हैं। मनोविश्लेषण और मार्क्सवादी समाजदर्शन के कट्टर अनुयायी भी प्रतिभा की असीम और अनिर्देश्य सम्भावनाओं को स्वीकार करते हैं और यह बात वाजपेयीजी के पक्ष में जाती है। आरम्भ में वे भारतीय प्राचीन मानदण्डों की सर्जनात्मक साहित्य की समीक्षा में अपर्याप्तता घोषित कर रहे थे—परन्तु बाद में चैन्तनिक मन्थन से समुचित परिष्कार के साथ रस-सिद्धान्त को स्थायी मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया और अपने ढंग से उसका अपनी समीक्षाओं में संचार भी किया। इस प्रकार वे सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय स्तर के समीक्षक हैं।

सन्दर्भ

1. टी. एम. इलियट : ट्रेडिशन एण्ड इण्डिविजुअल टेलेण्ट, सेलेक्टेड एसेज़।
2. रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग 2, पृष्ठ 248
3. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ. 16
4. वही, पृ. 17
5. वही, पृ. 18
6. वही, पृ. 18-19
7. रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि भाग-2, पृ. 46
8. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ. 22
9. वही, पृ. 23
10. वही, पृ. 34
11. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृ. 434
12. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, 'विज्ञप्ति' से
13. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : राष्ट्रीय साहित्य : निबन्ध, पृ. 1
14. वही, पृ. 2
15. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : सर्जन और समीक्षा, पृ. 82
16. वही, पृ. 157

17-18. वही, पृ. 158

19-20. वही, पृ. 93

आचार्य वाजपेयी का साहित्य प्रस्थान

जिस प्रकार शुक्लजी के विषय में कहा जाता है कि उन्हें काव्य या साहित्य का परिणत प्रतिमान गोस्वामी तुलसीदासजी के साहित्यानुशीलन से प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार वाजपेयीजी के विषय में भी कहा जा सकता है कि उन्होंने भी काव्य-स्वरूपविषयक धारणा का निर्धारण स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा की परिणत रचनाओं से प्राप्त किया, यद्यपि वाजपेयीजी साहित्य में 'वाद' के विरोधी थे। इन रचनाओं में प्रकृत मानव अनुभूति थी और था नैसर्गिक कल्पना के सहारे सौन्दर्यमय चित्र विधान, जिससे कि मानव मात्र (पाठक सहृदय मात्र) में अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य संवेदनात्मक प्रतिबिम्ब व्यक्त होता है। भारतीय परिवेश की ये स्वच्छन्दतावादी परिणत रचनाएँ जातीय सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय गन्ध से आपूरित थीं। निष्कर्ष यह कि उन्मिषित कवित्व की काव्यात्मक परिणति में जिन तत्वों की सत्ता वाजपेयीजी देखना चाहते हैं, वे स्वच्छन्दतावादी काव्यरचना और चिन्तन में पुष्कल रूप से वर्तमान हैं। काव्य का मूल उपादान जो प्रकृत मानव अनुभूति है, वह सामान्य अनुभूति से, व्यावहारिक धरातल की संकीर्ण अनुभूति से भिन्न है। अन्यविध अनुभूतियों से पृथक् करने के लिए इसे सर्जनात्मक अनुभूति भी कहा जाता है।

सर्जनात्मक अनुभूति की सत्ता सभी मानते हैं पर उसकी व्याख्या अपनी-अपनी दृष्टि से करते हैं। शुक्लजी इस अनुभूति को रसात्मक अनुभूति के रूप में परिभाषित करते हैं और बताते हैं कि व्यक्ति हृदय के लोकहृदय में लीन होने की दशा ही रसदशा है। इस प्रकार वे जिस रसात्मकता को काव्यानुभूति के रूप में रखना चाहते हैं, वह एक मानवीय मनोभूमि है, जो काव्य की भाँति व्यावहारिक धरातल पर भी सम्भव होती है। यह मन की एक प्रकार की सात्विक या नैतिक मनोमय भूमि है। काव्य या लोक व्यवहार—सर्वत्र, जहाँ भी हम व्यक्तिगत संकीर्ण भूमि से ऊपर उठकर लोकहृदय में विलयन का अनुभव करते हैं, वहाँ रसात्मकता है। जहाँ रसात्मकता है—वहीं सौन्दर्य है, चाहे लोक हो या काव्य। इस प्रकार शुक्लजी की रसात्मकता और सौन्दर्यभावना नैतिक भावना का पर्याय बन जाती है। उन्हें मानवीय या लोकमंगल की भावना से प्रेरित कार्यकलाप में

ही सौन्दर्य दिखेगा—राम के व्यापार ही सुन्दर प्रतीत होंगे—रावण के व्यापार नहीं। शुक्लजी की दृष्टि में रावण की सक्रियता[1] का योगदान काव्य की भूमि पर भी सौन्दर्यबोध में नहीं है। काव्यानुभूति के अखण्ड धरातल पर यह नैतिक-अनैतिक का विभाजन वाजपेयीजी को अभीष्ट नहीं है। यहीं काव्यानुभूति के सम्बन्ध में वाजपेयीजी शुक्लजी से अपना प्रस्थान पृथक् कर लेते हैं। उनका कहना है कि काव्यगत सौन्दर्य को नैतिक-अनैतिक के खानों में बाँटकर नहीं देखना चाहिए, बल्कि काव्य की भूमिका में उसे इससे ऊपर उठकर समग्रता में सौन्दर्य-बोध करना चाहिए। शुक्लजी की काव्यानुभूति सात्विक है, वाजपेयीजी की काव्यानुभूति प्रकृत मानव अनुभूति है। काव्य निःसन्देह व्यवहार पर आश्रित है, पर व्यवहार पर आश्रित होने के बावजूद उसकी अपनी स्वायत्त सत्ता है—अतः वहाँ की शब्दावली का प्रयोग, यहाँ की स्थिति में विभ्रम पैदा कर देता है। यह बात नहीं है कि वाजपेयीजी की प्रकृत मानव अनुभूति असात्विक या अनैतिक है, नहीं, कतई नहीं, पर वे इस शब्दावली का यहाँ प्रयोग ही नहीं करना चाहते। वे केवल समग्रता-द्योतित-सौन्दर्य की समरस और अखण्ड छवि में नैतिकता का विसंष्ठुल समुद्रेक असमरस उभार अनंगीकार करते हैं। वे इस स्थल के लिए केवल 'सौन्दर्यानुभूति' का प्रयोग करना चाहते हैं।

जब वाजपेयीजी प्रायोगिक समीक्षा का प्रथम प्रस्थान बिन्दु साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष के आकलन को (Analysis of the poetic spirit) मानते हैं, तब उनके अनुसार कलात्मक उत्कर्ष का सर्वग्राह्य प्रतिमान होता है—सौन्दर्य। उनके अनुसार इस सौन्दर्य की परख किन्हीं निश्चित सीमाओं में नहीं की जा सकती। शुक्लजी से, इसीलिए, अपने प्रस्थान को पृथक् करते हुए वाजपेयीजी ने स्पष्ट कहा है—"साहित्य, काव्य अथवा किसी भी कलाकृति की समीक्षा में जो बात हमें सदैव स्मरण रखनी चाहिए, किन्तु शुक्लजी ने जिसे बार-बार भुला दिया है—यह है कि हम किसी पूर्वनिश्चित दार्शनिक या साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर कला की परख नहीं कर सकते।"

अनुभूति या काव्यानुभूति के स्वरूप पर विचार करते हुए उन्होंने माना है कि अनुभूति या भावना ही काव्य का प्रेरक तत्त्व है (प्रेरक या मूल उपादान ?), उसकी मूलभूत सत्ता है। कल्पना अनुभूति का क्रियाशील रूप है। कल्पना का मूल स्रोत अनुभूति है और उसकी परिणति है काव्य की रूपात्मक अभिव्यंजना। वह वस्तु जो कल्पना के विविध अंगों और मानसछवियों का नियमन और एकान्वयन करती है, अनुभूति कहलाती है। इस भावनानुभूति में मानव व्यक्तित्व और मानवता ऐसे श्रेष्ठ उपादान होते हैं जिनसे काव्य में मूल्य और महत्त्व की प्रतिष्ठा होती है।

अनुभूति के संघटक तत्व हैं, उनके अनुसार—1. अनुभवगोचर विषय, 2. विषयी या आत्मा, 3. विषयी और विषय के संघात से उत्पन्न संवेदन। इन संघटक तत्त्वों के कारण अनुभूति के स्वरूप और वैशिष्ट्य में असंख्य भेदों का

होना स्वाभाविक है, परन्तु काव्यात्मक अनुभूति अत्यन्त उच्च स्तर का अनुभव है, अतः वह समरस और समरूप भी हुआ करती है। उसमें देश और काल के अनुरूप गतिशीलता का तत्त्व भी हुआ करता है और मानवात्मा की विकासावस्था के अनुसार उसमें व्यापकता और वैशिष्ट्य की भी मात्रा रहती है।

वाजपेयीजी अपने वैचारिक क्रम में धीरे-धीरे भारतीय रस-सिद्धान्त की ओर आकृष्ट होते गये। इसीलिए उन्होंने रससिद्धान्त की प्रक्रिया का साक्ष्य देते हुए यह कहा है कि साहित्य मात्र के मूल में अनुभूति या भावना ही कार्य करती है। काव्य में प्रत्येक पात्र की अनुभूति में रचयिता की ही अनुभूति काम करती रहती है, अतः काव्य में समग्र अनुभूति में सौन्दर्यबोध या रसबोध होता रहता है, नैतिक-अनैतिक के व्यावहारिक संस्कार से उसका विभाजन कर, केवल नैतिक अनुभूति में नहीं। उनकी दृष्टि में काव्य की सम्पूर्ण विविधता में एकात्म्य स्थापित करनेवाली यही शक्ति है। "सम्पूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है और वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है, वह स्थायीभाव रचयिता की अनुभूति से उद्‌गम प्राप्त करता है।"

वाजपेयीजी ने अनुभूति के स्वरूप का निरूपण करते हुए प्रसिद्ध भाववादी चिन्तक क्रोचे तथा रसवादी भारतीय आचार्यों का साक्ष्य देते हुए कहा है कि अनुभूति—काव्यानुभूति—समरस और समरूप होती है, वह किसी प्रकार का, देशकाल-व्यक्ति का भेद नहीं जानती, वह सार्वजनीन और सार्वभौम होती है। क्रोचे के स्वर में स्वर मिलाते हुए वे कहते हैं कि वह अनुभूति, अनुभूति ही नहीं है जो अभिव्यक्ति न हो और वह अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति नहीं है, जो काव्य न हो। भारतीय आचार्यों ने भी दार्शनिक स्तर पर यह सिद्ध किया है कि रसात्मक अनुभूति अखण्ड, निरवयव तथा विगलित वेद्यान्तर है।

भाववादी या स्वच्छन्दतावादी चिन्तकों के साथ वाजपेयीजी यह स्वीकार करते हैं कि साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, वह स्वायत्त है, फिर भी वे मानते हैं कि—"यह सत्ता जीवनसापेक्ष है। जीवन निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रान्ति है, जीवनसापेक्ष कला के लिए कला सिद्धान्त है।" ऐसा कहते हुए वे पश्चिमी भाववादी कलाचिन्तकों की जीवन निरपेक्ष अतिवादी सीमाओं से अपने को मुक्त कर लेते हैं। इस प्रकार एक ओर वे इस रसात्मक काव्यानुभूति को जीवनसापेक्ष कहकर जहाँ पश्चिमी भाववादी अतियों से अपने को मुक्त करते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर जीवन और काव्य के मध्यकालीन बँधे ढाँचे से उसे उन्मुक्त कर 'प्रबन्ध' से 'प्रगीत' के सौन्दर्यमय धरातल पर उतार लाते हैं। जहाँ शुक्लजी प्रबन्ध में रस का सर्वोत्तम परिपाक मानते थे, वहाँ वाजपेयीजी प्रगीत में ही रस की अपेक्षाकृत निर्बन्ध स्थिति घोषित करते हैं। उन्हें प्रबन्धातवर्ती रस में छिलके और रेशों की सम्भावना रहती है, पर प्रगीत में इन सब अनावश्यक बाधकों से रहित रस में ही, रस की स्थिति मानते हैं।

समीक्षक कभी-कभी मूल्यांकन भी करने लगता है और मूल्यांकन की बात

उठते ही उसकी दृष्टि काव्येतर जीवनमूल्यों की ओर चली जाती है। वाजपेयीजी महादेवी के काव्य के सम्बन्ध में प्रश्न उठाते हैं --"साहित्यिक रचना का एकदम स्वतन्त्र मूल्य है अथवा उसके सामाजिक सम्पर्क और प्रभाव में है? और यदि साहित्य सामाजिक और वास्तविक जीवनस्रोत से अपना रस ग्रहण करना छोड़ देता है तब केवल कल्पना या वैयक्तिक संवेदना की भूमि पर की गयी रचना का साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य किस प्रकार आँका जाय?" निष्कर्ष यह कि कृति के मूल्यांकन में कलात्मक सौन्दर्य के साथ सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य भी हैं। वाजपेयीजी अपने शुद्ध समीक्षक रूप में काव्य की एक ही सीमा और एक ही प्रतिमान और मूल्य की घोषणा करते हैं और वह है—सौन्दर्य, पर मूल्यांकनकर्ता के रूप में उन्हें कुछ और भी सोचना पड़ा है।

वाजपेयीजी के उक्त प्रश्न के साक्ष्य पर कुछ लोग उनके समीक्षक व्यक्तित्व के विकसित होने की बात सोचते हैं। यदि समीक्षक में मूल्यांकन भी निहित हो, तो सोचा जा सकता है। सोचनेवालों ने 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' के बाद की समीक्षात्मक कृतियों में उनके विकसित समीक्षक का दर्शन किया है—जहाँ उनकी दृष्टि काव्यमूल्य के साथ-साथ काव्येतर मूल्यों की भी अनिवार्यता पर चली गयी है।

वास्तव में स्वच्छन्दतावादी समीक्षक वाजपेयीजी की 'दृष्टि' में साहित्य का सर्वातिशायी और एकमात्र प्रतिमान 'सौन्दर्य' ही है, पर जैसे रसवादी भारतीय आचार्य 'रस' को काव्य का सर्वोत्कृष्ट प्रतिमान मानते हुए भी उसके व्यंजक उपकरणों में 'औचित्य' का निर्वाह अनिवार्य मानते थे, वैसे ही वाजपेयीजी भी मानते हैं कि कलाकार का मानस सौन्दर्य की व्यञ्जना के लिए 'समुन्नत' होना चाहिए। यह समुन्नति सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों, वैचारिक रश्मियों, जीवन के समुचित पक्षों से सम्वलित होने पर ही सम्भव होती है। रसवादी आचार्यों ने भी 'औचित्य' को रस का पराउपनिषद् कहा था और कहा था, वह सामाजिकता का ही दूसरा नाम है। सौन्दर्यदर्शी कवि की मानस अभिव्यञ्जना में ये सब तत्त्व गल-पचकर समरस हो गये रहते हैं, पृथक् से अपनी उद्रिक्तता प्रदर्शित नहीं करते। वाजपेयीजी ने 'नयी समीक्षा' शीर्षक लेख में शुक्ल प्रस्थान से स्वयं के प्रस्थान का पार्थक्य स्पष्ट करते हुए कहा है—"भारतीय रस सिद्धान्त को उन्होंने मुख्य समीक्षा सिद्धान्त माना, किन्तु रस के आनन्द पक्ष पर, उसके संवेदनात्मक पक्ष पर, उनकी निगाह नहीं गयी। साहित्य समीक्षा को सैद्धान्तिक आधार देनेवाले प्रथम समीक्षक शुक्लजी ही थे, किन्तु रस सम्बन्धी उनकी व्याख्या भावव्यञ्जना या अनुभूति पर आश्रित न होकर एक नैतिक और लोकवादी आधार का अवलम्बन लेती है। शुक्लजी की प्रायोगिक समीक्षाओं में उनका यह मन्तव्य बहुत स्पष्ट है। यदि नैतिकता की अपेक्षा संवेदना पक्ष पर अधिक बल होता तो भावनामय सूर के प्रति शुक्लजी वह मत न व्यक्त करते, जो कर गये हैं। उन्हें गोपियों का विरह बैठे-ठाले का धन्धा न लगता। वाजपेयीजी की

दृष्टि में—"काव्य की रसात्मकता का अर्थ है—उसकी लोकोत्तर भावनामयता। रस का आनन्द, अलौकिक आनन्द इसी अर्थ में है कि वह नैतिक और व्यावहारिक भावभूमियों को आत्मसात् कर भी उनके परे पहुँच जाता है।" इस परे पहुँच जानेवाले पर्यवसित रसात्मकता या 'सौन्दर्य' के अभिव्यञ्जक जागतिक उपकरण को, 'उनकी काव्यदृष्टि' दो भागों में बाँटती है—सुन्दर और कुरूप। शुक्लजी कहते हैं—"सुन्दर और कुरूप—काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्यक्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखायी जाती हैं—सुन्दर और असुन्दर। जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है, उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुन्दर कहता है। दृष्टिभेद अवश्य है। धार्मिक की दृष्टि जीव के कल्याण, परलोक में सुख, भावबन्धन से मोक्ष आदि की ओर रहती है, पर कवि की दृष्टि इन सब बातों की ओर नहीं रहती, वह उधर देखता है जिधर सौन्दर्य दिखायी पड़ता है।" (कविता क्या है?)। "काव्य में कुरूपता का अवस्थान सौन्दर्य की पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए ही समझना चाहिए" (वही)। इस प्रकार यद्यपि इन निरूपणों में शुक्लजी कुछ सचेत हैं, फिर भी शुक्लजी रसानुभूति में कोटियाँ (तीन) स्वीकार करते हैं, उसकी सर्वथा आनन्दमयता अस्वीकार करते हैं। साथ ही स्थापना करते हैं कि रसानुभूति व्यवहार दशा और व्यवहारेतर काव्यनाट्य—सर्वत्र सम्भव है, क्योंकि वह एक नैतिक और सात्विक मानवीय मनोदशा ही है। इसीलिए शुक्लजी रसात्मकता को साध्य नहीं, साधन ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में मनोवृत्ति के रसात्मक होने का अर्थ है, रागात्मक सत्ता का विस्तार, लोकहृदय का स्पर्श अथवा उससे व्यक्तिसत्ता का सामरस्य। इस मन:स्थिति से ही उनकी दृष्टि में मानव-मानस में निहित मानवीय सम्भावना चरितार्थ हो सकता है और मनुष्य अपना सर्वोत्तम मूल्य (मानवता की उपलब्धि) पा सकता है। विपरीत इन मान्यताओं के वाजपेयीजी 'बुद्धिवाद को अधूरी दृष्टि' और 'वैदिक दर्शन' को समग्र जीवन-दृष्टि मानते हैं—इसीलिए वे काव्यानुभूति को सर्वथा आनन्दमय, अखण्ड और साध्य बताते हैं।

जिसने अन्त:सत्ता की तदाकार परिणति को सौन्दर्यानुभूति कहा है, उसने अभिनवगुप्त के 'तन्मयीभवन' का रूपान्तर अनायास किया है और ये हैं—शुक्लजी। तन्मयीभवन 'सम्वाद' के नाम से जाना जाता है। जो कृति जितने ही व्यापक देश-कालान्तवर्ती व्यक्ति के मनोजगत् में 'सम्वाद' जगा पाती है, वह उतनी ही महान् मानी जाती है। कभी-कभी पाठक या श्रोता जो Hurra, Hurra कहकर चिल्ला उठते हैं—वह 'सम्वाद' के ही कारण। इस 'सम्वाद' में 'क्रमागत' और 'अर्जित' उभयविध संस्कार से सारूप्य होना चाहिए। प्राचीन आचार्यों ने इन्हें ही 'तदानीन्तन' और 'इदानीन्तन' वासना कहा है। इस मनोजगत् के संस्कार असामाजिक या व्यक्तिगत भी हो सकते हैं और समाज तथा राष्ट्रानुमोदित

भी। साहित्य चूँकि सामाजिक कृति है, अतः उसका मनोजगत् के समाजानुमोदित तथा राष्ट्रानुमोदित संस्कार से ही सम्वाद होता है और होना भी चाहिए। यही सम्वाद सौन्दर्यानुभूति है, जो रसात्मक परिणति लेती है। वाजपेयीजी इसी चिन्ताधारा के अनुरूप काव्य को जीवन और जगत् से, समाज और राष्ट्र से सम्बद्ध देखना चाहते हैं। भारत की राष्ट्रीयता इतनी विशाल और व्यापक है कि उससे अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध हो ही नहीं सकता। सदातन और चिरन्तन से अविरोधी अद्यतन का चित्रण ही सिद्ध कवि की पहचान है। यही कारण है कि वाजपेयीजी उस काव्यधारा को अविसम्वादी मानकर अग्राह्य घोषित करते हैं, जो अराष्ट्रीय तथा असामाजिक अथवा नितान्त वैयक्तिक होती है। ऐसी रचनाएँ पाठक को परेशान कर सकती हैं, परन्तु 'सम्वाद', 'तन्मयीभवन' अथवा 'सौन्दर्य-संवेदन' के समुन्नत धरातल पर पाठक को प्रतिष्ठित नहीं कर सकतीं।

एक बात और। काव्य का अपना स्वायत्त मूल्य यही 'संवाद', 'तन्मयीभवन' या 'सौन्दर्य-संवेदन' है और इसकी प्रकाशक सामग्री में काव्येतर मूल्य है—सामाजिक या अन्य राष्ट्रानुमोदित मानव मूल्य। समीक्षक की समीक्षण प्रक्रिया में यदि काव्यमूल्य हावी रहा और अपने तारतमिक अनुपात में काव्येतर मूल्य विवेचित होता रहा, तब तो वह सन्तुलित समीक्षक की भूमिका निभा सकता है—अन्यथा यदि उसकी दृष्टि काव्येतर मूल्यों पर ही केन्द्रित हो गयी, तो वह समीक्षक नहीं, उससे कुछ भिन्न अर्थात् मूल्यांकनकर्त्ता ही रह जायेगा।

काव्यमूल्य के साथ-साथ ज्यों-ज्यों काव्येतर मूल्यों की ओर से वाजपेयीजी सचेत होते गये त्यों-त्यों रोमैण्टिक समीक्षक होते हुए भी उन्होंने अपना प्रस्थान उन कलावादियों और सौन्दर्यवादियों से पृथक् कर लिया, जो कला को जीवन और समाज से धीरे-धीरे काटकर अलग हो जाते हैं। साथ ही वे उन मार्क्सवादी चिन्तकों से भी अपने को पृथक् कर लेते हैं जो सामाजिक विकास क्रम में आर्थिक व्यवस्था को मूलाधार मानकर साहित्य तथा अन्य उपकरणों को उसका अनुवर्ती सिद्ध करते हैं, साथ ही जो काव्य और कलाओं को समय-विशेष की वर्गीय स्थिति में बाँधकर अवमूल्यित करते हैं।

वाजपेयीजी सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का काव्यसामग्री में होना समुचित सौन्दर्यबोध के लिए अनिवार्य मानते हैं—इसीलिए मार्क्सवादी साहित्यिक दृष्टिकोण से अपने दृष्टिकोण का पार्थक्य निरूपित करते हुए उन्होंने कहा है—'राष्ट्र और जातियाँ किसी मतवाद के बल पर खड़ी नहीं होतीं, वे खड़ी होती हैं अपनी आन्तरिक चेतना, सहानुभूति और प्रयत्नों के बल पर।......यह समझना निरी भ्रान्ति है कि मार्क्सदर्शन या मार्क्सीय विचारपद्धति हमें जीवन की कोई अनुपम दृष्टि देती है और सत्य का सीधा साक्षात्कार कराती है। भारतीय तत्वचिन्तन और विचारविधियों को अपसारित कर एक नयी पद्धति को प्रतिष्ठित करना भारतीय जनगण की सांस्कृतिक परम्परा का अपमान करना

भी है। आज हमारे साहित्यिक मानदण्ड इसी खूँटी से बँधे होने के कारण अतिशय सीमित और संकीर्ण हो उठे हैं।····· निश्चय ही हमारी यह प्रतिक्रिया हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत चलनेवाले प्रगतिवादी आन्दोलन के प्रति है।" वाजपेयीजी इस दर्शन के अभारतीय स्वर से असहमत रहकर भी यह स्वीकार करते हैं कि "इस आन्दोलन ने हमें दो उपादेय समझें भी दी हैं—एक यह कि काव्य साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता से है और वही साहित्य मूल्यवान् है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है। द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितनी दूर होगा, उतना ही वह काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा।"

काव्येतर सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना के अनुरूप उभरनेवाले साहित्यिक सौन्दर्य पर बल देने के कारण ही वाजपेयीजी उस काव्यान्दोलन का भी स्वागत न कर सके जो कभी-कभी नितान्त वैयक्तिक होकर प्रयोग परीक्षण के क्रम में चल रही वैज्ञानिक मान्यताओं में अपनी 'दृष्टि' बाँधकर मन की अतल गहराइयों में निहित स्वप्न-सत्य को साहित्यिक अभिव्यक्ति समझ रहा था, और उसे टेढ़ी-सीधी लकीरों से व्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा था। साथ ही 'धर्मयुग' में प्रकाशित उनके अन्तिम दौर के साहित्यिक लेख और उसमें निहित प्रशंसा के स्वर यह स्पष्ट संकेत देते हैं कि ये ही सर्जनशील प्रतिभाएँ जब विद्रोह के उफान से मुक्त हो गयीं और 'परम्परा' के अनुरूप 'प्रयोग' से भारतीय राष्ट्रीय तथा सामाजिक चेतना साहित्यिक अभिव्यक्ति करने लगी या जब-जब और जहाँ-जहाँ करने लगी, तब वाजपेयीजी ने उन्हें मान्यता भी दी।

उक्त पंक्तियों के साक्ष्य पर **वाजपेयी-प्रस्थान** के यत्किञ्चित् स्पष्टीकरण के अनन्तर सम्प्रति उनका 'रस विषयक दृष्टिकोण' अपने स्पष्टीकरण के लिए आमन्त्रित है। वाजपेयीजी की कृतियों से जो रसविषयक लेख या उद्धरण यहाँ एकत्र किये गये हैं—उनसे स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि धीरे-धीरे वाजपेयीजी की आस्था 'रस सिद्धान्त' के प्रति पर्याप्त सुदृढ़ हो गयी और इसके बीज उनके राष्ट्रीय व्यक्तित्व में पहले से ही विद्यमान थे।

वाजपेयीजी अपना 'प्रस्थान' लेकर जिस प्रवाह में आ खड़े हुए, वह रचना की दृष्टि से स्वच्छन्दतावादा प्रवाह था। रचना और आलोचना समानान्तर रूप से प्रवाहित होती है, अतः रचना के अनुरूप रचना के भीतर से ऐसे मानदण्ड के उभारने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो तब तक के साहित्य पर अपना संचार करा सकने में समर्थ हो। भारतीय साहित्यिक चेतना के साथ तादात्म्यापन्न होकर उन्होंने बड़ी गहराई से 'रस सिद्धान्त' की सम्भावनाओं का साक्षात्कार किया और अनुभव किया कि समानान्तर प्रवाहित रचना-धारा उस मानदण्ड पर विश्लेषित की जा सकती है। उन्होंने अनुभव किया कि जब क्रियामात्र का प्रेरक 'भाव' या 'मनोवेग' है तब 'काव्यक्रिया' इससे शून्य कैसे हो सकती है, फिर

रोमैण्टिक भावधारा के सन्दर्भ में अदम्य भावधारा के स्वतःस्फूर्त प्रवाह में कवित्व का दर्शन करनेवाली अन्तश्चेतना काव्य में भावाधृत रससिद्धान्त का समर्थन न करेगी तो करेगी क्या ? यह उसकी अनिवार्यता भी थी।

पर जहाँ रस सिद्धान्त के समर्थन की एक ओर अनिवार्यता और सहज सम्भावना थी, वहीं दूसरी ओर उसके परिष्कार और विस्तार की (उसकी सम्भावनाओं के भीतर से) आवश्यकता भी थी। यह स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन भारतीयता या राष्ट्रीयता या भारतीय राष्ट्रीय परम्परा का विरोधी नहीं था, विपरीत इसके 'नवजागरण' में जो भारतीय आध्यात्मिक प्रेरणा आत्मस्थानीय थी, उसे इस आन्दोलन ने भी शिरसा स्वीकार किया था। इसका विरोध था उस रूढ़ निर्मोक या केंचुल से जो इस पर इस प्रकार हावी हो गया था कि उसमें न केवल रस सिद्धान्त की मूल धारणा तिरोहित हो गयी थी, वरन् उसके तिरोहित होने से उसकी सम्भावनाएँ भी आच्छन्न हो गयी थीं। नवजागरण के आन्दोलन ने मध्यकालीन रूढ़ियों से राष्ट्रीय चेतना की ताजगी और उसकी सर्जनशील सम्भावनाओं का साक्षात्कार कराया।

बात यह है कि मध्यकाल का रीतिवादी प्रवाह 'प्रतिभा' की जगह 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' पर बल देता था। 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' पूर्वनिर्धारित प्रतिमानों से सम्बन्ध स्थिर कर लेते हैं। रीतिकाल की अधिकांश विशिष्ट व्युत्पन्न प्रतिभाएँ दरबारों में सिमट गयी थीं। इन सब कारणों से साहित्य का प्रवाह प्रचुर मात्रा में दरबारी मानसिकता से जुड़ गया था, रियाज का प्रदर्शन करने में लग गया था, तेली के बैल के मानिन्द एक ही परिधि में घूमने लग गया था। समाज के एक बड़े भाग की मानसिकता उससे कट गयी थी। इस प्रकार यह भावधारा आवृत होकर निर्जीव होने लगी थी। इसलिए इस ढाँचे का ढला 'रसवाद' खुली सामाजिकता, जीवन और जगत से सम्बद्ध साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त पड़ने लगा था। साथ ही इस समय तक साहित्य पद्यात्मक प्रचुर था, जिसमें स्वभावतः आपेक्षिक रूप से वह वर्तमान से पीछे रहा जाता है। वाजपेयीजी तक गद्यसाहित्य ने अपनी पर्याप्त समृद्धि प्राप्त कर ली थी। गद्य-साहित्य में व्यक्त आदर्श की जगह गद्य में 'वर्तमान' यथार्थ अधिक मुखर होता है और कथा साहित्य के माध्यम से अधिक मुखर भी होने लग गया था। रस-सिद्धान्त का इस साहित्य पर किस प्रकार संचार किया जाय, इसकी चिन्ता शुक्लजी को ही हो गयी थी। काव्यरूप की दृष्टि से 'प्रबन्ध' के पक्षधर शुक्लजी की अपेक्षा 'प्रगीत' के पक्षधर वाजपेयीजी को रससिद्धान्त के संचार की यहाँ भी चिन्ता थी, जिसके फलस्वरूप उन्होंने प्रतिष्ठापित किया कि प्रबन्ध की अपेक्षा प्रगीत में रस धारा का, छिलका रेशा रहित आस्वाद होता है। सबकुछ कहने का अभिप्राय यह कि क्रमागत तथा रीतिकालीन रूढ़ियों के घेरे में आकार ग्रहण करनेवाले रससिद्धान्त पर पुनः विचार करने की आवश्यकता विवेचकों को महसूस हुई। एक तो जैसा कि ऊपर कहा गया कि पुरातन काव्यरूपों की अपेक्षा

नयी अनुभूति से नये काव्यरूप फूट रहे थे। दूसरे यह कि काव्यगत वस्तुवैविध्य का क्षेत्र बढ़ता जा रहा था। तीसरे यह कि भावोत्तेजक सामग्री के ग्रहण की दृष्टि भी बदलती जा रही थी। चौथे, आदर्श एवं जीवन मूल्यों में तेजी से परिवर्तन होता जा रहा था। परिवर्तन पहले भी होता था, परिवर्तन अब भी हो रहा था, हो रहा है, पर पहले का परिवर्तन इतनी धीमी गति से होता था कि वह असंलक्ष्य क्रम था, आधुनिककाल का परिवर्तन छलाँग मारता हुआ आ रहा है। इसलिए इसे 'पुरातन' से काटकर कभी-कभी 'नया' कहने का उपक्रम भी हुआ है। इस 'विच्छेद'वादी प्रवृत्ति ने साहित्य को काफी नुकसान पहुँचाया है। पाँचवें, साहित्य का सम्बन्ध जिस सामाजिक चेतना से है—वह भी बदल रही थी। ये सब बाते 'रस' के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन की माँग कर रही थीं अथवा उसकी अपर्याप्तता को चुनौती दे रही थीं। यही कारण है कि शुक्लजी तथा वाजपेयीजी रस के स्वरूप को व्यापक रूप में परिभाषित कर रहे थे। शुक्लजी ने 'रस' को मानवीय मनोवृत्ति का पर्याय बना दिया और इस बात पर बल दिया कि यदि काव्य मानव की कृति है तो उसकी प्रेरक धुरी मानवीयता होनी चाहिए। वाजपेयीजी ने अपनी विवेचनाओं में साफ कहा है कि **सौन्दर्य संवेदनशील 'समुन्नत' मानस से प्रसूत काव्यास्वाद मात्र रस है**। जब वे झुँझलाकर कहते हैं—"आखिर काव्य का रस है क्या? वह मानव-मात्र की आनन्दात्मक प्रतिक्रिया है, जो श्रेष्ठ साहित्य को पढ़कर उसे उपलब्ध होती है···रस तो काव्यानुभूति का दूसरा नाम है···सम्पूर्ण काव्य किसी रस (रचयिता की अनुभूति) को अभिव्यक्त करता है और वह रस किसी स्थायी भाव पर आश्रित होता है और वह स्थायी भाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।" वाजपेयीजी नाट्यरूप को ध्यान में रखकर पश्चिम के 'कथानक'वाद और 'चरित्रवाद' का विरोध करते हुए कहते हैं—"आज भी भारतीय नाट्यधारणा ही अधिक तात्विक और तथ्यपूर्ण कही जा सकती है। नाटक में चरित्रचित्रण और स्वभावनिरूपण अन्ततः साधन ही हैं, साध्य नहीं। मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य की सूक्ष्म विशेषताओं का चित्रण कितना ही मार्मिक क्यों न हो, काव्य में वस्तुचित्र मात्र है। वह काव्योपयोगी तभी होगा, जब कवि या नाटककार की मूलवर्ती भावसत्ता या कला का अंग बनकर आये, काव्य में अन्तर्भुक्त हो जाय। मानवप्रकृति की **यथार्थवादी** खोज अन्ततः विज्ञान का विषय है। पश्चिमी विचारक भले ही उसे काव्य के लिए सबकुछ मान लें, परन्तु वह सारी मार्मिकता और वैज्ञानिकता, कविकल्पना (जो अनुभूति या काव्यानुभूति का क्रियात्मक रूप है) का समुचित अंग न होने पर निरी निरर्थक भी हो सकती है—इस अनिवार्य तथ्य को भी स्वीकार करना होगा।" अन्त में यही सिद्ध होता है कि कवि-कल्पना और काव्यात्मक अनुभूति ही सब कुछ है और वस्तु तथा चरित्र-चित्रण आदि उसके उपकरण या प्रसाधन मात्र हैं। यदि कवि की कल्पना पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं लगाया जा सकता, तो वस्तु और चरित्र की कोई सुनिश्चित रूपरेखा भी

निर्धारित नहीं की जा सकती। अतः वस्तु और चरित्र की अपेक्षा रस अथवा भावानुभूति को प्रमुख तत्व मानना साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा संगत है"—(जयशंकर प्रसाद)। इतना बड़ा उद्धरण देकर मैं यहाँ यह कहना चाहता हूँ कि वाजपेयीजी ने इस वक्तव्य के माध्यम से समस्त अद्यतन नयी यथार्थपरक चेतना, विविध काव्यरूप, कवि-मानसगत रसेतर अन्य कृतियों की असाहित्यिकता सबका ध्यान रखते हुए बड़े जोरदार ढंग से स्थापना दी कि काव्यानुभूति, भावात्मक सत्ता ही रसानुभूति है और सर्वथा साध्य तथा समुत्कृष्ट वही है। यदि काव्यकार के सर्जनाप्रवण मानस में रसेतर (इतरविध) वृत्ति उद्रिक्त हो जाती है और उसका समूचा प्रातिभ सरम्भ, कल्पनात्मक प्रयास उसी पर केन्द्रित हो जाता है, तो होने को या हुए को अन्यथा तो नहीं किया जा सकता, किन्तु वह साहित्यिक दृष्टि से साध्य तत्व की अवहेलना है।

प्रायः लोग कहा करते हैं कि काव्य वहीं रसात्मक हो सकता है, जहाँ बीज-रूप में कवि की मनोवृत्ति स्वयं रसात्मक हो। पर सर्जक सर्वथा और सर्वदा रसात्मक मनोवृत्ति में काव्य करता तो काव्य के रसेतर-ध्वनिकाव्य, मध्यम-काव्य और अधमकाव्य पक्ष कैसे होते? चरित्र और घटना-प्रधान काव्य कैसे होते? 'यथार्थ' के चित्रण को साध्य बनानेवाली यथार्थधर रचनाएँ काव्य क्यों होतीं? काव्य की परिधि में ये रूप कैसे आते? अथवा इन पर रस का संचार कैसे हो सकेगा? वाजपेयीजी से सहमत, असहमत होना अलग बात है, पर उन्होंने अपना पक्ष बड़ी दृढ़ता से ऊपर के उद्धरण में इन सबको अकाव्यात्मक कहते हुए रख दिया है। ऐसी बात नहीं कि इनमें काव्य की सामग्री नहीं है—है, परन्तु जो तारतम्य, सामञ्जस्य, सामरस्य और साध्य-साधन के आनुरूप्य निर्वाह का औचित्य है, वह अस्तव्यस्त है। काव्य की दिशा में रसेतर तत्वों को साध्यरूप में प्रस्तुत करने-वाली कृतियों को 'प्रयास' कह लें और रसात्मक मनःस्थिति को साध्य रूप में प्रस्तुत करनेवाली कृतियों को 'परिपाक' कह लें, तो वाजपेयीजी की दृष्टि में कह सकते हैं।

रस के इस व्यापक रूप को देखकर कुछ आक्षेपधर यह कहते हैं कि उक्त आलोक में 'रस' का स्वरूप यदि निर्धारित किया जाय, तब तो यह मानना पड़ेगा कि 'रसस्वरूप' विषयक क्रमागत भारतीय धारणा का सर्वथा अन्यथा भाव ही हो गया। इसीलिए वाजपेयीजी के रससिद्धान्त के विषय में निम्नलिखित तीन विकल्प खड़े किये जा सकते हैं। यहाँ—

रस शब्द को भारतीय प्राचीन रसवादी परम्परा से भिन्न अर्थ दिया गया है?

अथवा

मध्यकालीन विजड़ित रूप का परिष्कार किया गया है?

अथवा

आनन्दवर्द्धन की युगोचित भूमिका पर पुनर्व्याख्या की गयी है?

इन तीनों विकल्पों में से प्रथम विकल्प वाजपेयीजी के वक्तव्यों के साक्ष्य पर

सर्वथा अग्राह्य हो जाता है। वे स्वयम् कहते हैं—'रस' शब्द भारतीय साहित्य शास्त्र का बहुप्रचलित और सर्वविदित शब्द है। प्रायः ढाई हजार वर्षों से इस शब्द का अनेकानेक ग्रन्थों में प्रयोग होता आ रहा है। इस अत्यन्त दीर्घकालावधि में प्रयुक्त इस शब्द का महत्त्व अकेले इस बात से ही सिद्ध हो जाता है कि आज तक इसके प्रयोग में किसी प्रकार की कमी नहीं आयी बल्कि इसके स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों और मनीषियों के नित्यनवीन विचार उन्मीलित होते रहते हैं। जहाँ एक ओर इस शब्द से 'रस' शब्द की महाप्राणता सिद्ध होती है, वहीं इसके वास्तविक स्वरूप निर्धारण में मतमतान्तर भी बढ़ते जाते हैं और व्याख्याओं का एक जगत् ही निर्मित होता जाता है। वर्तमान समय में काव्य में रस की स्थिति के विषय को लेकर अनेक चिन्त्य धारणाएँ व्यक्त की जा रही हैं, जिनमें से प्रमुख यह है कि काव्य में रस की संस्थिति ही नहीं होती। यद्यपि सभी प्रबुद्ध विचारक इस प्रकार के निर्देश को अस्वीकार करते हैं, परन्तु इस प्रकार की धारणाओं का निर्मित होना **भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा** का ऐसा असाधारण प्रत्याख्यान है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमारे इस निबन्ध का एक लक्ष्य यह भी है कि रस के स्वरूप के ज्ञान से एक ऐसा रसांजन निर्मित किया जाय जो नये काव्यद्रष्टाओं के लिए 'नयन अमिय दृगदोष विभंजन' का काम भी कर सके। स्पष्ट है कि इस बृहद् व्याख्यान से उनकी स्पष्ट प्रतिज्ञा है—भारतीय काव्य-शास्त्रीय परम्परा की रक्षा, न कि 'रस' शब्द को परम्पराविच्छिन्न अर्थ प्रदान कराना। 'राष्ट्रभाषा की समस्याएँ' शीर्षक कृति में एक लेख है, जहाँ उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी साहित्य-मतों का उपस्थापन करते हुए यह स्पष्ट बताया है कि भारतीय तत्वज्ञान ही अधिक पुष्ट है। इन वक्तव्यों के आलोक में इतना तो स्पष्ट है कि वाजपेयीजी 'रस' शब्द को जो अर्थ दे रहे हैं वह 'भारतीय-परम्परा-विच्छिन्न' नहीं है।

इस पर भी प्रथम विकल्प का प्रेत शान्त नहीं होता। कारण, वाजपेयीजी ने 'जयशंकर प्रसाद' में कहा है—"यदि पश्चिमी आचार्यों ने काव्य में कल्पना की अवास्तविक और अबाध उड़ानों के लिए जगह छोड़ दी है तो दूसरी ओर भारतीय भावसत्ता के आग्रह में जीवन और जगत् की वास्तविक गतिविधि और यथार्थ मानव व्यवहार की उपेक्षा की भी पूरी सम्भावना रह गयी है। वास्तव में पद्धति-बद्ध भाव निरूपण को ही हम रीतिकालीन शृंगारिक कविता में पाते हैं। इस दृष्टि से भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही काव्य धारणाएँ पूर्णतः अव्याहत नहीं हैं...।" लगता है जैसे इस वक्तव्य द्वारा वाजपेयीजी भारतीय धारणा को अपर्याप्त और व्याहत मानते हैं और नया अर्थ देने का संकल्प कर रहे हैं। उनका मत है कि कोई भी काव्यसिद्धान्त अपने में अकाट्य नहीं होता।

लेकिन इसी 'जयशंकर प्रसाद' में बिलकुल इसी प्रघट्टक के बाद दूसरे प्रघट्टक में वे कहते हैं—"अस्तु, भारतीय धारणा के अनुसार भावनिरूपण के

लिए ही वस्तुनिरूपण किया जाता है। वस्तु के स्वतन्त्रचित्रण के लिए काव्य में अधिक अवकाश नहीं रहता, क्योंकि रस-निष्पत्ति काव्य का प्रमुख लक्ष्य होती है। भारतीय आचार्यों ने काव्य का विभाव पक्ष और भावपक्ष अवश्य माना है, पर विभाव और भाव—दोनों ही काव्य में रस का संचार करने के लिए होते हैं। विभाव के अन्तर्गत बाह्य जगत् (आलम्बन के रूप में) और प्रकृति की सत्ता (उद्दीपन रूप में) आ जाती है और इन दोनों के अतिरिक्त कोई वर्णनीय वस्तु हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार अनुभाव और संचारियों के अन्तर्गत मनुष्य की सम्पूर्ण भावात्मक सत्ता का समावेश हो जाता है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से रस के अंगों का निरूपण अपने में पूर्ण और अकाट्य है तथा उसमें किसी प्रकार की अव्याप्ति या अतिव्याप्ति नहीं पायी जाती।" इसे लम्बे उद्धरण से नितान्त स्पष्ट होते विलम्ब भी लगता कि वाजपेयीजी के इस परवर्ती उद्धरण में भारतीय आचार्यों का अनुनाद ही श्रुतिगोचर होता है। ठीक यही आशय 'दशरूपककार' धनञ्जय व्यक्त करते हैं—

> रम्यं जुगुप्सितमुदारम धापि नीच—
> मुग्रं प्रसादेगहनं विकृतं च वस्तु।
> यद् वाप्यवस्तु कवि-भावक-भाव्यभानं
> तन्नास्ति मन्न रसभावमुपैति लोके।

अर्थात् इस लोक में रमणीय, जुगुप्सित, उदार-नीच, उग्र-मृदु, गहन-विकृत चाहे जैसी भी वस्तु हो, या व्यवहार जगत में वह वस्तु न भी हो—कवि और भावक की कारयित्री तथा भावयित्री प्रतिभा का विषय बनकर रसमय हो जाती है। निष्कर्ष यह कि लोक में ऐसा कुछ भी नहीं है जो कवि की कल्पना का स्पर्श पाकर रसमय न हो जाय। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने भी अपने ध्वन्यालोक में स्पष्ट कहा है—"यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्य प्रकारो न सम्भवत्येव यसमादवस्तु सस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जागद्गतमवश्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वांगत्वं प्रतिपद्यते, अन्ततो विभावत्वेन। चित्तवृत्ति विशेषा हि रसादयः। न च तदस्ति वस्तु किंचिद्यन्ञ चित्तवृत्तिविशेषमुपजनमति, तदनुत्पादने वा कविविषय-तैव तस्य न स्यात्' (ध्वन्यालोक) अर्थात् काव्य का ऐसा कोई भी प्रकार हो नहीं सकता, जहाँ रस का विषय न हो। कारण, काव्यमात्र में किसी-न-किसी वस्तु का संस्पर्श तो होगा और वस्तुमात्र, जो संसार में है, किसी-न-किसी रस या भाव का अंग होगी ही, न कुछ होगी, तो विभाव तो होगी ही, किसी-न-किसी प्रकार की मानसिक प्रतिक्रिया तो उत्पन्न करेगी ही और यही मनोवृत्ति या चित्तवृत्ति रस है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो चित्तवृत्ति न पैदा करे और जो इसमें समर्थ होगी नहीं, ऐसी वस्तु को कवि अपने वर्णन का विषय ही क्यों बनायेगा? इस प्रकार इन उद्धरणों में 'रस विषयक' बड़ी ही व्यापक धारणा है। वाजपेयीजी के उक्त उद्धरणों में स्पष्ट ही इन उद्धरणों का अनुनाद है। वे रीतिकालीन

'परिपाटीबद्ध रसनिरूपण' का विरोध कर रहे थे, सम्भावनाओं से संवलित 'रस' सिद्धान्त का नहीं। राष्ट्रीय चेतना, वैदिक दृष्टि और भारतीय समाज की स्वस्थ मान्यताओं के प्रति आस्था रखनेवाला चिन्तक रस सम्बन्धी भारतीय परम्परा का खण्डन नहीं, अनुनाद कर रहा है। हाँ, मध्यकाल में जो अनावश्यक रूढ़ियाँ निर्मोक बनकर उस पर छा गयी थीं, उनका खण्डन अवश्य किया है।

सन्दर्भ

1. शुक्लजी ने स्पष्ट कहा है कि राम के काव्यात्मक निरूपण में ही पाठकों या श्रोताओं का रस मिलता है, रावण के निरूपण में नहीं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की परम्परा

यह समझ भ्रान्त है कि परम्परा खण्डित भी होती है। वास्तव में परम्परा उस जीवन्त चेतना का नाम है जो आपाततः विरुद्ध जान पड़ती हुई ध्वंसात्मक और रचनात्मक क्रियाओं के माध्यम से आत्मविकास करती है। विकास परिवर्तनात्मक ही होता है और परिवर्तन मात्रात्मक ही नहीं, गुणात्मक भी होता है। गुणात्मक परिवर्तन में भी सम्बन्ध-सूत्र विकास मूल और विकसित के बीच क्या आत्यन्तिक रूप से विच्छिन्न हो जाता है ? नहीं, विकास में पूर्वापर-सम्बन्ध किसी भी स्तर पर विच्छिन्न नहीं होता। जो यह कहता है कि परम्परा खण्डित होती है, उसका यह कहना भी सही है कि एक परम्परा के आगे कोई दूसरी परम्परा भी होती है--क्योंकि वह 'एक' और 'दूसरी' के बीच दोनों में अनुस्यूत अविरोधी तत्व नहीं मानता या कि देखता है। सृजनात्मक सम्भावना से संवलित बीज अपने विकास की समग्रता, अंकुरण से लेकर कलात्मक परिणमन तक में एक विशिष्ट परम्परा रखता है। इस अंकुरण से परिणमन तक की परम्परा एक ऐसी जीवन्त चेतना है, जीवनी शक्ति है, जिसका विकास अनेक ध्वंसात्मक और रचनात्मक क्रियाओं के बीच हुआ है। बीजांकुरण से फल-परिणमन में प्राप्त परम्परा या जीवनी शक्ति एक है। वह अपनी दृश्यमान यात्रा (अदृश्यमान में भी) में न तो टूटती है और न ही सर्वथा दूसरी होती है, अपनी अखण्डता से विकसित होती है। स्थूल बुद्धि से इसे खण्डित होना या टूटना कहा जा सकता है अथवा एक से टूटकर दूसरी होना कहा जा सकता है। स्थूल बुद्धि का आशय यह है कि वह उस जीवन्त चेतनात्मक परम्परा के दृश्यमान विकासक्रम को ही परम्परा समझता है, फलतः उसे खण्डित होना और दूसरा होना जान पड़ता है। जब कवीन्द्र रवीन्द्र भारतीय संस्कृति (उसके व्यक्तित्व का विकसित रूप) को 'महामानवेर समुद्र' कहते हैं या कि जब हजारीप्रसाद द्विवेदी उसे केवल आर्य जाति के प्रदेय के रूप में न पहचानकर तमाम देश-विदेश की जातियों के सम्मिलित प्रयास के रूप में परखते हैं या कि जब नेहरूजी कुछ विशेष कारण से उसे 'सामासिक संस्कृति' कहना बेहतर समझते हैं और दिनकरजी 'संस्कृति के चार अध्याय' लिखकर उसकी पुष्टि करते हैं—तब मेरे दिमाग में जो प्रतिक्रिया होती

है, वह कुछ विचित्र-सी ही है। यह सही है कि जीवनी शक्ति आत्मविकास के लिए बाहर से खुराक लेती है, पर विकास करती है आत्मनिर्गत सम्भावना का ही। बीज की शक्ति ही वृक्षात्मक विकास होती है पर वहाँ न तो आन्तर क्षमता का विरोध है और न ही अनुरूप विकासोपयोगी बाह्य परिवेश का ही, इसीलिए मनोदर्शन मानता है कि व्यक्तित्व अनुवंशतः समागत चेतना और परिवेश की समंजस परिणति है। समस्या यह है कि इसे दो का जुड़ना कहा जाय, सम्मिश्रण कहा जाय या एक का विकास कहा जाये, या कि दोनों को एक माना जाय ? मैं इस विकास को आन्तर जीवनीशक्ति और परिवेश का जोड़ नहीं, अपितु परिवेश की सहायता से अन्तर का विकास कहूँगा। अन्य विकल्पों को किसी दृष्टि से संगत मानने पर भी तात्विक दृष्टि से असंगत और भ्रामक समझूंगा।

तात्विक दृष्टि के सम्बन्ध में अवश्य मतभेद खड़ा हो सकता है अर्थात् विकास पूर्ववर्ती सम्भावना का होता है या सर्वथा असम्भावित पूर्व में सूक्ष्मरूप में भी अविद्यमान का होता है ? विज्ञान विकास की व्याख्या करता है, पर मंगल-अमंगल अथवा सुन्दर-असुन्दर को लक्ष्यगत रखकर नहीं। वह कुछ भी मानकर नहीं चलता (यद्यपि कहीं-न-कहीं उसे भी कुछ-न-कुछ मानकर चलना पड़ता है), पर लोकमंगल या आत्ममंगल को लक्ष्य कर विकास की व्याख्या करनेवाला दार्शनिक भिन्न पथ अपनाता है। दार्शनिक यदि लोक-मंगल या आत्ममंगल के उद्देश्य से सम्पृक्त है तो विकास की व्याख्या 'मंगल' या 'सुन्दर' की दृष्टि से ही करेगा। ऊपर तात्विक दृष्टि से सम्बद्ध जो दो विकल्प रखे गये हैं उनमें से पहला 'सत्कार्य-वादी' है और दूसरा 'अ-सत्कार्यवादी'। पहला मानता है कि पूर्वस्थित क्षमता का ही (स्थूल) विकास (अभिव्यक्ति) होता है, जबकि दूसरा सर्वथा अविद्यमान की उत्पत्ति को विकास का नाम देता है। अर्थात् जो 'नहीं' था वह 'हुआ'। असत् कार्यवादियों के और भी अतिरंजित पक्ष हैं—एक कारण (उपादान, समवायी, असमवायी) मानता है, दूसरा कारण मात्र का निषेध कर अ-कारण-वादी हो जाता है, वह मानता है कि अभाव से ही सबकुछ हुआ है, 'न होने' से ही सबकुछ 'हुआ' है। बौद्धों का यही दुर्दान्त पक्ष था, जिस तर्कशिला से भारतीय संस्कृति पिस रही थी। यही समय था जब कुमारिल, शंकर तथा वसुगुप्त आगम-निगम सम्मत चिन्तनधारा की चतुष्पाद प्रतिष्ठा में दत्तचित्त थे। अस्तु, यहाँ दर्शन की शैवीजटा में प्रक्रान्त ज्ञान-गंगा को उलझाना हमारा अभीष्ट नहीं है, अन्यथा यह 'सर्जनात्मक समीक्षा' का अंग न होकर विशुद्ध 'दर्शन' बन जायेगा। कुल मिलाकर मैं कहना यह चाहता हूँ कि सही क्या है ? तत्वद्रष्टा कौन है इसका निर्णय तो हम सबके बूते का नहीं है, पर इसका निर्णय हम सबकी बुद्धि से सम्भव है कि द्विवेदीजी अपने समस्त लेखन के साक्ष्य पर किस दृष्टि के पक्षधर हैं ? वे 'मानवतावादी' चिन्तक हैं, इतना तो निर्भ्रान्त है, वे लोक मंगल को दृष्टिगत कर सोचने-विचारनेवालों के वर्ग के हैं—विज्ञानप्रसूत मान्यताओं को यथासम्भव आत्मानुरूप ग्रहण भी करते हैं, फिर भी उनका चिन्तन समाजदार्शनिक का है,

फलतः सोद्देश्य है। उनके समस्त लेखन के साक्ष्य पर यह भी निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि उन्हें उस 'मानवता'वाद में आस्था है, जिसका पर्यवसान 'पूर्ण चेतनावाद' में है। इसीलिए मैं इन्हें 'चिन्मुखमानवतावादी' कहता हूँ। उन्होंने अनेकत्र यह कहा है, विशेषकर 'अनामदास का पोथा' में—कि मानवीय मूल्यों के आचरण का पर्यवसान विश्वमंगल के साथ-साथ विश्वात्मक और विश्वातीत चिदानन्दमय सुख में होना चाहिए। काशी का कबीर शान्तिनिकेतन के रवीन्द्र के गर्भ से हजारीप्रसाद द्विवेदी के रूप में विकसित होता है—यह भी एक विकासमान परम्परा ही है। निष्कर्ष यह कि द्विवेदीजी के सन्दर्भ में मध्यकालीन कबीरी वैष्णवी चेतना जो रवीन्द्रयाथ के माध्यम से द्विवेदीजी में माडर्नाइज्ड होकर विकसित हुई है—उसे नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। 'सहज साधना' में वे कहते हैं—"जो आचरण चिन्मूलक है वही श्रेष्ठ है। जिन प्रयत्नों से मनुष्य का चिन्ममयस्तर प्रभावित होता है वह अधिक महत्वपूर्ण होता है।" ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि द्विवेदीजी की जिस तत्वदृष्टि में आस्था या निष्ठा है—वह आत्मवादी दृष्टि है और आत्मवादी दृष्टि, पूर्णतावादी है। पूर्णतावादी अन्ततः सत्कार्यवादी है। पूर्णतावादी दृष्टि का पक्ष है कि चरम-सत्ता चिन्मय है और एक साथ विश्वात्मक और विश्वोत्तीर्ण है। सारी सृष्टि सम्भावनात्मक शक्ति के रूप में 'मायूराण्ड रसन्याय' से उस परमसत्ता में निहित है, उसी अन्तःस्थित का बहिःप्रकाश सृष्टि है। इस तत्वदृष्टि का चिन्तक, 'विकास' को आन्तरिक क्षमता की परिणति ही मानेगा, व्यवहार के धरातल पर बाह्य परिवेश उसके समुचित विकसन में भी सहायक होगा।

द्विवेदीजी के इस चैन्तनिक आलोक में जब हम 'परम्परा' शब्द की व्याख्या करते हैं और उसे समझना चाहते हैं, तब हमें यही कहना पड़ता है कि परम्परा एक ऐसी जीवन्त चेतना है जो आत्मविकास के लिए बाह्य प्रभाव का सहकार लेती है, पर जो विकसित होता है, वह आत्मगत सम्भावना का ही होता है, वह बाहर का नहीं होता। बाह्य प्रभाव यदि आत्मगत सम्भावना के अनुकूल है तो उससे हम विकासशील बीज-चेतना के अनुकूल होंगे या बना लिये जायेंगे तभी उनका ग्रहण होगा—अन्यथा प्रतिकूल होने से उनका परित्याग ही सम्भव होगा। द्विवेदीजी कहते हैं कि जब तक हमारी पाचनशक्ति जीवन्त थी, तब तक हमने अनुकूल का मुक्त भाव से ग्रहण किया और प्रतिकूल या हानिकर का वैसे ही अ-ग्रहण। प्रत्येक राष्ट्र सार्वभौम सत्य या अविरोधी धर्म या संस्कृति को अपने व्यक्तित्व के अनुरूप पाने का प्रयत्न करता है, अपने इसी व्यक्तित्व से वह पहचाना भी जाता है। एक बात और, जब यह कहा जाता है कि बाह्य प्रभाव को ग्रहण करती हुई भारतीय संस्कृति ने आत्मोपलब्धि की है, फलतः वह केवल आर्य जाति की देन नहीं है—तब सवाल यह खड़ा होता है कि इस ग्रहण प्रक्रिया में कौन ग्रहीता है और कौन ग्राह्य है? क्या यह प्रक्रिया भानुमती के कुनबा जैसी है, जहाँ यहाँ का ईंट और वहाँ का रोड़ा मिलते हैं या चेतन प्रक्रिया है, जिसमें कोई ग्रहीता

है और वह अपनी जीवनीशक्ति के अनुरूप ग्राह्य तत्वों का ग्रहण और त्याज्य तत्वों का त्याग करता चलता है।

यहाँ आर्य (भारतीय) जाति की संस्कृति या परम्परा की बात चल रही है—अतः यह सवाल भी खड़ा होता है कि जाति की आत्मा क्या है—इस विषय के विशेषज्ञ कहते हैं कि वह विशिष्ट संस्कारों का अयुतसिद्ध संघात मात्र है। प्रत्येक देश में जल, वायु, भूमि, सूक्ष्म वातावरण आदि कारणों से एक विशिष्ट प्रकृति का विकास होता है। उस देश में दीर्घकाल तक अवस्थान करने के प्रभाव से, उस पर देश-प्रकृति की छाप लग जाती है। 'भारतीय संस्कृति'—शब्द का तात्पर्य यह है कि वह संस्कृति पूर्वोक्त प्रणाली से भारतीय प्रकृति की छाप से अंकित है। इसीलिए इसमें आर्य, द्रविड़, दस्यु, किरात, शक, पह्लव प्रभृति बहुभावापन्न विभिन्न धाराओं के योग रहने पर भी सभी अल्पाधिक भारतीय प्रकृति सम्पन्न होने के कारण भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त देश-प्रकृति के अनुरूप कालभेद से भी एक नैमित्तिक परिवर्तन होता है, उसे युगप्रकृति कह सकते हैं। इन सब प्रकृतियों के भीतर होकर बीज का आत्मविकास होता है।[1] यह बीज उस जाति का अपना वैशिष्ट्य है—जो वहाँ के परिवेश में उभरता है। इस विवेचन के आलोक में यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक जाति का अपना वैशिष्ट्य होता है और वही उसकी अन्तरात्मा है। वही बीज है, उसी में निहित सम्भावना का विकास होता है। फिर कहता हूँ कि जिस प्रकार व्यक्ति देह में, जीवनीशक्ति से ग्रहण और त्याग द्वारा जीवन व्यापार निष्पन्न होता है—उसी प्रकार समष्टिगत सामाजिक देह में भी। महासमष्टिगत विश्वदेह में भी यही एक नियम है। किसी भी संस्कृति की अविच्छिन्न धारा के संरक्षण का यही रहस्य है। इन सब बातों में एक ही तथ्य की पुष्टि करना चाहता हूँ कि परम्परा खण्डित नहीं होती, अविच्छिन्न रहती है। यह परम्परा तभी खण्डित होती है, जब उस जाति का वैशिष्ट्य समाप्त हो जाता है और जब यह बीजात्मक वैशिष्ट्य समाप्त हो जाता है, तब भी उस जाति से ही 'संस्कृति' को जोड़ना, निराधार और अतर्क संगत है और अगर हम जोड़ते हैं तो उस जाति के बीजात्मक वैशिष्ट्य को मानना पड़ेगा, जो ग्रहण त्याग करता हुआ, आत्मविकास करता है। इसीलिए द्विवेदीजी के सन्दर्भ में जिस परम्परा या भारतीय संस्कृति की बात की जा रही है और जिसे 'महामानवेर समुद्र' से उपमित किया जा रहा है, वह भानुमती का कुनबा नहीं है, बल्कि काल-प्रभाव से अपने को 'एडजस्ट' करनेवाली समन्वयी चैतन्य प्रक्रिया है—जिसमें भारतीय आर्य जाति का बीजात्मक वैशिष्ट्य जो विशिष्ट संस्कारों का अयुतसिद्ध संघात है—ग्रहीता है और बाह्य प्रभाव ग्राह्य सामग्री। इस दृष्टि से भारतीय संस्कार या परम्परा को 'सामासिक' न कहकर 'समन्वयी' कहना चाहिए, (इस क्रम में) साथ ही यह भी कि परम्परा खण्डित नहीं होती।

कबीर के माध्यम से जाति धर्मनिरपेक्ष मानव की प्रतिष्ठा का श्रेय तो द्विवेदीजी को ही है। एक प्रकार से यह दूसरी परम्परा है—इस वक्तव्य द्वारा

द्विवेदीजी का साहित्य-प्रस्थान शुक्लजी के साहित्य प्रस्थान से भिन्न कहा जा रहा है—दूसरा कहा जा रहा है, इसमें अवश्य कुछ सचाई है। शुक्लजी की समझ या साहित्यिक मानदण्ड 'तुलसी साहित्य' को केन्द्र में रखकर चलता है, जबकि द्विवेदीजी का 'कबीर' को। तुलसी 'नेशनल पोइट' है, कबीर 'इण्टरनेशनल'। आलोचक तुलसी को प्रवृत्तिमार्गी भारतीय परम्परा का जितना प्रतिनिधि व्याख्याकार मानते हैं, उतना प्रतिनिधि व्याख्याकार कबीर को नहीं, इसीलिए शुक्लजी ने कबीर को समाज सुधारक नहीं, समाज बिगाड़क तक कह दिया, आदर्श कवि और तत्त्वदृष्टा तो माना ही नहीं। इससे स्पष्ट है कि दोनों का प्रस्थान भेद है। यद्यपि दोनों 'मानवता' को महत्व देते हैं—मानवता की अपरोक्षानुभूति को रसात्मक भी कहते हैं, फिर भी जहाँ शुक्लजी 'मानवता' को सर्वसामान्य द्वारा बोधगम्य मानव मन की एक सात्विक दशा का पर्याय मानते हैं—परदुःख कातरता से उसे एक रस बताते हैं, लोकमंगल प्रवर्तक मनोदशा कहते हैं—व्यक्तिसत्ता का लोक सत्ता में विलयन रूप मानते हैं—रागात्मक सत्ता का लोकव्यापी प्रसार मानते हैं, वहाँ द्विवेदीजी 'मानवता' की व्याप्ति, इस रूप को आत्मसात् कराते हुए और भी विस्तृत करते हैं—अर्थात् शुक्लजी की मानवता, बोधगम्य, लोकस्तरीय ही है, उसका किसी लोकोत्तर चिन्मयस्तर से सम्बन्ध नहीं है। द्विवेदीजी उसे वहाँ तक ले जाते हैं जहाँ पहुँचकर व्यासजी ने कहा था—

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्"

जिसकी प्रतिध्वनि चण्डीदास की निम्नलिखित पंक्ति में सुनाई पड़ती है—

शाबार उपर मानुस ताहार उपर नाई

यह 'मनेर मानुस' लोकात्मक और लोकोत्तीर्ण दोनों भूमियों का स्पर्श करता है। मनुष्य में जो मानवता है, वह अपरिमेय सम्भावनाओं का बीज है, उसकी चरितार्थता नैतिक स्तर की व्याप्ति को भी अतिक्रान्त कर आध्यात्मिक स्तर तक ले जाती है। शुक्लजी की मानवता नैतिक स्तर की रस दशा है। कबीर की मानवता उसको आत्मसात् करती हुई आध्यात्मिक स्तर तक विकसित रस दशा है। द्विवेदीजी भी शुक्लजी की भाँति साहित्य का लक्ष्य 'मानवता' का साक्षात्कार ही मानते हैं परन्तु द्विवेदीजी की 'मानवता' उस 'महाएकता' का पर्याय है जिसमें भौतिक, नैतिक, आध्यात्मिक सभी स्तर समाहित हैं। कबीर इसी 'महाएकता' स्वरूप रस दशा का अपरोक्षीकरण करते हैं और यही रस उनकी समस्त रचना का मूल स्रोत है, जो अदम्य और अपरिमेय ऊर्जा से सम्वलित है। शुक्लजी तुलसी साहित्य के लोकातिक्रान्त पक्ष को अनालोचित रहने देते हैं—उसे लोकमंगलाभिमुख व्याप्ति तक ही सीमित रखते हैं—उस लोकमंगलाभिमुख व्याप्ति तक जो बोधगम्य है। उनके लिए साहित्य मनोमय कोष से ऊपर जाता ही नहीं। शुक्लजी की मानवता में ही जगद्रक्षक तथा रंजक रूप ईश्वरत्व समाहित है—कबीर सम्मत द्विवेदीजी की मानवता महाएकता—चिन्मयस्तर तक, अमनोगोचर स्तर तक, विकसित होने की सम्भावना रखती है—उसमें जगद्रक्षक, जगद्रंजक से भी

बृहत् चिदानन्दगम ईश्वरत्व के उन्मेष की सम्भावना है। दोनों की ईश्वर सम्बन्धी धारणा भी भिन्न है। मृत्युंजयी रवीन्द्र तथा अपने सर्जनात्मक साहित्य में द्विवेदीजी ने कवीन्द्र रवीन्द्र की भाँति उसकी प्रवृत्तिमार्गी व्याख्या की है जो नवजागरण का मुख्य स्तर था, मध्यकालीन वैष्णवी चेतना का यही 'माडर्नाइजेशन' है—यही लोकोन्मुखी आगम सम्मत व्यापक चेतना का उन्मेष है। रैक्व इसी रति या प्रेम मार्ग का उपासक है—मध्यकालीन विरति मार्ग का नहीं। इस प्रकार द्विवेदीजी अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक समझ से भारत की मूल परम्परा से ही जुड़े हुए हैं। अवश्य ही बुद्धिवादी शुक्लजी की परम्परा वैज्ञानिक परिवेश की उपज है जो आत्मवादी भूमि से अपने को विच्छिन्न करती है। इस प्रकार शुक्लजी अपनी परम्परा का निर्माण कर रहे थे—द्विवेदीजी उससे भिन्न परम्परा से जुड़े हुए थे और वह परम्परा दूसरी होती हुई भी अखण्ड थी, खण्डित या विच्छिन्न नहीं थी।

सन्दर्भ

1. भारतीय साधना और संस्कृति, भाग-1, पृष्ठ 213.

द्विवेदीजी की दृष्टि में 'मृत्युञ्जय रवीन्द्र'

मानव जीवन के दो पक्ष हैं—अन्तरंग और बहिरंग। बहिरंग पक्ष उसका शारीरिक पक्ष है और अन्तरंग पक्ष उसकी चेतना का पक्ष है। संसार या जगत् संसरणशील और गत्यात्मक है, अतः मानव भी अपने उभयपक्षों में गत्यात्मक और संसरणशील है, विकासशील है। अपनी लम्बी कालयात्रा में उसने अपने दोनों पक्षों को विकसित किया है। अपनी दैहिक या भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के सन्दर्भ में विज्ञान और टेकनालाजी के माध्यम से जीवनयापनोपयोगी साधनों में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। बहिरंग विकास की यह यात्रा 'सभ्यता' का मानदण्ड कही जाती है। इस बहिरंग पक्षीय विकास को हम 'सभ्यता' कहते हैं और दूसरी ओर चेतना में सम्भावित लोकमांगलिक मूल्यों के उद्भावन से हमारी संस्कृति नापी जाती है। जीवन मानवेतर का भी होता है और मानव का भी, किन्तु 'है' और 'चाहिए' का विवेक मानवीय जीवन में विकसित चेतना में ही होता है। इसीलिए मानव अपनी विशिष्ट चेतना के बल पर अपनी अन्तरंग जीवनयात्रा को 'चाहिए' की दिशा में लोकमंगल और तद्विरोधी आत्ममंगल की दिशा में मोड़ता है और तदनुरूप मूल्यों की उद्भावना करता है। ऐसे मूल्यों की खोज करता है जिससे वह अपने को, अपने समाज को, राष्ट्र और विश्व को धारण करता है। इन्हीं मूल्यों को हम धर्म और संस्कृति का नाम देते हैं। इसीलिए हम Means of life को **सभ्यता** और Values of life को **संस्कृति** कहते हैं। जब आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि संस्कृति हमारे उच्चतम चिन्तन का मूर्त रूप है, तब वे भी इसी का समर्थन करते हैं। चिन्तन वही उच्च है जो मानवमंगल विधायक हो और ऐसा चिन्तन जब तक आचरण में मूर्त न हो जाय, तब तक उसकी चरितार्थता ही क्या ? अतः हमारी संस्कृति का विचारात्मक ही नहीं, आचारात्मक पक्ष भी है। भारतीय कैंड़े के पण्डित कहते हैं कि 'संस्कृति' शब्द की व्युत्पत्ति और तदाधारित अर्थ पर विचार किया जाय, तो स्पष्ट है कि संस्कृति ऐसी कृति या चेष्टा है, जिसमें न केवल सम्यक्त्व या विवेक का विनियोग हो, अपितु वह विवेक सम्पादित कृति मानव के लिए भूषण भी हो—(सम् + स् + कृति + सम्यक् + भूषण + चेष्टा) ऐसा तभी सम्भव है जब विवेक मानवीय चेतना की छाया में

सक्रिय हो, मानवीय सम्वेदन से संसिक्त हो, अन्यथा बुद्धिपूर्वक सम्पादित चेष्टा या प्रयत्न आलोक मांगलिक भी हो सकता है। मनुष्य के पास हृदय है, बुद्धि है, और हैं हाथ, तीनों की लोकमंगलमुखी दिशा में समन्वित यात्रा ही उसकी सांस्कृतिक यात्रा है, जय यात्रा है, मानवता की चरितार्थता का प्रस्थान है।

जीवन मूल्य का नाम संस्कृति है। ये मूल्य जीवन जीने के क्रम में ही उद्भूत हुए हैं। जहाँ तक भारतीय संस्कृति का प्रश्न है, कुछ लोग उसे 'सामाजिक संस्कृति' कहते हैं और कुछ कहते हैं कि यह राष्ट्रवादियों का उछाला हुआ निरर्थक शब्द है। इसके निर्माण में न जाने किन-किन बाहर से आये हुए लोगों का क्या-क्या योगदान है। जो भी हो, मैं इतना मानता हूँ, कि जैसे व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुरूप न जाने क्या-क्या कहाँ-कहाँ से ग्रहण कर अपना असाधारण प्रत्यभिज्ञापक व्यक्तित्व विकसित करता है, वैसे ही राष्ट्र का भी एक स्वभाव होता है और यह भी अपना असाधारण प्रत्यभिज्ञापक सांस्कृतिक व्यक्तित्व विकसित करता है। भारत के विषय में भी यह सही है। चिन्तकों ने ब्रिटेन का स्वभाव व्यावसायिक और भारत का स्वभाव आध्यात्मिक बताया है। श्रीअरविन्द और कजिन्स ने इसका समर्थन किया है पर श्रीअरविन्द ने कजिन्स की इस धारणा से सहमत होते हुए भी कि भारत का स्वभाव 'अध्यात्म' में निहित है, भारतीय अध्यात्म के स्वरूप के विषय में मतभेद व्यक्त किया है। जेम्स एच. कजिन्स जब कहता है कि जन जागरण के सम्बन्ध में भारत कभी सोया ही नहीं, तब उसकी दृष्टि भारतीय आध्यात्मिकता पर ही केन्द्रित है। इस दृष्टि से वे ठीक भी हैं, क्योंकि इसी शक्ति ने प्रत्येक संकट में भारत को विनष्ट होने से बचाया है। भारतीय आध्यात्मिकता पश्चिमी अर्थ में केवल गुह्यवादिता तक सीमित नहीं है। अपितु आध्यात्मिकना के अतिरिक्त उसमें सर्जनात्मकता और बौद्धिकता भी है।

श्री रवीन्द्र नवजागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति

कालचक्र के प्रवाह में भारतीय स्वभाव का स्फुलिंग---आध्यात्मिकता तो कभी नहीं बुझी, परन्तु उस पर राख अवश्य छा गयी, उसका बहिरंग समाज जीर्ण-शीर्ण होता गया। उन्नीसवीं शती विश्व-भर के लिए एक संक्रान्ति का बिन्दु बनकर आयी थी, विश्वचेतना ने एक नयी अँगड़ाई ली—इसे नवजागरण के नाम से सम्बोधित किया गया।

भारतीय सन्दर्भ में रवीन्द्रनाथ को इसी सांस्कृतिक नवजागरण की का व्यात्मक अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। इनकी रचनाओं से, उनकी सार्वभौम प्रतिष्ठा से राष्ट्र में---जो अर्धसभ्य घोषित किया गया था, जो पराजित था—एक अपराजेय आत्मबल का संचार हुआ।

चलते-चलते वे कह गये थे—'नागिनियाँ चारों ओर जहरीला नि:श्वास छोड़ रही हैं। इस समय शान्ति की ललित वाणी भी दारुण परिहास-सी सुनायी देगी, फिर भी मैं उन लोगों को पुकार जाता हूँ जो घर-घर (मनुष्य के भीतर वर्तमान)

दानव से जूझने की तैयारी कर रहे हैं।' श्रीरवीन्द्र के हिसाब से यह नवजागरण का दूसरा चरण है, बौद्धिक मन्थन का चरण है। मन्थन में पहले विष निकलता है, बाद में अमृत।

भारतीय चिन्तक का मर्म

भारतीय संस्कृति का सच्चा उन्नायक कभी यह नहीं कहता कि चिन्तन के क्षेत्र में अमुक बिन्दु उसका मौलिक है, वह केवल अपने को व्याख्याकार मानता है। श्री रवीन्द्र की भी यही स्थिति है। उनके व्याख्याकार का भी उपजीव्य है—भारतीय सांस्कृतिक चिन्तनपरक आत्मवादी वाङ्मय, साधनाप्रसूत अनुभूति तथा अन्य सन्तों, ऋषियों और मर्मियों की बानियाँ, अनन्त सम्भावनाओं से आपूरित।

चरम सत्य और श्री रवीन्द्र

चरम सत्य के विषय में उनकी धारणा है कि वह मानव सापेक्ष है। मानव निरपेक्ष कोई सत्य हो भी, तो उसे हम जान नहीं सकते। सत्य वही है जिसे यह विराट मानव-चित्त धारण करता है। वस्तुत: श्री रवीन्द्र की धारणा या आस्था आत्मचैतन्य में है। वे मानते हैं कि जड़ धरती में चेतन अव्यक्त रूप से समाया हुआ था। यही आत्मतत्व के नाम से जाना जाता है। इसमें अनन्तानन्त ऊर्ध्वमुखी, पूर्णतोन्मुखी सम्भावनाएँ हैं जो व्यक्त होने के लिए जड़ से संघर्ष करती रहती हैं। यही ऊर्ध्वमुखी अनन्तानन्त सम्भावनाएँ जड़ता से संघर्ष करती हुई अन्तत: विजयिनी बनती हैं और वनस्पतियों के रूप में उसकी छाती फोड़कर ऊपर आ जाती हैं। वह सम्भावना यहीं नहीं रुकती—और आगे बढ़ती है और पुन: प्राणी के रूप में मूर्त होती है। वह सम्भावना और आगे बढ़ती है और ऐसे यन्त्र से सम्पन्न प्राणी के रूप में, मानव के रूप में विकसित होती है, जिसमें मानवेतर प्राणी से कुछ विशेष उभरता है, जिन्हें हम मानवीय विशेषताएँ कहते हैं। यह विशेषता मानव की रागात्मक सत्ता की परिधि के विस्तृत रूप में उद्भूत होती हैं, जिसमें विश्व-व्यापी होने की सम्भावना रहती है। मानवस्तर पर विकसित उक्त विशेषता सम्पन्न चेतना में जगद्रक्षकत्व और जगद्रञ्जकत्व की सम्भावना होती है, यही ईश्वरत्व है। इसीलिए ऊपर कहा गया है कि मानव के विकास की सारी प्रक्रिया चूँकि उसी चेतन के आत्मप्रसार की प्रक्रिया है, अत: वह इसी अनुभव के माध्यम से आत्मा को, चरमसत्य को समझ पाता है। इसीलिए श्री रवीन्द्र ने आइंस्टाइन से कहा था कि सत्य मानवीय अनुभव से ही पाया जा सकता है और समझा भी जा सकता है। भारतीय चिन्तकों ने इसीलिए कहा है—

"अनुभूत्यैकमानाय"

वह एकमात्र अनुभूति से ही गम्य है। आइंस्टाइन का विरोध था, वह कहता था कि सत्य स्वत: सिद्ध है और उसका सम्बन्ध या उसके समझने का सन्दर्भ कोई मानवीय अनुभव का सन्दर्भ नहीं है। मानवानुभव की उसे अपेक्षा नहीं है। इसीलिए

डॉ.हजारीप्रसाद द्विवेदी उनका आशय व्यक्त करते हुए कहते हैं—परमसत्य को हम जितना और जैसा कुछ उपलब्ध करते हैं, वह असल में उसके उस रूप के माध्यम से ही करते हैं, जिसे उसने अभिव्यक्त किया है। चूँकि इस समस्त विश्व के रूप में भीतर से वही, उसी की सम्भावनाएँ खुल रही हैं अत: उसी प्रक्रिया से वह जाना जा सकता है। यदि उसे जानना है, तो इसी विश्व के भीतर से ही उसे जाना जा सकता है, इसे छोड़कर नहीं जाना जा सकता। वे गलत कहते हैं, जो इसे छोड़कर उसे जानने की बात करते हैं। ईशावास्योपनिषदकार ने कहा—

अन्धतम: गच्छन्ति येऽविद्यमुपासते।
ततौऽपिते भूय इव ये विद्यायां रता:॥

वे अन्धकूप में पड़ते हैं जो अविद्या की उपासना करते हैं, पर उनसे भी अधिक अन्धकूप में वे जाते हैं जो अविद्या को छोड़कर केवल विद्या में ही लीन हो जाते हैं—अत:—

विद्यां च विद्यां च यौ वेद उभयंसह।
अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमनुश्ते।

जो विद्या के साथ अविद्या को भी ठीक-ठीक समझ लेता है—वह अविद्या से मृत्यु का सन्तरण करता हुआ विद्या से अमरता को पा लेता है।

संसार के रूप में सत्य अपनी अभिव्यक्ति करता है—और वह विराग से नहीं असंकीर्ण राग से पाया जाता है :

वास्तव में यह विश्व उसी चरमसत्य की सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति है, फलत: वह असत्य और अग्राह्य नहीं है। हाँ, अनादिकाल से एक गलतफहमी जरूर हमारे पीछे लग गयी है, जो इस विश्व का अन्यथाप्रत्यय कराती है, जो 'अहन्ता', 'ममता' की संकीर्ण तथा भेदगर्भ भावना पैदा करती है, 'यूनिवर्सल मैन' को व्यष्टियों में विभक्त कर पार्थक्य प्रत्यय कराती है। सत्य यह है कि पिण्डगत प्रतीत एकता में जैसे अनन्त परमाणु पुंज पुंजीभूत रहते हैं और वे एक से ही अन्तर्गत माने जाते हैं उसी प्रकार विराट मानव की ही अंगभूत व्यष्टियाँ हैं--जो तत्वत: एक होकर भी गलतफहमीवश अपने को भिन्न मानती रहती हैं। इससे हमारी सत्ता का रागात्मक रूप भी संकीर्ण हो जाता है। इस संकीर्णता से भी चरमसत्ता की यही रागात्मक विशेषता उभरती है और व्यक्तिबद्ध न होकर, विश्व पर फैल जाती है—विश्वात्मक हो जाती है। वास्तव में अपने को पाने का रास्ता, यही रागात्मक रास्ता है, वैराग्यात्मक नहीं। श्री रवीन्द्र कहते हैं, 'वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय' वैराग्य साधना से उपलब्ध होनेवाली 'मुक्ति' हमारी मुक्ति नहीं है, उनके यहाँ परिवार से, समाज से, राष्ट्र से, विश्व से होनेवाला राग ही पुण्य है। रागात्मक सत्ता के प्रसार की ही सहज परिणति है स्वगत ईश्वरत्व पर्यवसायी सम्भावित विशेषताओं की चरितार्थता। राग के माध्यम से अनन्त सम्भावनाओं की चरितार्थता ही मुक्ति है। यह मुक्ति 'साल्वेशन आर्मी' की

मुक्ति नहीं है, जो पुरस्कार रूप में मिलती है। ईश्वरत्व पर्यवसायी सम्भावनाओं का दर्शन श्रम में होता है, निष्ठा और ईमान में होता है, एक-दूसरे के प्रति आकर्षण में होता है—पदार्थ भावना में होता है, ममता में होता है—ईश्वर यहीं वास करता है, इनसे दूर किसी कल्पित कोने में नहीं। रागात्मकता का विस्तार विश्व के दुखियों के दुखों को अनुभव करने की सहानुभूतिमयी आँख देता है। इस आँख का खुलना ईश्वरत्व का खुलना है। रवीन्द्र की यह आँख खुली हुई है, इसीलिए उन्हें विश्व का करुण क्रन्दन, शोषितों और पीड़ितों की कराह निरन्तर सुनायी पड़ती है, अतः उनकी प्रतिमा इन्हीं आवाजों से एकरस लक्षित होती है।

रवीन्द्र की दृष्टि में मुक्ति या स्वतन्त्रता का अर्थ

उनकी दृष्टि से 'स्वाधीनता' उस भय से मुक्ति पाना है जो स्वगत अनन्तानन्त सम्भावनाओं को मूर्त होने में आड़े आती है—परतन्त्रता मन का यही बन्धन है, इसी से मुक्ति पाने का अर्थ है—स्वतन्त्र होना। निर्भय व्यक्ति ही स्वतन्त्र हो सकता है और निर्भय वह है जिसके लिए 'दूसरा' है ही नहीं—वही वह है। श्रुति कहती है :

'द्वितीयाद्वैभयं भवति'

जिस व्यष्टि के बीज के तार उस समष्टि मानव के सुर से सम्वादी हो गये, वह मुक्त हो गया। इस यूनीवर्सल मैन से एकरस होने पर जिस सामंजस्य का अनुभव होता है, वही सौन्दर्य है। व्यक्ति से व्यक्ति का जहाँ तक असामंजस्य है, वही कुरूपता है, जहाँ वह मिटकर समंजसता ला देती है, वहीं सौन्दर्य है। साहित्य इसी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है। जीवन, जिसके माध्यम से वह अपने को व्यक्त करता है, वह केवल खाने-पीने-भर का नाम नहीं है। जीवन वह शक्ति है जो वर्तमान के आवरण को अन्तहीन भविष्य की ओर मोड़ती है। जीवन वह शक्ति है जो अंकुरित के भीतर से पुष्प होकर और पुष्प के भीतर से फल होकर फूटती है और वृत्ताकार यात्रा करती है।

इस प्रकार रवीन्द्र के साहित्यिक और सर्जक व्यक्तित्व के माध्यम से जो सांस्कृतिक नवजागरण की चेतना विस्फोट की भाँति व्यक्त हुई है उसमें उपजीव्य औपनिषद वाङ्मय में निहित अनन्तानन्त सम्भावनओं से संवलित मूल्य रत्नों की नवनवयुगोपयोगी व्याख्याएँ विस्फुटित हुई हैं।

द्विवेदीजी और उनका 'चिन्मुख मानवतावाद'

हजारीप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व अनुवंश और परिवेश के गुणनफल का अतिक्रमण था, तभी उसमें सर्जक की स्तुत्य सम्भावनाएँ उभर सकीं। वह स्रष्ट्रत्व ही क्या, जो वैज्ञानिकों के जोड़-गुणा में आबद्ध हो जाय और जो आबद्ध हो जाय, जिसकी सीमाएँ उत्तान हों—वह स्रष्टा कैसा? द्विवेदीजी एक संस्कारी ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। परिवेश के रूप में जहाँ एक ओर महामना मालवीय और उनके विश्वविद्यालय का प्राच्य विद्या-विभाग परम्परागत वैदुष्य का उनमें बीज-वपन कर रहा था वहाँ दूसरी ओर कवीन्द्र-रवीन्द्र का शान्तिनिकेतन प्रयोगगर्भ आधुनिकता को संक्रान्त कर रहा था। 'परम्परा' और 'प्रयोग' का पाथेय लेकर सारस्वत क्षेत्र में पनपा हुआ यह उन्मुक्त व्यक्तित्व अपनी समस्त सम्भावनाओं के फलीभूत भार से झुक गया था। उनकी विनम्रता अत्यन्त विलोभनीय थी। वे अजातशत्रु भी थे। आज उनका पार्थिव शरीर हमारे बीच नहीं है, परन्तु सारस्वत शरीर से वे अमर हैं, यह उनके तप की परिणति है। वे कहा करते थे कि लोगों को पढ़-लिखकर 'मनुष्य' हो जाना चाहिए। मनुष्यत्व की अशेष सम्भावनाओं को उपलब्धि का रूप देना चाहिए और हो जाते हैं—पण्डित, वाक्यज्ञान के भारवाहक। मनुष्य जब सर्जक बनता है—तब और सबकुछ खाद बन जाता है। और उसका सम्भावित रचनाकार प्रजापति की विराट् योजना का अंग बन जाता है। अपने आपको गलितद्राक्षा की भाँति निचोड़कर आत्मदान कर देता है उस विराट् स्रष्ट्रत्व के प्रति समर्पित हो जाता है—यह उसकी सबसे बड़ी साधना और सबसे बड़ा तप है, यही मनुष्यता की चरितार्थता है। और इसी चरितार्थता के निमित्त उसका सारा अर्जन और सारा उद्योग है। इस चरितार्थता से बढ़कर और कुछ नहीं है। मनुष्य में ही यह क्षमता है, इसलिए उससे बढ़कर और कुछ भी नहीं है, ऐसा कहा गया है। जब-जब हमारी साधना ने इस सत्य की उपलब्धि की है, तब-तब वह अपरिमेय कण्ठ से बोल उठी है—

"न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्"

एक बार इसे व्यास ने कहा, दुबारा चण्डीदास ने गाया और तिबारा द्विवेदीजी का रोम-रोम निनादित होता रहा, उनका सारा साहित्य इसी स्वर की साधना है।

सुननेवाले अपना कान लगाकर सुन सकते हैं। सर्जक की साधना तभी पूर्ण होती है, जब वह सर्जना की महाशक्ति में अपने को विलीन कर दे। इससे अनन्त और अपरिमेय सम्भावनाओं की महाशक्ति सक्रिय हो जाती है और सर्जक माध्यम-भर रह जाता है। आनन्दवर्द्धन ने कालिदास के सर्जक महाकवि की स्वरूप-व्याख्या करते हुए यही कहा है। श्री अज्ञेय ने 'असाध्यवीणा' से इसी सत्य की अभिव्यक्ति की है—भारतीय औपनिषद कामधेनु से दुही गयी गीता का भी यही केन्द्रीय सन्देश है। इलियट में भी सब कहीं यही चिन्तन झनझना रहा है। द्विवेदीजी संस्कृत वाङ्मय के सागर को, अगस्त्य की भाँति पान कर चुके हैं और उससे परिपुष्ट स्वकीय स्रष्टा व्यक्तित्व को गलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर साहित्य की गंगा प्रवाहित कर देते हैं। उनके शोध और आलोचन उनकी सर्जना के अंग हैं—उनका सर्जक व्यक्तित्व सर्वोपरि है। द्विवेदीजी ने कहा है, एक कवि को सम्बोधित करते हुए—देखा कवि, साहित्य में सर्जनात्मकता ही परम सत्य है। आलोचना का सत्य दूसरे दर्जे का है, लेकिन दुनिया की चाल उलटी है, यह झूठ को या दूसरे दर्जे के सत्य को सबसे ऊपर मान लेती है। लोग भी यही कहते हैं और द्विवेदीजी के विषय में कहते हैं कि वे शोधी और आलोचक से सर्जक कहीं अधिक हैं। वे अपने निबन्धों और उपन्यासों में जितना उन्मुक्त और रसमय व्यक्तित्व को शतधार प्रस्फुटित कर सके हैं—शोध और आलोचना में नहीं। कभी-कभी लोग इसे इस प्रकार व्यक्त करते हैं - न जाने किसने इस उक्ति को चला दिया—

शास्त्रेषु भ्रष्टाः कवयो भवन्ति।

जिसकी मति शास्त्र-शोध और आलोचन में कुण्ठित हो जाती है—वह कवि बन जाता है अर्थात् शास्त्रकार से सर्जक छोटा है। निश्चय ही यह उक्ति शास्त्रीय शुष्क पाण्डित्य के लिए अपेक्षित बौद्धिक श्रम के महत्त्व से अभिज्ञ, किन्तु बड़ी सर्जना के प्रति समर्पित होकर, माध्यम बन जाने की गहन साधना से अपरिचित व्यक्ति की है। द्विवेदीजी के आदि और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के शोध और आधुनिक साहित्य के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचन से जो लोग गुजर चुके हैं, वे जब उनके सर्जनात्मक साहित्य के रम्य उद्यान में प्रवेश करते हैं, तब उन्हें लगता है कि द्विवेदीजी का समस्त अध्ययन, मनन, शोध-आलोचन, उनकी सर्जनात्मकता का अंग है। उन्होंने शोध और आलोचन के लिए शोध और आलोचन नहीं किया, अपितु सर्जन के लिए शोध और आलोचन किया। उनके वक्तव्य की बृहद अर्थ में सार्थकता, इन सबसे गुजर जाने के बाद जान पड़ती है। ऐसा नहीं कि शोध-क्षेत्र को उनकी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका,' 'आदिकाल', 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' आदि कृतियाँ उपलब्धि-शून्य हैं, 'कबीर' 'सूरसाहित्य' जैसे प्रायोगिक और 'साहित्य सहचर' जैसे सैद्धान्तिक आलोचन अपनी मर्मस्पर्शिता के कारण अपने क्षेत्र के शिखरस्पर्शी ग्रन्थ नहीं हैं, आधारभूत संस्कृत के साथ प्राकृत-अपभ्रंश-अबहट्ट भाषाबद्ध साहित्य की उनकी पैठ साधारण है—नहीं, प्रथम स्तर की प्रतिभा जिस दिशा में दौड़ लगाती है—उसी में अपना स्थान बना लेती है। लेकिन द्विवेदीजी की यह सब अर्जना, अपना समर्थ

पर्यवसान सर्जना में करती है, सर्जना आत्मदान है और इसीलिए सर्वोपरि है।

कहा जाता है और द्विवेदीजी स्वयं कहते हैं कि अतीत के शब्द को यदि ठीक ढंग से साधा जाय तो वह हमारी प्रगति में साधक बन जाता है और साधना में कहीं कचाई रह जाय तो विक्षुब्ध शव हमें ही हड़प जाय। महाशक्ति शव के वक्षस् पर कलात्मक नर्तन-सर्जन की सारी सम्भावनाएँ बिखेरती रहती है। बात यह है कि द्विवेदीजी प्राचीन भारतीय साहित्य के अगाध पण्डित हैं, अतीत का साक्षात्कार उसी के माध्यम से करते हैं। सवाल यह है कि इस साक्षात्कृत 'अतीत' के 'शव' का वह करें क्या ? उन्हें विश्वास है कि उस 'अतीत' के 'शव' की साधना ढंग से की जाय, तो वह वर्तमान और भविष्य को अभीष्ट दिशा में परिवर्तित कर सकती है। वर्तमान की विकृति को अनुध्यात सुरूपता में बदलने की तड़पन प्रत्येक सर्जक को होती है और इस परिवर्तन के लिए साधना करनी पड़ती है। द्विवेदीजी अतीत की साधना करते हैं। इतिहास देवता की आराधना करते हैं। वे इस आराधना में महाकवि रवीन्द्र की आधुनिक दृष्टि का उपयोग करते हैं—वैसे 'दृष्टि' स्रष्टा की अपनी होती है। द्विवेदीजी भी उनकी ज्ञान-दृष्टि से अपनी ज्ञान-दृष्टि, सर्जक-दृष्टि को बल देते हैं। कवीन्द्र ी सर्जक चेतना मध्यकालीन वैष्णव चेतना का ही आधुनिकीकरण है—द्विवेदीजी में भी कबीर और तुलसी के माध्यम से वह जागरूक है—इसीलिए सेवाभाव में मानवता की चरितार्थता माननेवाले प्रेमचन्द उन्हें सबसे अधिक नजदीक लगते हैं। द्विवेदीजी को हिन्दी साहित्य के 'ये ढाई अक्षर' (कबीर और तुलसी पूरे दो और प्रेमचन्द आधा) हृदयग्राही लगते हैं—मानवता के पक्षधर हैं ये। इस मध्यकालीन मानवीय वैष्णवी चेतना का आधुनिकीकरण ही शव साधना है। यदि उस चेतना को यथास्थितिवादी रूप में ही ग्रहण किया जाय, तो मध्ययुग में ही जाना होगा—अतः वर्तमान में उसे उपयोगी बनाने के लिए, उसकी युगोचित सम्भावनाओं को पकड़ना होगा, वर्तमान विघटनोन्मुख जीवन प्रवाह की विकृतियों के उपचार-रूप में उसका उपयोग करना होगा। न तो हम अतीत को ज्यों-त्यों दुहरा सकते हैं और न ही उसकी सम्भावनाओं की अमृतशक्ति का साक्षात्कार कर, उसका निषेध कर सकते हैं। द्विवेदीजी अपने निबन्धों तथा उपन्यासों में इस मार्मिक सत्य को बार-बार दुहराते हैं। सत्ता के प्रवाह की नियति है बासी होना। यह बासीपन जब टूटता है, तब उसे जीवन का सच्चा प्रवाह कहा जाता है। 'पुनर्नवा' में आचार्य पुरगोभिल कहते हैं—"अगर निरन्तर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा, तो एक दिन व्यवस्थाएँ तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी व सामाजिक व्यवस्थाएँ ऐसी ब्रह्म रेखा नहीं है जो मिट ही नहीं सकतीं। इसलिए धर्म की रक्षा के लिए निरन्तर विचार करते रहने की आवश्यकता है ताकि सुचिन्तित दृष्टि से परिवर्तन लाया जा सके, विरूपता या जड़ता को सुरूपता या गति में ढाला जा सके।" एक तरफ मध्यकाल रूढ़ियों और विचार के चौखटे से ग्रस्त है, दूसरी ओर उसी काल में वैष्णवी चेतना का औदात्य भी है। सर्जक इस चेतना के औदात्य से जड़ता को परास्त करता है। द्विवेदीजी महावराह के पौराणिक मिथक से भी

यही ध्वनित करने हैं। जलौघ मग्ना सचराचरा धरा की भाँति मध्यकालीन भारत रूढ़ियों के महाप्रलय में, अनैतिक शक्तियों के पंजे में अवरुद्ध है। समानान्तर 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में मौखरियों के अन्तःपुर में भट्टिनी अवरुद्ध हैं। वह स्वयं को मुक्त करती हैं और अमृतपुत्रों को प्रोद्‌बोधित करती हैं, प्रतिरोधी शक्तियों से अपने को मुक्त करने के लिए। कहा जाता है क्लासिकल साहित्य में चेतना का औदात्य भी होता है और आवृत्त होते रहने की जड़ता भी। सर्जक पहली को पकड़कर, दूसरी को तोड़ता है। द्विवेदीजी साहित्य के माध्यम से यही करते हैं। उन्होंने वैष्णवी चेतना का रवीन्द्र की छाया में इसी तरह का आधुनिकीकरण किया है।

मैं बार-बार जो वैष्णवी चेतना की बात करता हूँ—इतिहास की शव साधना के सन्दर्भ में उसे समझ लेना चाहिए। जीवन और समाज में सर्जनात्मक क्षमता के उपयोग के बारे में साहित्य रचना की बात पदार्थवाद-मार्क्सवाद भी करता है और चिदानन्दवाद भी करता है। पदार्थवाद का आक्षेप है कि चिदानन्दवाद केवल विश्व को समझने का दर्शन देता है, पदार्थवाद उसकी व्याख्या तो करता ही है--परिवर्तन —अभीष्ट परिवर्तन, समाज के लिए इसी शरीर और धरा पर सुख-शान्तिदायक परिवर्तन की दिशा भी निर्दिष्ट करता है। द्विवेदीजी इन दोनों में से चिदानन्दवादी दर्शन का ही सहारा लेते हैं। पदार्थवाद 'प्रगति की रेखा सीधी' मानता है, चिदानन्दवाद 'वृत्ताकार'। पदार्थ द्वन्द्वात्मक विकासवादी है, अतः वह अतीत का पुनरावर्तन मान ही नहीं सकता, चाहे जितना भी परिष्कार हो, वह उत्तरोत्तर विकासवाद का पक्षधर है। चिदानन्दवाद पूर्णतावादी है, उसके चित् में निरन्तर युग-युगान्तरोपयोगी संभावनाएँ हैं—चिन्तन द्वारा उसका साक्षात्कार करना चाहिए और इस प्रकार अतीत के शव की आराधना करनी चाहिए। वह निश्चय ही जड़ता को तोड़ने में सहायक होगा। द्विवेदीजी इस चिदानन्दवाद के समर्थन में कहते हैं, अपनी 'सहज साधना' में, मनुष्य के सारे आचरण का मूलतत्त्व यह है कि जो आचरण चिन्मूल है, वह श्रेष्ठ है। जिन प्रयत्नों से मनुष्य का चिन्मय स्तर प्रभावित होता है वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य का समस्त आहार-विहार, समस्त मन और प्राण चिन्मुख होकर सार्थक होता है। वे मानते हैं कि सन्तों और भक्तों की वाणी मनुष्य पर मशीन के प्रभुत्व का प्रत्याख्यान करती है और इस बात पर जोर देती है कि जड़ोन्मुखी यान्त्रिकता नहीं, बल्कि चिन्मुखी मानवता ही बड़ी चीज है। सिर्फ मानवतावाद एक अस्पष्ट और लक्ष्यहीनतत्त्ववाद है, चिन्मुखी मानवता का सिद्धान्त स्पष्ट और सोद्देश्य विचारवाद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल केवल मानवतावाद की बात करते हैं—क्योंकि बुद्धिवाद आगे जा नहीं सकता, और वे भारतीय दर्शन के प्रकाण्ड मर्मज्ञ होते हुए भी साहित्य के क्षेत्र में बुद्धिवादी थे। मानवता परदुःखकातरता का ही दूसरा नाम है, पर इसके साथ जीने में जिन मूल्यों का मूल्य स्वार्थार्थ पशुता के माहौल में चुकाना पड़ता है, उससे जीवन सरिता सूख जाती है, उस सूखे में कहीं से अमृत बरसने की सम्भावना नहीं रहती है। चिन्मुखी मानवतावाद में मूल्य, मूल्य के लिए महज कर्त्तव्य-बोधवश नहीं जिये जाते। उसकी

परिणति मनःशुद्धि में होती है और मनःशुद्धि से अमृत चिदानन्द का स्रोत खुल जाता है। जीवन भर जाता है। उसकी चिरागत सुखाकांक्षा तृप्त हो जाती है।

मध्यकालीन या प्राचीन वैष्णवी चेतना का आधुनिकीकरण उनकी सर्जक प्रतिभा का पाथेय है, इसकी उपपत्ति में उनके सारे उपन्यास साक्षी-भर रहे हैं। वैष्णवी चेतना—मध्यकालीन वैष्णवी चेतना—एक ओर लोक या जगत् को आराध्य का सगुण रूप मानती है और दूसरी ओर रागात्मक सत्ता के प्रसार से उसकी आराधना को दिखाती है। रागतत्त्व के दमन की अपेक्षा उसके उदात्तीकरण तथा चिन्मयीकरण पर बल देती है। प्रेम को चरमतत्त्व और समस्त समस्याओं का एकमात्र निदान मानती है। 'अनामदास का पोथा' में द्विवेदीजी कहते हैं—तुम्हारा स्वभाव प्रेम है। उसके माध्यम से तुम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हो—यहाँ साध्य ही जब साधक का आत्मदान पाकर स्वयं साधन बन जाता है—तभी 'सत्य' पकड़ में आता है। इस प्रकार द्विवेदीजी अपने चिन्तन को आधुनिक बनाते हैं और चिन्मुखी मानवतावाद की पताका फहराते हैं। साहित्य को भी वे इसी मनुष्यता की उपलब्धि में सहायक मानते हैं। वे कहते हैं—मनुष्य को देवता बताना ही काव्य का सबसे बड़ा उद्देश्य है। मनुष्य को उसकी स्वार्थबुद्धि से ऊपर उठाना, उसको इहलोक की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सत्वगुण में प्रतिष्ठित करना, परदुःखकातर और सम्वेदनशील बनाना काव्य का काम है। साहित्य के माध्यम से उनका सर्जक इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है, चिन्तन के इसी महारस के पान से उनका साधक अवधूत सर्जक, झुलसती लू में भी शिरीष की तरह फूलता रहा, देवदारु की तरह उन्नत आकाश का स्पर्श करता रहा। वह कहता रहा—सर्वत्र आत्मानुभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण है दूसरों के सुख के लिए अपने आपको गलित द्राक्षा की तरह निचोड़कर दे देना। इससे बड़ा तप मुझे मालूम नहीं—द्विवेदीजी साहित्य के सर्जन के माध्यम से यही तप करते हैं।

चिद्वाद : द्विवेदीजी के उपन्यासों के सन्दर्भ में

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के दर्शन को ऊपर 'चिन्मुख मानवतावाद' संज्ञा प्रदान की गयी है। सम्प्रति, यह द्रष्टव्य है कि उनका चिद्वाद भी किस कोटि का है? विशेषकर उनकी औपन्यासिक कृतियों के साक्ष्य पर। 'अनामदास का पोथा' में उन्होंने प्रकारान्तर से स्वीकार किया है कि मानवीय मूल्यों के आचरण का पर्यवसान विश्वमंगल के साथ-साथ विश्वात्मक और विश्वातीत चिदानन्द में, सुख में होना चाहिए। भारतीय चिन्तनधारा में चिद्वाद भी एक प्रकार का नहीं है, अनेक प्रकार का है। चिद्वाद या आत्मवाद ही नहीं, यहाँ तो नैरात्म्यवाद भी है। 'प्रसाद'जी के शब्दों में वह अहंकारमूलक हो या अन्यथा, यह दूसरी बात है। द्विवेदीजी देहादि-भिन्न चिन्मय आत्मवाद में विश्वास रखते हैं। आत्मवाद का भी वह पक्ष इन्हें

मान्य है, जो अद्वैत का पक्षधर है। अद्वैत भी अनेकविध हैं—श्रुति विरोधी, और श्रुतिसम्मत। एक अद्वैत का विकास या पल्लवन आगमों में मिलता है, जिसमें श्रुतियों का भी अनुमोदन सिद्ध किया जाता है। इसकी संज्ञा है—द्वयात्मक अद्वय। इस भेद-गर्भ अभेद की उपपत्ति 'शक्ति' की कल्पना से ही सम्भव है। श्रुति एक तरफ 'द्वितीयाद् वैभयंभवति' कहकर द्वैत को निषेध्य और अवांछित समझती है और दूसरी ओर 'स एकाकी ना रमत', 'सद्वितीयमैच्छत्' कहकर उसे विधेय और वांछित भी बताती है। इस विरोधाभास के निवर्तन का एक ही मार्ग है, ब्रह्म की स्वरूपशक्ति का प्रकल्पन। इसकी सहायता से वही द्वितीय हो जाता है—अतः भिन्न न होने से भय भी नहीं और द्वितीय होने से एकाकीपन भी नहीं। द्विवेदीजी की 'संकोच प्रसारात्मिका स्वरूप शक्ति' द्वयात्मक अद्वयवाद का मेरुदण्ड है। अपने उपन्यासों में उन्होंने इसी धारा का अनुगमन किया है।

समस्त मध्यकाल ही नहीं, अपितु 'राग' तत्व का विरोध करनेवाली हीनयानी बौद्ध धारा, जैनधारा तथा बौद्ध प्रभावापन्न, शांकर धारा के विरोध में 'राग' तत्व की सम्भावनाओं का आत्यन्तिक आख्यान करनेवाला पूरा भारतीय साधना-प्रवाह ही 'प्रेमा पुमर्थोमहान्' के रूप में चरमतत्वात्मक प्रेम रूप पुरुषार्थ की घोषणा करता आ रहा है। मध्यकाल की साधना में यह धारा उद्वेल होकर प्रवाहित होती रही। स्वयंसिद्ध सत्य का साक्षात्कार इस अन्तःप्रज्ञामयी रागात्मिका शक्ति से ही सम्भव है। मध्यकाल की कोई भी धारा हो, सभी इस शक्ति का नामान्तर से उल्लेख करती हैं। निर्गुण काव्यधारा उसे 'कुण्डलिनी' या 'मालिक की मौज' के नाम से, सूफी 'सिफात' धारा के रूप में, कृष्णधारा 'राधा' तथा रामधारा 'सीता' रूप अन्तरंगाह्लादिनी शक्ति के रूप में विज्ञापित करती हैं। निष्कर्ष यह है कि शक्तिदर्शन या राग-दर्शन एक ही वस्तुतत्व है।

मध्यकाल की इसी वैष्णवी चेतना का नवजागरणकाल में नयापन लक्षित होता है। इसी चेतना से जगत् का, समाज का, लोकमंगल का, मानवता का, मानुषभाव का, प्रवृत्ति का और सर्वोपरि स्वस्थ राग का हर स्तर पर समर्थन होगा। कवीन्द्र-रवीन्द्र का सारा लेखन इस गन्ध से आपूरित है और आचार्य द्विवेदी में भी गुरुदेव की वह चेतना संक्रान्त है। इसीलिए उनकी रचनाओं में वही वैष्णवी चेतना के अनुरूप अपने को गलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर आराध्य के प्रति सर्वस्व समर्पण का भाव पदे-पदे मिलता है। रैक्व इसी निकष पर जाबाला के प्रति उत्पन्न कामना का परीक्षण करता है। 'पुनर्नवा' में इसी नयेपन की बात देवरात कहता है। देवरात की धारणा है कि यही शक्ति बासीपन को हटाकर नवता का संचार करती है—पुनर्नवीकरण इसी का विलास है। वे कहते हैं—"पुनर्नवा[1] देवि! तुम नित्य नवीन होकर मानस-पटल पर उदित होती हो। जानती नहीं, किस मर्मवेदना को जगा जाती हो, किस बासी भाव को नया कर जाती हो। देवरात स्वयं मुरझा गया है, उसमें पुनर्नवा को स्वायत्त करने की क्षमता नहीं है। पुनर्नवा बनकर नित्य आती रहो। तुम्हारा थोड़ा कष्ट किसी को हरा कर जाय, तो क्या हर्ज

है देवि ! नहीं, तुम नित्यनवीन होकर हृदय में उतरा करो।" 'नवजागरण' में भारत की चेतना इसी 'पुनर्नवा' शक्ति का आह्वान या आवाहन कर रही है, उसी से समदिक् समुन्नयन सम्भव है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की निपुणिका हो या भट्टिनी अथवा 'चारुचन्द्रलेख' की सातवाहन की रानी चन्द्रलेखा--सर्वत्र नारी-शक्ति का अशरीरी स्वस्थ प्रेम, त्याग, समर्पण, उपासना और प्रवृत्ति का स्वर मुखर होकर श्रुतिगोचर होता है। सम्प्रति, एक-एक उपन्यास को दृष्टिगत रखकर स्रष्टा की 'दृष्टि' का विवेचन उपक्रान्त हो रहा है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में एक कौलाचार्य अघोर भैरव 'बाबा' है, जिसके समक्ष जब भैरवियों द्वारा बाणभट्ट लाया जाता है, तो बाबा बाणभट्ट के विषय में कहता है --"यह 'पशु' नहीं जान पड़ता, किन्तु 'वीर' भी नहीं है।" बाबा ने भट्टिनी को भुवनमोहिनी कहा है, और कहा है भट्टिनी को ही लक्षित कर : "त्रिपुरसुन्दरी ने जिस रूप में तेरे मन को लुभाया है—उसे साहसपूर्वक स्वीकार क्यों नहीं करता ?"[2] महामाया के इस प्रश्न पर "अधिकारी है आर्य ?" बाबा उत्तर देते हैं—"महामाया, यह देखो, इसकी कुण्डलिनी जाग्रत है।"[3]

इसी प्रकार अमोघवज्र द्वारा लौटाया हुआ विरतिवज्र, जब बाबा के पास आता है तो बाबा उसमें निहित सम्भावना की परीक्षा लेते हुए कहते हैं—

"बुद्ध और बद्ध का भेद भूलने में तुम्हें रस आता है ?
पुरुष और स्त्री का भेद तुम भूल सकते हो ?"

विरतिवज्र के सकारात्मक और नकारात्मक उत्तरों से प्रतीत होता है कि उसकी साधना 'शक्ति' के बिना नहीं चल सकती। यदि उसमें हीनयानसम्मत 'नैरात्म्य' भावना की प्रवृत्ति होती, तो वह स्त्री-पुरुष का भेद भूल जाता और अनासक्त होता, पर ऐसा नहीं है अतः उसमें (वासना-शोधन) कौलधारा की साधना ही सम्भावित है। बाबा कहता है—"देखो, न तो[4] प्रवृत्तियों को छिपाना उचित है, न उनसे डरना कर्तव्य है और न लज्जित होना युक्तियुक्त है। इतनी बात गाँठ बाँध लो, फिर गुरु के उपदेश पर चलते रहो। आज तुम चक्र में एकत्र बैठ सकते हो" और कहा "किसी से न डरना, गुरु से भी नहीं, मन्त्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं। मन्त्र याद है न ?" अन्ततः वह उस चक्र में आमन्त्रित किया जाता है जहाँ अघोर-भैरव अपनी महामाया के साथ तथा अन्य साधक भैरव भी अपनी साधिकाओं के साथ बैठे थे। ये सभी निर्वस्त्र, पार्श्व में लालवस्त्र से ढँका मदिरा पात्र। कारण-पात्र से सबके पात्र भरे जा रहे थे। मन्त्र जपा जा रहा था।

महामाया भैरवी की धारणा है कि यह सारा विश्व प्रकृति-पुरुष की लीला है। पुरुष और स्त्री उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। वह कहती है—"तू क्या अपने को पुरुष समझ रहा है और मेरे को स्त्री ? यही प्रमाद है। मुझ में पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक है, इसलिए मैं स्त्री हूँ। तुझमें प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है—इसलिए तू पुरुष है। यह लोक की प्रज्ञप्ति प्रज्ञा है, वास्तविक सत्य[5] नहीं।" ये सब प्रसंग और विचार सिद्ध करते हैं कि

आगमसम्मत अद्वयवाद में द्विवेदीजी की आस्था कितनी है ? एक और भी प्रसंग है जो इसकी पुष्टि करता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भट्टिनी उदात्त पात्र है और उसकी दृष्टि में कालिदास ने भुवनमोहिनी के गौरव को हृदयंगम किया था। पुरुष की महत्वाकांक्षा को एकमात्र नियन्त्रित करनेवाली[6] शक्ति नारी है। कालिदास ने इस रहस्य को पहचाना है और दुष्यन्त तथा शिव—दोनों को शक्ति के चरणों में झुकाया है।

'चारुचन्द्रलेख' मध्यकालीन तन्त्र-मन्त्र की भूत-भैरवी साधना व जंजाल ने किस प्रकार भारतीय राष्ट्र को हतदीप्ति कर दिया—इसी का सफल आख्यान प्रस्तुत करना है। इस कृति में द्विवेदीजी ने कहा है—"सौगत और शाक्त तन्त्रों ने मनुष्य की रीढ़ ही तोड़ दी है। गोरखनाथ ने इस निर्वीर्य साधना की गलती को बहुत पहले ही समझ लिया था, पर हाय, किसी ने उनकी सुनी नहीं।" तन्त्रवाद का यह अधःपतन था। इस अधोमुखी रूप से तन्त्रवाद का उद्धार किया वैष्णव साधकों ने। उन्होंने समर्पण का मार्ग पकड़ा और इसी के द्वारा जिस 'भक्ति' रूपी पंचम पुरुषार्थ की उपलब्धि की, वह तत्वतः 'शक्ति' ही थी। नाटी माता इसी दिशा की साधिका है। उसकी धारणा है—"मेरे भावों ने ही इस विभावपुरुष की कल्पना की है। यदि भाव सत्य हों, तो अभाव स्पष्ट हो जाते हैं और सारे अभावों को भर-कर यह विभावपुरुष अपना रूप परिग्रह करते हैं। ऐसा लगता है कि बहुत भटकने के बाद मेरे मन में इन विभावपुरुष ने जैसा रूप परिग्रह किया है वही मेरी चरितार्थता है।"[7] आगे इस धारा को और भी स्पष्ट करती हुई रानी कहती है—"नाटी माता[8] कहती है कि तुम्हारे भीतर जो अभाव है, वह जब स्पष्ट हो जायेगा, तो परमप्रेयान् उस अभाव के विग्रह में ही तुम्हें अनुगृहीत करेंगे। वह विग्रह इस रससाधना में विभाव बनेगा।" इस चिन्मुखी रस साधना के विपरीत अभिचार के द्वारा सिद्धि प्राप्त करनेवाले घुण्डकेश्वर को फटकारता हुआ सीदी मौला कहता है—"उसमें बड़ी भेद बुद्धि है। मूर्ख यही नहीं समझ पाया, देवी किसी बाहरी देवता का नाम नहीं है, वह हमारी अन्तरतर की सत्ता का नाम[9] है।" इससे स्पष्ट है कि उनमें 'शक्ति' के प्रति आस्था है, उसके बहिर्मुख तथा भेद-गर्भ आभिचारिक साधना में अनास्था है।

'पुनर्नवा' में 'नारी' और 'शक्ति' की उनकी क्रमागत धारणा अक्षत है। बाणभट्ट तथा चारुचन्द्रलेख की भुवनमोहिनी यहाँ भी विद्यमान है। कवि चन्द्रमौलि कहता है—"मेरे हृदय में जब अकारण भयंकर ज्वाला धधकने लगती है तो मैं अनुभव करता हूँ कि इस विराट् विश्व में व्याप्त शिव और शक्ति की जो अनादि लीला चल रही है, वह उससे अलग नहीं होनी चाहिए।"[10] 'उज्जयिनी' संज्ञा का रहस्य स्पष्ट करते हुए चन्द्रमौलि कहता है कि शक्ति की आराधना से शिव ने त्रिपुरविजय की थी। इसीलिए यह नगरी विजयिनी या उज्जयिनी है। विन्ध्याटवी का सिद्धबाबा नारी में 'भुवनमोहिनी' त्रिपुरसुन्दरी का ही दर्शन करता है और कहता है—"तेरे भीतर भुवनमोहिनी का निवास है। उनकी त्रैलोक्य-सौभगा लीला

तेरे भीतर खेल रही है।"[11]

और, अन्ततः अब 'अनामदास का पोथा' को भी लें। इस उपन्यास में हृदय-पक्ष के चरमोत्कृष्ट विकास की प्रतिष्ठा की गयी है।

रैक्व 'वायु' का उपासक था। वायु को ही, प्राण को ही वह चरम सत्य मानता था। जनक की दृष्टि में, याज्ञवल्क्य की दृष्टि में वह आंशिक सत्य था। आंशिक सत्य भी चरम सत्य का विरोधी नहीं होता। औषस्तिपाद ने कहा — जो ब्रह्माण्ड में वायु है, वही पिण्ड में[12] प्राण है। वह गतिमात्र है। वह चेतन का एक गुण हो सकता है, पर स्वयम् चैतन्य नहीं है। इतिहासविधाता ने इस जड़तत्व से और भी सूक्ष्मतर तत्व प्राणतत्व को प्रकट किया है—उसके भीतर उससे भी सूक्ष्म मनस्तत्व, उसके भी भीतर उससे सूक्ष्मतर बुद्धितत्व—विज्ञान। यह सत्य से असत्य को अलग करती है। बुद्धि के इसी धर्म का नाम है विवेक। जानना ही सब कुछ नहीं है, उसे आचरण में लाना 'धर्म' है, इसीलिए बुद्धि का एक और विकसित कार्य है—वैराग्य। जो गलत है उसका त्याग वैराग्य है। विवेक हो सकता है, वैराग्य कठिन है। गलत-सही जानना सरल है, पर गलत को छोड़ पाना सरल नहीं है। असत्य को छोड़ देने पर केवल सत्य ही बचता है। इसीलिए विधेय केवल त्याग है, सत्य तो स्वयंसिद्ध है।

स्वयंसिद्ध होने पर भी सत्य को पाने के लिए कोई दृढ़ अवलम्ब चाहिए। वही सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म है। प्राण, मन, विज्ञान उसी की सूक्ष्म, सूक्ष्मतर अभिव्यक्ति है। उसी की अभिव्यक्ति के ये वाहन हैं—इसीलिए ये मूल्यवान् हैं, अन्यथा निरर्थक हैं। प्राण[13] या प्राणों की रक्षा निखिलात्मा परम वैश्वानर की तृप्ति के लिए है।

स्वयंसिद्ध सत्य क्या है, इस तक पहुँचने के लिए मनुष्य की अन्तरात्मा में विधाता ने 'प्रज्ञा' नामक एक शक्ति दी है, यह अनुभव कराती है। यह 'सत्य' बुद्धि का नहीं 'बोध'[14] का विषय है, अनुभव का विषय है, किंवा यह स्वयं अनुभव है—यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म (अपरोक्षानुभूति ही ब्रह्म है)। शान्त और स्थिर होने पर उसकी झलक मिलती है—वह दरवाजे पर दस्तक दे रहा है—लोक उसके स्वागत के लिए दरवाजा ही नहीं खोलता। उस परम प्रेमी की उपेक्षा हो रही है। जो कुछ भी अन्तः बहिःकरण गोचर है, वह सब उसी की अभिव्यक्ति है, अतः पकड़ लो उसी को जो तुम्हें खींचता हो — प्रिय लगता हो, सुन्दर जान पड़ता हो, लेकिन वही अन्त नहीं है—वह आकर्षक तत्व अंगुलिनिर्देश मात्र है उस महासत्य तक पहुँचने का।

ब्रह्म साक्षात्कार या स्वयंसिद्ध सत्य की पहली सीढ़ी यही प्रिय का ध्यान होना चाहिए। ब्रह्म साक्षात्कार[15] किसी रूप का आधार लिये बिना नहीं हो सकता, तो क्यों न उसी रूप को आधार बनाया जाय, जो प्रिय हो।

याज्ञवल्क्य ने जिस मधुविद्या का उपदेश दिया था, यद्यपि वह और भी पुराना है। अथर्वणदध्वङ् ने अश्विनी कुमारों को जो उपदेश दिया था, वह[16] यही है, जिसका इंगित ऊपर किया गया है। दध्वङ् ने कहा था—"यह भूमि, यह जल, यह अग्नि, यह वायु, यह आकाश, यह सूर्य, ये दिशाएँ, यह चन्द्रमा, ये तड़तड़ाते मेघ,

सब प्राणियों को मधु समान प्रिय हैं और सब प्राणी इन्हें भी मधु समान प्रिय हैं, क्योंकि उनमें जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष व्याप्त है, वही इस पिण्ड में आत्मारूप में विद्यमान है—वही स्वयंसिद्ध है। वही इस पिण्ड में आत्मारूप में विद्यमान है। वही स्वयंसिद्ध सत्य है। आत्मा ही अमृत है। आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा ही सब कुछ है; नहीं तो ये सब पदार्थ सबको प्रिय नहीं होते और न ही सभी प्राणी इन पदार्थों को प्रिय होते।

'इतना ही नहीं मित्र, यह जो मनुष्य-भाव है, प्रेम है, मैत्री है, चाह है, अभिलाषा है, तड़प है, व्याकुलता है यह मनुष्य-भाव भी सब प्राणियों को मधु समान प्रिय है। इस[17] मानुष-भाव में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वह समष्टि रूप ब्रह्माण्ड का आत्मा है। भिन्न-भिन्न व्यष्टियों में जो तेजोमय पुरुष है, वह व्यष्टि-पिण्ड का आत्मा है। आत्मा ही अमृत है, आत्मा ही ब्रह्मा है, आत्मा ही सबकुछ है।"

'अनामदास का पोथा' के ऋषि और ऋषिकाएँ आत्मा या स्वयंसिद्ध सत्य को सब तरफ से पाने को व्याकुल हैं। एक ऋषिका रैक्व को समझाती है—"यह क्या चीज है जो विनाशमान पदार्थों के बीच अविनश्वर है—'विनश्यत्यविनश्वरो-दुर्निवार जिजीविषा।'—जिसे लोग आत्मा कहते हैं वह इसी जिजीविषा के भीतर होना चाहिए। भयंकर रोगग्रस्त शिशुओं में जो सम्भावनाएँ हैं—ज्ञानी और उद्यमी बनने की—ये क्या हैं? यदि ये न होतीं तो जिजीविषा भी न होती। आत्मा इन्हीं अज्ञात अपरिचित-अनुध्यात सम्भावनाओं का[18] द्वार है। ऊपर से लगता है—'सम्भावना', जिजीविषा' से 'आत्मा' का क्या सम्बन्ध, पर गहराई में जाने पर अनन्त सम्भावनाओं का द्वार वही 'प्रकृति' ज्ञात होगी। सम्भावनाओं को रोकने का स्वप्न देखनेवाला अज्ञ है। प्रकृति को सुनियन्त्रित रूप में चलाने का नाम ही संस्कृति है।

"हाँ, तो जो यह स्वयंसिद्ध सत्य है—मधु है, परमप्रिय है—व्यापक सत्य है—स्वभाव उसके अनुकूल हो जाय तो सात्विक प्रस्थान का उस गन्तव्य तक पहुँचाने का आरम्भ हो जाता है। तुम्हारा स्वभाव प्रेम है, उसी के माध्यम से तुम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हो।"[19]

ऊपर जिस मानुस-भाव की बात कही गयी है, उसमें जो सबसे अधिक मधुर है, वहाँ से प्रस्थान कर शुभारम्भ होना चाहिए। शुभा भी तो परम वैश्वानर के ही तेजोमय अमृतमय रूप का आश्रय है। निस्सन्देह वह तुम्हारा अपना, नितान्त निजी[20] सत्य है, पर उसी रूप को पकड़कर, उस परम वैश्वानर को पकड़ो, जो सबका सत्य है, सत्य का सत्य है। तेरा व्यक्ति-सत्य यही है—हर आदमी का अपना व्यक्ति-सत्य होता है। यह सत्य यदि विश्वव्यापी सत्य के साथ एकमेक नहीं हो जाता तो तुम्हारा मार्ग[21] रुद्ध करेगा, तुम्हारा व्यक्तिगत प्रेम परम वैश्वानर के प्रेम की पहली सीढ़ी है। रैक्व को यह भी बताया गया कि अब तक वह केवल चिन्तन-मनन करता था, उसका ध्येय उसके सामने नहीं था—शुभा के रूप में उसका ध्येय सामने है। यह ध्येय इतना प्रबल है कि चिन्तन-मनन, क्रिया-कर्म सबको ठेलकर सामने आ

जाता है।

सत्य तक पहुँचने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। जिसे ज्ञान नहीं होगा, वह सत्य को कैसे पा सकेगा।[22] ज्ञान मनन के बिना नहीं हो सकता, मनन श्रद्धा के बिना असम्भव है, श्रद्धा निष्ठा के बिना बनी नहीं रह सकती और निष्ठा केवल सोचते रहनेवाले के बस की बात नहीं। जो कर्मण्य नहीं, वह निष्ठावान् भी नहीं। कर्म किसी सुख की आशा के बिना नहीं किया जाता—ऐसा सनत्कुमार का मत था। भूमा ही स्वयंसिद्ध सत्य है और वही सुख है—आनन्द है।

सुखात्मा वैश्वानर, स्वयम् सिद्ध सत्य की 'शुभा' जैसे प्रतीक के बिना प्राप्ति नहीं हो सकती। रैक्व के अन्तस् की बेचैनी आश्वलायन के समक्ष व्यक्त हो जाती है। वह शुभा से 'विवाह' का प्रस्ताव करता है। रैक्व अपनी आध्यात्मिक यात्रा से विवाह की संगति नहीं बिठा पाता। बेचैनी के शान्त होने का रास्ता विवाह में मिलेगा या वैश्वानर की अपरोक्षानुभूति 'प्रज्ञा' के माध्यम से करने में ?

आश्वलायन बताता है कि विवाह भी सामगान है और उसका रहस्य प्रजापति ने इन्द्र को समझाते हुए कहा है—"विवाह में जो आपसी बातचीत होती है वही हिंकार है, सबको सूचित करना प्रस्ताव है, पति-पत्नी का साथ शासन उद्‌गीथ है, अलग-अलग शमन प्रतिहार है, प्रेमपूर्वक जीवन[23] बिताना निधन (व्रतसमाप्ति) है। इस प्रकार प्रेमी-युगल के रूप में (स्त्री-पुरुष) वामदेव्य साम पिरोया हुआ है। यही पंचविध वामदेव्य साम है। वास्तव में विवाह भी एक व्रत है। वस्तुतः पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं—एक तो ऐसा कामजन्य सम्बन्ध, जो धर्म-संगत नहीं होता। यह आध्यात्मिक विकास का बाधक है। दूसरा, जो धर्मसंगत है, जिसे शास्त्र में विवाह कहा गया है। भगवान कृष्ण ने गीता में इसकी महिमा गायी है—

"धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि भरतर्षभ"

तीसरा है उद्वाह[24]। उद्वाह भी धर्मसंगत होता है, पर उसमें पति और पत्नी दोनों परस्पर एक दूसरे को ऊपर की ओर वहन करते हैं–परस्पर की आध्यात्मिक चेतना को परिष्कृत करते हैं। सो, यदि ऐसी पत्नी मिले, जो आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाय, तो उससे 'विवाह' नहीं, 'उद्वाह' करना चाहिए। रैक्व और जाबाला दोनों इसी पथ के पथिक हैं। विवाह के लिए पाणिग्रहण होता है और उद्वाह के लिए उपोद्‌ग्रहण। उपोद्‌ग्रहण मुख का होता है, वह मौखिक होता है। जटिल मुनि से यह नया और समन्वधी प्रकाश रैक्व को मिला—वे ध्यानमग्न हो गये। इस समाधि में उन्हें नया अर्थ दिखायी पड़ रहा था। मल और आवरण हटने जा रहे थे—इन्द्रिय प्राण में, मन बुद्धि में और आत्मानन्द में अनायास प्रवेश करने को व्याकुल हैं। इन्हें पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकरूपता आज ज्ञात हो रही है। महर्षि औषस्तिपाद और जटिलमुनि के वक्तव्यों का विरोधाभास शान्त हो रहा है। महर्षि ने कही थी उस 'प्रज्ञा' की बात, जो स्वयंसिद्ध सत्य का अनुभव कराती है और आश्वलायन ने ऊर्ध्वयात्रा के लिए कही थी बात—'शुभा' के साथ 'उद्वाह' की। रैक्व की दुविधा

शान्त हो गयी। उसे लगा—'शुभा ही तो प्रज्ञा'[25] है। आज हृदय के सभी दरवाजे खुल गये हैं—'प्रज्ञानंब्रह्म'। भीतर का देवता—मार्गदर्शक 'शुभा' ही तो है। वही तो प्रज्ञा है। शक्ति है। परमवैश्वानर की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति शुभा ही है। रैक्व के मनोमन्दिर में दो ही खेल चल रहे हैं। कभी देवता प्रिय बन रहा है और कभी प्रिय देवता। एक क्षण में परमवैश्वानर शुभा बन रहे हैं और दूसरे क्षण में शुभा परमवैश्वानर। अल्प भूमा और भूमा अल्प बन रहा है। यही संकोच और प्रसारण की लीला[26] है। यही प्राणः अपान द्वन्द्व है, यही केन्द्रानुगा तथा केन्द्रायगा शक्ति का द्वन्द्व है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत कृति में औपनिषद मन्थन का नवनीत अपेक्षित क्षमता के साथ प्रस्तुत हुआ है।

मूल प्रश्न द्विवेदीजी के चिद्वाद का था और वह भी उनके उपन्यासों के साक्ष्य पर। ऊपर उनके चारों उपन्यासों का विश्लेषण किया गया है और पाया गया है कि भुवनमोहिनी अपना सौन्दर्य नारी में संक्रान्त कर पुरुष को बाँधती है, आकृष्ट करती है। पुरुष को चाहिए कि वह उस बन्धन को मुक्ति का साधन बनाये—उसी रूप के संकेत से 'मूल' तक पहुँचने का व्रत ले—'अल्प' और 'भूमा' के द्वन्द्व को समरस बना ले।

स्पष्ट ही यह विचारधारा, जिसमें अन्तःप्रज्ञा और रूपवती नारी को एक कर 'शक्तिमान्' से समरस होने की बात कही जा रही है—आगमिक अद्वयवाद के अनुकूल पड़ती है। वहाँ भी 'शक्ति' का स्वरूप संकोच प्रसारमय स्पन्दात्मा कहा गया है। दृष्टान्त से बताया गया है कि जिस प्रकार पुरीषोत्सर्ग के बाद बड़वा अपने वराङ् का संकोच प्रसार करती हुई आनन्दमग्न होती है, उसी प्रकार शक्ति की संकोच प्रसारात्मक मुद्रा आनन्द की अवस्था है। परस्पर विरोधी दिशाओं में गतिमान की शक्ति की धारा को एक धारा में कर लेना ही द्वन्द्वातीत होना है। निष्कर्ष यह कि द्विवेदीजी 'चिन्मुख मानवतावादी' हैं और उनका चिद्वाद आगमसम्मत अद्वयवाद है, जिसका मेरुदण्ड 'शक्ति' है, शक्तिमान् की स्वरूपभूता चिदानन्दमयी शक्ति। यही पुनर्नवा है, बासी को ताजा करती है, क्योंकि वह अनन्त सम्भावनाओं से संवलित है, वही जीवन के रूप में व्यक्त हो रही है।

सन्दर्भ

1. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : पुनर्नवा, पृ. 246
2. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ. 86
3. वही, पृ. 78
4, वही, पृ. 80

5. वही, पृ. 87
6. वही, पृ. 112
7. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : चारुचन्द्रलेख, पृ. 62
8. वही, पृ. 73
9. वही, पृ. 84
10. वही, पृ. 106
11. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : पुनर्नवा, प्रथम संस्करण 1973, पृ. 103
12. वही, पृ. 190
13. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : अनामदास का पोथा, प्रथम संस्करण 1976, पृ. 58
14. वही, पृ. 149
15. वही, पृ. 150
16. वही, पृ. 135
17. वही
18. वही, पृ. 136
19. वही, पृ. 87
20. वही, पृ. 80
21. वही, पृ. 137
22. वही
23. वही, पृ. 148
24. वही, पृ. 142
25. वही, पृ. 174
26. वही, पृ. 163
27. वही. पृ. 182

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी निबन्ध की प्रवृत्तियाँ और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का योगदान

स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय परिवेश में एक ऐसी विभाजक रेखा है, जिसमें स्वतन्त्र भारत की समस्त सम्भावनाएँ और राष्ट्रगत बहुमुखी विकास की कल्पनाएँ अन्तर्भुक्त हैं। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति, अर्थतन्त्रीय व्यावसायिकता, व्यामोहग्रस्त वैचारिक नेतृत्व की विविधता, प्रतिक्रियावादी शक्तियों से नेताओं में अनुचित समझौते की पद्धति, उत्तरोत्तर राष्ट्र के तथाकथित उन्नायकों की स्वार्थपरता, उग्र-उग्रतर होती हुई राष्ट्रघाती क्षेत्रीयता की भावना, नैतिकता की अपेक्षा भौतिक समृद्धि की ओर झुकाव, उत्सर्गशील नेतृत्व का अभाव आदि क्षयिष्णु तथा विघटनकारी स्थितियों ने उस कल्पना और सम्भावना को साकार नहीं होने दिया। इस संक्रान्तिकालीन मन्थन से अभी तक तो हलाहल ही निकला है, वैसे प्रत्याशा राष्ट्र के अन्तस्तल में अमृत की अवश्य है; कारण, विश्व की प्रकृति सर्जनात्मक है—विध्वंस तो उसकी पीठिका है। इसलिए ज्ञात-अज्ञात रूप से वैचारिक और व्यावहारिक मन्थन निरन्तर सक्रिय है।

राष्ट्र का चिन्तक व्यक्तित्व राष्ट्र के हृदय के स्पन्दन को, उसकी धड़कन से निकलते स्वर की दिशा को उपेक्षित कैसे कर सकता है और उपेक्षित न करने का अर्थ है, उस पर अपनी गम्भीर वैचारिक प्रतिक्रिया व्यक्त करना। यह वैचारिक प्रतिक्रिया शुष्क और निस्संग भी हो सकती है और सर्जनात्मक भी। यहाँ सर्जनात्मक विचारणा अथवा साहित्यिक निबन्ध की प्रवृत्तियों का स्वातन्त्र्योत्तर सन्दर्भ में विचार प्रक्रान्त है।

हिन्दी में साहित्यिक निबन्ध नवविकसित आधुनिक गद्यविधा है। निबन्ध का मेरुदण्ड प्रौढ़ विचारणा है—ज्ञान की परिणत चेतना है। साहित्येतर क्षेत्र में निबन्ध विचार के क्षेत्र से निकलता है—बोध के धरातल से फूटता है और वस्तुमुखी पद्धति पर निस्संग ढंग से विचार के ही क्षेत्र में पर्यवसित हो जाता है, परन्तु साहित्य के क्षेत्र में निन्बध की यात्रा बोधात्मक और भावात्मक—व्यक्तित्व के घटक उभयविध धरातलों पर होती है। यहाँ निस्संगता के विपरीत 'निजीपन' या 'आत्मीयता' का भी संश्लेष अनिवार्य है। निजी दृष्टिकोण के आलोक में सम्पाद्य यह बौद्धिक यात्रा हृदय के रम्य प्रदेशों को पार करती है, अपनी सर्व-

ग्राह्यता के लिए कलात्मक प्रौढ़ि की अपेक्षा करती है, प्रेरणा-पर्यन्त जीवितावधि होने के कारण अपने बाह्य कलेवर में वह लघु होती है। दृष्टिकोण का यह निजीपन जितना ही प्रौढ़, परिणत, उदग्र तथा प्रभावी होगा, निबन्ध उतना ही उत्कृष्ट होगा। वैसे 'निबन्ध' शब्द प्रयोग में इतना शिथिल ढंग से चलने लगा है, इतनी व्यापक और विविध भूमियों पर प्रयुक्त होने लगा है कि उसको परिभाषित करना असम्भवप्राय हो गया है। किसी भी सर्जनात्मक विधा को उसकी विकासशील विशेषताओं के साथ किसी परिभाषा के चौखटे में बाँध रखना भी सम्भव कहाँ है? तथापि बिना स्थिरता के विचार सम्भव नहीं है—अतः परिभाषित तो करना ही पड़ता है।

निबन्ध के 'व्यक्तित्वव्यंजक' या 'ललित' रूप से आगे बढ़कर जब हम उसके विषयप्रधान या विचारात्मक साहित्यिक निबन्ध को 'निबन्ध' कहने की दिशा में आगे बढ़ते हैं तब इस पद्धति पर साहित्यिक कृति या साहित्यिक मानदण्डों पर भी व्यक्त वैचारिक चेतना 'निबन्ध' की परिधि में आने लगती है। इसीलिए नन्ददुलारे वाजपेयी की प्रेरणाप्रसूत निजीपन झलकाती हुई लिखी गयी लघुकाय आलोचनाएँ लोगों द्वारा निबन्ध कही जाने लगती हैं। स्वयं वाजपेयीजी स्वीकार करते हैं कि उनकी आलोचनाएँ प्रेरणा के क्षणों में निबन्धोचित मानस संगठन से निकली हुई हैं। वस्तुतः यह सही भी लगता है कि निबन्ध के अन्य विषयों की भाँति साहित्यिक कृति और साहित्यिक प्रतिमान भी निबन्धकार के निबन्धनीय विषय हो सकते हैं, फिर उसे आलोचना की जगह हम निबन्धात्मक आलोचना कहने लग जाते हैं। स्वयं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को कहना पड़ा है—'श्रव्यकाव्य, दृश्यकाव्य, कथात्मक गद्यकाव्य, काव्यात्मक गद्य और प्रबन्ध आदि सभी प्रकार की रचनाओं की मार्मिक समीक्षा या व्याख्या भी निबन्ध है।' इस तरह की मान्यता का स्पष्ट कारण है, क्योंकि वे मानते हैं—'बुद्धि के अनुसन्धान, क्रम या विचार परम्परा द्वारा ग्रहीत अर्थों या तथ्यों के साथ लेखक का व्यक्तित्व, व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ पूरी तरह झलकती हैं।' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी आलोचना और निबन्ध के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर कुछ ऐसा ही कहते हैं—'समालोचना केवल साहित्यिक ग्रन्थ तक ही सीमित नहीं रहती। संसार के विविध पदार्थों को मनुष्य की बुद्धि से समझने का वह प्रयत्न करती है। यह प्रयत्न जब केवल सूक्ष्म तर्क और बौद्धिक विकास से आगे बढ़कर मनुष्य की भावनाओं और अनुभूतियों को आश्रय करके प्रकट होता है तो उसमें साहित्यिकता आ ही जाती है। साहित्यिक कृतियों की आलोचना में भी हमने इस प्रकार का भावमिश्रण लक्ष्य किया है। प्रायः कविता को देखकर भावमदिर भाषा में प्रकट किये गये उद्गम देखने को मिलते हैं। वस्तुतः इनको साहित्यिक समालोचना न कहकर व्यक्तिगत निबन्ध कहना उचित होगा।' और आगे बढ़कर वे यह स्वीकार करते हैं—'निबन्ध लेखक भी वस्तुतः एक समालोचक ही है। उसकी समालोचना पुस्तकों की नहीं होती, बल्कि उन वस्तुओं की होती है जो पुस्तकों का विषय है।' निष्कर्ष यह कि

जिस प्रकार समालोचना का क्षेत्र साहित्यिक कृति और साहित्यिक प्रतिमान से इतर भी है वैसे ही निबन्ध का विषय भी अन्य विषयों की भाँति साहित्यिक कृति और साहित्यिक प्रतिमान भी हो सकते हैं। शर्त इतनी ही है कि आलोचना या विवेचना निबन्धोचित मानस के साँचे से प्रसूत हों — अर्थात् आलोचक निजी दृष्टि-कोण के आलोक में अपने व्यक्तित्व के रागात्मक और बोधात्मक — दोनों घटकों के साथ गृहीत विषय पर अपनी ज्ञानात्मक चेतना का आलोक उँड़ेल रहा हो। वस्तुतः निबन्धोचित मानस-साँचे से निकलनेवाली आलोचना को विवेचन या बौद्धिक चिन्तन ही कहना चाहिए—अन्यथा आलोचना को निबन्ध और निबन्ध को आलोचना कहकर दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्व को खतरे में डाल देना होगा। निबन्ध सृष्टि है — निबन्धकार उसमें आत्मप्रक्षेप करता है—आलोचना तटस्थ होकर की गयी वैचारिक प्रतिक्रिया है। निबन्ध में निबन्धकार किसी भी विषय को लेकर ऊहापोह करने में स्वतन्त्र है, आलोचक का विषय पूर्व निश्चित है—वह कृति के मूल में निहित सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कार कर उसी का निस्संग विवेचन करता है। सम्भव है आलोचना की इस निबन्धात्मक प्रकृति से खिन्न होकर ही आलोचना के वस्तुमुखी रूप के पक्षपाती 'स्टाइलिस्टिक्स' की आवश्यकता प्रतिपादित करते हों। अस्तु ! प्रसंगान्तर न करके मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि निबन्ध निजी दृष्टिकोण की छाया में व्यक्तित्व के रागात्मक पक्ष के साथ किसी भी विषय पर की गयी वैचारिक प्रतिक्रिया या वैचारिक अभिव्यक्ति है। विचारधारा का होना आवश्यक है —चाहे वह क्षीणकाय हो या अक्षीण, चाहे वह 'विषय' को नियन्त्रित करती हो या विषय से नियन्त्रित होती हो। पहला प्रकार विषयीप्रधान और दूसरा विषयप्रधान है। विषयप्रधान निबन्ध विचारात्मक ही नहीं, भावात्मक, वर्णनात्मक और कथात्मक भी होता है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी निबन्ध विचारात्मक, आलोचनात्मक और व्यक्तित्वव्यंजक ही अधिक है। जहाँ एक ओर विचारात्मक निबन्ध आलोचनात्मक निबन्ध को आत्मसात् करता चलता है वहीं दूसरी ओर व्यक्तित्वव्यंजक निबन्ध अन्य लघुकाय नव्यतम गद्यविधाओं की भंगिमाओं और पद्धतियों को आत्मसात् करता चलता है। व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धों में संवाद, रिपोर्ताज, रेखाचित्र, संस्मरण आदि के रंग भी कभी-कभी उभर आते हैं, पर ये सब रहते हैं उसके कलेवर के ही अभेद्य अंग।

मैं इस स्थापना से सहमत हूँ कि कवियों की कसौटी गद्य है और गद्यकारों की कसौटी निबन्ध। निबन्ध, जैसा कि ऊपर परिभाषित किया गया है, समर्थ गद्य की माँग करता है। कारण, निजीपन को निकालकर वह इस प्रकार भाषा के माध्यम से रखता है कि तमाम सामान्यों को चीरता, लाँघता, अतिक्रान्त करता हुआ निबन्धकार का व्यक्तित्व अलग ही दिखायी पड़े। 'निबन्ध' की वही कला सिद्ध मानी जायगी जो विषय को स्पष्ट कर दे और लेखक के व्यक्तित्व को भी न छिपने दे —उजागर कर दे। पं. विद्यानिवास मिश्र के इस वक्तव्य में उक्त चिन्तन का ही रस मिलता है कि 'सहृदयता और चिन्तनशीलता ही निबन्धकार के बन्धन

हैं—'उन्मुक्त व्यक्तित्व' ही इस बन्धन से छुटकारा है।'

जिस प्रकार निबन्ध के लिए प्रौढ़ भाषा की अपेक्षा होती है उसी प्रकार मुक्त चिन्तन (फ्री थिंकिंग) की भी। विषय के साथ-साथ विषयी की पहचान करानेवाले सामर्थ्य का उदय जब तक भाषा में न हो जाय, तब तक गद्य के माध्यम से 'निबन्ध' कैसे लिखा जा सकता है। भाषा के साथ-साथ दूसरा तत्व है—निबन्धकार के लिए अपेक्षित उन्मुक्त व्यक्तित्व के अनुरूप उन्मुक्त चिन्तन। असल में भारतेन्दु युग उल्लास, उमंग और जिन्दादिली का युग था – वहाँ निबन्धोचित वैचारिक गाम्भीर्य नहीं मिलता। द्विवेदी युग 'परिष्कार' या 'औपदेशिक प्रचार' का युग था। द्विवेदीजी के प्रभाव में उभरनेवाले 'वृत्ति परिष्कारी' पक्ष को निबन्धोचित गम्भीर वैचारिक पीठिका दी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने। जिस प्रकार विषय या विचारप्रधान निबन्धों के लिए अपेक्षित वैचारिकता को प्रौढ़ि और गम्भीरता शुक्लजी ने प्रदान की, उसी प्रकार व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धों को अपेक्षित उन्मुक्त चिन्तन दिया आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने। 'अशोक के फूल' संग्रह का प्रकाशन-वर्ष वैसे 1947-48 ही है—लिखे चाहे ये निबन्ध पहले ही गये हों। उन्मुक्त चिन्तन में 'विषय' का नियन्त्रण नहीं होता। उन्मुक्त चिन्तन को एक दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए आचार्य द्विवेदी ने कहा है कि जैसे सितार या वीणा के एक तार को छेड़ने पर और तार भी झनझना उठते हैं – उसी प्रकार व्यक्ति-व्यंजक निबन्धकार की मानस वीणा के गृहीत-विषय-विषयक चिन्तन-सूत्र को छेड़ते ही अन्तःसम्बन्ध सूत्र से जुड़े हुए न जाने कौन-कौन-से प्रसुप्त संस्कार झनझनाने लगते हैं और उसी निबन्धोचित मानस-प्रवाह के साँचे में पूरा निबन्ध ढल जाता है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी निबन्धकारों में कुछ तो पहले से ही लिखते चले आ रहे निबन्धकार हैं और कुछ स्वातन्त्र्योत्तर। इनमें से कुछ प्रतिष्ठित हो चुके हैं और कुछ सम्भावनाओं के हैं—कुछ व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धकार हैं और कुछ विषय-प्रधान। एक धारा है आलोचनात्मक अर्थात् साहित्यिक कृति और साहित्यिक प्रतिमानों को विषय बनाकर किसी-न-किसी दृष्टि से विवेचन करनेवालों की। आरम्भ इस धारा का भी भारतेन्दु से ही हो गया था, पर उत्तरोत्तर इसमें भी प्रौढ़ि आती गयी।

व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धकारों की प्रतिष्ठित पंक्ति में हैं—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं. विद्यानिवास मिश्र तथा कुबेरनाथ राय। सोचने-विचारने का 'बँधा' हुआ तरीका साहित्येतर क्षेत्र में काम देता है। बँधे हुए तरीके से मेरा मतलब 'विषय' से तो 'बँधा' होना है ही, पक्ष-प्रतिपक्षपूर्वक लौह-शृंखला में बँधकर सोचना भी है। बँधा हुआ चिन्तन अन्य लोगों की चिन्तन राशि को आत्मसात् कर अपनी बुद्धि को उन्हीं सूत्रों पर दौड़ाना भी है। स्वच्छन्द चिन्तन के लिए भी बुद्धि शक्ति अर्जित करती है—इसी पूर्ववर्ती व्यवस्थित चिन्तन के अखाड़े से, किन्तु उससे प्राप्त सामर्थ्य के संचार में चिन्तक स्वच्छन्द होता है। स्वच्छन्द होता है

अर्थात् आत्मसात् की गयी ज्ञानराशि का उपयोग वह जहाँ जैसा चाहे वहाँ वैसा कर लेता है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं. रामावतार शर्मा जैसे धुरन्धर विद्वानों के निबन्धों में स्वच्छन्द चिन्तन की पराकाष्ठा होनी चाहिए, अन्यों की अपेक्षा थोड़ा-बहुत है भी—इनके निबन्ध उस गरिमा से दीप्त हैं भी—परन्तु उनसे स्वल्पाधीत स्वातन्त्र्योत्तर इन प्रतिष्ठित निबन्धकारों में मुक्तचिन्तन की जो छटा दृष्टिगोचर होती है, वह उक्त आचार्यों के निबन्धों में नहीं है। वैसे ये प्रतिष्ठित निबन्धकार भी साधारण श्रुत नहीं हैं, बहुश्रुत हैं—जिसकी साखी भरते हैं इनके निबन्ध। शास्त्रीय और बँधे हुए ज्ञान का उपयोग इन लोगों ने भी किया है पर उसमें इनकी मौलिकता स्पष्ट झलक जाती है। शुक्लजी में भी अधीतज्ञान राशि की बुद्धिवादी पीठिका पर निजी लोकमंगलवादी रुचि के आलोक में अपनी नूतन व्याख्या प्रस्तुत करने की अद्भुत क्षमता है, पर ये हैं विषयप्रधान निबन्धकार। इनका चिन्तन (सब्जेक्टिव थिंकिंग) 'विषय' से नियन्त्रित है। इसीलिए कुछ लोग इन्हें आत्मधर्मी समीक्षक कहना चाहते हैं। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी भी इसी धारा के निबन्धकार हैं। यद्यपि शुक्लजी की मान्यताओं का वे विरोध करते हैं, पर शुक्लजी की भाँति इनके चिन्तन की भी सीमा साहित्य ही है—साहित्यिक कृति और साहित्यिक प्रतिमान ही हैं—अन्य कुछ है भी तो वह अपनी आलोचक दृष्टि का स्पष्टीकरण। इसी आलोचनात्मक निबन्धकारों की परम्परा में धर्मवीर भारती, कुट्टिचातन, मुक्तिबोध आदि की परिगणना की जानी चाहिए। इन सबमें समानान्तर प्रवहमान सर्जनात्मक साहित्य—विशेषकर कविता—से सम्बद्ध कृति की आलोचना अथवा सैद्धान्तिक विवेचना है। दोनों महायुद्धों की विभीषिका से साहित्य और संस्कृति तथा इन दोनों के संवाहक मानव के समक्ष संकटों, गतिरोधों, विसंगतियों और अन्य क्षयिष्णु वृत्तियों के अम्बार लग गये हैं। शुक्लजी की अपेक्षा इन चिन्तकों का धरातल और भी अन्तर्राष्ट्रीय बन गया है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ, अन्तर्राष्ट्रीय चिन्तन-स्तर से परिचय, अपने चिन्तन की इन व्यापक भूमियों पर संचार इस युग की विशिष्ट प्रवृत्ति है।

व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धकारों में पहले आचार्य द्विवेदी को ही लें। अर्जित ज्ञान से उत्पन्न बौद्धिक क्षमता का स्वेच्छ संचार मौलिक विनियोग आचार्य शुक्ल में भी है और आचार्य द्विवेदी में भी। पर शुक्लजी अपने 'रसवाद' और 'लोकमंगलवाद' के वृत्त में बँध गये। वैसे पुरातन मान्यताओं की बुद्धिवादी और विश्वसनीय मौलिक व्याख्याएँ अपनी विशिष्टता लिये हुए हैं। उनकी 'मानवता' की ही व्याख्या को लें—उस स्थापना, उस सम्पूर्ण चिन्तन की तह में भारतीय संस्कार, अर्जित ज्ञान की सम्पत्ति भी निहित है और विकासवादी चिन्तनराशि भी, पर इस सारी सामग्री का उपयोग वे अपनी 'दृष्टि' से की गयी व्याख्या में कर लेते हैं। उनकी व्याख्या है कि चेतना निम्नतम प्राणियों के स्तरों से गुजरती हुई मानवस्तर तक आकर अपने भीतर जिस व्यावर्तक विशेषता का आविष्कार कर लेती है या कर सकी है वह है—सामाजिक भावना, परहित भावना, औचित्यानौचित्य की भावना। मानव-

गत चेतना में यह सम्भावना उदित है कि वह अपनी रागात्मक सत्ता का विस्तार सारी सृष्टि तक कर सके। यह सम्भावना मानवेतर प्राणियों में निहित चेतना के अन्तर्गत नहीं थी। इसी स्वच्छन्द चिन्तन के क्रम में भारतीय अध्यात्मवाद और डार्विन के विकासवाद, दोनों का उपयोग करते हुए भी वे दोनों से भिन्न, पर नयी हृदयग्राही और इसीलिए विश्वसनीय तथा मौलिक व्याख्या कर सके। उनकी दृष्टि में "स्वानुभूत्यैकमानायानन्त चिन्मात्रमूर्त्तये" की व्याख्या परम्परा से हटकर है। इसी प्रकार उनके निजी चिन्तन (सब्जेक्टिव थिंकिंग) का रमणीक रूप धर्म, भक्ति, ईश्वर तथा मानवता आदि की व्याख्या में ही नहीं, साहित्यशास्त्र की क्रमागत पदावलियों की व्याख्या में भी देखा जा सकता है।

आचार्य द्विवेदी भी 'मानवता' की व्याख्या करते हैं पर उन पर भारतीय अध्यात्मवाद तथा विकासवाद, अन्तश्चेतनावाद आदि की निष्पत्तियों को आत्मसात् कर चलनेवाले अरविन्द दर्शन का प्रभाव है। चेतना का विकास ये भी मानते हैं, पर अरविन्द की भाँति 'पदार्थ' या 'जड़' के भीतर सुप्त और ऊर्ध्वमुखी विकास के लिए संघर्षशील 'चेतना' की बात करते हैं। शुक्लजी के बुद्धिवाद में 'चेतना' पदार्थ का विकार हो सकती है, पर द्विवेदीजी के यहाँ 'पदार्थ' में व्याप्त 'चेतना' है, जो अपने स्वभाव में ऊर्ध्वमुखी है, फलतः 'पदार्थ' से संघर्ष करती हुई उसे चीरकर बाहर वनस्पति तथा जीवों के रूप में व्यक्त होती है। मानव-स्तर पर व्यक्त चेतना का ऊर्ध्वमुखी रूप ही 'मानवता' है। यही साहित्य में 'अखण्ड एकता' या 'रसानुभूति' है और व्यवहार में मनुष्य की चरितार्थता है। द्विवेदीजी के व्यक्तित्व-व्यंजक निबन्धों में स्पष्ट देखा जा सकता है कि किस तरह बजाया जाता है विषय के मिजराब से एक तार, और झनझना उठते हैं न जाने कौन-कौन। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं'—प्रश्न अबोध बालिका के सहज स्वभाव से समुच्छ्वसित होता है—पर उत्तर धीरे-धीरे गहराता जाता है और संस्कार में संचित ज्ञान का—विविध-विध ज्ञान का – स्वतःस्फूर्त संचार अपने ढंग से निबन्धोचित मानस के सहज प्रवाह में हो जाता है। 'इण्डिपेंडेंस' की तुलना में 'स्वतन्त्रता' की व्याख्या करते हुए द्विवेदीजी भारतीय और पश्चिमी चिन्तन-सरणियों का अन्तर बताने लगते हैं, जो साधार होने से विश्वसनीय बन जाता है। कहाँ 'सहजातवृत्तियाँ' और कहाँ 'स्वतन्त्रता' तथा 'इण्डिपेंडेंस'; कहाँ 'पशुता'; कहाँ 'जड़ चेतन का संघर्ष'; कहाँ 'मानवता की ऊर्ध्वमुखी चेतना'—सब स्वच्छन्द चिन्तन की आँच में स्वयं पिघल-पिघलकर, ढलक-ढलककर ही निबन्धोचित आकार में ढलने लगते हैं, एक ही क्षीणकाय वैचारिक सूत्र में बँधने लगते हैं। शैलियों में भावनात्मकता, विवरणात्मकता, उन्मुक्तता, संस्मरणात्मकता—सबका उपयोग कर लेते हैं पर ये सब स्वच्छन्द चिन्तन की अग्निमयता में ऐसे एकरस शैली में मिल जाते हैं कि अपनी विजातीयता ही खो देते हैं। उनका यह उन्मुक्त चिन्तन, अर्जित ज्ञानराशि का स्वेच्छ संचार उनके उपन्यासों तक में व्याप्त है। नव प्रकाशित उपन्यास 'पुनर्नवा' हो या 'अनामदास का पोथा'—सर्वत्र उनके स्वच्छन्द चिन्तन का अन्तःसूत्र व्याप्त मिलेगा।

सारा उपन्यास पढ़ जाने पर 'पुनर्नवा' शब्द एक विशिष्ट सन्दर्भ पाकर अभिनव अर्थ से दीप्त हो उठता है। 'अनामदास का पोथा' में औपनिषद-ऋषियों की गूढ़ परन्तु प्रसन्न पारिभाषिक पदावलियों की व्याख्या विश्वसनीय और बोधगम्य हो जाती है। 'विवाह' और 'उद्वाह', 'विवेक' और 'विराग', 'प्राणोपासना' और 'उद्गीथोपासना' आदि की व्याख्याएँ ऐसी ही हैं। उनका यह स्वच्छन्द चिन्तन अपना पैर चाहे जिस पौरस्त्य या पाश्चात्य वैचारिक ईंटों पर रखकर चलता हो, भारतीय समष्टि चिन्तन के अन्तस् में निहित संकेतों की दिशा उससे नहीं छूटती—इसीलिए वह अपने परिवेश की ऊँचाई भी बताती है और अपनी संस्कृति में आस्था भी पैदा करती है।

जहाँ तक विद्यानिवास मिश्र का सम्बन्ध है—वे संस्कृत व्याकरण, दर्शन, साहित्य, आगमादि के तो परम्परागत ज्ञाता हैं ही, लोकसाहित्य के भी मर्मज्ञ हैं और जानकार हैं। वे 'लोक' से 'शिष्ट', 'पुरातन से अद्यतन', 'पौरस्त्य से पाश्चात्य' तक की भौतिक और बौद्धिक यात्रा कर चुके हैं। ज्ञान-विज्ञान से, विश्व के राजनीतिक और आर्थिक माहौल से भी भिज्ञ हैं। आशय यह है कि उनकी बुद्धि भी व्यवस्थित शास्त्र और साहित्य के मनन से पर्याप्त क्षमता अर्जित कर चुकी है और उनमें उस सामर्थ्य का आविष्कार हो चुका है जिसे हम 'स्वच्छन्द या उन्मुक्त चिन्तन' कहते हैं। उनमें भी अर्जित ज्ञान के संचार की पर्याप्त क्षमता है। द्विवेदीजी की भाँति मिश्रजी ने भी व्यक्तित्वव्यंजक तथा विचारात्मक—उभयविध निबन्ध लिखे हैं। उनका बँधा हुआ चिन्तन भी शास्त्रीय क्षेत्र में व्याप्त है और स्वच्छन्द चिन्तन भी साहित्यिक निबन्धों में। सबसे पहली बात यह है कि मिश्रजी भारतीय चिन्तन को भाषाभेद से खण्डित नहीं मानते, अतः भारतीय भाषाओं में निहित ज्ञान-धारा को मनन-चिन्तन के माध्यम से उसकी अखण्डता और अविरुद्धता में पकड़ना चाहते हैं और पकड़ते हैं। मतलब यह है कि ये दोनों हाथ से बाण चलाते हैं—'बद्ध' और 'मुक्त'। मतलब, निबन्धकारों के बीच ये सव्यसाची हैं। वे मानते हैं कि वैचारिकता के अतिरिक्त भावात्मक तादात्मय उनके वैयक्तिक निबन्धों में ही नहीं है, वैचारिक निबन्धों में भी है। भावात्मक तादात्म्य के बिना कुछ भी लिखना उन्हें भूसा ओसाने जैसा लगता है। मिश्रजी भी 'भारतीयता' और 'भारतीय परम्परा' के प्रति सर्वात्मना प्रतिबद्ध निबन्धकार हैं। वे मानते हैं 'पर के भी जो परे' हो, श्रेष्ठ से भी जो श्रेष्ठतर हो, जो कभी न भूत हो न भविष्यत्, जो सतत वर्तमान हो, जो कभी सिद्ध न हो, निरन्तर साध्य हो, वही 'परम्परा' है। उनकी 'दृष्टि' में इसीलिए 'परम्परा' साधना का पर्याय है। आचार का अनुशासन वह स्वीकार इसलिए करती है कि एकाग्र होकर, सत्यनिष्ठ होकर विचार के प्रवाह को साधे रहे, विचार को कभी जड़ न होने दे—सीधी रेखाओं में नहीं, वर्तुल गोलाइयों में उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी होती रहे—आदि-आदि। उनके इस वक्तव्य से उनके चिन्तक की गतिमयता और ऊर्ध्वमुखीनता स्पष्ट है। उनकी यदि इन निबन्धों के माध्यम से कोई प्रतिबद्धता है तो यही कि हिन्दुस्तान का समूचा चिन्तन केवल हिन्दुस्तान के

लिए नहीं, केवल हिन्दू के लिए नहीं, सारी दुनिया और सारे मजहबवालों के लिए है। प्रत्येक निर्जीव लगती हुई 'लोक' और 'शिष्ट' परम्परा की ओर उनकी पैनी दृष्टि जाती है और निबन्धों के माध्यम से उसका मर्म रमणीय पद्धति से उद्घाटित करके रख देती है। युद्ध सम्बन्धी समस्त विश्व के चिन्तन को जब वे मथते हैं और उस सन्दर्भ में सर्जनात्मक कृतियों का परीक्षण करते हैं तो उन्हें आज भी महाभारत के निष्कर्षात्मक श्लोकों में चिरनवीनता और ताजगी दिखायी पड़ती है। 'छितवन की छाँह,' और 'दधि, दूब, अच्छता' से लेकर उनकी ज्ञानात्मक चेतना की स्वच्छन्द तथा रमणीय दौड़ 'तकनीक और आदमी' के साथ-साथ 'भारतीय कला-दृष्टि' तक दौड़ लगाती है। इन स्वछन्द चिन्तकों को अपने 'निबन्धन' में किसी का बन्धन है तो वह केवल उनकी सहृदयता और वैचारिकता का।

स्वातन्त्र्योत्तर व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धकारों पर आचार्य द्विवेदी का प्रभाव कहीं-न-कहीं अवश्य है। मिश्रजी ने अपने ही बारे में एक जगह कहा है—"द्विवेदीजी के निबन्धकार ने इस उन्मुक्त व्यक्तित्व को पाने की आकुलता पैदा की, इसके बाद उनकी शैली का प्रभाव तो अपने आप पड़ जाता है।" मिश्रजी ने माना है कि उन्होंने द्विवेदीजी के उस 'उन्मुक्त व्यक्तित्व' की चोरी की है, जहाँ से 'निबन्ध' की अन्तरात्मा का स्वच्छन्द चिन्तनात्मक प्रवाह फूटता है। 'उन्मुक्ता' भी कहीं छिपती है—

'मोतें दुरैहौ कहा सजनी निहुरे-निहुरे कहूँ ऊँट की चोरी।'

इस धारा के तीसरे शक्त निबन्धकार हैं कुबेरनाथ राय। अब तक उनके पाँच संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें भी ऊँट की चोरी साफ दिखती है। द्विवेदीजी की उच्छ्वसित महाप्राणता की झलक यहाँ भी यत्र-तत्र मिल ही जाती है। वैसे इनके निबन्ध अत्यधिक सन्दर्भ-गर्भ होते जा रहे हैं। पौरस्त्य-पाश्चात्य, पौराणिक-दार्शनिक-वैज्ञानिक नामवाली शब्दावली का प्राचुर्य होता जा रहा है। अब तो यह सन्दर्भ-गर्भता का अतिरेक राय साहब की एक प्रत्यभिज्ञापक रेखा बन गयी है। यह प्राचुर्य बहुश्रुतता के बावजूद उक्त निबन्धकारों में कम मिलता है। 'निषाद बाँसुरी' को लें या 'मधुमाधव' को, बात साफ हो जायगी। किसी भी संग्रह को लें। उन्होंने आचार्य द्विवेदी तथा मिश्रजी की ही परम्परा में यह स्वीकार किया है कि उनके निबन्धों के पीछे उनका 'हिन्दू' है और ऐसा होकर भी न स्वीकार करना वे कमीनापन मानते हैं। वे मानते हैं—"आज हम सब मानवीय चरित्र के अमानवीयकरण की प्रक्रिया में पुनर्जन्म लेते हुए ज्ञात होते हैं। ऐसी अवस्था में साहित्य के भीतर कहीं कोई 'गन्धमादन' खोजना, जिसके क्रोड़ में तमसाच्छन्नरात्रि को विदीर्ण करता हुआ चार औषधियों का प्रकाश दहक रहा हो—मेरा आदर्श है, मेरी चेष्टा का लक्ष्य बिन्दु है और इस बात के साक्षी हैं ये निबन्ध।"

'मनुष्य की मनुष्यता के प्रति मेरी इस प्रतिबद्धता को कोई गाली दे तो दे, परन्तु मैं मनुष्य को छोड़कर अन्य किसी के प्रति साहित्य को प्रतिबद्ध नहीं मानता। शेष अन्य प्रकार की प्रतिबद्धताएँ अधूरी हैं।' राय साहब जीवन का अन्त 'मोक्ष' या

ईश्वर को मानते हैं।

शुक्लजी ने अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर उदित जिस मानवता विरोधी व्यावसायिक वणिग्वृत्ति का विरोध किया था उसी मानवता का स्वर इन निबन्धकारों में भी भारतीय सांस्कृतिक पीठिका पर उत्तरोत्तर उदग्र होता गया है। किसी ने ठीक कहा है कि समाज-नीति, अर्थनीति तथा राजनीति की अपेक्षा धर्म, अध्यात्म और संस्कृति के क्षेत्र में भारतीय मनीषा ने अपनी शब्दावली आविष्कृत कर रखी है— अत: जब वह अपने चिन्तन का क्षेत्र साहित्य और संस्कृति चुनता है तो काफी ऊँचाई पर पहुँच जाता है और जब शेष चुनता है—और निबन्धकारों में से कम ने चुना है—तब विदेशी शब्दावली के सहारे या तो वह अस्वीय चिन्तन की ओर मुड़ जाता है अथवा राजनीति और अर्थनीति पर बात करता हुआ फिर अपने ही क्षेत्र में मुड़ जाता है। खासकर विचारात्मक निबन्ध प्रस्तुत करनेवाले जैनेन्द्र में यह देखा जा सकता है।

इस क्षेत्र के कुछ उदीयमान और अल्पचर्चित निबन्धकार भी हैं—पर हैं शवत। डॉ. शिवप्रसादसिंह, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, डॉ. प्रभाकर माचवे, डॉ. नामवर-सिंह, सियारामशरण गुप्त आदि अल्पचर्चितों में हैं तो डॉ. विवेकीराय उदीयमानों में। डॉ. शिवप्रसादसिंह के तीन संग्रह सामने हैं—'कस्तूरी मृग,' 'शिखरों का सेतु' तथा 'चतुर्दिक्'। उनकी दृष्टि से इन व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धों में पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण को तोड़कर ऊर्ध्वगामी यात्रा करनेवाले बीजांकुर हैं। उनके निबन्धों में संघर्ष है अपने भीतर से भी और बाहरी विघटनकारी शक्तियाँ से भी। ऐसे संघर्षकारी मन के भीतर निहित 'आस्था' की गन्ध यहाँ व्याप्त मिलेगी। डॉ. माचवे ने उनके ललित निबन्धों में "विद्वत्ता, फक्कड़पन, यायावरीवृत्ति, लोककथाप्रेम, सूक्ष्म विचारशक्ति और गद्यकाव्य की शैली देखी है। हजारीप्रसाद द्विवेदी प्राचीन और नवीन में नवीन का रास्ता नहीं चुन पाते, शिवप्रसाद ने अपनी विचारधारा साफ-साफ रखी है। शिवप्रसाद मार्क्सवादी आर्थिक मजबूरियों से परिचित हैं, अस्तित्ववाद की गहन निराशा भरी 'नो एग्जिट' वाली विवशता से भी। वे सीमाओं को जानकर उनके उस पार देखना चाहते हैं, शब्दों की माला पिरोने में वे अटक नहीं गये हैं, वे सचेतन रूप से अचेतन में अवगाहन करते हैं—यही उनकी आधुनिकता है जो उनके निबन्धों में व्यक्त है।" कुछ लोगों का खयाल है कि इनकी रचनाएँ दुर्बोध और दार्शनिक हैं। स्वयं डॉ. सिंह अपनी निबन्ध-चिन्तन की रचनाओं का प्रकाशन 1958 से मानते हैं। उद्देश्य बताते हैं—समस्याभेद, हिन्दी नव लेखन की समस्याओं पर सहचिन्तन। वैसे बाद में यह सह-चिन्तन बन्द हो गया। शैली के नाम पर उनके निबन्धों में कहीं आन्तरिक एकालाप, कहीं सुषुप्त चेतना-प्रवाह, कहीं स्मृतिपुनरावर्तन, कहीं सांस्कृतिक सन्दर्भगूढ़ता, और कहीं ऐतिहासिक अन्तर्वेद्यता, कहीं नाटकीय पद्धति का अनुसरण है तो कहीं मुक्त रंगमंचीय विधान! अन्तरंग पक्ष के स्तर पर व्यक्त आध्यात्मिकता का अर्थ है—आन्तरिक तन्मयता और वर्ण्यवस्तु में लेखक की ऐकान्तिक एकाग्रता।

डॉ. माचवे का संग्रह है—'खरगोश के सींग'। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में—'दर्शनशास्त्र उनको बाँधता नहीं, मुक्त दृष्टि देता है। वे संसार की हलचलों को देखते हैं और अपने अध्ययन-मनन के द्वारा यह निश्चय करते हैं कि इस समूचे कोलाहल के भीतर वह स्वर कौन-सा है जो भविष्य में मार्गदर्शक बनने की क्षमता रखता है। सफल कहाँ तक होगा—यह भविष्य निर्णय करेगा।'

उदीयमान निबन्धकारों में डॉ. विवेकीराय का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। इनके निबन्धों में उक्त निबन्धकारों की तरह दुर्बोध वैचारिकता और वर्तमान सांस्कृतिक संकटों तथा समस्याओं पर अपनी गहरी प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की गयी है, अपितु इनमें लोकतत्वों की गन्ध ही मुखर है—भटक रही है। 'फिर बैतलवा डाल पर' निबन्ध-संग्रह की रचनाओं में समूचा वातावरण आंचलिक वैशिष्ट्य से युक्त है – ग्राम जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टिपात है। इसमें लेखक शवाधिष्ठित बेताल की तरह युग के मौन को तोड़ने के लिए सचेष्ट और संकल्पवान् है।

स्वातन्त्र्योत्तर विचार-प्रधान निबन्ध

इस धारा के बहुचर्चित निबन्धकार हैं—श्री जैनेन्द्र। उपेन्द्रनाथ अश्क की भाँति बहुत-से लोग उन्हें कनफ्यूज़्ड चिन्तक कहते हैं। ऐसा कहनेवाले उनसे अधिक निर्भ्रान्त चिन्तक निश्चय ही हो सकते हैं। हो सकता है जैनेन्द्रजी ने भी अपने लेखन को कभी एक्स्ट्रेवेगेंजा (उद्भ्रान्तप्रबन्ध) कहा हो। जो भी हो, उन्होंने काव्य की विभिन्न विधाओं में अपने चिन्तक को ही अभिव्यक्ति दी है। हैं वे चिन्तक ही, भ्रान्त हों या निर्भ्रान्त। यह उनसे भी बड़ा चिन्तक जाने। इतना स्पष्ट है कि उनके अनेक निबन्ध-संग्रह हिन्दी जगत् के समक्ष आ चुके हैं। वे गाँधीवादी हैं, सर्वोदयी हैं, जैन और इन सबमें आस्था रखते हुए भी वे 'जैनेन्द्र' हैं – अर्थात् व्यक्ति-वादी चिन्तक हैं। उनके चिन्तन की भट्टी में क्या-क्या नहीं पड़ा—शासन, राजनीति, विज्ञान, धर्म, काम, प्रणय, साहित्य, दर्शन, अर्थनीति आदि-आदि। पर चाहे व्यक्ति-व्यंजक निबन्धकार हो या विचारप्रधान, आज का संकट सबके सामने है। जैनेन्द्रजी कहते हैं—'आज का संकट, जिसमें मानवजाति आ पड़ी है, बहुत कुछ उसी दर्शन और विज्ञान के विच्छेद और विरोध में से बना है। पदार्थ विज्ञान और समाज विज्ञान परस्पर तभी पूरक हो सकेंगे, जब दोनों में एक श्रद्धा और विश्वास प्रवाहित होगा। आज का विज्ञान, यन्त्र-व्यापार को सम्पन्न कर देगा और मानव-व्यवहार को विपन्न करता जायेगा। अवश्य कुछ है—जो अभेद्य और अखण्ड है। उसी अटल नियम पर चेतन-अचेतन संसार थमा चल रहा है। इस धर्म में द्वैत नहीं है। आइन्सटाइन ने उसी अद्वितीय नियम को मस्तिष्क में लेने और गणित में देने की कोशिश की, जब सापेक्षवाद प्रस्तुत किया। आवश्यकता है कि उस व्याप्त ध्रुव को जगज्जीवन पर समग्रभाव में फलित और प्रतिफलित किया जाय।' जैनेन्द्रजी की चिन्तन-धारा की दिशा इस वक्तव्य से स्पष्ट है। जैनेन्द्रजी प्रबन्ध चिन्तक की

अपेक्षा मुक्तक चिन्तक अधिक हैं।

विचारात्मक निबन्धकारों में सर्वश्री अज्ञेय, महादेवी वर्मा, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि भी परिगणनीय हैं। अज्ञेय गम्भीर चिन्तक हैं और निरन्तर अपने विवेक का तर्क-संगत परिष्कार करते रहते हैं। उनके चिन्तन की पीठिका पर्याप्त व्यापक और गम्भीर है। उनमें भावुकता, कल्पना, विचार, व्यंग्य, हास्य सबकुछ है। महादेवी के निबन्ध साहित्यिक, सामाजिक (विशेषकर नारी) तथा सांस्कृतिक हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी प्रभाववादी आलोचनात्मक निबन्ध लेखक हैं। इन्होंने विचारात्मक निबन्ध भी लिखे हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर निबन्ध, आलोचनात्मक सर्वाधिक लिखे गये हैं। हिन्दी साहित्य का कोई भी निबन्धकार स्वातन्त्र्योत्तर युग का ऐसा नहीं है जिसने साहित्यिक कृति और साहित्यिक प्रतिमानों तथा साहित्य के सम्बन्ध में सीमित-व्यापक परिवेश में उठे हुए प्रश्नों-समस्याओं पर अपनी विवेचना प्रस्तुत न की हो। ये प्रश्न साहित्य की रचना, अभिव्यंजना तथा ग्रहण-प्रक्रिया के सन्दर्भ में उठे हुए हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर समुद्भूत परिस्थितियों ने चिन्तकों को हास्य-व्यंग्य के इतने अवसर प्रदान किये हैं कि एतद्गर्भ निबन्धकारों की भी अपनी एक श्रेणी बन गयी है—गोपालप्रसाद व्यास, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, कुट्टिचातन, मोहनलाल गुप्त, बेढब बनारसी, रामावतार त्यागी आदि।

इस प्रकार उक्त विवेचन के आधार पर स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी निबन्ध साहित्य की प्रवृत्तियाँ—जो उसको प्राक्स्वातन्त्र्य निबन्ध साहित्य से विशिष्टता प्रदान करती हैं, निम्नलिखित हैं—

1. उच्चस्तरीय व्यक्तिव्यंजक निबन्धों की प्रचुरता। ये सभी व्यक्तित्वव्यंजक निबन्धकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से किसी-न-किसी प्रकार जुड़े हुए हैं। इनके चिन्तन की भूमिका चाहे जितनी देशकाल विभेदिनी हो पर उनमें भारतीयता और आस्था का ही स्वर दीप्त है। ये निबन्ध पर्याप्त वैचारिक वजन रखते हैं। इनमें 'भारतीयता', 'परम्परा' तथा 'हिन्दुत्व' समर्थित 'मानवता' के प्रति प्रतिबद्धता है।

2. विषयप्रधान या विचारप्रधान निबन्धकारों में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय धरातल की सामाजिक, राजनैतिक, अर्थतन्त्रीय, धार्मिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में ज्ञान-विज्ञान-दर्शन के चिन्तन से अर्जित ज्ञानालोक में मानस-मन्थन उपलब्ध होता है। प्राक्स्वातन्त्र्य मन्थन की अपेक्षा इसमें वैविध्य, व्यापकता और गाम्भीर्य है। मनुष्य एकता का अनुभव करे—इसमें बाधक तत्त्वों पर लोगों का चिन्तन अधिक केन्द्रित है।

3. आलोचनात्मक निबन्धों में समानान्तर सर्जनात्मक साहित्य के सन्दर्भ में उठी हुई नव-नव समस्याओं, प्रश्नों, चिन्तन प्रसूत पारिभाषिक एवं रूढ़ बनते मुहावरों, कलापक्षीय उपकरणों, प्रयोग के विविध पक्षों, साहित्य के मानदण्डों आदि पर पर्याप्त मन्थन चल रहा है।

4. स्वातन्त्र्योत्तर सन्दर्भ में व्यंग्य-विसंगतियों की अनगिनत स्थितियाँ उत्पन्न

हो गयी हैं – अतः इनका विशिष्ट समावेश भी इस काल की एक विशेषता है।

5. भाषा और शैली में भी सर्जनात्मक विधाओं की विशिष्ट प्रयुक्तियों का निबन्धकारों द्वारा ग्रहण और उनका प्रयोग, जैसा कि शिवप्रसादसिंह ने अपने वैयक्तिक निबन्धों में किया है।

6. एक अन्य प्रवृत्ति लक्षणीय है और वह है सांकर्य की। सर्जनात्मक साहित्य में व्यवस्थापकों द्वारा खींची हुई भेदक रेखाओं का अतिक्रमण, एक स्वतन्त्र विधा की शैलीगत विशेषता का अन्यत्र संचार। निबन्धकार अपने निबन्धात्मक प्रकाशन में संस्मरण, आलोचना, संवाद, एकालाप, भुक्त आसंग, चेतना-प्रवाह, स्मृति-पुनरावर्तन, सांस्कृतिक सन्दर्भगूढ़ता, नाटकीय पद्धति, मुक्तरंगमंचीय विधान आदि-आदि, का प्रयोग करने लगा है। इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर निबन्धकारों का मन्थन कई बातों में अपने को रेखांकित करता है और अपनी विशिष्ट पहचान के लिए अनेक प्रत्यभिज्ञापक रेखाएँ खींचता है।

आधुनिक समीक्षा के अन्य प्रमुख आधार-स्तम्भ और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

साहित्य में क्रमागत भारतीय चिन्तन, जो सामान्यतः आत्मवाद पर प्रतिष्ठित था, हिन्दीजगत् में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा एक भिन्न भूमि पर आरूढ़ किया गया। यह भूमि थी—बुद्धिवादी। उनका खयाल था कि आत्मवाद या आत्मतत्त्व दार्शनिकों और रहस्यदर्शियों के क्षेत्र की वस्तु है, उसे साहित्य के क्षेत्र में लाया ही नहीं जा सकता। उनकी दृष्टि में साहित्य-चेतना का सम्बन्ध मनोमय कोष तक ही है। मन की मुक्त दशा ही उसका उत्स है—वही 'रस' है—साहित्य के माध्यम से पाठक इसी दशा 'रसदशा' तक पहुँचता है। जो वहाँ से उत्पन्न होकर यहाँ तक पहुँचावे नहीं, वह साहित्य नहीं। रस या आनन्द का सौन्दर्य से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। अतः उन्हें सौन्दर्य पर भी विचार करना पड़ा और कहना पड़ा कि अन्तःसत्ता की तदाकार (सुन्दर वस्तु के आकार की) परिणति ही सौन्दर्यानुभूति है और सौन्दर्य सुन्दर वस्तु ही है। सुन्दर और कुरूप या असुन्दर—बस, काव्य में ये ही दो पक्ष हैं। धर्मज्ञ अपनी दृष्टि से जिसे मंगल कहता है, दार्शनिक सत्य कहता है, कवि उसे ही सुन्दर कहता है। उसकी दृष्टि सौन्दर्य की ओर ही जाती है। इस चिन्तनक्रम में शुक्लजी की रसात्मकता जो मनुष्यता की उच्चभूमि है—सात्विक मनोदशा या नैतिक मनोदशा का ही पर्याय है। यही कारण है कि उन्हें मानवीय या 'लोक-मंगल' की भावना से प्रेरित कार्यकलाप में ही सौन्दर्य दिखेगा। राम के व्यापार ही सुन्दर प्रतीत होंगे, रावण के व्यापार नहीं। शुक्लजी ने स्पष्ट कहा कि राम के काव्यात्मक निरूपण में ही पाठकों या श्रोताओं को रस मिलता है, रावण के निरूपण में नहीं। शुक्लजी की दृष्टि में रावण की सक्रियता का योगदान काव्य की भूमि पर भी सौन्दर्यबोध में नहीं है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी इसी भूमि पर शुक्लजी से अपना साहित्यिक प्रस्थान भिन्न कर लेते हैं। वाजपेयीजी के अनुसार काव्यानुभूति के अखण्ड धरातल पर यह नैतिक-अनैतिक का विभाजन असंगत है। साथ ही वाजपेयीजी 'बुद्धिवाद' को अधूरी दृष्टि और 'वैदिक दृष्टि' को समग्र दृष्टि मानते हैं, अतः आत्मवाद के प्रति उनकी गहरी आस्था व्यक्त होती है। स्वच्छन्दतावाद या छायावाद काव्यचेतना की सीमा मनोमय कोष तक ही नहीं मानता—वह उसमें आत्मानुभूति तक पहुँचने की सम्भावना का द्वार बन्द नहीं करता। जहाँ शुक्लजी

अनात्मवाद या बुद्धिवादी भूमि पर रस का विचार करते हैं, इसीलिए रस की उत्तम, मध्यम आदि अनेक कोटियाँ निर्धारित करते हैं—वहीं आत्मवादी दृष्टि रखने के कारण वाजपेयीजी रस को सर्वथा आनन्दमय, अखण्ड और साध्य कहते हैं। निष्कर्ष यह कि काव्य की मूलभूत स्रोतस्विनी रसदशा के विषय में दोनों का दृष्टिभेद स्पष्ट है।

डॉ. नगेन्द्र भी रसवादी आचार्य हैं। रस को काव्य का उत्स मानते हैं लेकिन जिस प्रकार काव्यानुभूति या सर्जनात्मक अनुभूति की व्याख्या डॉ. नगेन्द्र करते हैं, वह एक भिन्न दृष्टि ही है। उन्होंने मनोविज्ञान के आचार्यों का सहारा लिया है और काव्य में आत्माभिव्यक्ति का आशय स्पष्ट किया है। उनकी दृष्टि में आत्मा का अर्थ व्यक्तित्व है, भारतीय दार्शनिक-सम्मत चिदानन्दमय अखण्ड तत्व नहीं। यद्यपि आरम्भ में वाजपेयीजी की भाँति नगेन्द्रजी भी स्वच्छन्दतावादी आलोचक के रूप में ही आते हैं, फिर भी इनकी दृष्टि वैदिक नहीं, अवैदिक है। आत्मा और व्यक्तित्व को अभिन्नार्थक मानते हुए कहा है कि व्यक्तित्व उन राग-द्वेषों का, जिनमें से अधिकांश कामचेतना के प्रोद्भास हैं, संश्लिष्ट समूह है। इस व्यक्तित्व के भी उसी अंश की साहित्य में अभिव्यंजना होती है जो अभाव या अतृप्ति से ग्रस्त होता है। निष्कर्ष यह कि आत्मा या व्यक्तित्व के निर्माण में वे कामवृत्ति या उसकी अतृप्ति का योग स्वीकार करते हैं और यह भी तभी सम्भव है जब सौन्दर्य का उद्दीपन हो, आनन्द और अभाव की पीड़ा, दोनों का संयोग हो। अर्थात् व्यक्तित्व या आत्मा की जो अनुभूति अनायास फूट पड़ती है, उसमें आनन्दमयता के साथ अभाव की पीड़ा भी होती है। यह काव्यानुभूति की महत्ता है कि आनन्द और पीड़ा के विरोध में अन्विति ला देती है। डॉ. साहब के अनुसार काव्यानुभूति में आनन्द के साथ पीड़ा और पूर्णता के साथ अभाव का सहावस्थान होता है। सर्जना के अतिरिक्त ग्रहण की दृष्टि से विचार करते हुए तो 'रससिद्धान्त' में उन्होंने अपने साहित्यिक चिन्तन की प्रस्थान भूमि भिन्न करते हुए स्पष्ट स्वीकार किया है कि काव्यानन्द आत्मानन्द नहीं है। यदि हम आनन्द के विभिन्न रूपों और स्तरों में भेद करते हैं, तब फिर काव्यानन्द को अत्यन्त उदात्त और अवदात अनुभव मानने पर भी आत्मानन्द रूप नहीं माना जा सकता। इसीलिए तो काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता एवं तीव्रता (ऐन्द्रियता एवं कटुता) नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती और इसीलिए वह पहले से अधिक शुद्ध, परिष्कृत तथा दूसरी से अधिक सरस होती है। निष्कर्ष यह कि काव्यानुभूति अपने सर्जनात्मक और ग्रहणात्मक दोनों स्तरों पर आनन्दात्मक होती है पर उद्भव में अभाव की पीड़ा भी रहती है, जबकि डॉ. नगेन्द्र ग्रहण में उसे अनिवार्य रूप से आनन्दमय ही मानते हैं और ऐसा होने में रिचार्ड्स की मान्यताओं का सहारा लेते हुए उसे systematization of impulses के रूप में निरूपित करते हैं। भावन या contemplation का यहाँ उपयोग होता है, फलतः मनोवेगों में सन्तुलन आता है। काव्यानुभूति का यही स्वरूप है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी शुक्लजी के अनन्तर किन्तु आचार्य वाजपेयी तथा डॉ. नगेन्द्र के साथ हिन्दी साहित्य में अपना एक विशिष्ट साहित्यिक प्रस्थान निर्मित कर रहे थे। द्विवेदीजी के चिन्तन के मूल में संस्कृत-पालि-प्राकृत तथा अपभ्रंश और अवहट्ठ का विशाल वाङ्मय पृष्ठभूमि का कार्य कर रहा था। इस विशाल वाङ्मयाम्बुधि का अगस्त्य की भाँति पान किया था, उसमें निहित भारतीय चिन्तन को आत्मसात् किया था। इसीलिए उनके चिन्तन में जहाँ एक ओर सांस्कृतिक सुगन्ध है, वहीं दूसरी ओर ऐतिहासिक चेतना भी। इन दोनों पाथेयों के साथ अपनी चिन्तनयात्रा को विश्वसनीय बनाने के लिए समाजशास्त्रीय पद्धति भी अपनाते थे। विभिन्न युगों की सामाजिक चेतना के साथ सांस्कृतिक और ऐतिहासिक चेतना का तालमेल बिठाते हुए अपनी सारस्वत यात्रा द्विवेदीजी ने सम्पन्न की है। शोध के क्षेत्र की उनकी स्थापनाओं में ये सभी तत्व मिलेंगे। चाहे 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' लें या 'आदिकाल', 'सूरसाहित्य' लें, 'मध्यकालीन धर्मसाधना' अथवा 'मध्यकालीन युगबोध' आदि---सर्वत्र मन्थन-लब्ध स्थापनाओं के रत्नों में सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय दीप्तियाँ झरती हुई लक्षित होंगी।

द्विवेदीजी शोधी ही नहीं, आलोचक और सर्जक भी हैं। आलोचना सैद्धान्तिक भी है और व्यावहारिक भी। ये तीनों रूप एक दूसरे को हस्तावलम्बन देते हैं। डॉ. नगेन्द्र अन्ततः शोध और आलोचना को पृथक् नहीं मानते। खासकर साहित्य-शोध और आलोचना के उपकरण और चरम परिणति को वे एक ही कर देते हैं, आरम्भ में शोध और आलोचना भले पृथक् लगे, परिणति में वे पृथक् नहीं मानते। उनके अनुसार तथ्यान्वेषण शोध का लक्ष्य है और तत्त्वान्वेषण साहित्यालोचन का, पर अन्ततः काव्यक्षेत्र का अनुसन्धान तत्वबोध (सौन्दर्यबोध) में पर्यवसित नहीं होता तो वह काव्यक्षेत्र का अनुसन्धान नहीं है। जैसे भारतीय साहित्याचार्यों ने काव्य और काव्यशास्त्र का प्रयोजन एक ही माना है, उसी वृत्ति को आगे बढ़ाते हुए डॉ. नगेन्द्र ने काव्यशोध को भी काव्य की बृहत्तम परिधि के भीतर ही रखना चाहा है। उनकी दृष्टि में जो उपकरण साहित्यालोचन के लिए अन्तरंग हैं, वे ही शोध के लिए भी। जैसे तथ्यसंग्रह, तदाधृत विचार और विचारों की प्रतीत्यात्मक परिणति। तथ्य से विचार की ओर बढ़ने में **भावन** और विचार से प्रतीति की ओर बढ़ने में **दर्शन** आवश्यक है। डॉ. नगेन्द्र आलोचन को सृजनात्मक भी मानते हैं, अतः शोध, आलोचन, सर्जन ---तीनों काव्य के क्षेत्र में सर्वथा एक न भी हों, तो भी एक लक्ष्य से प्रस्थित होने के कारण परस्परावलम्बी अवश्य हैं। थोड़ी देर के लिए डॉ. नगेन्द्र के निर्दिष्ट रास्ते से बढ़ा जाय तो द्विवेदीजी के तीनों रूपों को परस्परा-वलम्बी माना जा सकता है, अतः एक अपेक्षणीय है और दूसरा उपेक्षणीय या कमजोर, यह ठीक नहीं। यह ठीक है कि उनका सर्जक रूप जो निबन्ध और उपन्यासों में दीप्त और उद्ग्रीव है, नितान्त मनोहर तथा हिन्दी जगत् में पथप्रदर्शक बन गया है, पर इसका अर्थ यह कैसे कि 'लालित्य शास्त्र' या 'हिन्दी साहित्य की

भूमिका' कमजोर है या कि उस क्षेत्र में उन्हें काम नहीं करना चाहिए। एक पर हाथ साधना दूसरे को समृद्ध करना है। यों स्पष्ट है कि यह सबकुछ मनुष्य को समझने के लिए ही उनका सारा प्रयास है। उनकी धारणा है कि मनुष्य सृष्टि का सर्वोच्च प्राणी है और काव्य उसकी सर्वोच्च सृष्टि। इसके साथ ही वे यह भी मानते हैं कि जहाँ मनुष्य की सर्वोच्च सृष्टि काव्य है वहीं काव्य का लक्ष्य भी मनुष्य है। उनकी दृष्टि में वह काव्य काव्य नहीं है जो मनुष्य में निहित प्रयोजनातीत सम्भावनाओं को उपलब्धि का रूप देने में साधन न बन सके। वैसे तो काव्य का भी कुछ प्रयोजन है, पर वह भौतिक प्रयोजन—आहार, निद्रा, भय, मैथुन-जैसे पशु-सुलभ प्रयोजनों से ऊपर है। इसी अर्थ में काव्य का प्रयोजन (पशु-सामान्य) प्रयोजनों से अतीत है। निश्चय ही इस स्वर में सोचनेवाले पण्डित को, जो काव्य का लक्ष्य संस्कृति या मानवमात्र के अविरोधी धर्म मानवता के घटक उपकरणों (प्रेम, दया, उपकार, करुणा, सहानुभूति आदि) को मानता है—सांस्कृतिक या मानवतावादी आलोचक कहा जायेगा। वह रवीन्द्र और अरविन्द की स्थापनाओं में आस्थावान् है। चेतना को चरमतत्व मानता है और समस्त सृष्टि को चरमतत्व में निहित अनन्तानन्त सम्भावनाओं का मूर्त रूप मानता है। सृष्टि को चेतना की जययात्रा मानता है। विजय अधःकर्षक शक्तियों पर, जड़ता पर। जड़ता एवं अधःकर्षक शक्तियों पर विजय प्राप्त करती हुई चेतना की महायात्रा मानव-स्तर तक हो चुकी है और क्या पता यह यात्रा मानव-गत अपूर्णता को भी जीतकर शान्त हो। आचार्य द्विवेदी, कवीन्द्र रवीन्द्र की 'यूनीवर्सल मैन' वाली कल्पना में आस्था रखते हैं और भारतीय आगमों में निहित तत्वचिन्तन के आलोक में उसे संगत ठहराते हैं। इन तमाम-तमाम, प्राचीन-आधुनिक, ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों को आत्मसात कर उनकी सर्जनात्मक कल्पना काव्यसृष्टि के लिए अग्रसर होती है।

इस प्रकार जिस दृष्टि को ग्रहण कर आचार्य द्विवेदी साहित्यमन्थन या सर्जन के लिए प्रस्थित हुए, स्पष्ट ही वह शुक्लजी और डॉ. नगेन्द्र से इस माने में भिन्न है कि द्विवेदीजी अपने चिद्वादी पक्ष को कहीं छोड़ते नहीं। वे मानते हैं कि ज्ञात-ज्ञेयात्मक भाव सृष्टि है, चेतना का ही प्रकाशन है और चेतना का सर्वोच्च विकास मानव या मनुष्य सृष्टि के रूप में हुआ है। अतः मनुष्य की ज्ञान-विज्ञान के रूप में जो चेष्टा है, वह सबकी सब उसे समझने में सहायक होती है। इसीलिए द्विवेदीजी का प्रस्थान सर्वग्राही है, शुद्धतावादियों की भाँति त्यागी नहीं है। आदिकाल को समझने में शुक्लजी साम्प्रदायिक साहित्य का त्याग करते हैं, द्विवेदीजी उसका भी उपयोग करते हैं। लेकिन ऐसा करते हुए वे आत्मवाद के अतिवाद से बचते हैं—सन्तुलित रहते हैं, इसीलिए उनमें चिन्तन की वह विकृति नहीं आती, जिसके आने की सम्भावना से लोग आत्मवाद को एक किनारे रख देते हैं। आत्मवाद में आचार्य वाजपेयी की आस्था है, पर भारतीय चेतना जिस भारतीय (विविध भाषाबद्ध) साहित्य के साक्ष्य पर ठीक-ठीक पकड़ी जा सकती है और उसकी ऐतिहासिक परिणति का साक्षात्कार किया जा सकता है—वह सबकुछ वाजपेयीजी के पास

नहीं था। शुक्लजी युगीन परिस्थितियों का साहित्य-प्रतिबिम्बत चित्तवृत्ति के साथ कार्य-कारण भाव निरूपित करते हैं, द्विवेदीजी इतना ही पर्याप्त नहीं समझते। वे परिस्थितियों और जनता की चित्तवृत्तियों के बिम्ब-प्रतिबिम्बन के कार्य-कारणभाव निरूपण के साथ-साथ यह भी देखना चाहते हैं कि समाज-प्रवाह के माध्यम से विकसित सांस्कृतिक चेतना अपने ऐतिहासिक क्रम में कैसी है ? इसीलिए जहाँ शुक्लजी 'भक्तिभाव' को तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मात्र कहकर रुक जाते हैं— वहाँ सांस्कृतिक चेतना के ऐतिहासिक क्रमविकास को दृष्टिगत कर द्विवेदीजी मानते हैं कि मध्यकालीन भक्ति का स्वरूप जो अपने क्रम में विकसित हो रहा था, यदि मुसलमान न भी आये होते तो भी बारह आने वह वैसा ही होता।

पुरातन चिद्‌वाद की यह अति थी कि वह व्यक्ति मंगल की, वह भी परलोक में मिलने की बात करता था, फलतः समाज और राष्ट्र का बहिरंग उपेक्षित हो रहा था। आधुनिक चिन्तकों और साहित्यिकों ने इसे लक्षित किया और प्रयास किया कि विकास सन्तुलित हो। अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही पक्ष समुन्नत हों। आन्तरिक विकास की परिणति बाह्य जीवन से विच्छिन्न न हो। बहिरन्तर, दोनों ही विकसित रूप में पूर्णता की ओर विकसित हों। मंगल परलोक तक ही सीमित न रहे, इहलोक में भी वह उतरे। वर्तमान की कुरूपता और अनुध्यात शोभनता में जो व्यवधान सर्जक अनुभव करता है, उसको भरने की व्याकुलता प्राचीन साहित्यकार में भी थी, पर इस व्यवधान को इसी धरती पर दूर करने का संकल्प आधुनिक युग की एक खास विशेषता है। मार्क्सवाद भी यह संकल्प लेकर चलता है और आत्मवाद भी, आचार्य द्विवेदी आत्मवाद का पक्ष लेकर आधुनिक चेतना को मूर्त होते देखना चाहते हैं। वे साहित्य में उस 'यथार्थ' के चित्रण के पक्षधर नहीं हैं जो पाशव रूप को उरेहता है, वरन् उस रूप को महत्त्व देते हैं, जिससे मनुष्यता उद्दीप्त होती हो। साहित्य को इस अर्थ में वे भी साधन मानते हैं कि वर्तमान की कुरूपता हटाकर वह कुरूप समाज को बदल डाले, या समाज की कुरूपता को उच्छिन्न कर डाले, बहिरन्तर के व्यवधान को, वर्तमान और काम्य की खाई को पाट डाले, लेकिन इसके लिए वे जड़वादी दर्शन को मान्यता नहीं देते। इसीलिए वे रामविलासजी प्रभृति मार्क्सवादी चिन्तकों से भी अलग जा पड़ते हैं। दूसरी ओर व्यक्ति मंगल या समाजमंगल की काष्ठापन्न चरितार्थता धरती पर ही देखने की अदम्य आकांक्षा से पुरातन चिद्‌वादियों से भी पृथक् हो जाते हैं। जो चिद्‌वाद में आस्था नहीं रखते, बुद्धिवाद या ज्ञान-विज्ञान की ही अधुनातन गैर-आत्मवादी स्थापनाओं से सम्पृक्त हैं, उससे पृथक् तो हैं ही। सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण रखने का ही परिणाम है कि सर्जकों की आलोचना करते समय या किसी विशेष धारा अथवा युग का विश्लेषण करते समय काव्यशास्त्रीय सौन्दर्यस्रोतों की ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती। आचार्य शुक्ल, डॉ. नगेन्द्र और आचार्य वाजपेयी की रुझान काव्यशास्त्रीय सौन्दर्यस्रोतों की ओर भी है। वैसे 'सौन्दर्य' का पक्षधर कौन नहीं होगा ? लेकिन दृष्टिभेद होने के कारण द्विवेदीजी

सौन्दर्य को **सामंजस्य** के रूप में रेखांकित करना चाहते हैं। वे अपनी बात को समझाने के लिए मानते हैं कि शक्तित्रिक् (इच्छा, ज्ञान और क्रिया) के सहज योग से विशुद्ध चैतन्य की गोचर जगत् के रूप में अभिव्यक्ति हो रही है, संसार का समस्त आकर्षण, उल्लास, लालित्य और सौन्दर्य इसी चित् की स्वातन्त्र्यात्मा इच्छाशक्ति के अनुकूल स्पन्दन का नाम है। जहाँ विपरीत है, वहाँ इस मूल इच्छात्मक छन्दोधारा का प्रातिकूल्य है। द्विवेदीजी मानते हैं कि पश्चिम के पण्डितों ने व्यक्तिचित्त की इच्छा को सौन्दर्य कहा है, जो सौन्दर्य को व्यक्तिसापेक्ष तत्व की खिड़कियों में खड़ा कर अव्यवस्था और तर्क-वितर्क का कारण बनता है। अतः देश-काल-सापेक्ष और परम्परा-स्वीकृत जनवर्ग विशेष के समष्टिचित्र की इच्छा को, सौन्दर्य मानने के लिए विवश होना पड़ता है। द्विवेदीजी की दृष्टि में, माना कालिदास ने भी व्यक्तिचित्र की इच्छा को ही सौन्दर्य, परन्तु उनकी व्यक्ति-इच्छा समष्टिव्यापिनी इच्छा का ही प्रतिरूप है, विशिष्ट रूप है। समष्टि-इच्छा विश्वव्यापिनी मंगलेच्छा के अनुकूल होने पर ही व्यक्तिगत इच्छा सार्थक होती है। व्यक्तिगत इच्छा उसके प्रतिकूल जाकर कुत्सित हो जाती है। समष्टि-इच्छा चेतन धर्म है—जो बात चेतन धर्म के अनुकूल है, वही सुन्दर है। समष्टिचेतना सर्जनात्मक है, सिसृक्षा है, व्यक्तिगत इच्छा उससे अनुकूल रहकर ही चरितार्थ होती है। जिस इच्छा में अज्ञान है, मोह है, परोत्सादन वृत्ति है, वह पाप इच्छा है। जड़त्व से अभिभूत होती है। **सौन्दर्य** उसमें नहीं रहता। कालिदास की लालित्य योजना के सन्दर्भ में 'सौन्दर्य' की अपनी अवधारणा द्विवेदीजी ने स्पष्ट की है। व्यक्ति-व्यक्ति जितने अंश में विरोधी हैं, वह जड़ता का प्रकाश है और जितने में सामंजस्य—वह चेतना की अभिव्यक्ति है, फलतः समंजस्य का यही सामंजस्य सौन्दर्य है—असामंजस्य असौन्दर्य। समष्टि या समाज का मेरुदण्ड यही सामंजस्य है, इसके अभाव में वह टूटने लगता है, जड़ता हावी हो जाती है, चेतन की अभिव्यक्ति पर। व्यष्टि-व्यष्टि --खण्ड-खण्ड—के भीतर व्याप्त अखण्ड मनुष्यता ही आस्वाद गोचर होकर रस रूप में प्रतीत होती है। द्विवेदीजी इस दृष्टि से साहित्य की सर्जना और मन्थना में प्रवृत्त होते हैं। वे चेतना की जययात्रा के रूप में सबकुछ देखते हैं और मनुष्यता को ही सर्वोच्च सांस्कृतिक उपलब्धि के रूप में देखते हैं।

शब्द-ब्रह्म के सिद्ध भाष्यकार आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

पूर्वजों का अपनी सन्तति पर बड़ा ऋण होता है, अतः पूर्वज उत्तमर्ण हैं और सन्तति अधमर्ण। वह सन्तति कृतघ्न है, जो इस ऋण को नहीं स्वीकारती। केवल स्वीकार करने से ही क्या होता है, उसकी परिणति की व्याप्ति 'प्रदेय' बोध और उसके मूल्यांकन तक जानी ही चाहिए ताकि सन्तति 'प्रदेय' का 'अवदान' की सन्तति को गत्यात्मक रखकर अन्वर्थनामा हो सके, अपने को सार्थक कर सके। कुछ ऐसी ही सात्विक भावना से प्रेरित होकर हम सब ऐसे प्रयत्नों में प्रवृत्त होते हैं—रामबहादुर राय उपाधि-प्राप्ति के ब्याज से इसी भावना को साकार कर रहे हैं। उनका प्रस्तुत प्रयास पुनीत है, फलतः साधुवाद का भाजन है।

डॉ. राय का संकल्प है कि आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के आलोचनात्मक अवदान का आकलन किया जाय और उनका वैशिष्ट्य स्पष्ट किया जाय। वे जानते हैं कि पण्डितजी कभी सर्जक भी रहे हैं, पर उनका आलोचक रूप उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और सर्वथा उल्लेख्य है, फलतः सर्जक-पक्ष का सामान्यतः संकेत करते हुए भी उन्होंने अपने प्रयास को उनके आलोचक रूप पर ही केन्द्रित किया है। साहित्य के क्षेत्र में 'आलोचन' की व्याप्ति अब 'पाठ' से लेकर उसके मूल में निहित सर्जनात्मक अनुभूति के विश्लेषणात्मक पुनराख्यान तक है। पण्डितजी की आलोचन-यात्रा 'पाठ' से 'पुनराख्यान' तक प्रसृत है। पुनराख्यान जिस सृजनात्मक अनुभूति का होता है 'शैली-वैज्ञानिकों' और 'नये समीक्षकों' का अभिमत है कि उसका अनावरण-प्रकाशन 'शब्द' के ही सहारे होना चाहिए, तभी आलोचन की तटस्थता का सम्यक् और साहित्यिक निर्वाह हो सकता है। इनकी दृष्टि में भाषा काव्य का माध्यम नहीं, वही है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य की जितनी परिभाषाएँ की हैं—सभी 'शब्द' अर्थात् 'शब्दार्थ' गर्भ हैं। आनन्दवर्द्धन ने भी कहा है—

> उक्त्यंतरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
> शब्दो व्यंजकतां विभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत्।

'चारुता' काव्य का अन्तस्तत्व है—उस अन्तस्तत्व का प्रकाशन अन्वय-व्यतिरेक प्रमाणित जिस 'शब्द' से हो, वही 'शब्द' 'ध्वनि' कहा जाता है—ध्वनिकाव्य या प्रशस्त काव्य कहा जाता है। काव्य में सटीक शब्द का प्रयोग होना चाहिए—उसकी

जगह कोई भी दूसरा शब्द न हो सके। कुन्तक ने ऐसे ही 'शब्द' को 'वक्र' शब्द कहा है और उसे ही काव्य माना है। सामान्यभाषा से काव्यभाषा को चारुत्व प्रकाशनोपयोगी शब्दगत वक्रता या सटीकता ही व्यावृत्त करती है। अतः 'सर्जक' और 'आलोचक'—दोनों को शब्द-साधना करनी पड़ती है। महाकवि की पहचान ही बतायी गयी है कि उसके द्वारा प्रयुक्त 'शब्द' और 'अर्थ' यत्नपूर्वक प्रत्यभिज्ञेय होते हैं—पुनः-पुनः अनुसन्धान या 'भावन' की अपेक्षा करते हैं। शब्दसाधना शब्द-ब्रह्म की साधना है। कवि और भावक दोनों को शब्दब्रह्म का मर्मी साधक होना आवश्यक है। आचार्य मिश्र शब्दब्रह्म के मर्मीसिद्ध हैं। कवि के मूल आशय तक केवल 'शब्द' की डोर पकड़कर किस तरह तह तक उतरा जा सकता है—'घनानन्दभाष्येन्दुशेखरः' इसका ज्वलन्त साक्षी है—दिवंगत चन्द्रशेखरजी के इस प्रयास के उद्गम आचार्य मिश्र ही हैं। मैंने लेखन और अध्यापन उभयत्र देखा है कि जिस तरह वे शब्दों को छेड़ते हुए, सर्जक के मूल आशय तक पहुँचते हैं। अपनी इस पद्धति और प्रयास में वे अद्वितीय और अप्रतिम हैं और यही विश्वनाथप्रसाद मिश्र हैं—जहाँ वे हिन्दी के आचार्यों के प्रति अकेले चट्टान की तरह तनकर खड़े हैं। उनकी इसी विशेषता को लक्षित कर बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने उनसे किसी एक ही पद की एक घण्टे तक अभूतपूर्व व्याख्या का समारोह आयोजित किया था। पण्डितजी 'मानस' की शब्दानुधाविनी व्याख्या सम्प्रति सम्पन्न कर रहे हैं। लोग कहते हैं कि अकेले 'शब्द' क्या कर सकता है? जब तक आलोचक सर्जक के व्यक्तित्व घटक 'अनुवंश' और 'परिवेश' को नहीं जानेगा, जब तक मनोविज्ञान की सहायता से सर्जक के मनोजगत की बारीकियों का ज्ञान नहीं होगा, जब तक समाजशास्त्रीय बोध के आलोक में उसके परिवेश का अवगमन नहीं होगा, जब तक नीतिशास्त्रीय ज्ञानालोक में उसके आचरण की सम्यक् अवगति न हो, जब तक उससे जुड़े सांस्कृतिक प्रवाह के घटक दार्शनिक विचारधारा आदि का भावबोध न हो, आदि-आदि। इन तमाम सन्दर्भ-घटक-ज्ञान-वैविध्य से निरपेक्ष होकर केवल 'शब्द' के सहारे आलोचक क्या कर सकता है, भावक कैसे नीचे उतर सकता है? सवाल यह खड़ा होता है कि इन सबके आलोक में 'शब्द' को सक्रिय होना चाहिए अथवा 'शब्द' से ही रगड़ करें और उसी से ज्ञान के विविध स्फुलिंग विकीर्ण हों? भारतीय परम्परा, जो शब्द के सहारे व्याख्यात्मक आलोचना की रही है, शैलीविज्ञान और नयी समीक्षा के तर्कों से समर्थित है—'शब्द' को ही 'सर्वब्रह्म' मानकर उसी की साधना करती है और उसी की आराधना से सभी अपेक्षित ज्ञानवैविध्य फूट पड़ते हैं। आचार्य मिश्र इसी भारतीय परम्परा के शब्द-साधक हैं।

हिन्दीसाहित्य का मध्यकाल शब्दसिद्धों का आत्मप्रकाश है और आचार्यजी उसी काल के जहाज हैं—यों बड़े अखाड़े का सिद्ध, किसी अखाड़े में जा सकता है और अपने प्रातिभ सामर्थ्य का अप्रतिम चमत्कार दिखा सकता है। आचार्यजी तुलसी, घनानन्द, प्रसाद और अज्ञेय की काव्य-पंक्तियों का विश्लेषण केवल 'शब्द' के सहारे एक तरह कर सकते हैं—'प्रसाद' की पंक्तियों की व्याख्या तो कम-से-कम

मैंने सुनी है। जिसने यह चमत्कार और क्षमता देखी नहीं, वह शब्द-सामर्थ्य का अन्दाज नहीं लगा सकता। एक शब्द न जाने कितने ज्ञात-अज्ञात सन्दर्भों का वहन करता है, यह उसका साधक ही जानता है। शब्द से होकर अर्थ और प्रत्यय की ओर जाना स्वाभाविक मार्ग है। सच्चा आलोचक यही रास्ता पकड़ता है। अपने शब्द विषयक अज्ञान को छिपानेवाला आलोचक ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के चाकचिक्य फैलाता है और 'शब्द' से सीधे बँधी हुई 'सर्जनात्मक' अनुभूति तक तटस्थ ढंग से तादात्म्यापन्न होकर नहीं पहुँच सकता। ताटस्थ्य और तादात्म्य, दोनों? सो कैसे? स्वभाव और सहज के बाहर कुछ नहीं है। आलोचक एक तरफ 'परकाय' नहीं, 'परान्तः' प्रवेश करके **तादात्म्यापन्न** होता है और दूसरी ओर 'शब्द' में ब्रह्म का साक्षात्कार कर **तटस्थ ढंग** से स्वतः उन्मीलित होनेवाली अनवग्राह्य अर्थ---रत्नराशि का अनावरण करता चला जाता है। या यह कहें कि उससे अनावरण होता चला जाता है, आलोचक माध्यम भर रह जाता है। लोग समझते हैं कि महाशक्ति के प्रति समर्पित कवि ही माध्यम होता है, नहीं; पहुँचा हुआ शब्द साधक भी माध्यम बन जाता है, आलोचन के सन्दर्भ में, तभी वह अनायास भीतर से परत-दर-परत आविष्ट-सा लगता हुआ आशय खोलता चला जाता है। पण्डितजी जब कभी महा-प्राण होते हैं, तब इस आविष्ट दशा का साक्षात्कार किया जा सकता है। यह दशा कभी-कभी आती है। तभी दशरूपककार ने कहा—

> कस्यचिदेव कदाचिद्दया विषयं सरस्वती विदुषः।
> घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम्॥

कहा तो सर्जक के लिए है, पर भावक पर भी इसे संचरित किया जा सकता है। किसी-किसी को और वह भी कभी-कभी सरस्वती कुछ ऐसा सुझा देती है कि वह 'विदग्ध' पदवी प्राप्त कर लेता है—साधक भावक के लिए वाग्रूपा सरस्वती वह कामधेनु है जो स्नेह से द्रवित होकर स्वयं प्रस्तुत हो जाती है। कहा है—

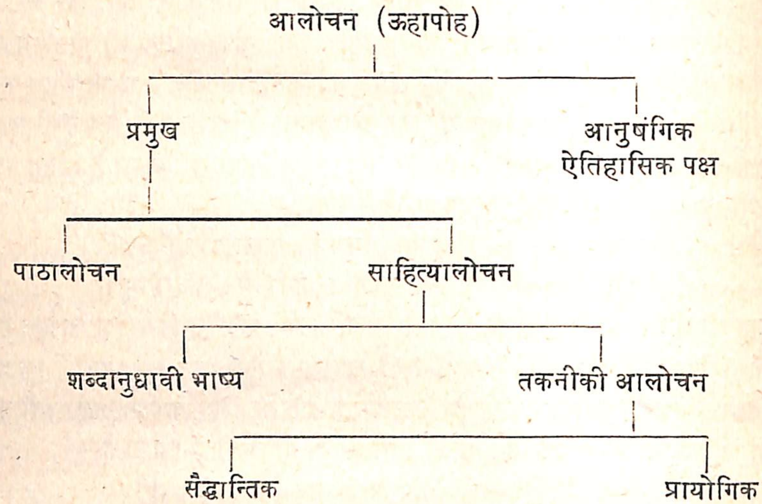
> वाग्धेनुर्दुग्धएतं हि रसं यद् वात्सतृष्णया।
> तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हियः॥

पण्डितजी ने अपनी साधना से वाग्धेनु को द्रवित कर लिया है। तभी वह अपना 'रस' उन्हें उँड़ेल देती है। एक बार की घटना है, हम लोग साहित्यरत्न की कक्षा में 'रस' पर पं. प्रद्युम्न मिश्र से कुछ सुन रहे थे—वे भी अध्यापन में कुछ आविष्ट-से हो गये थे। बगल में गली पार एक मकान था। उसमें बैठे सज्जन वह अध्यापन सुन रहे थे। विस्मित होकर अध्यापन कक्ष में आ गये और कहा---"मुझे तो लगा जैसे विश्वनाथप्रसाद मिश्र बोल रहे हैं---वे यहाँ कैसे? सो, उत्सुकतावश प्रभावित होकर चला आया।" हम लोगों ने यह तो नहीं पूछा कि वे कौन थे, पर निश्चय ही वे उन लोगों में थे जिन्होंने पण्डितजी की आलोचना सुनी थी।

पण्डितजी अपने आलोचन में कभी-कभी आविष्ट भी हो जाते हैं, पर अधिकांश अनाविष्ट। उनकी अनाविष्ट दशा निवातनिष्कम्प दीपशिखा की-सी होती है। यह भी समाधि ही है। घनानन्द की व्याख्या भी सुनी है और घनानन्द की आलोचना

भी सुनी है। आविष्ट भी। अनाविष्ट भी। सहजता और स्वाभाविकता, उभयत्र मिली—गाम्भीर्य उभयत्र निरवधि।

आलोचन 'पाठ' का भी, आलोचन 'पाठ' में निहित 'आशय' का भी। आशय का शब्दानुधावी आलोचन भी होता है, जिसे हम व्याख्या या पुरानी शब्दावली में 'टीका' कह लें, मूर्धास्थित 'तिलक'। इस आलोचन को टेकनिकल बनाने में सैद्धान्तिक प्रतिमानों को प्रयोग किया जाता है—पण्डितजी ने सैद्धान्तिक और तकनीकी समीक्षा भी की है। पहले का उदाहरण घनानन्द भाष्येन्दुशेखर का निर्देशन है और दूसरे का 'बिहारी'। उनके आलोचन का एक चौथा पक्ष भी है, जिसे सैद्धान्तिक समीक्षा कहते हैं। आलोचन के इस क्रम में उन्हें ऐतिहासिक संगतियाँ भी ढूँढ़नी पड़ी हैं, टूटी शृंखलाएँ जोड़नी पड़ी हैं, व्यामोह भंग करना पड़ा है—'हिन्दी साहित्य का अतीत' में वह सब सुरक्षित है। इस प्रकार उनका 'आलोचन' वाङ्मय यों है—



पाठालोचन

आलोचक सर्जक के मूल आशय का साक्षात्कार करता है, उसे दूसरों तक पहुँचाने का प्रयास करता है, उसमें निहित चारुता का तकनीकी विश्लेषण भी करता है, पर यह सब तभी सम्भव है जब 'पाठ' ठीक हो। सुनते हैं कि आयुर्वेद के धुरन्धर विद्वान धर्मदासजी केवल यही बताते थे कि कहाँ क्या 'पाठ' ठीक है। अब तो इसका एक व्यवस्थित विज्ञान भी बन गया है। इस दिशा में पण्डितजी ने अथक श्रम किया है, कुछ प्रकाशित है और उससे अधिक अप्रकाशित।

पण्डितजी पाठालोचन की साहित्यिक पद्धति को वैज्ञानिक पद्धति से महत्त्वपूर्ण मानते हैं। पर महत्त्वपूर्ण मानने का यह आशय भी नहीं है कि वे वैज्ञानिक पद्धति की उपेक्षा करते हैं। नहीं, वे पाठालोचन के लिए केवल वैज्ञानिक पद्धति को अपर्याप्त मानते हैं और साहित्यिक पद्धति के साथ समन्वय को श्रेयस्कर मानते

हैं। उन्होंने अपना पक्ष रखते हुए कहा है—"वैज्ञानिक पद्धति पाठशोध के सम्बन्ध में प्रायः सामान्य नियमों की जाँच और आँकड़े-भर उपस्थित करती है। कहा यह अवश्य जाता है कि पाठशोधक अर्थ पर भी विचार करके पाठनिर्णय करे, किन्तु देखा यह जाता है कि परम्परा का बोध ठीक से न होने से, यह पद्धति अनर्थक पाठों का प्रायः संचय कर लेती है।···वैज्ञानिक प्रक्रिया भारतीय दार्शनिक दृष्टि से विज्ञान होने से जड़ है, साहित्यिक प्रक्रिया दर्शन होने से चेतन है। मूलग्रन्थ के लेखक होने से लेकर सम्पादक तक सभी चेतन प्राणी होते हैं, अतः चेतन का प्रयास सर्वत्र नियत नहीं होता।" इसके साथ-साथ मिश्रजी ने साहित्यिक सरणि में भी सम्भावित प्रमाद पर विचार किया है और कहा है—"साहित्यिक सरणि में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें कोई सूझ अपने ढंग की हो गयी, कवि या कर्ता की पद्धति पर न हो सकी, तो वह कुछ-की-कुछ हो जायेगी--गणेश के स्थान पर वानर हो जायेगा।" इस प्रमाद से बचने का रास्ता यह है कि इस आलोचन में भी वह कवि के अन्तः में प्रवेश कर तादात्म्यापन्न हो जाय। आचार्यजी इसके लिए परम्परा का बोध आवश्यक मानते हैं। वैज्ञानिक पद्धति तटस्थता का आग्रह करती है। ठीक भी है अन्यथा 'गणेश' की जगह अपनी बुद्धि का प्रयोग करने से 'वानर' बन सकता है। वह आँकड़े प्रस्तुत कर तटस्थ ढंग से निष्कर्ष ग्रहण कर लेती है। यद्यपि वह भी पाठचयन या संशोधन में 'लेखानुसंगति' तथा 'विषयानुसंगति' की बात कहकर बौद्धिक हस्तक्षेप स्वीकार करती है—और यही चेतन प्रक्रिया है—क्वाचित्क 'अनैयत्य' को पकड़ने की पद्धति है, तथापि 'गणेश' को जब 'गणेश' ही बने रहने की बात उठती है—तब साहित्यिक साधना और परम्परा-बोध ही काम देते हैं। इस प्रमाद से बचने का एक ही रास्ता है और वह है, कवि या मूल लेखक से तादात्म्य-बोध। इसीलिए पण्डितजी की साहित्यिक पद्धति और प्रक्रिया को अनदेखा नहीं किया जा सकता। उन्होंने तर्क दिये कि समान स्रोत से प्राप्त दो पाठों में से किसे ग्रहण किया जाय? यहाँ आँकड़े निर्णायक होंगे या अन्तः प्रविष्ट साधना-सिद्ध साहित्यिक विवेक? 'चले मत्त गज, घण्ट विराजी' वाला उनका दृष्टान्त प्रसिद्ध है ही।

निष्कर्ष यह कि तादात्म्य-ताटस्थ्य-गर्भ आलोचन का शब्द-साधक-रूप 'पाठालोचन' में भी गहरायी से सक्रिय है।

साहित्यालोचन

शब्दानुधावी मूर्धन्य 'तिलक'कार, भारतीय चिन्तकों का पक्ष है—'विचित्राः शब्दशक्तयः'—शब्द की शक्ति विचित्र है—विचित्र तो है ही, अनवगाह्य भी है। शब्द अभिहित, लक्षित तो करता ही है- इंगित भी करता है। यह अवश्य है कि इंगितज्ञ सब नहीं हो सकते। यह सदसद् विवेकनी पण्डा से सम्पन्न लोग ही हो सकते हैं, जो अनभिहित और अलक्षित को भी महसूस कर लेते हैं—

"अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः"

शब्द के उपासकों ने अभिधा और लक्षणा से भी आगे बढ़कर एक शक्ति की खोज की है और वह है 'व्यंजना'। इस शक्ति की अर्थ की दृष्टि से कोई नैयत्य और सीमा नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ ने तो 'व्यक्ति' या 'व्यंजना' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कह दिया —'व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्'—भग्नावरण चित्त ही शब्द की 'व्यक्ति' है। पण्डितजी इस सिद्धान्त में आस्थावान हैं और साधना से उसकी सम्भावनाओं को मूर्त करने में आज भी लगे हुए हैं। इसीलिए उन्हें शब्द पर सर्वाधिक आस्था है। उसी के सहारे रहते हैं—

एक आस विश्वास···

आस्थापूर्वक अपरिमेय शक्ति की उपासना क्या नहीं देती—

करइ तो कहहु, कहा विस्वासा।

शब्द पर उन्हें भरपूर विश्वास है। उनके सामने लोग 'शब्द' के प्रयोग में डरते हैं और वे भी हैं कि बर्दाश्त नहीं कर पाते। अपने आराध्य की टाँग खींची जाय और आराधक चुप रहे, यह हो भी कैसे सकता है। अस्तु। कहना यह है कि सर्जक से भावक की प्रणाली उल्टी है। सर्जक 'अनुभूति' से चलकर 'शब्द' तक आता है और भावक 'शब्द' से चलकर 'अनुभूति' तक पहुँचता है। कवि के ठीक आशय तक पहुँचने के लिए तदन्तः प्रवेश या तादात्म्य आवश्यक है—'गणेश' का साक्षात्कार तभी हो सकता है। आनन्दवर्द्धन कहते हैं—

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थ विमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते॥

जिस सचेतस्क वत्स पर वाग्धेनु प्रीत है, उसकी तत्वार्थदर्शी बुद्धि में 'गणेश' शीघ्र अवभासित हो उठता है, वहाँ 'वानर' की सम्भावना ही नहीं होती। शब्दानुधावी व्याख्या आलोचकों के असामर्थ्यवश लुप्त होती जा रही है, जिसके दो दुष्परिणाम हो रहे हैं, पहला तो यह कि 'गणेश' की जगह 'वानर' भी नहीं मिलता, अर्थात् पंक्ति की व्याख्या ही नहीं हो पाती, दूसरे यह कि इस असामर्थ्य को छिपाने के लिए साहित्येतर ज्ञान-शाखाओं का आवरण डाल दिया जाता है। एक तीसरी अराजकता यह भी फैलती है कि आलोचक का शासन शिथिल हो जाने से सर्जक भी शब्द-साधना में शिथिल हो जाते हैं। दौर्बल्य को ढँकने के लिए तर्क यह देते हैं कि कविता अनुभवसम्वेद्य ही होती है, उसकी व्याख्या सम्भव नहीं। यह ठीक है कि परिणत स्तर पर सर्जक की ओर से 'कविता' में जैसा कुछ 'अनकहा' रह जाता है, उसी प्रकार व्याख्यान के स्तर पर कुछ अव्याख्येय भी रह जाता है, लेकिन असमर्थ लोग इन तर्कों का उपयोग दुरभिसन्धिपूर्वक करते हैं। इस शब्दानुधावी तिलक पद्धति के दुष्कर होने का परिणाम यह होता है कि नये साहित्य के पक्षधर समीक्षकों में से एक भी ऐसा नहीं है जो यह कह सकने का साहस रखता हो कि अज्ञेय, मुक्तिबोध या शमशेर बहादुर की प्रत्येक पंक्ति की व्याख्या वह विश्वसनीय ढंग से कर सकता है। व्याख्येय कवि जिस परम्परा से जुड़ा हो, उस 'परम्परा' का सम्यक्बोध उसकी व्याख्या के लिए अपेक्षित है। बारह वर्ष के अनवरत श्रम का परिणाम है कि जिस

घनानन्द का पंक्तयर्थ आचार्य शुक्ल जैसे मेधावी नहीं कर सके—आचार्य मिश्र ने उसे सफलतापूर्वक विश्वसनीय ढंग से सम्पन्न किया। यद्यपि घनानन्द ने अपने समय की क्षुण्ण परम्परा से हटकर अभिव्यक्ति के क्षेत्र में नये 'प्रयोग' किये थे। हिन्दी की परम्परा से हटकर फारसी साहित्य की अभिव्यक्ति की परम्परा उनमें विद्यमान है—

कृपाकान मधि नैन ज्यों-त्यों पुकार मधि मौन।

फारसी लिपि का असर अभिव्यक्ति में आ गया है। वस्तुतः जिसने 'परम्परा' को ठीक ढंग से आत्मसात् किया है, वही उसमें निहित सम्भावनाओं को मूर्त करने के लिए 'प्रयोग' करता है और उसका 'प्रयोग' अभिव्यक्ति की लोक-क्षुण्ण जड़ता तोड़ता है और भाषा के स्तर पर भी सर्जना करता है। घनानन्द वर्ण्य एवं माध्यम—दोनों स्तर पर सर्जक थे। 'परम्परा' और 'प्रयोग' जुड़कर ही स्वस्थ विकास करते हैं, छिन्न मूल 'प्रयोग' पकड़ में नहीं आते और वे सर्जना को सातत्य में नहीं निभा पाते। 'परम्परा' और 'रूढ़ि' में अन्तर है। रूढ़ि सम्भवताहीन होती है और परम्परा सम्भवता-गर्भ। 'प्रयोग' इसी सम्भावना को विकसित करता है। 'परम्परा' परात् परम है—'परात्परम' का उपासक ही 'प्रयोग' कर भी सकता है और पकड़ भी सकता है। यदि मिश्रजी ने शब्दसाधना के सन्दर्भ में यह सब न किया होता तो 'घनानन्द' शून्यानन्द हो गये होते। उनका नियम है कि जितने भी कवियों के ग्रन्थों या ग्रन्थावली का सम्पादन किया जाय—अर्थावबोधपूर्वक ही किया जाय। 'मानसलहरी' की साहित्यिक व्याख्या इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है। मानसकार के शब्द-प्रयोग और तन्मूलक शब्दसाधना पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में उनका व्याख्यान, जो सम्प्रति मुद्रित होकर लोकभारती से प्रकाशित है, उद्धरणीय है। उसमें उनका वह अथक श्रम जो शब्द से अर्थ तक पहुँचने में होता है, देखने लायक है। गोस्वामीजी किस प्रकार सूक्ष्म अर्थ सम्पन्न पर्यायवाची शब्दों का अर्थ-भेद पूर्वक प्रयोग करते हैं और कैसे सन्दर्भ में उसे प्रयुक्त करते हैं—इसके उदाहरण उस व्याख्यान में भरे पड़े हैं। 'मानस' की भाषा, विशेषकर भरत की भाषा 'दर्पण भाषा' है। जिस प्रकार दर्पणगत प्रतिबिम्ब करगत होकर भी अग्राह्य होता है, उसी प्रकार—

"गहि न जाय अस अद्भुत बानी"

पण्डितजी की शब्दसाधना है कि वे गह लेते हैं। लोगों ने भी 'वर्णानामर्थसन्धानां रसानां छन्दसामपि' की व्याख्या की है और पण्डितजी ने भी की है—अन्तर स्पष्ट है। सामान्यतः वर्ण, अर्थसन्ध, रस, छन्द तथा मंगल का अर्थ किया है—पर पण्डितजी ने शब्दों में विद्यमान उत्तरोत्तर अर्थगत उत्कर्ष का जैसा अनुसन्धान 'यत्नतः प्रत्यभिज्ञा' पूर्वक किया है—वह उन्हीं की तपस्या है। वर्ण से अर्थ का, अर्थ से रस का महत्त्व ग्राहक की दृष्टि से काव्य में उत्कृष्ट है—पर 'रस' की अपेक्षा 'छन्द' गत क्या उत्कर्ष है? जो 'यत्नतः प्रत्यभिज्ञा' प्रयत्नपूर्वक पुनः-पुनः अनुसन्धान नहीं करेगा वह तुलसी की अपरोक्षानुभूति नहीं कर सकता। अपरोक्षानुभूति के लिए श्रवण, पठन-मनन के बाद निदिध्यासन की भी अपेक्षा होती है। एक साहित्यिक

शब्दमर्मज्ञ के लिए ही पतत्प्रकर्षत्व से बचने-बचाने की चिन्ता हो सकती है। मध्य-कालीन साहित्यिक की समझ अब क्वाचित्क होती जा रही है। उसके लिए व्याकरण, तत्कालीन सन्दर्भ और सन्दर्भ-सन्दष्ट अर्थ की अपेक्षा है, जो अब दुर्लभ होती जा रही है। रीतिकाल पर काम करनेवाली बड़ी-बड़ी अहम्मन्य प्रतिभाएँ भी पंक्त्यर्थ के बीहड़ वन की दुखगम्यता देखकर किनारे से ही लौट आयी हैं। आज का हिन्दी जगत् तो उसे 'हिन्दी साहित्य' से काटकर अलग करना चाहता है। वास्तव में इस सबके मूल में अनुरूप शब्द-साधना का अभाव ही है। इसके लिए अनेक कोणों से शब्द को देखना और पहचानना पड़ता है। तिलक-पद्धति की आलोचना का यह जहाज अप्रतिम है।

प्रातिमानिक प्रायोगिक आलोचन

तिलकात्मक आलोचन के अतिरिक्त आलोचन की अन्य प्रणालियाँ भी प्रचलित हैं—निर्णयात्मक, प्रभावात्मक, तुलनात्मक। अब तो विज्ञान और समाजशास्त्र की निष्पत्तियों पर आधारित आलोचनाएँ भी होती हैं। आजकल शैली-वैज्ञानिक आलोचना भी खूब जोर पकड़ रही है। पण्डितजी ने तिलकेतर आलोचना भी की है पर आधार तिलक-प्राप्त आलोच्य सर्जक की उपलब्धियाँ रही हैं। वे तिलक की मथानी से आलोच्य का मन्थन करते हैं, उनके अपने निष्कर्ष होते हैं और उसी से आत्मविश्वस्त होकर तकनीकी आलोचन की ओर बढ़ते हैं। वे प्रभावात्मक आलोचना नहीं करते, प्रतिमानों और ढाँचों को ध्यान में रखकर वस्तुमुखी आलोचना करते हैं। मैं मानता हूँ कि रचनागत सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कार-पूर्वक किया गया सर्जनात्मक तथा विश्लेषणात्मक पुनराख्यान ही आलोचना है। सामान्यतः समझा जाता है कि आलोचना या समीक्षा आलोच्य कृति का सम्यक् ईक्षण है—बुद्धिपूर्वक ग्रहण है, बुद्धिपूर्वक ग्रहण ही नहीं, ग्रहण करना भी है। ग्रहण करना और कराना ही नहीं, उसकी त्रुटियों, सीमाओं, सम्भावनाओं और उपलब्धियों का निरूपण भी है। यह निरूपण निराधार होने की जगह साधार हो तो उचित हो। अतः तदर्थ आचार्यों द्वारा निर्धारित प्रतिमान से आलोचक अपनी बुद्धि का परिष्कार करता है। इस परिष्कृत बुद्धि से वह कृति का मन्थन करता है और गुण-दोष निरूपण करता है—चारुता का आख्यान करता है। कुछ लोगों का कहना है कि रचना चारु होती है और चारुता में बासीपन नहीं होता, वह **नवनवायमान** होती है। प्रतिमान किसी अन्य प्रतिमेय से निकाले गये होते हैं, फिर अन्य प्रतिमेय से निकाले गये प्रतिमान प्रतिमेयान्तर्गत चारुता, जो कि अभूतपूर्व है, का निकष कैसे बन सकता है। फलतः हर नयी रचना की चारुता के अपने प्रतिमान होंगे, जो उसी से निकलेंगे। ऐसी स्थिति में पुरातन शास्त्रीय प्रतिमानों की आलोचना में कोई उपयोगिता नहीं है। फलतः आलोचन में शास्त्रीय प्रतिमानों का प्रयोग ही निरर्थक नहीं है, प्रत्युत् मूल्यांकन और गुण-दोष का निर्णय भी अयुक्तिसंगत है। मूल्यांकन में उपादेयता निहित है और उपादेयता में आलोचक की विषयीपरकता। इसी

प्रकार गुण-दोष जिन प्रतिमानों पर आधारित हैं, एक तो वे प्रतिमान ही अग्राह्य हैं और जब वे ही अग्राह्य हैं तो उन पर आधारित खरा-खोटा का निर्णय और भी अतर्कसंगत है। अतः सर्वोत्तम है तिलकात्मक व्याख्या या व्याख्यात्मक आलोचना।

पण्डितजी तिलकात्मक आलोचना के जहाज तो हैं ही, प्रतिमानाधृत शास्त्रीय और व्यवस्थित आलोचना के पक्ष में भी उनका कहना है कि सृष्टि में प्रत्येक वृक्ष की पत्ती नयी निकलती है पर महज इतने से ही वह नयी जाति नहीं होती, व्यक्ति हो सकती है। प्रतिमान परिणत काव्यशास्त्र को ध्यान में रखकर निकाले जाते हैं—अतः एक ओर वह परिणत काव्य-जातीय रचना पर लागू हो सकता है और दूसरी ओर अवशिष्ट नवता अपने परीक्षण और आलोचन के लिए आलोचन की सूझ को भी अवसर दे देती है। इसीलिए आचार्यगण कहते हैं—शास्त्रीय नियमों का अन्धानुधावन न तो सर्जक को ही करना चाहिए और न ही आलोचक को। उसे कुछ भी करने से पहले तिलकात्मक आलोचन के माध्यम से रचनाकार की मनःस्थिति—सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कार करना चाहिए और फिर देखना चाहिए कि उसमें ग्राह्य प्रतिमान की सम्भावना है या नहीं? यदि है, तभी उसका उपयोग करे, अन्यथा नहीं। यदि सर्जक की सर्जना, रसात्मक-चित्तवृत्ति का प्रसव हो, तभी रसात्मक प्रतिमान का प्रयोग किया जाय। आलोचन की इस पद्धति के स्वीकार का परिणाम यह होगा कि ऊपर के तर्क-प्रतितर्कों की सम्भावना ही न होगी। जो दृष्ट और अपरोक्षानुभूत है—उसके प्रति तर्क-प्रतितर्क क्या? नैषधकार कहते हैं—"अनुभवं वचसा सखि लुम्पसि?" अनुभव साक्षिक का तर्क क्या बिगाड़ सकता है? प्रातिमानिक तकनीकी समीक्षा खतरनाक उसके लिए है, जिसने तिलकात्मक पद्धति से आलोच्य सर्जक के रचनात्मक मानस का साक्षात्कार नहीं किया, परान्तः प्रवेश नहीं किया, तादात्म्यापन्न नहीं हुआ? जो इस रास्ते चलकर प्रतिमानों का प्रयोग करता है, वह नीम-हकीम की भाँति नश्तर नहीं चलाता, जानकार की भाँति विश्लेषण करता है।

पण्डितजी का प्रमुख क्षेत्र मध्यकाल है, अनुषंगतः अध्यापक के नाते वे आधुनिक रचना-संसार में भी आते-जाते हैं और वहाँ भी उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा सक्रिय होती है, पर आलोचन की व्यवस्थित पद्धति सर्वत्र लक्षित होती है। प्रत्येक सुन्दर रचना व्यवस्थाबद्ध होती है। व्यवस्था और सौन्दर्य का अविनाभाव सम्बन्ध है। पण्डितजी की प्रतिभा उस 'व्यवस्था', 'प्रतिमान' अथवा 'ढाँचे' को पकड़ लेती है और बिन्दु-दर-बिन्दु उसे उघाड़कर रख देती है। इसीलिए इनकी समीक्षा, शास्त्रीय और व्यवस्थित मानी गयी है। पण्डितजी भारतीय काव्यशास्त्र, दर्शन और शब्द-शास्त्र के अभ्यासी हैं—अतः उसी सरणि पर उनकी आलोचना चलती है। 'बिहारी' को ही लें। उसमें रीतिशास्त्रीय सभी प्रतिमानों का प्रयोग है। भारतीय काव्यशास्त्र के साथ-साथ पण्डितजी पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भी प्रभाव है। शुक्लजी का 'प्रभाव' इनकी नस-नस में उतर आया है—अतः उनकी विधेयवादी पद्धति के भी इनमें दर्शन होते हैं। प्रयत्न करते हैं कि तात्कालिक परिस्थितियों और आलोच्य

कृति में कार्य-कारण भाव की संगति दिखायी जाय। 'बिहारी' में वह भी है। मध्य-काल 'प्रेम' का गान, 'श्रृंगार' की अभिव्यक्ति क्यों करता है—बिहारी 'दोहा' और घनानन्द 'कवित्त' जैसे मुक्तक क्यों लिखते हैं ? रीतिकालीन कवि कृष्ण और राधा के ब्याज से लौकिक शृंगार की अभिव्यक्ति क्यों करते हैं—पण्डितजी विधेय-वादियों से प्रभावित शुक्ल-पद्धति का प्रयोग करते हैं और तत्कालीन परिस्थितियों में उसके कारण ढूँढ़ते हैं। कभी-कभी पण्डितजी शुक्लजी के प्रभाव से मुक्त होकर भी बात कह जाते हैं ? तब उनमें अद्‌भुत दीप्ति दिखायी पड़ती है। एक बार विक्रम विश्वविद्यालय की हिन्दी अध्ययनशाला में ''सूरवल्लभपंचशती' पर भाषण देते हुए कह गये कि तुलसी से सूर और सूर से कबीर अधिक मौलिक हैं। पर जब वे सूर साहित्य में वात्सल्य ही सर्वोपरि कहते हैं तब शुक्लजी का मर्यादावाद या शुद्धतावाद हावी हो जाता है। घनानन्द पर उन्होंने कम लिखा, पर कक्षाओं में उससे अधिक धारावाहिक मन्तव्य प्रकाशित किया है। उससे लगता है कि घनानन्द की समीक्षा के लिए घनानन्द की रचनाओं से ही प्रतिमान निकालकर उपस्थापना और विश्लेषणा की है। प्रशस्तिकार ब्रजनाथ द्वारा निर्दिष्ट प्रतिमानों का सहारा लिया है। नाद-चित्र और अर्थचित्र के धनी पद्‌माकर की समीक्षा में पुनः शास्त्रीय प्रतिमान आ गये हैं। मुझे स्मरण है और मेरे पास नोट भी है—श्री रामदास के पास पण्डितजी की 'प्रसाद' पर अपनी आलोचनात्मक धारणाएँ लिखित थीं। उसमें प्रसाद को समझने के लिए नूतन-पुरातन दार्शनिक और काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों का अपने ढंग से नितान्त आवर्जक विश्लेषण है। परम्परागत प्रतिमानों को विश्वसनीय ढंग से आवर्जक प्रयोग करने के ही कारण वे 'नव्यशास्त्रीय आलोचक' माने जाते हैं। उन्हें विश्वास है कि क्रमागत मान्यताएँ कुछ ऐसी हैं जो आत्मनिहित सम्भावनाओं की युगीन व्याख्या चाहती हैं। इस प्रकार भारतीय मान्यताएँ स्थिर भी हैं और अपनी युगीन सम्भावनाओं में परिवर्तनशील—फलतः प्रगतिशील।

सैद्धान्तिक आलोचना

मिश्रजी की मूल साधना अन्तःप्रवेशपूर्वक सृष्टि का रहस्य जानना और जनाना रहा है। प्रायः उनकी यही वृत्ति काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी सक्रिय रही है। भारतीय काव्यशास्त्र के वे अध्येता रहे हैं और काशी के दिग्गज आचार्य पं. दामोदरजी शास्त्री से भी इस क्षेत्र में काफी कुछ अर्जित किया है। उनकी विशेषता पहली तो यह रही है कि वे गहराई से पक्ष-प्रतिपक्ष पूर्वक, भेदक विशेषताओं के साथ शास्त्रीय सिद्धान्तों को समझ लेते हैं। उनकी दूसरी विशेषता यह है कि समझी हुई बात को, चाहे वह कितनी भी जटिल हो, हिन्दी की प्रकृति में नितान्त बोधगम्य बनाकर प्रस्तुत करते हैं। तीसरी विशेषता यह है कि इस प्रस्तुति में आधुनिक शब्दावली और शैली का, जो उनके द्वारा उद्‌भावित है, प्रयोग करते हैं। मध्यकालीन साहित्य की गहरी समझ के लिए, विशेषकर उत्तरमध्यकालीन साहित्य के लिए, भारतीय काव्यशास्त्र की गहराई से पकड़ अनिवार्य है—इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्र के

तो पण्डित हैं ही, आधुनिक साहित्य की विधाओं और प्रवृत्तियों को विश्लेषित करने के लिए पाश्चात्य काव्यचिन्तन का ज्ञान भी करना पड़ा और वाङ्मय-विमर्ष में उसकी संक्षिप्त, बोधगम्य किन्तु सारवान स्थिति उपलब्ध है। उनकी काव्यशास्त्रीय समझ पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भी अमिट प्रभाव है। शुक्लजी का हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक सुस्पष्ट यदि कोई उपस्थापन कर सकता है, तो यह आचार्य मिश्र ही हैं। शुक्लजी की तमाम निष्पत्तियों और मान्यताओं को उन्होंने बड़े कैंड़े से समझाया है।

आचार्य मिश्र रसवादी हैं। इसीलिए वे काव्य को 'कला' के अन्तर्गत नहीं मानते। वे मानते हैं कि कला का उद्देश्य है मनोरंजन और काव्य का लक्ष्य है मनोरमण। मनोरमण सुख और दुःख— उभयविध भावों में होता है—फलतः ग्राहक सहृदय की चित्तवृत्ति का लोकमंगलोपयोगी विस्तार होता है। सुखदुःखात्मक अनुभूति काव्य की परिधि में आकर रसात्मक हो जाती है, उसमें वह विशेषता आ जाती है कि सहृदय के हृदय को रमा ले। इनकी दृष्टि में 'काव्य' सामाजिक वस्तु है, उसकी व्यावहारिक सत्ता है, उसमें सत् का प्रतिबिम्ब है, वह कवि के 'सत्व' से सृष्ट 'सत्ता' है —'सत्व' ही 'सत्ता' की संधायिका है। उनकी धारणा है कि कर्ता की रसमयी काव्यानुभूति वर्ण के माध्यम से व्यक्त होकर सहृदय में रसात्मक चरितार्थता पाती है और उसके हृदय का विस्तार करती है। काव्य में जो 'अर्थ' और 'भाव' वर्ण्य के रूप में गृहीत होते हैं, उनका 'स्रोत' समाज है—इसीलिए उससे प्राप्त सामग्री सामाजिक-समाजानुमोदित अथवा उचित होती है। भारतीय रसवाद या रससिद्धान्त पश्चिम के सौन्दर्यवाद से इसलिए महनीय है कि जहाँ रस ग्राहक के चित्त की 'अर्हता' को मिटाकर सार्वभौमता प्रदान करता है—व्यष्टिहृदय को समष्टि हृदय से एकरस कर देता है, आत्म-प्रत्यभिज्ञा करा देता है, मानवता को उद्रिक्त करता है, वहाँ सौन्दर्य अनुभूत होकर केवल प्रशस्तिगान के लिए मुखर करता है और अपेक्षाकृत क्षणिक भी होता है, इसीलिए तुलनात्मक दृष्टि से उनकी आस्था भारतीय रसवाद में है। उन्हें अलंकार, रीति, वक्रता और व्यंजना इसी के मेल में रुचिकर है। औचित्य के वे पक्षधर हैं। अलंकारों की बारीकियाँ जानते हैं और शब्दशक्तिबोध के सन्दर्भ में पं. रामदहिन मिश्र को परास्त कर चुके हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए इन्होंने दो प्रवाहों का उल्लेख किया है —चारुत्व प्रवाह और अनुभूति प्रवाह। प्रथम का सम्बन्ध श्रव्य-काव्य से है और द्वितीय का दृश्यकाव्य या नाट्य से है। प्रथम का सम्बन्ध कर्ता और वर्ण्य से तथा द्वितीय का ग्रहीता और अनुकार्य से है। प्रथम प्रवाह में अलंकार, रीति तथा वक्रता का उत्तरोत्तर उत्कर्ष है और द्वितीय प्रवाह में रस तथा उस तक पहुँचने की अनुमितिवाद, ध्वनिवाद, तात्पर्यवाद तथा मानवतावाद का उन्मेष है। शुक्लजी के साथ वे काव्य को मनोमय-कोष तक ही रखना चाहते हैं और पाश्चात्य समीक्षकों के उस अध्यात्म और व्यक्तिवैचित्र्य का विरोध करते हैं, जो काव्य में समष्टि की जगह व्यष्टि को महत्त्व दिलाते हैं।

काव्यप्रभेद को समझाने में उनका सर्वथा अपना ढंग है। वे अन्तःकरण को काव्य का उत्स मानते हैं (पहले ही कहा गया है कि वे काव्य को मनोमय-कोष तक ही रखना चाहते हैं) और उसके चतुर्विध व्यापारों को केन्द्र में रखकर काव्यप्रभेद करते हैं। उनका कहना है कि अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। मन संकल्पविकल्पात्मक है—भावमय है, अतः उसका प्राधान्य काव्य एवं नाट्य में रहता है। चित्त का स्वरूप है अनुसन्धानात्मक। अनुसन्धान घटनाक्रम में रहता है—फलतः इस वृत्ति का प्राधान्य होता है—कथा (उपन्यास-कहानी) में, काव्य में; बुद्धिवृत्ति उदग्र रहती है—निबन्ध और आलोचना में। पहला रचनात्मक होता हुआ भी विचारोत्तेजन पर्यवसायी होता है और दूसरा समीक्षात्मक प्रभेद है। अहंता व्यक्तित्व है जो शैली के रूप में सर्वत्र जागरूक भेदक तत्त्व के रूप में परिणति प्राप्त करता है। निश्चय ही इस तरह से काव्यरूप पर किसी ने भी प्रकाश नहीं डाला।

काव्यभेद का उल्लेख साहित्यदर्पणकार ने अवश्य किया था, पर काव्य का भेद 'काव्य' कुछ जँचता नहीं था, अतः उसकी मुख्य विशेषता के परिचायक विशेषण 'एकार्थ' को जोड़ दिया। इस प्रकार 'एकार्थ काव्य'-जैसी संज्ञा का हिन्दी में सोदाहरण प्रवर्तन का श्रेय आचार्य मिश्र की ही सूझबूझ को है।

भारतीय परम्परा अपने चिन्तन को अपना न कहकर 'परम्परा' से जोड़ती है। गीताकार ने 'कर्मयोग' को परम्परा प्राप्त ही कहा था, बुद्ध ने भी अपने बोध का उत्स परम्परा में ही स्वीकार किया था, जैनों के तीर्थंकर 'परम्परा' में ही हैं। काव्यशास्त्र तो दर्शनशास्त्र, भारतीय प्रणाली ही है, अपने चिन्तन को अनादि परम्पराप्राप्त कहने का। भारतीय चिन्तक मूल मान्यता को 'व्यक्ति' से नहीं, परम्परा से जोड़ता है, स्वयं को वह व्याख्याकार मात्र कहता है। इसी परम्परा में पण्डितजी भी अपने को व्याख्याकार ही कहते हैं, वे 'आचार्य' होने का दम्भ नहीं भरते। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में लोग 'नवीन मान्यता' लेकर आचार्यत्व की बुभुक्षा शान्त करते हैं—पर उनका क्षोदक्षम विचार हो तो धुर्रे-धुर्रे उड़ जायें। विचार की नींव बड़ी गहरी होती है, हर मान्यता उससे जुड़ी होती है और गहरी नींव सबके बूते की बात नहीं है। पण्डितराज जैसी प्रातिभ विभूति ने भरतमुनि के वचनों के समक्ष अपने को झुका दिया और अतिरिक्त रस-प्रकल्पन की बात अस्वीकार कर दी। मैं यह नहीं कहता कि 'नया' कहना केवल दम्भ है—पर इतना अवश्य कहता हूँ कि कपिल की 'समाधि' नयी स्थापना के लिए अपेक्षित है। भारतीय प्रकृति का चिन्तक मानता है कि 'सत्य' पूर्ण है, जो पहले से ही विद्यमान है। वह युगानुरूप सम्भावनाएँ विशिष्ट प्रतिभाओं द्वारा मूर्त कराता है। वह इतना 'सामान्य' है कि हर 'विशेष' उसमें से निकाले जा सकते हैं, यह कालविशेष में नयी व्याख्या के माध्यम से व्यक्त किये जाते हैं। इस गहरी और भारतीय प्रकृति की समझ से जुड़े रहने के कारण पण्डितजी अपने को 'व्याख्याकार' ही मानने में औचित्य समझते हैं, जो अन्तःप्रवेश से ही सम्भव है।

इतिहास लेखन तथा प्रकीर्णक

पण्डितजी निरन्तर ऊहापोहात्मक आलोचन में लगे रहते हैं--सर्जक आचार्यों को समझने में लगे रहते हैं। इस समझ को साफ करने के सन्दर्भ में कई आनुषंगिक उपलब्धियाँ हुई हैं, जिनका उल्लेख 'हिन्दी साहित्य का अतीत', और 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' में हुआ है। कहा गया है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

— — --

विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

इतिहास और पुराण का ज्ञान वेद के समुपबृंहण में अपेक्षित है। ज्ञानमय वेद ज्ञानी से नहीं, अज्ञानी से डरता है कि पता नहीं अपनी अज्ञता का पत्थर कहाँ फेंक दे और वह क्षतविक्षत हो जाय। सो, पण्डितजी सर्जक-आचार्य प्रणीत 'वेद' को समझने के लिए अपने ज्ञान के क्षितिज का निरन्तर विस्तार करते रहते हैं— इस क्षेत्र में उनके असन्तोष के 'भूमा' का दर्शन करने लायक है। जहाँ से जो भी नूतन जानकारी मिल जाय, उसके लिए वे निरन्तर जागरूक रहते हैं। राजनीति, मनोविज्ञान, ज्योतिष, आयुर्वेद—आदि प्राचीन-नवीन ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में तो रहते हैं ही, दैनन्दिन की गतिविधियों को भी संचार-माध्यमों से पकड़ते रहते हैं। अस्तु, आलोच्य साहित्य और उसमें निहित प्रवृत्तियों को समझने-समझाने के लिए अनेकविध गुत्थियों को देखना और सुलझाना पड़ता है। इस सन्दर्भ में उन्होंने जहाँ एक ओर एक ही नाम के अनेक लेखक-सर्जक ढूँढ़ निकाले और किसकी कौन-सी कृति है— यह स्पष्ट किया, वहाँ यह भी स्पष्ट किया कि विद्यापति को 'हिन्दी' का क्यों माना जाय। भाषा की प्रकृति की पकड़ सबको नहीं होती। हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालखण्डों का नामकरण अन्तरंग वर्ण्य-भाव को बताकर किया—वीरकाल, भक्ति-काल, शृंगारकाल तथा प्रेमकाल जैसी संज्ञाएँ आविष्कृत कीं। शृंगारकाल के बहु-प्रचलित रीतिसिद्ध, रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त-जैसे उपभेदों का आविष्करण और स्थापन आपने ही किया। इनके अनुसन्धान-लब्ध रत्नों की एक लम्बी तालिका है, जिसका विवरण 'अतीत' से प्राप्त किया जा सकता है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट होता है कि पण्डितजी का मूल व्यक्तित्व 'सर्जक' और 'आचार्यसमीक्षक' के अन्तस् में 'शब्द' की डोर पकड़कर न केवल गहरे उतरने का है, अपितु इस प्रक्रिया से उपलब्ध रत्नों को अपनी प्रतिभा से खराद-कर नवज्योति भरने का भी है। वे अपने को 'व्याख्याकार' कहने में गौरव का अनुभव करते हैं और तदर्थ शब्दब्रह्म की साधना में अनवरत निरत रहते हैं। शब्दब्रह्म की साधना उनके लिए ऐहिक-आमुष्मिक लोकों के बीच का सेतु जान पड़ता है, जिस पर चढ़कर पिपीलिकाएँ भी बिना श्रम पार जा सकती हैं। रामचन्द्र शुक्ल उनके आचार्य हैं, पर उनके चिन्तन सूत्रों को मिश्रजी ने न केवल समझा-समझाया, प्रत्युत् आगे भी बढ़ाया। पं. नन्ददुलारे वाजपेयी का क्षेत्र मुख्यतः आधुनिक साहित्य है, उसमें भी छायावादी विशेष। इनकी विशेषता मान्यताओं को लेकर स्वतन्त्र

चिन्तन की है, शब्दानुधावी-मर्म-दर्शन की नहीं। निराला की कतिपय रचनाओं में शब्दानुधावी होने का प्रयत्न है, पर प्रभावी नहीं हो सका। डॉ. नगेन्द्र ने आधुनिक साहित्य की समीक्षा से अपना कार्य आरम्भ किया, पर धीरे-धीरे सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में भारतीय पक्ष को अपने प्रातिभ सौरभ का भाजन बनाया। देव पर काम अवश्य किया, रीतिकाव्य की भूमिका अवश्य लिखी, पर वहाँ भी मान्यता केन्द्रित विवेचन ही प्रमुख रहा, सर्जनात्मक साहित्य के अन्त:दर्शन का प्रयास नगण्य ही रहा। उनके ऊहापोह की मुख्य भूमि भारतीय काव्यशास्त्र बना। प्रायोगिक समीक्षा में मनोविज्ञानमुखी हो गये। पं. हजारीप्रसादजी का पक्ष है कि सर्जक का 'सत्य' प्रथम स्तर का है और आलोचन का परवर्ती, दूसरे दर्जे का। अत: उनका प्रातिभ संरम्भ रचनात्मक साहित्य की सृष्टि पर है, शेष ऊहापोह उसी की तैयारी है। वे निबन्धकारों के पथप्रदर्शक हैं—हिन्दी में। संस्कृत साहित्य को मेघ की तरह बरसाकर उपन्यासों की सृष्टि की है उन्होंने। सो, इन सब सामयिक समीक्षकों के बीच अपना स्थान जो मिश्रजी ने बनाया है—वह शब्द-ब्रह्म-साधक, परान्त: प्रवेशी योगी भाष्यकार का है।

कविवर्य बच्चन के काव्यादर्श

कविवर्य बच्चन सर्जक कवि तो हैं ही, एक सजग अध्येता और कुशल प्राध्यापक भी रहे हैं। उनका अध्येता निरन्तर जागरूक रहा है। इन सबके साथ-साथ और इन सबके ऊपर उनका निश्छल, निर्व्याज और परदुःखकातर मानवीय रूप है, जिसका यशोगान उनके सम्पर्क में आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति मुक्तकण्ठ से करता है। सो, इन समस्त उपादानों से बने उनके कवि-व्यक्तित्व का चिरस्मारक उनका भरापूरा काव्यजगत् है।

अपनी रचनाओं और विचारपरक गद्यात्मक अभिव्यक्तियों में श्री बच्चन ने अपनी काव्य सम्बन्धी अनेकविध धारणाएँ व्यक्त की हैं। प्रत्येक कवि-चिन्तक प्रायः अपनी रचनाओं के साक्ष्य पर ही उसका शास्त्र रचता है। आचार्य शुक्ल तथा आचार्य वाजपेयी की काव्यविषयक मान्यताएँ इस तथ्य की साक्षी हैं। आलोचक अपने प्रिय कवि या काव्यधारा को मन में रखकर उनका निर्माण करते हैं। छायावादी काव्यप्रवाह के कविगण भावतत्त्व--हृदयपक्ष—पर आध्यात्मिक बल देते हैं। उत्तर छायावादी कवि—जिनमें श्री बच्चन का भी मूर्द्धन्य स्थान है—काव्य में भावतत्त्व को ही महत्त्व देते हैं। वैसे भी बच्चन ने कहा है —"न कवि को कविता 'वाद' को ध्यान में रखकर लिखनी चाहिए, न पाठक को 'वाद' को ध्यान में रखकर पढ़नी चाहिए।

"समालोचक को देशकाल समाज से किसी कवि की संगति बिठाने के लिए उसे किसी वाद में बाँधने की आवश्यकता पड़ सकती है, पर यह हमेशा देखा गया है कि प्रतिभावान् कवि और लेखक 'वाद' में सहज नहीं बँधते। मेरी ऐसी धारणा है कि 'वाद' दूसरी, तीसरी, चौथी श्रेणी के कवियों के लिए उपयोगी होता है, प्रथम श्रेणी के कवि के लिए नहीं। कहने का तात्पर्य है कि युग की कुछ धारणाएँ होती हैं। कुछ लोगों को इसके साथ न होने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहता, कुछ युग के साथ बहते हुए भी अपनापन रखते हैं। ये धारा के बाहर भी उतने ही रहते हैं, जितने धारा के बीच।

"संक्षेप में जीवन 'वाद' से बाहर है और कविता टेक्स्टबुक में रखने को नहीं लिखी जाती।···कविता का व्यापक क्षेत्र जीवन है, उसे जीवन से ही लेना और

जीवन को ही देना है।"[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि जिस जीवन का कलात्मक उद्रेखण करता है, वह किसी देश-काल से सम्बद्ध होता है, अतः कवि युग-धारणा से अपने को तटस्थ नहीं रख सकता—अर्थात् किसी 'वाद' या धारा से सम्बद्ध हो सकता है, फिर भी उसकी व्यक्तिगत विशेषताएँ उसे धारा से बाहर भी रख सकती हैं। अर्थात् छायावादी काव्यप्रवाह से बच्चन के सम्बद्ध होने की बात हो सकती है फिर भी उनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ छायावाद से बाहर भी उन्हें रखती हैं। बहरहाल, इस 'वाद' से हटकर भी देखें तो भी बच्चनजी मानते हैं—'कविता को जीवन से निकलना चाहिए। जीवन में बैठना चाहिए। उसमें भीगनेवालों का महत्त्व है, उस पर पन्ने रँगनेवालों का नहीं।'[2] निश्चय ही ये पंक्तियाँ 'कविता' उसे सिद्ध करती हैं, जो पाठक को भिगो दे, भावमग्न कर दे। कविता भावमग्न तभी कर सकती है, जब भावमग्न हृदय से समुद्भूत हो—जिस कविता के उद्गम में ही भाव न होगा, उसकी परिणति में 'भाव' कहाँ से आ जायेगा? बच्चनजी अपनी कविता के सन्दर्भ में कहते हैं—'वे जीवन के मार्मिक क्षणों को सजीव करने के लिए स्मृति में आपसे आप चढ़ती हैं।' इससे यह भी स्पष्ट है कि बच्चनजी के अनुसार काव्य की अन्तःसत्ता है—भाव या अनुभूति, ऐसी भाव या अनुभूति जो पाठक को भिगो दे। कारण, उस अनुभूति का सम्बन्ध जीवन के मार्मिक क्षणों से है। मार्मिक होने के ही कारण, जहाँ एक ओर उसमें ईमानदारी और सचाई है, वहीं दूसरी ओर उसमें व्यक्तिगतता होते हुए भी सर्वसंवेद्यता की स्थिति है। यद्यपि जीवनानुभूति ही काव्यानुभूति का आधार है फिर भी जब जीवनानुभूति काव्यानुभूति में परिणत होती है, तब उसका प्रभावी अंश तो रह जाता है, किन्तु व्यक्तिगत हानि-लाभ से असम्बद्ध होने के कारण वह उद्वेजक नहीं होती—विपरीत इसके 'मग्न' कर देती है। इसीलिए कविता मनोरंजन नहीं है, मनोरमण है। इसीलिए कला के अन्य रूपों से काव्यकला महत्त्वपूर्ण हो जाती है। चिन्तकों की धारणा भी इस निष्कर्ष की पुष्टि करती है—

> "Arts is the creation of individual, and unique forms of gesture of any one of the whole realm of human feeling at all leveles, stages and phases in the adventure of life—technological, political, moral, religious, philosophical, touching all without being tethered by any such creation and has in it the quality of compelling the evocation of those forms in whosoever that takes the attitude of the artist"[3]

अर्थात् कला व्यक्ति की सृष्टि है, साथ ही प्राणवन्त जीवनयात्रा के सन्दर्भ में अनुभूत समस्त भावनाओं में से किसी एक का अनुपम प्रकाशन है। प्रकाश्य भावनाओं में सम्पृक्तता के बीच निस्संगता भी आवश्यक है। ग्रहण की दृष्टि से इस सृष्टि में कलाकार की दृष्टि का भी उन्मीलन विवशता के साथ होना आवश्यक है।

इन सब उद्धरणों और तर्कों के आलोक में स्पष्ट है कि कविता का सम्बन्ध

प्राणवन्त जीवन के सन्दर्भ में अनुकूल भावनाओं से है—ऐसी भावनाओं से, जिनके मूल में 'दृष्टि' भी निहित हो। यह भावना किसी भी स्तर की हो सकती है—स्तर वैयक्तिक भी हो सकता है और सामाजिक भी, शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक भी, मन के भी किसी स्तर से वह उठ सकती है। बच्चनजी इन सबके साथ इतना आवश्यक मानते हैं कि वह भावना में भिगो सके पाठक को। बच्चनजी के ही वक्तव्य के अनुसार उनकी आरम्भिक रचनाएँ मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश, एकान्त संगीत, निशा निमन्त्रण, आकुल अन्तर—व्यक्तिगत सन्दर्भों की हैं। फिर ये सबको किस प्रकार भिगो सकेंगी? इसीलिए बच्चनजी ने शर्त रखी है कि ये भावनाएँ जीवन के मार्मिक क्षणों की हों। मार्मिक क्षण मानव-मात्र के स्वभाव के अनुरूप होने से व्यक्तिगत होकर भी मानवीय और सर्वसम्बेद्य बन जाते हैं।

बच्चनजी कविता को अपने सन्दर्भ में 'जग-जीवन-काल' के प्रति व्यक्ति का संघर्ष मानते हैं।[4] और मानते हैं कि—'कविता उनके पास जीवन की अनिवार्य आवश्यकता बनकर आयी।'[5] इन उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि कविता फैशन से नहीं, अनिवार्यता से फूटती है, आरामतलबी से नहीं, 'संघर्ष' से प्रवाहित होती है। प्राणवन्त जीवन वही जीवन है, जो मूल्यों के जीने के लिए संघर्ष से आपूरित हो। उनका संघर्ष मानवीय है—इसकी पुष्टि में 'त्रिभंगिमा' की रचनाएँ लें—

> अन्तर से या कि दिगन्तर से आयी पुकार—
> तम आसमान पर हावी होता जाता था
> मैंने उसकी ऊषाकिरणों को ललकारा
> इसको तो खुद दिन का इतिहास बतायेगा
> कि जीत हुई किसकी और कौन हट हारा।

कविता के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है और वह यह कि कविता दायित्वबोध या किसी बाहरी दबाव में उभरती है अथवा अन्तःप्रेरणा से लिखी जाती है। बच्चनजी का इस मामले में बहुत स्पष्ट निर्णय है—'ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता कि कभी मैंने कविता इसलिए लिखी कि और लोग लिख रहे हैं या कविता इसलिए लिखें कि उससे किसी वाद को बल देना है या हिन्दी की सेवा करनी है या किसी ऐसे ही कारण से···अपने अभ्यासकाल की कविताएँ मैंने अपनी अन्तःप्रेरणा से लिखी थीं···मैं इस तरह कहना चाहूँगा कि शब्दों में कवि होने के पूर्व मैं जीवन में कवि बन गया था।'[6] मेरा जीवन कुछ ऐसी अनुभूतियों से टकरा चुका था, कुछ ऐसी भावनाओं से मथित हो चुका था कि किसी प्रकार की अभिव्यक्ति उसके लिए अनिवार्य थी। निष्कर्ष यह कि 'कविता' वह जो 'हो' जाय, वह नहीं जो 'की' जाय'।

भावनाओं के अनेक स्तर होते हैं–छायावादी कवियों में से अनेक 'उस पार' की बात पसन्द करते थे या अन्योक्ति पद्धति में बोलते थे। 'प्रकृति' को आध्यात्मिक छाया में रँगकर देखते थे। बच्चनजी भावना के स्तरों के विषय में अपना अभिमत देते हुए कहते हैं—

किन्तु जीवन की हदों के बीच में भी
कम नहीं कहने सुनाने को पड़ा है
मानवों के दिल, दिलों की हसरतों को
आस को औ प्यास को औ वासना को
शोक, भय, शंका, महत्त्वाकांक्षा को
आज रखा जा नहीं सकता दबाये
मैं अभी जिन्दा, अभी यह शवपरीक्षा, मैं तुम्हें करने न दूँगा
आँख मेरी आज भी मानवनयन की गूढ़तर तह तक उतरती
आज भी अन्याय पर अंगार बनती, अश्रुधारा में उमड़ती
जिस जगह इंसान की इंसानियत लाचार उसको कर गयी है
तुम नहीं यह देखते तो मैं तुम्हारी आँख पर अचरज करूँगा

(गीत 11, आरती और अंगारे)

बच्चनजी ने स्पष्ट ही अध्यात्म की कुहेलिका से हटकर पार्थिव जीवन और मानवीय धरातल से समुत्थित भावनाओं को महत्त्व दिया है। स्पष्ट ही उनकी दृष्टि में—

'कविता, जगती के प्रांगण में
जीवन की किलकारी'—

कविता इसी धरा पर जीवन के स्रोत से उभरती हुई उषाकिरण है। कविता में निहित 'मानवीय दृष्टि' से पाठक की भावना मँज-मँजाकर मानवीय बन जाती है। बच्चनजी को लोग ह्रास-निराशा और 'वैयक्तिक भावनाओं' का कवि कहते हैं—जबकि वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि यदि सचमुच उनकी कविता में ऐसा है तो समझना चाहिए कि उनकी जाति पतन की ओर जा रही है और अपना कण्ठ गँवा चुकी है। जातियाँ जब उत्थान के निमित्त अभियान करती हैं तो सर्वप्रथम कण्ठ से ही मुखर होती हैं। बच्चनजी की दृष्टि से सम्प्रति विश्व मानस का मन्थन हो रहा है—मन्थन में विष-अमृत सभी निकलते हैं और बिना मन्थन के रत्नों की कला निकलती ही नहीं। वे कहते हैं कि शान्ति में नहीं, कला मन्थन में उभरती है—

कला नहीं बसती पत्थर में
स्वर में, रंगों की श्रेणी में
बाह्यता में, कण्ठ में, लेखनी में
तूली, कीली, छेनी में
कोई मंदर जब जन-अन्तर
मन्थन करता, स्वप्न उघरते
कला उभरती, कविता उठती
कीर्ति निखरती, विभव बिखरते,

(गीत 11, आरती और अंगारे),

मनोविज्ञान के पण्डितों के साथ सहमत बच्चनजी कभी कहते हैं कि जीवन की अमूर्त आकांक्षाएँ ही रूपायित होकर कभी कला बन जाती हैं—

स्वप्न, जीवन का, कला है, जो कि जीवन
में, निखरकर वह कला से झाँकता है
यह महज दर्पण नहीं है, दीप भी है
जो अमरता के शिखर को आँकता है

लोगों की धारणा है कि कविता समाज और जीवन का दर्पण है—प्रतिबिम्ब है, पर कविवर बच्चन कविता को, सतही आकार को प्रतिबिम्बित करनेवाले दर्पण से ही तुलित कर शान्त रह जानेवाले नहीं हैं—वे मानते हैं कि कला वह 'दीप' है जो अमरता के शिखर का आकलन करती है।

कविता केवल अनुरूप विषय और वस्तु के धरातल पर ही संघर्ष नहीं है। अभिव्यक्ति के धरालत पर भी वह संघर्ष है। अनुरूप और अपनी सूक्ष्मता में अपरिमेय गन्ध बिखरनेवाली भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम भाषा में भी अपरिमेय क्षमता होनी चाहिए। भारतीय चिन्तकों ने भाषा की इसी अपरिमेय क्षमता को व्यंजना नाम दिया है। कविवर्य बच्चन ने भाषा के धरातल पर भी संघर्ष किया है, तभी तो अनुभव की गहराइयों को मूर्त कर सके हैं और कवि मात्र के लिए आवश्यक मानते हैं कि वह माध्यम को मँज-मँजाकर शक्त बनावें। जिसकी भाषा कुछ फार्मूलों में बँध गयी वह जीवन की अपरिमेयता से विच्छिन्न हो गयी—वह 'कला' की भाषा ही नहीं रह गयी। आज वर्ष, मास और दिनों में भी भाषा फार्मूलाबद्ध हो जाती है, इसीलिए कला के तेवर जल्दी-जल्दी बदलते जा रहे हैं—इसलिए मंजिलों के मील-पत्थर अब ढूँढ़े नहीं मिलते। इसलिए बच्चनजी ने कहा है—'वैसे मेरी राय है कि प्रथम कोटि की प्रतिभा न नयी कविता को मिली है और न नवगीत को।'[7] बच्चनजी कहते हैं—

फारमूलों में कभी बँधना न जीवन
शब्द संख्या फारमूले ही नहीं तो और क्या है?
तथ्य केवल
व्यष्टि करके मुरजता भी प्राप्त
अपने आप में सब कुछ नहीं है···
सिद्ध प्रतिभा तो वही है
सामने जिसके निखिल संसार
मुँह बाये खड़ा है

भवानी भाई ने भी कहा है कि जीवन ऐसा हो जिसमें अनुभूति सिमटी हुई न हो। उन्होंने कहा—'दीवारों का नहीं मैदानों का छन्द चाहिए।' वे मानते हैं कि आदमियों की तरह शब्द के भी निकट कष्ट के क्षण हैं। शब्द के विषय में भी बच्चनजी का मत है—

शब्द की भी
जिस तरह संसार में हर एक की
कमजोरियाँ, मजबूरियाँ हैं

शब्द सबलों की
सफल तलवार है तो
शब्द निबलों की
नपुंसक ढाल भी है

लोग कहते हैं कि हिन्दी अशक्त है। कहने को जीभ है—तो कुछ भी कह सकते हैं। भाषा न तो स्वयम् में अशक्त होती है और न शक्त। यह तो प्रयोक्ता है जो सबल और निर्बल होता है—उसी का बल भाषा में संक्रान्त होता है। निष्कर्ष यह कि हमारी भाषा अशक्त है—का अर्थ है हम अशक्त हैं। भाषा को माँज-माँजकर अपरिमेय भावनागत बारीकियों की व्यंजना के निमित्त भाषा में भी अपरिमेय क्षमता भरी जाती है।

अन्ततः एक बात कहकर इस निबन्ध को समाप्त करता हूँ। बात है—काव्य और जीवन के साथ आस्था की। आस्थापूरित जीवन का ही काव्य से सम्बन्ध है—आस्था-गर्भ कला 'किलकारी' नहीं, मृत्युपूर्व की 'चीत्कार' है। बच्चनजी कहते हैं—

हो किसी का
एक तरफी दान कवि का नहीं होता
...   .
इसीलिए ऊँचाई की अन्तिम उठान पर
शक्ति नहीं रे
भक्ति चाहिए
भक्ति विनत है
और उसी का किसी जगह अवरुद्ध न पथ है

कवि चाहे किसी 'व्यक्ति' का गान करता हो, रचना चाहे 'व्यक्ति' के 'अन्तस्' से फूटी हो, पर वह एकतरफा नहीं होती—ग्राहक के अन्तस् पर भी संवाद के कारण चरितार्थ होती है। कवि पौरुष से भी अधिक महत्त्व आस्था को देता है। आस्था के बीज कभी वन्ध्या नहीं होते। आस्था और विनय के साथ जीवन यात्रा करनेवाले पथिक के लिए सभी ऊँचाइयों के द्वार निरन्तर उन्मुक्त रहते हैं। इस प्रकार जहाँ तक कविवर्य बच्चन के काव्यादर्श का सम्बन्ध है, वे मानते हैं—

(1) कला का सम्बन्ध जीवन से है, ऐसे जीवन से जो संघर्षरत होने के कारण प्राणवन्त हो। संघर्ष मानवीय मूल्यों को आस्थापूर्वक जीने के सन्दर्भ का हो।
(2) कविता अन्तःप्रेरणा से लिखी जाती है।
(3) कविता के लिए प्रतिभा के साथ-साथ अभ्यास और व्युत्पत्ति भी अपेक्षित है।
(4) कविता की चरितार्थता संवादवश ग्राहक के अन्तरंग को भिगोने में है।
(5) उक्त प्रयोजन के लिए अपेक्षित भाषा में प्रयोक्ता अपरिमेय क्षमता

अवश्य भरे।

(6) कविता का सम्बन्ध 'व्यक्ति' की 'भावना' से होने पर भी अपनी मार्मिकता में सर्वसंवेद्यता से भी है।

(7) इस भावना के विविध धरातल हैं—पार्थिव धरा पर मानवीय भावनाओं का क्षेत्र भी अथाह है।

सन्दर्भ

1. बच्चन : व्यक्तित्व और कवित्व, पत्रव्यवहार, पृष्ठ 217
2. वही, पृष्ठ 216
3. 'Comparative Aesthetics : Gesture of Western'.
4. बच्चन : व्यक्तित्व और कवित्व, पृष्ठ 208
5. वही
6. वही
7. वही, पृष्ठ 323

समकालीन काव्य के सैद्धान्तिक आधार : पारम्परिक काव्यशास्त्र के प्रतिमान

समीक्षा आलोच्यकृति के मूल में निहित सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कारपूर्वक किया गया विश्लेषणात्मक तथा रचनात्मक आख्यान है। विश्लेषण वस्तुमुखी हो, इसके लिए आवश्यक है कि समीक्ष्य धारा की परिणत रचनाओं से प्रासंगिक प्रतिमान निर्धारित कर लिये जायें। जहाँ तक हिन्दी में 'समकालीन' रचना पर आधारित समीक्षा का सम्बन्ध है, तदर्थ सैद्धान्तिक आधारों की बात है—सर्वप्रथम मैं यह मानता हूँ कि वह 'कविता' है और कविता के लिए एक 'सर्जनात्मक अनुभूति' होनी चाहिए और चाहिए उसी में से फूटनेवाला आवयविक अखण्डता के स्तर पर 'रूप'—अभिव्यक्ति माध्यम, ठीक उसी तरह जैसे मयूर के अण्डे में स्थिर द्रवात्मक पदार्थ से ही उभरनेवाला मयूर का आकार (मायूराण्ड रसन्याय)। इसलिए सबसे पहला आधार यह है।

दूसरा यह कि काव्य या कविता यदि कविता है तो उसमें सींचकर डुबो लेने की अद्‌भुत क्षमता होती है और यह क्षमता अनुरूप 'सौन्दर्य' के कारण होती है। सौन्दर्य की धारणा रचयिता और भोक्ता के संवादी संस्कारों के अनुसार बदल सकती है पर काव्य के क्षेत्र में वह निःशेष नहीं होती। अतः समकालीन कविता की जाँच के लिए उसमें व्याप्त सौन्दर्य के घटक कणों का निर्धारण भी आवश्यक है। यह तो स्पष्ट है कि जिस साठोत्तर मानसिकता की प्रखर मानसिकता को, युग चेतना को 'कालांकित कविता' व्यक्त करती है—वह है अमानवीय उत्पीड़न, उसके स्रोत देश और विश्व की नियति को ध्वंस की ओर ले जानेवाली साम्प्रतिक पूंजीवादी परिग्रहप्रिय व्यवस्था और उसके सूत्रधार, देह की राजनीति चलानेवाली व्यवस्था और इन सबके प्रति विद्रोह तथा क्रान्ति की आग, पीड़ित मानवता की तह से लावे की भाँति फूटती हुई इन्कलाब की आग। यद्यपि यह चेतना और पूर्व भी थी, किन्तु तब 'रूप' के स्तर पर वह उतना सचेत नहीं थी—इसीलिए कभी-कभी वह नारेबाजी तक भी पहुँच गयी; तब प्रगतिशील समकालीन कवियों की चेतना ने इस कमजोरी को पकड़ा और फिर वह बात नहीं आने दी। मुक्तिबोध से ही यह सजगता उभर आयी। उन्होंने अपने सौन्दर्यशास्त्र में 'सोशियो-एस्थेटिक्स' की जमकर चर्चा की है। तो बात मैं 'सौन्दर्य' की ही कर रहा था। यहाँ प्रेमचन्द की याद आती

है जिसने कहा था कि एक वह चेतना है जो उभरे हुए अंगों में सौन्दर्य देखती है---एक उससे बड़ी और व्यापक मानवीय चेतना है जो पिचके हुए और झुर्रीदार चेहरे में सौन्दर्य देखती है। वह उस चेहरे की तह में निहित समाज के स्तर को रचनात्मक बनानेवाले मूल्यों के जीने के लिए किये जानेवाले अथक संघर्ष पर मुग्ध होती है, वह उन प्रतिगामी ताकतों की दानवीय वृत्तियों को लक्षित करती है, वह पीड़ा शेष मानवता की धीरे-धीरे चीरनेवाली दुर्व्यवस्था की आरी का साक्षात्कार करती है और अपनी अखण्ड सौन्दर्य चेतना के अंग रूप में उसका अंकन करती है—

लेकिन मुझे लगा कि एक विशाल
दलदल के किनारे
बहुत बड़ा अधमरा पशु पड़ा है
जिसमें लगातार भयानक बदबूदार
मवाद बह रहा है
उसमें जाति और धर्म और
सम्प्रदाय और
पेशा और पूंजी के असंख्य कीड़े
किलबिला रहे हैं और अन्धकार में
डूबी हुई पृथ्वी
पता नहीं किस अनहोनी की
प्रतीक्षा में
इस भीषण सड़ान्ध को चुपचाप सह रही है---

यह चित्र कितना वीभत्स है; अपने अभिधेय में भी और संकेत में भी। पर रचयिता की समग्र सौन्दर्यचेतना का अंग बनकर यह आता है। इसे अलग से काटकर नहीं देखा जा सकता। समस्त कविता में भले ही अन्धकार चित्रित हो पर उसकी तह में प्रकाश की किरण पाने की बेचैनी है। निष्कर्ष यह कि यह अखण्ड काव्योचित सौन्दर्य-तत्त्व भी समीक्षा का एक सैद्धान्तिक आधार है। यह काव्य का सौन्दर्य है जहाँ वीभत्स से निष्कर्ष नहीं, अपितु पाठक डूबकर खिंच उठता है। वीभत्स के ऐसे खण्ड दृश्यों से यह कविता भरी हुई है पर इन तमाम वीभत्स दृश्यों की सृष्टि राष्ट्र की पीड़ा से पीड़ित अव्यक्तिगत सुन्दर काव्यचेतना की पीठिका पर है। मूल में सौन्दर्य चेतना के निहित होने से सभी कुछ सुन्दर लगने लग गया है। कविता वही है, जो पहले इस सौन्दर्य-चेतना में निमग्न कर दे और बाद में अभीष्ट और अनुध्या शोभनता लाने का माध्यम भी बन जाय। आलोचकों की धारणा है कि समकालीन कविताओं का सौन्दर्य, वर्ण्यवस्तु के अनुपात में नहीं, विस्फोट की शक्ति और ऊर्जा में है, जो यथास्थिति को निरस्त कर मानवता के लिए मैदान साफ करती है। मेरा ख्याल है कि यदि सर्जनात्मक अनुभूति में विस्फोट की ऊर्जा चतुरस्र है तो वह आकार में भी व्यक्त होकर रहेगी। दूसरा पक्ष भी है।

कुछ लोग इस काव्यधारा की मूल चेतनागत उन विशेषताओं को भी प्रतिमान के रूप में अंकित करना चाहते हैं, जो कालांकित हैं। इसी काल की विशेषता रूप में पहचाने जाते है—जैसे, आन्दोलनकर्ता, बाह्य और आन्तरिक द्वन्द्वमयी मनोवृत्ति, अमर्ष, आक्रोश, क्रोध और बैर की भावना अभीष्ट 'साम्य' के शत्रुओं के प्रति। यदि वे विशेषताएँ काव्यीय सौन्दर्य चेतना का अंग बनकर आयी हैं तो इनसे कालांकित कविता की यह पहचान करवायी जा सकती है, मुझे कोई आपत्ति नहीं।

पता नहीं क्यों–जब इतने शक्त प्रतिमानों, काव्योचित प्रतिमानों को सैद्धान्तिक आधार बनाकर समकालीन कविता का विश्लेषण सम्भव है, तब काव्येतर प्रतिमानों का ही आग्रह क्यों किया जाता है। मध्यप्रदेश की 'हस्ताक्षर' पत्रिका में एक लेखक ने प्रस्तावित किया था कि साठोत्तर कविता या कहानी के लिए सामाजिक मानदण्डों का प्रयोग हो, पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र या काव्यशास्त्र के मानमूल्यों का नहीं, क्योंकि समकालीन लेखन का उद्देश्य सामाजिक परिवर्तन है, साहित्यिक मनोरंजन या रस-सर्जना नहीं। श्री अशोक वाजपेयी ने भी डा. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय को लिखे गये एक पत्र में यही प्रश्न उठाया है कि क्या विरोध की कविता का कोई काव्यशास्त्र हो सकता है? मैं डॉ. उपाध्याय से सहमत हूँ कि विरोधी कविता के लिए किसी नये काव्यशास्त्र की आवश्यकता नहीं है।

निस्सन्देह विश्लेषण के लिए मानदण्ड थोपे नहीं जाते, रचना ही से प्राप्त किये जाते हैं और जब समकालीन रचना उस पारम्परिक रचना से, जिससे पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र या काव्यशास्त्र के प्रतिमान निकाले गये हैं, भिन्न हैं—तब उसके प्रतिमान भी भिन्न होने चाहिए। आपाततः यह तर्कसंगत लगता है, पर अन्ततः नहीं। क्या यह बात शपथपूर्वक कही जा सकती है कि समाज-परिवर्तन के लिए पारम्परिक या समकालीनोत्तर रचनाएँ नहीं की गयी हैं? क्या यह प्रतिमान केवल समकालीन रचना पर ही लागू होता है?

कहा जा सकता है कि भले ही समाज-परिवर्तन की दृष्टि अन्यत्र भी रही हो, पर 'दृष्टि' विशेष से लाया जानेवाला वह सामाजिक परिवर्तन, जहाँ इसी धरती पर छायी हुई विषमता के अन्धकार को चीरकर समानता का प्रकाश बिखरा देना अभीष्ट हो—समकालीन नव-प्रगतिशील कविता में ही देखा जाता है और यही भाव तथा रूप की अविच्छेद्यता निबाही जाती है, अतः इससे निर्गत प्रतिमान ही इस धारा की समीक्षा के लिए आधार है और होना चाहिए। चूँकि इन रचनाओं के मूल में सामाजिक दृष्टि है, सामाजिक चेतना प्रेरणास्रोत है, अतः सामाजिक मानदण्डों का ही प्रयोग होना चाहिए। क्रमागत दृष्टि जो आजमायी जाकर निरर्थक सिद्ध हो चुकी है, के विरोध में ही जो कविता लिखी जा रही हो, उसका भी कोई काव्यशास्त्र—अनुशासनकारी मानदण्ड—हो सकता है?

सामाजिक परिवर्तन की चेतना से काव्येतर साहित्य भी लिखा गया है और काव्य भी लिखा जाता है। मैं जानना चाहता हूँ कि दोनों का अन्तर कहाँ होता है? यह केवल सामाजिक चेतना है, जो दोनों को पृथक् करती है (जो वस्तुतः नहीं करती

है) या कुछ और ? प्रथम विकल्प तो सम्भव ही नहीं है क्योंकि वह उभयनिष्ठ है और तब द्वितीय विकल्प ही शेष बचता है। यह कुछ और है जो अ-साहित्य से साहित्य को पृथक् करता है—और यह व्यावर्तक चेतना काव्योचितसौन्दर्य चेतना है, जो समाज चेतना को आत्मसात् किये हुए है, अतः 'विरोध', 'द्वन्द्व', 'आन्दोलकता' आदि सभी इस चेतना के अंग बनकर आते हैं। इसीलिए उस सौन्दर्य-चेतना की अभिव्यक्ति के लिए समकालीन कवि भी भाव और रूप की अखण्डता पर कविता की चरम परिणति मानते हैं। काव्येतर स्तर पर लेखक को इसका ध्यान नहीं रहता है। यहाँ न तो उस सौन्दर्य-चेतना के अनुरूप सांकेतिक अभिव्यंजनाएँ होती हैं, न प्रतिभा पूर्ण व्यवधानों का प्रयोग। निष्कर्ष यह कि कविता के ये पारम्परिक प्रतिमान यहाँ भी उपयोगी हो सकते हैं।

साहित्यिक मनोरंजन या रससर्जना उतनी हल्की वस्तु नहीं है, जितनी हल्की समझकर उसका उल्लेख किया जाता है। पारम्परिक काव्यशास्त्र कविता की चरितार्थता केवल आत्माभिव्यंजन में नहीं मानता, कम-से-कम भारतीय काव्य चिन्तन सामाजिक को ही केन्द्र में रखकर उसकी सफलता मानता है। वह रचना और उपभोग दोनों स्तरों पर सामाजिकता का आग्रही है, क्योंकि व्यक्तिगत मनोभूमि न काव्य की निर्माणभूमि है और न ही भोगभूमि। समाज की रचनात्मक धारा में स्नात मनोभूमि ही सौन्दर्यदर्शी होकर काव्य का उत्स बनती है और सामाजिकगत अपनी परिणति में (साहित्यिक) मनोरंजनात्मक और रसात्मक बन सकती है और मनुष्य को भीतर से बदलकर समाज-परिवर्तन में उपयोगी हो सकती है।

काव्य की इस असाधारण (व्यावर्तक) सौन्दर्य-चेतना को स्पष्ट करने के लिए, सामाजिक परिस्थितियों का सन्दर्भ लिया जाय, काव्येतर लोकमांगलिक सामाजिक मानदण्डों का भी सहारा विश्लेषण के लिए लिया जाय। अन्यान्य अनुशासनों के आलोक में उसे और बोधगम्य और उपादेय निरूपित किया जाय तो किसी को क्या आपत्ति है ? पर हाँ, इन सबसे हम काव्यचेतना को ही समझ सकें, तो ठीक है। ऐसा न हो कि काव्येतर मानदण्ड इतना हावी हो जायें कि कवि की मूल सौन्दर्य-चेतना नितान्त उपेक्षित हो जाय। उसे विश्लेषित करने और समझने में यदि अन्तरानुशासी पद्धति का प्रयोग हो, तो इस जिज्ञासुयुग में उसका विरोध क्यों ?

यों कविता की भाषा विशेष, भाषा का ही एक विशेषरूप है, जो सर्जनात्मक अनुभूति की त्वचा है। शैली विज्ञान तथा नयी समीक्षा मानती ही है कि आलोचना का केन्द्र कृति है और कृति भाषा विशेष है। अतः भाषा ही सबसे बड़ा प्रतिमान है, उसकी क्षमता पर ही कविता का सबकुछ है। शैली वैज्ञानिक शब्दों के पीछे रहनेवाले संस्कारों, अर्थों तथा सन्दर्भों के सहारे काव्य-सौन्दर्य को विश्लेषित करते हैं—काव्येतर मानदण्डों का त्याग कर देते हैं—उनका आरोपण अस्वाभाविक मानते हैं, पर काव्यानुभूति की धातु की परख के लिए जितने भी अनुशासनों का प्रकाश मिले, अच्छा है। समाज में स्वतन्त्रता निरनुशासित नहीं, अनुशासित और सापेक्ष होती है, कम-से-कम जो लोग काव्य को सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं, उन्हें तो

काव्य को उसका अंग होने के कारण अनुशासित करना ही होगा, वह प्रतिमान से हो या सूझ-बूझ से, अतः उसका शासन होना ही चाहिए।

समकालीन कविता का लक्षण बताते हुए कहा जाता है कि वह कालांकित होती है। वह शाश्वत मूल्यों, तथ्यों, सत्यों की कविता न होकर अपने युग की चेतना की प्रखर वाहिका होती है। यद्यपि ऐसा होता है कि व्यक्ति सत्य और सामयिक सत्य अपने में व्यापक सत्य की भी सम्भावना रखते हैं और इससे कविता कालजयी होती है, पर इस धारा के वकीलों का यह पक्ष है कि व्यापक सत्य इस धारा का प्रतिपाद्य नहीं है—वह हो भी तो अभिप्रेत नहीं। नयी कविता इन और ऐसे सत्यों पर अवश्य केन्द्रित होती थी। मेरा पक्ष यह है कि सामयिक सत्य और चिरन्तन सत्य पर बलाबल की स्थिति हो सकती है पर दोनों सत्यों की एक आधार काव्य में सह-स्थिति कविता में वजन ही लाती है, उसको छाँटने से काव्य का विशेष उपकार नहीं होता। सर्जक यदि सर्जक है तो मानवीयता की धुरी पर सक्रिय होने के नाते अनेक चिरन्तन सत्यों की बात अनजाने कह सकता है। क्रमागत चिरन्तन और उपयोगी तत्त्वों से सामयिक सत्य विच्छिन्न होते भी नहीं, अतः माना कि कालांकित कविता में चिरन्तन सत्यों पर बल नहीं होता पर वह अवांछित है—यह ठीक नहीं। मोना गुलाटी की एक पंक्ति है—

> रति-क्रिया करने के लिए आकाश यदि गहरा हो जाय, समुद्र की
> भाँति, तो भी वह नहीं दे पायेगा
> अण्डा।

इसमें एक चिरन्तन सत्य की ही बात है। पुरुष विचार और आकाश अण्डा नहीं दे सकते, रचनात्मक नहीं हो सकते, चाहे वे रचनात्मक सम्भावना का आधान कराने की क्रिया की मात्रा जितनी भी बढ़ा दें। यह केवल और अपने आपमें अमहत्त्वपूर्ण है, ऐसी बात नहीं, पर अपने 'काउण्टर पार्ट' की अपेक्षा इन्हें रचनात्मक होने के लिए अनिवार्य है। भाई शमशेरजी को इस पंक्ति में अन्तर्विरोध होने की शिकायत है। वे कहते हैं कि यदि आकाश समुद्र हो जाय, इस उक्ति में आकाश की निरन्तर गहराई शान्त होती है—इसका ध्यान नहीं रखा गया। अस्तु। इसी प्रकार कमलेश की 'जरतकारु' रचना का संकेत भी चिरन्तन सत्य में है और वह यह कि पितृऋण उतार-कर ही किसी व्यक्तिगत चरम उपलब्धि की ओर जाया जा सकता है। मनुष्य पहले अपने सामाजिक होने को सार्थक करे, फिर व्यक्तिगत समाजविरोधी उपलब्धि करे।

निष्कर्ष यह कि 'समकालीन कविता' की समीक्षा के लिए कतिपय **पारम्परिक काव्यशास्त्रीय प्रतिमान उपादेय** हैं। उनको सैद्धान्तिक आधार बनाया जा सकता है। कारण, वह पहले कविता है, अतः उसकी पहली प्रतिबद्धता कविता होने की है और कविता की एक क्रमागत अवधारणा है। यह सही है कि उसकी सामाजिक चेतना और तदनुरूप अनुभूति में निहित सर्जनात्मक ऊर्जा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और वह परिवर्तन के लिए काव्यात्मक अभिव्यक्ति को माध्यम बनाती है, साध्य

नहीं। फिर भी माध्यम होने की शर्तों को तो पूरा करना पड़ेगा, फिर उसके मूल उपादान भूत सामाजिक चेतना के औचित्य का सामाजिक मानदण्डों द्वारा भी विश्लेषण किया जाय, इसमें किसे विसहमति है? सवाल यह है प्रधान कौन हो? सामाजिक चेतना-संवेदना, जो सर्जनात्मक अनुभूति के रूप में परिणत होती है या काव्यचेतना, काव्यसौन्दर्य? किसको उभारने में किसे माध्यम माना जाय? समकालीन काव्यधारा सामाजिक चेतना से प्रतिबद्ध है, पर यह भी तो है कि वह अनुरूप माध्यम को गर्भीकृत करके ही काव्योपयोगी सर्जनात्मक रूप ग्रहण करे। कथ्य और माध्यम की यह अविच्छेद्यता काव्यशास्त्र का एक रेखांकनीय पक्ष है।

हिन्दी आलोचना का वर्तमान स्वरूप

आलोचना रचना की तह में निहित सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कारपूर्वक किया गया विश्लेषणात्मक आख्यान है और इसके लिए क्रमागत मानदण्डों की अपेक्षा आलोचक की अन्तर्दृष्टि ही अधिक सक्षम है। इस अन्तर्दृष्टि को धारदार और परिष्कृत करने के लिए ज्ञानार्जन और अभ्यास नितान्त अपेक्षित है। वैसे आचार्यों ने यह भी स्वीकार किया है—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥

अर्थात् जिसे प्रकृति प्रदत्त अन्तर्दृष्टि नहीं है, वह भी यदि निरन्तर श्रम करता रहे तो अभूतपूर्व क्षमता अर्जित कर सकता है, और अन्तर्दृष्टि सम्पन्न समीक्षक के स्तर तक पहुँच सकता है। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि सम्पन्न और व्युत्पन्न—दोनों प्रकार के समीक्षकों से रचना की समीक्षा के सन्दर्भ में अनेक अनुरूप प्रतिमान भी निकलते रहते हैं, जिनसे समीक्षा का सैद्धान्तिक रूप विकसित होता है। इस प्रकार समीक्षा के दो रूप हैं—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक।

जहाँ तक हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा के वर्तमान स्वरूप का सम्बन्ध है—छायावाद से पूर्व क्रमागत मानदण्डों पर कोई प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगा था। 'भावमय व्यक्तित्व' की अभिव्यंजना पर केन्द्रित छायावादी रचनाओं के सन्दर्भ में पहली बार क्रमागत मानदण्डों की अपर्याप्तता घोषित की गयी किन्तु शीघ्र ही **छायावाद** के पक्षधर समीक्षक आचार्य वाजपेयी ने रससिद्धान्त की सर्वातिशायी महत्ता स्वीकार कर ली—वैसे शुक्लजी तो समझा ही रहे थे कि 'हृदयवाद' और 'रसवाद' में कोई फर्क नहीं है। **प्रगतिवादी** रचनाओं के सन्दर्भ में भी 'सामूहिक भाव' की व्यंजना 'रसवाद' के विरुद्ध नहीं पड़ती। इसीलिए रामविलासजी ने इसे काम की वस्तु कहा है। **उत्तरछायावाद** तो वासना की उन्मुक्त अभिव्यंजना है ही—जहाँ प्रसन्न शब्दावली में निर्व्याज रूप से लौकिक वासना की काव्यात्मक अभिव्यक्ति हुई है। यह **छायावादोत्तर काव्य** प्रस्थान है, जहाँ अतिरिक्त भावुकता का विरोध करते हुए भी 'व्यक्तित्व' की व्यंजना पर बल दिया गया। छायावाद का 'भावमय-व्यक्तित्व' दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दोनों ही भूमियों पर विवेचित

हुआ, पर छायावादोत्तर काव्य का 'व्यक्तित्व' विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों और निष्पत्तियों के प्रकाश में आलोकित हुआ। छायावाद का अन्तर्मुखी व्यक्तित्व 'दर्शन' की ओर छायावादोत्तर का अन्तर्मुखी 'व्यक्तित्व' मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र की निर्दिष्ट दिशा में व्यंजित होता गया। प्रक्रान्त धारा के सैद्धान्तिक चिन्तन में 'व्यक्तित्व' पर अनेक दृष्टियों से विचार हुआ। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र के अतिरिक्त टी. एस. इलियट आदि काव्य-शास्त्रियों का भी प्रभाव देखा गया। काव्य को व्यक्तित्व की अभिव्यंजना के साथ व्यक्तित्व से पलायन भी कहा गया और भोक्ता तथा स्रष्टा के बीच पार्थक्य भी लक्षित किया गया। सवाल यह भी खड़ा किया गया कि व्यक्तित्व निरन्तर विकसनशील है या कि अनुवंश से नियन्त्रित और परिवेश से पालित ? छायावादोत्तर काल में 'व्यक्तित्व' की महत्ता होने से, उस बात की मनःस्थिति के असमाहित और द्वन्द्वग्रस्त होने से 'सामान्य' और 'विश्रान्ति' सापेक्ष 'रसवाद' का घोर विरोध हुआ। रसवाद के विरोध का एक और कारण था और वह था—'भाव' की जगह 'बुद्धि' का स्थानापन्न होना। इसीलिए इस धारा के आलोचक जगदीश गुप्त ने काव्य के केन्द्र से रसानुभूति को हटाकर सह-अनुभूति को प्रतिष्ठित किया। अपने पक्ष को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि विज्ञान की तरह काव्य का लक्ष्य भी 'सत्य' की उपलब्धि है जो रसानुभूति के लिए अपेक्षित 'व्यक्तित्व के विलयन' की जगह 'व्यक्तित्व' को बनाये रखने से ही सम्भव है। साथ ही यह भी माना गया कि भाषा केवल ज्ञान के प्रकाशन का ही माध्यम नहीं है—अज्ञात की खोज का भी माध्यम है। लेकिन सच पूछा जाय तो **काव्य के सत्य** और **विज्ञान के सत्य** में फर्क है। फर्क यह है कि काव्य का सत्य, व्यक्ति-सत्य है, अतः (सब्जेक्टिविटी) आध्यन्तरिकता—का होना अनिवार्य है, जबकि विज्ञान का सत्य ऐसा नहीं होता। यह अवश्य है कि काव्य-सत्य, व्यक्ति-सत्य होकर भी सर्वजन-संवेद्य होने की क्षमता रखता है और ऐसा होकर ही वह काव्य के लिए उपादेय होता है। कभी-कभी यह सवाल भी उठता रहा कि जीवनानुभूति और काव्यानुभूति एक हैं या भिन्न। रिचार्ड्स का सहारा लेकर आचार्य शुक्ल ने भी दोनों की एकता की ओर संकेत किया है। प्रगतिवादी धारा ने भी इसको समर्थन दिया। वास्तव में यह भ्रम है कि प्राचीन काव्यशास्त्र में काव्यानुभूति को पारलौकिक अर्थ में अलौकिक कहा गया। वहाँ भी काव्यानुभूति को लौकिक ही माना गया है, केवल व्यवहार की अन्य सुख-दुखमयी अनुभूतियों से इसे भिन्न माना गया। फलतः उसे अलौकिक कहा गया। सचमुच कल्पना के स्तर पर चुनाव से जीवनानुभूति, काव्यानुभूति के रूप में रची जाती है—इससे इनकार करना कठिन है। काव्य-रचना की प्रक्रिया में जिस दबाव से जीवनानुभूति में परिणति होती है, उससे कुछ अलौकिकता उसमें आ जाती है। इसीलिए वह अपनी दुखात्मकता में भी स्पृहणीय हो जाती है। आत्मवादी भूमिका पर सोचें तो बात ही अलग है।

साठोत्तरी कविता प्रतिपक्ष की कविता मानी जाती है। यह एक ऐसा व्यावर्तक

बिन्दु है, जिस पर प्रगतिवादी और गैर-प्रगतिवादी दोनों ही सहमत हैं। यह धारा अपने समय की व्यवस्था विरोधी प्रखर चेतना से सम्पृक्त है और चिरन्तन तथा शाश्वत मूल्यों और मान्यताओं से हटकर कालांकित चेतना से सम्पृक्त है। यह अवश्य है कि नव-प्रगतिवादी कविता का केवल विरोध के लिए विरोध नहीं, अभीष्ट 'परिवर्तन' के लिए विरोध करते हैं। दूसरा, विचारधारा विशेष से प्रतिबद्ध होने के कारण 'परिवर्तन' के लिए नहीं, अपनी ईमानदार अनुभूति की अभिव्यक्ति से मतलब रखता है। इन लोगों की धारणा है कि कविता चूँकि परिवर्तन के लिए या विरोध के लिए लिखी जा रही है—मनोरंजन या साहित्यिक आस्वाद के लिए नहीं, अतः उसकी समीक्षा की धुरी भी बदल देनी चाहिए। उसका मूल्यांकन काव्येतर सामाजिक मानदण्डों से होना चाहिए। क्योंकि उसी से वह परिचालित है। यहाँ न तो साहित्यिक आस्वाद के लिए कविता लिखी जा रही है और न ही सत्य की उपलब्धियों के लिए। यहाँ तो कविता हाथ की छटपटाहट बन गयी है। इस धारा में कविता राजनीति के अधिक पास आ गयी है। इसीलिए जहाँ विचारधारा विशेष से सम्बद्ध दल काव्येतर प्रतिमान की माँग इसके मूल्यांकन के लिए कर रहा है, वहीं दूसरा पक्ष किसी भी प्रकार के काव्यशास्त्र की अनपेक्षा कर रहा है, क्योंकि वह किसी विचारधारा से बँधना नहीं चाहता। बन्धन को सर्जना का घातक समझता है। सवाल यह है कि काव्य का मुख्य लक्ष्य पाठक को 'प्रभावित' करते हुए 'परिवर्तन' लाना है या 'प्रभावित' करके विश्रान्त हो जाना। प्रभाव साधन है, परिवर्तन साध्य या प्रभाव साध्य है, परिवर्तन गौण या नगण्य ? परिवर्तन तो काव्येतर साधन भी ला सकता है। काव्य का व्यावर्त्तक महत्त्व क्या है ? वास्तव में काव्योचित सौन्दर्य-चेतना मुख्य होनी चाहिए और सामाजिक चेतना अन्तर्भुक्त। यदि काव्य पहले काव्य नहीं है— तो है क्या ? और ऐसा होने के लिए काव्योचित संवेदन को, जैव-प्रक्रिया से भाषा के आकार में अमूर्त होना चाहिए और यहीं काव्यशास्त्र आ जाता है। अतः इस पर भी विचार किया गया। डा. विश्वम्भरनाथ ने इसका समर्थन किया।

जहाँ तक व्यावहारिक समीक्षा का सम्बन्ध है—वह उत्तरोत्तर अधिक चिन्त्य होता जा रहा है और इसका असर सैद्धान्तिक समीक्षा पर भी पड़ता जा रहा है। जैसा कि आलोचना को परिभाषित करते हुए आरम्भ में ही कहा गया है कि समीक्षा के लिए समीक्ष्य-कृति के मूल में निहित सर्जनात्मक संवेदन का साक्षात्कार पहली शर्त है और इसके लिए परकाया प्रवेश नहीं, परान्तः प्रवेश की क्षमता अपेक्षित है। इस क्षमता के साथ समीक्षक, समीक्षा के व्यावहारिक क्षेत्र में प्रवेश करता है, फिर उसका विश्लेषणात्मक आख्यान करता है, भाष्य करता है। दूसरा सोपान है अन्वयव्यतिरेकी पद्धति से मूल संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित उपकरणों की क्षोदक्षम परीक्षा। साथ ही यह सब इस ढंग से हो कि समीक्ष्य कृति का मूल संवेदनगत सौन्दर्य या प्रभाव सामान्य पाठक तक पहुँच जाय। रचना खरी है या खोटी, यह तो स्वयं ध्वनित हो जायेगा। आलोचना इस प्रकार नयी रचना के मूल

मुहावरे को स्पष्ट कर पाठक को उसमें रुचिपूर्वक प्रवृत्त कराती है—नयी रचना की समझ पैदा करती है। रचना या रचनाकार में यदि सर्जनात्मक ऊर्जा स्तरीय ढंग की है—तो वह अपनी व्यक्तिगत पहचान बनाकर रहेगी—समीक्षक रचनाकार की इस विशिष्ट व्यावर्तक और प्रत्यभिज्ञापक रेखाओं को भी उभार देता है। व्यावहारिक समीक्षा की इस प्रक्रिया से एक ओर सैद्धान्तिक प्रतिमानों के निकलने की सम्भावना है तो दूसरी ओर नयी रचना की समझ को विकसित करना, उसकी सारवत्ता को उभारना, साथ ही तुलनात्मक विश्लेषण से वैशिष्ट्य को अनावृत करना।

वर्तमान व्यावहारिक समीक्षा प्रथम स्तर पर ही लड़खड़ा रही है—फलतः आलोचना का लक्ष्य सिद्ध नहीं हो पा रहा है। डॉ. नगेन्द्र 'सोनमछली' का भाष्य गलत कर रहे हैं और मुक्तिबोध के 'अँधेरे में' की व्याख्या पर प्रगतिवादी (डॉ. नामवर सिंह तथा अशोक चक्रधर) ही असहमत हैं। छायावादोत्तर काव्यधारा के शलाका गुरुओं की काव्य-रचना की समझ उन पर लिखी हुई आलोचनाओं से कितनी विकसित हुई है! 'कविता के नये प्रतिमान' मुक्तिबोध का स्तोत्र और 'कहीं-कहीं' डॉ. नगेन्द्र का श्राद्ध-तर्पण-सा लगता है। आलोचना में यह राग-प्रेम, यह पक्षधरता और दलबन्दी, यह आवश्यक नहीं। खेद का विषय है कि मुक्तिबोध को उठाने के लिए अज्ञेय को या अज्ञेय को उठाने के लिए मुक्तिबोध को, त्रिलोचन को उठाने के लिए श्रीकान्त को और श्रीकान्त को उठाने के लिए त्रिलोचन को, नागार्जुन को उठाने के लिए सर्वेश्वर को या रघुवीर को अन्यथा कहा जाय। आलोचना के नव्यतम अंक में नन्दकिशोर नवल ने 'भूरी-भूरी खाक धूल' की जो आलोचना लिखी है—वह कुछ दूर तक उसके भाष्य का काम करती है। अशोक चक्रधर का भी प्रयास इस दिशा में उल्लेख्य है। इधर विद्यानिवास मिश्र ने 'अज्ञेय' को समझने के कुछ सूत्र अपनी आलोचनाओं में दिये हैं। गुटबन्दी और पक्षधरता वर्तमान आलोचना के कोढ़ हैं—इन्हें हटना चाहिए। कुबेरनाथ राय की 'ब्रह्मराक्षस' पर व्याख्या अनुकरणीय है।

रचनाकारों की ओर से कथ्य और शिल्प के स्तर पर वैयक्तिकता का जो आतंक भर दिया जाता है—उससे आलोचक को भाष्य में कठिनाई आती है—फलतः रचनाकार स्वयं आलोचक बन जाता है और जब कारयित्री भावयित्री प्रतिभा के क्षेत्र में संचरण करती है तब प्रसन्न आलोचना की जगह या तो गद्य-काव्य (छायावाद : पुनर्मूल्यांकन) आता है या अनिर्णीत और अस्पष्टार्थक शब्दावली द्वारा एक आलोचनाभास रचना।

आलोचक, रचना की आलोचना करने से पहले अपने अन्तस् से पूछ ले कि वह रचनाकार की रचनात्मक मनःस्थिति का साक्षात्कार कर सका है, मूल संवेदन से भीग सका है, उसका मर्म पकड़ सका है? इन प्रश्नों का उत्तर मिलने से पूर्व समीक्षा के क्षेत्र में नहीं उतरना चाहिए। उतरने पर आलोचक अन्यत्र पाण्डित्य प्रदर्शन करता है। वर्तमान समीक्षा में ऐसे प्रयास बहुत मिलते हैं।

समीक्ष्य कृति पर काव्येतर प्रतिमानों के संचार से आलोचना विकृत होती है—अतः इधर भाषिकी के आचार्यों ने तथा नयी समीक्षा के पक्षधरों ने कृति केन्द्रित समीक्षा की बात कही है और एतदर्थ 'भाषा' को ही माध्यम मानकर शैली वैज्ञानिक पद्धति से विश्लेषण का आग्रह किया है। कई कृतियों की इस पद्धति प समीक्षा हुई है और हो रही है। शैली विज्ञान, भाषा की ध्वन्यात्मक इकाई से लेकर रूप और वाक्य के स्तर तक Contextually related norms से विचलन की परीक्षा तो करना ही है—वाक्य समुदाय प्रकरण और प्रकरण-गर्भ प्रबन्ध तक के स्तरों पर इस पद्धति से भाष्य करने के लिए socio-linguistics का भी सहारा लेता है।

आलोचक और रचनाकार दोनों ही आलोचना और रचना लिखें—उनकी निरवधि सम्भावनाओं को सावधि बनाकर शीघ्र चुक जाने की प्रक्रिया छोड़ें—वें जब भी 'विशेषण' लगाकर रचना के क्षेत्र में विघटन का पथ पकड़ेंगे, तब वह किसी के हित में न होगा। हम 'आप्रण्विता' और 'दस्तावेज' न लिखें, रचना करें। ये तत्त्व स्वयं आ जायेंगे। खेद तब और भी होता है जब समर्थ रचनाकार और समीक्षक भी शीघ्र दुरहन्ता की तुष्टि के लिए 'विशेषण' द्वारा 'विशेष्य' की सम्भावना अवरुद्ध कर स्वयं आत्मनिर्मित जाल में फँस जाते हैं। 'विशेषण' एक खास प्रकार के कथ्य-शिल्प या विश्लेषण में बाँधता है। उससे हमारी रचना और आलोचना की सम्भावना मर जाती है।

०००

should